हिन्दी गद्य-काव्य का उद्भव और विकास

लेखक

डा० अष्टभुजाप्रसाद पाण्डे

साहित्य प्रकाशन, दिल्ली

समर्पण

प्रिय पत्नी शारदादेवी को,

इस प्रबन्ध में व्यस्त रहने से जिनकी चिकित्सा ठीक से न हो
सकी और २६ जौलाई सन् १९५६ को इस संसार से
उठ गईं। जिनकी आहुति से यह प्रबन्ध
पूरा हुआ, उनको ही सादर समर्पित।

—अष्टभुजाप्रसाद पाण्डे

आमुख

हिन्दी साहित्य में गद्य-काव्य पर जो भी विचार किया गया है, वह इतना अपर्याप्त तथा स्वल्प है कि इस दिशा में कार्य करना आवश्यक था। गद्य काव्य की पुस्तकों की भूमिकाओं में तथा निबन्धों* के साथ रखकर गद्य-काव्य पर विचार हुए हैं। गद्य-काव्य की पुस्तक 'नवजीवन वा प्रेमलहरी' की भूमिका में रामदहिन मिश्र, राय कृष्णदास की 'साधना' की भूमिका में मैथिलीशरण गुप्त, महाराजकुमार रघुबीरसिंह की 'शेष स्मृतियाँ' की भूमिका में पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'मदिरा' की भूमिका में स्वयं गद्य-काव्यकार तेजनारायण 'काक', इनके ही 'निर्झर पाषाण' में डा० रामकुमार वर्मा,

---

*१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल।
२. हिन्दी साहित्य का परिचय—चतुरसेन शास्त्री।
३. हिन्दी साहित्य—हजारीप्रसाद द्विवेदी।
४. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—श्रीकृष्णलाल।
५ हिन्दी गद्य-साहित्य का इतिहास—जगन्नाथ शर्मा।
६. हिन्दी साहित्य में निबन्ध—ब्रह्मदत्त शर्मा।
७. आधुनिक हिन्दी साहित्य—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।
८. हिन्दी गद्य का विकास—मोहनलाल जिज्ञासु।
९. हिन्दी गद्य का आविर्भाव और विकास—धर्मचन्द्र संत।
१०. हिन्दी गद्यकार और उनकी शैलियाँ— गोपालसिंह।
११. आधुनिक गद्य—विजयशंकर मल्ल।
१२. हिन्दी गद्य-मीमांसा—मुंशीराम शर्मा।
१३. हिन्दी निबन्ध और निबन्धकार—ठाकुरप्रसाद सिंह।
१४. सिद्धान्त और अध्ययन—गुलाबराय।
१५. हिन्दी निबन्धकार—जयनाथ नलिन।
१६. निबन्ध साहित्य—जनार्दनस्वरूप अग्रवाल।
१७. हिन्दी साहित्य में निबन्ध—गणपति जानकीराम दुबे।
१८. हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ—नलिनविलोचन शर्मा।

दिनेशनन्दिनी के 'दुपहरिया के फूल' की भूमिका में शारवाल- एम० ए०, इनके ही 'वंशीरव' में आचार्य विनयमोहन शर्मा, भँवरमल सिंघी की 'वेदना' में 'जैनेन्द्र', टैगोर तथा सुनीतिकुमार चटर्जी तथा शकुन्तलाकुमारी 'रेणु' की 'उन्मुक्ति' में शांतिप्रिय द्विवेदी, इत्यादि ने रूप, शैली, आलोचना आदि पर कुछ विचार व्यक्त किए हैं।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ऐसे प्रथम कोटि के आलोचक भी गद्य-काव्य की महत्ता को प्रमुखता न दे सके। हिन्दी साहित्य के विशाल अम्बुधि से भी रत्न उन्होंने निकाला उनमें गद्य-काव्य को निबन्धों में ही ऐसा चिपका दिया कि वह अपनी स्वतन्त्र आभा न बिखेर सका। हिन्दी साहित्य के विस्तृत घेरे में बँधे होने के कारण उनके लिये यह संभव भी नहीं था कि गद्य-काव्य पर अलग से विचार करें। शुक्लजी की परम्परा में चलकर हिन्दी साहित्य के अधिकांश प्रतिभा-मनीषी गद्य-काव्य को निबन्ध का ही अंग मानकर मौन रह गये हैं। कुछ इने-गिने निकाय ही गद्य-काव्य का सम्बन्ध गीति-काव्य से व्यक्त कर पाये हैं, पर विस्तार से किसी ने इस पर अभी तक विचार नहीं किया है। गद्य-काव्य के विषय में विस्तृत एवं व्यवस्थित अध्ययन की पूर्ति शायद इस प्रबन्ध से हो जाय।

संस्कृत साहित्य के गद्य-काव्यों को आधार मानकर पं० अम्बिकादत्त व्यास ने गद्य-काव्य को उपन्यास का एक अंग माना है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने भी 'वंशीरव' की भूमिका में संस्कृत गद्य-काव्यों से प्रभावित होकर गद्य-काव्य तथा गद्य-गीत में भेद स्थिर किया है। वस्तुतः संस्कृत के गद्य-काव्यों से नितान्त दूरी पर हिन्दी में पाये जानेवाले गद्य-काव्य अवस्थित हैं। अतः संस्कृत में पाये जानेवाले गद्य-काव्यों का रचना-विधान हिन्दी के गद्य-काव्यों से पर्याप्त भिन्नवर्णी हो गया है। यह कथन कि गद्य-काव्य में प्रबन्धत्व अधिक होता है तथा गद्य-गीत में गेयता, कुछ समीचीन नहीं मालूम होता। वस्तुतः संस्कृत की शैली पर हिन्दी में गद्य-काव्य की धारा चली ही नहीं। हिन्दी गद्य-काव्य की धारा स्वतन्त्र धारा है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि इसके सभी उपादान आकाशचारी हैं, बल्कि ऐसा कहने का लक्ष्य एकमात्र यही है कि अपने स्वरूप का निर्माण हिन्दी के गद्य-काव्य ने विकास की सीढ़ियों के आरोहण से किया है। यह स्वरूपोपलब्धि प्रतिभा का परिणाम है, प्रभाव या अनुकरण का नहीं। गद्य-काव्य ने अपने बीज अपने उदय के पूर्व नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समर्पण आदि में विकीर्ण कर रक्खे थे, अनुकूल परिस्थितियों में इन बिखरे तत्वों को सँजो कर कलाकारों के सहयोग से इसकी संघटना संभव हो सकी है। गद्य-काव्य के अपने कुछ विशिष्ट तत्व हैं।

संस्कृत गद्य-काव्यों की विशेषण-बहुलता, समासान्त पदावली, क्रिया-पदों की न्यूनता तथा वर्णन-प्ररोचना के क्षेत्र से निकलकर हिन्दी गद्य-काव्य, आकार-प्रकार,

भावसौन्दर्य, कलागत महत्ता एवं साज-सज्जा की दिशा में वैभिन्नता से युक्त होते गये हैं। युग-विशेष के प्रभाव तथा साहित्यिक धाराओं के संस्पर्श से गद्य-काव्य में नये मोड़ भी आये हैं, इनसे कलाकारों में एक वैशिष्ट्य, एक अपूर्व भावसौन्दर्य तथा वाक्-वैभव दिखाई पड़ा है। कुशल कलाकारों के हाथों में पड़कर गद्य-काव्य ने अपने आधुनिकतम रूप का विकास किया है। गद्य-काव्यकारों ने अपने विषयों, सन्दर्भों तथा विधानों के आश्रय में इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति की है। प्रस्तुत प्रबन्ध में स्वरूप, उद्गम, विकास, भाव, रूप, शैली, कला तथा वैशिष्ट्य आदि दृष्टियों से यथाशक्ति विचार हुआ है।

प्रस्तुत विषय पर प्रबन्ध लिखने की प्रेरक शक्ति के स्रोत थे पूज्य आचार्य श्री केशवप्रशाद मिश्र, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय। गद्य-काव्य सम्बन्धी मेरी कुछ कृतियों को देखकर ही उन्होंने मुझे इस दिशा में कार्य करने को प्रेरित किया। पर उनके जीवन-काल तक जीवन की विषम परिस्थितियों में उभ-चुभ करते हुए यह कार्य सम्पन्न न हो सका, और होता भी नहीं यदि श्रद्धेय गुरुवर डाक्टर श्री कृष्णलाल अपनी असीम अनुकंपा से इस हतभाग्य को गतिमान न करते। प्रबन्ध के स्वरूप-विधान तथा रचना-कौशल का श्रेय उन्हीं को है। आपके वरदहस्त की छाया में ही यह कार्य सम्पन्न हो सका। आकाशशायी विन्ध्यागिरि-से विरोधों को आपकी ही कृपा से मैं भूतल पर शयन करा सका। किन शब्दों में उन्हें नमन करूँ, खोजने पर भी नहीं पा रहा हूँ। उनके ही माल्य को उनके ही चरणों में चढ़ाने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुझाई पड़ रहा है।

पूज्य पितृ-तुल्य आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की असीम अनुकम्पा को प्रकाश में लाना एक लड़कपन ही होगा। आपके उचित निर्देशों से ही यह प्रबन्ध आज इस रूप में प्रस्तुत हो रहा है। आशा है आपकी ऐसी ही कृपा मुझ तुच्छ पर बनी रहेगी।

पूज्य गुरुवर डा० जगन्नाथ शर्मा तथा प्रिय मित्र श्री करुणापति त्रिपाठी के आवश्यक निर्देशों ने ही इस प्रबन्ध-चारुता की सृष्टि की है। भविष्य में भी उनकी कृपा मुझ पर बनी रहेगी।

प्रबन्ध की साज-सज्जा में प्रिय शिष्य सत्यव्रत उपाध्याय, एम० ए० (प्रीवियस) ने कम पुरुषार्थ नहीं किया है।

माँ वीणापाणी इन्हें अपना बना लें, यही कामना है।

जिन विद्वानों की कृतियों के आधार पर यह प्रबन्ध स्वरूपधारी हुआ है, उन्हें मैं भाव-कुसुम ही अर्पित कर सकता हूँ, मुझ अकिंचन के पास और है ही क्या?

मेरी विहग लेखनी से प्रसूत पदों को जी० बी० टाइपराइटर कम्पनी हौज़ कटोरा, बाँस फाटक के व्यवस्थापक महोदय ने जिस कौशल से टंकित किया है, वह सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

अन्त में, जगज्जननी माता जगदम्बा तथा जगत्पिता भगवान् आशुतोष को स्मरण कर प्रबन्ध को आप सभी विद्वानों की कृपा-धारा में स्नानार्थ छोड़ रहा हूँ। आशा है त्रुटियों का मार्जन करके विद्वत्-वृन्द उत्साह बढ़ायेंगे।

विनीत

—अष्टभुजाप्रसाद पाण्डे

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

स्वरूप-विवेचन

गद्य एवं पद्य—सिद्धान्त कौमुदी की तत्वबोधिनी टीका के भ्वादि प्रकरण में गद् धातु की व्याख्या 'व्यक्ताया वाचि' स्पष्ट कथन के अर्थ में किया गया है।[1] पद का व्यवहार दिवादि प्रकरण में गमन, ज्ञान, मोक्ष तथा प्राप्ति अर्थ में हुआ है।[2] भावों के स्पष्ट कथन-प्रणाली को ही ध्यान में रखकर कीथ ने 'ओरिजिन आफ ट्रेजेडीज़ एण्ड आख्यायिका' के १०७वें पृष्ठ पर लिखा है कि जो भाव पद्य में नहीं लिख सकते वही गद्य में रखते हैं।[3] 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात् कवि की कसौटी गद्य है—यह उक्ति सर्वथा संगत है।

गद्य के माध्यम से भावों की प्रौढ़ एवं प्रशान्त अभिव्यंजना सरलतम ढंग से होती है। भाव-प्रकाशन का प्रयत्न पद्यबद्ध रचना की तरह इसमें परिलक्षित नहीं होता। गद्य हमारे नित्य व्यावहारिक जीवन के अधिक समीप है। भावों की कृत्रिमता को इसमें स्थान नहीं मिलता। गद्य के माध्यम से काव्य-रचना करनेवाले साहित्य मनीषियों को अतः एक विषम परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। काव्यत्व के सभी उत्तम तत्वों से सम्पन्न होकर ही वे गद्य-काव्य की रचना करते हैं। उनके कथन में असाधारणत्व, अलौकिकता एवं अतिशय मनोज्ञता वर्तमान रहती है। गद्य का काव्यत्व पद्यवद्ध रचना के काव्यत्व से केवल छंद-योजना के कारण ही भिन्न हो जाता है। संस्कृत-आचार्यों ने काव्यत्व निर्धारण में छंद-योजना का उल्लेख तक नहीं किया है। संस्कृत-साहित्य में काव्यत्व निर्धारण के तीन प्रकार दृष्टिगत होते हैं।

काव्य की परिभाषा—प्रथम पक्ष शब्दार्थ पक्ष को लेकर चला है। द्वितीय प्रकार शब्दपक्षावलंबियों का है और तीसरी कोटि में उक्तिविशेषतावादी एवं

---

१. सिद्धान्त कौमुदी तत्वबोधिनी टीका—धातुसूची ५२, सूत्र सूची ३०५१ चौखम्भा संस्करण चतुर्थ

२. सिद्धान्त कौमुदी तत्वबोधिनी टीका—धातुसूची ११६४. वही ३३३२. सूत्र सूची

३. What is not in verse is in Prose—Keath.
Origin of Tragedies and Akhyaika—Page 107.

ध्वनिवादी आते हैं। प्रथम पक्षवाले आचार्यों की दृष्टि में काव्य न तो केवल शब्द के सौष्ठव का फल है और न केवल अर्थ के सौन्दर्य का विलास, प्रत्युत शब्द और अर्थ का युगल समुच्चय काव्य पद का भाजन होता है। इस प्रकार की विचारधारा के पोषक है–भामह[१], वामन[२], रुद्रट[३], मम्मट[४], हेमचन्द्र[५], वाग्भट्ट[६], विद्यानाथ[७] आदि। इन सभी आचार्यों ने काव्य को शब्द तथा अर्थ का सम्मिलित रूप माना है।[८]

काव्य की परिभाषा में शब्द-पक्ष को ही विशेषता देने वाले आचार्य हैं दण्डी[९],

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। भामह। काव्यालंकार १।१।

२. काव्य शब्दो यं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते।
भवत्वातु शब्दार्थ मात्र वचनोत्र गृह्यते ॥ वामन काव्यालंकार सूत्र १।१।१।

३. शब्दार्थौ काव्यम्—रुद्रट काव्यालंकार २।१।

४. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृति पुनः क्वापि। मम्मट काव्यप्रकाश १।४।

५. अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। हेमचन्द्र काव्यानुशासन, पृ० १६।

६. शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्।
वाग्भट्ट—वाग्भटालंकार पृ० १४।

७. गुणालंकार सहितौ शब्दार्थौ दोष वर्जितौ।
गद्य पद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ॥
विद्यानाथ प्रतापरुद्रयशोभूषण पृ० ४२।

८. ये सभी आचार्य शब्दार्थ को दोषहीन मानने के पक्ष में हैं। वामन ने स्पष्ट रूप से काव्य में 'अदोष' को स्थान दिया है। उनके अनुसार काव्य 'शब्दो गुणालंकृ-तयोः शब्दार्थयोः वर्तते।' काव्यालंकार वृत्ति १।२। अर्थात् गुण तथा अलंकार से सुन्दर बनाए गए शब्द और अर्थ ही काव्य कहे जाते हैं। मम्मट ने दोषरहित गुणयुक्त, शब्द एवं अर्थ में काव्य माना है। ये शब्द और अर्थ कहीं-कहीं अलंकार से हीन भी हो सकते हैं। मम्मट के लक्षण की आलोचना परवर्ती आचार्यों ने की है। गोविन्द ठक्कुर ने उन आरोपों को खण्डित किया है। उन्होंने बतलाया है कि गुण के रसनिष्ठ होने पर उसके आश्रयभूत रस की व्यंजना काव्य करता है।

पं० बलदेव उपाध्याय ने मम्मट की पुष्टि करते हुए लिखा है कि 'गुण' काव्य के अन्तरंग तथा नियत धर्म हैं तथा अलंकार काव्य के बाह्य तथा अनियत धर्म। अतः अलंकारों की अपेक्षा गुणों को काव्य में महत्व देना नितान्त समुचित है।
—भारतीय साहित्यशास्त्र, प्रथम खण्ड ५४३.

९. शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्न पदावली। काव्या—१।१०।

विश्वनाथ[1], जयदेव[2] तथा पंडितराज जगन्नाथ[3]। राजेश्वर ने कथनगत विशेषता को ही काव्य माना है। वर्ण्यवस्तु का वैशिष्ट उन्हें स्वीकार नहीं है।

१. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। पृ० २१ साहित्यदर्पण।
२. निर्दोषालक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकार रसानेक, वृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक ॥—चन्द्रालोक० १।७।
३. रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।
रस गंगाधर पृ० ४, चतुर्थ संस्करण निर्णय सा०

पंडितराज जगन्नाथ की परिभाषा अधिक व्यापक और उनके तर्क प्रबल हैं। उन्होंने रमणीयता का अर्थ लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करनेवाली भावना का विषयीभूत होने से लिया है। कटाक्ष इत्यादि के कारण के लिए शब्द का प्रयोग, व्यंग्य के संग्रह के लिए प्रतिपादक का प्रयोग एवं 'कलाशलाग्रोत्यादि' वाक्य का संग्रह न हो जाय इसलिए रमणीय विशेषण का प्रयोग किया है। लोकोत्तर का स्पष्टीकरण ग्रन्थकार ने इस प्रकार किया है—लोकोत्तरत्व आह्लाद में रहनेवाला, चमकारत्व रूपी अनुभवगम्य एक प्रकार की विशिष्ट जाति है। दूसरे रूप में यों कहा जा सकता है कि काव्यार्थ की भावना से होनेवाले आह्लाद में जो चमकारत्व होता है, वही लोकोतरत्व है।

रमणीयता का परिष्कार करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने लिखा है 'रमणीयता चात्रलोकोतराह्लाद जनक ज्ञान गोचरता' अर्थात् लोकोत्तर आनंद को उत्पन्न करनेवाली गोचरता ही रमणीयता है।

रस गंगाधर के काव्य लक्षण का परिष्कृत निष्कर्ष इस प्रकार है। जिस प्रकार की शब्द-परंपरा की पुनः-पुनः भावना करने से चमत्काराख्य आनन्द उत्पन्न होता है, वही शब्दानुपूर्वी काव्य है। रस गंगाधार कार ने 'शब्दार्थ युगल ही काव्य है' इस पर घोर आक्रमण इस प्रकार किया है। आप पूछते हैं कि शब्दार्थ दोनों मिलकर काव्य कहलाते हैं अथवा पृथक-पृथक। यदि यह कहा जाय कि शब्द और अर्थ दोनों मिलकर काव्य के लिए व्यवहृत होते हैं तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि एक और एक मिलकर दो अवश्य होते हैं; पर दो के अवयवभूत एक को हम दो नहीं कह सकते। इसी प्रकार श्लोक वाक्य काव्य नहीं हो सकता। यद्यपि उसके अवयवरूप शब्द उसमें हैं और यदि शब्द और अर्थ दोनों में पृथक-पृथक काव्य माना जाय तो एक ही पद्य में दो काव्य होने लगेंगे। इस प्रकार वे सिद्ध करते हैं कि वेद-शास्त्र-पुराण के लक्षणों की तरह काव्य के लक्षण को शब्दनिष्ठ रखना उचित है। लक्षण में गुण, अलंकार आदि का निवेश उचित नहीं है। रसात्मक वाक्य को भी काव्य इन्होंने नहीं माना है, क्योंकि जिस काव्य में वस्तु तथा अलंकार की प्रधानता है वह अकाव्य हो जायगा।

संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के लक्षणों में छंद-योजना तथा अन्त्यानुप्रास आदि का नाम तक भी नहीं लिया है। उन्होंने काव्य के तीन भेद किए हैं—गद्य, पद्य तथा चम्पू।

पाश्चात्य विचारकों की काव्य-विषयक मान्यताएँ विषय सापेक्ष हैं। शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थ को अलग-अलग लेकर उन्होंने विचार नहीं किया है।

एरिस्टोटल, सर फिलिप सिडनी, शैली, वर्ड्सवर्थ, सिसरो, बेवन, स्टीफेन, कारलाइल आदि महानुभाव काव्य में छंदों का समावेश आवश्यक नहीं मानते।

लार्ड बाइरन, कर्जन, एडिसन, कालरिज, हडसन आदि विचारक छंदों को काव्य का अपरिहार्य अंग मानते हैं।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हृदय की मुक्तावस्था को रसदशा माना है।[1]
प्रसाद के लिए काव्य एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञानधारा है।[2]
पंत की दृष्टि में कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।[3]

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर काव्य को अन्तरप्रेरणा मानते हैं। महादेवी[4], गुलाबराय[5] तथा नंददुलारे वाजपेयी[6] किसी ने भी छंदों को काव्य का अपरिहार्य अंग नहीं माना।

अतः यह मानना पड़ेगा कि कवि जिस ब्रह्मवाणी का उच्चारण करता है वही चराचर विश्व की प्राणवस्तु है। सच्चे कवि उस रथ पर आरोहण करते हैं,[7] विश्व ब्रह्माण्ड जिसके रथ हैं, सहस्राक्ष जरारहित बहुप्राणी, बीजयुक्त सप्तरश्मि, काल अश्व, वह रथ अनाद्यन्त चलता रहता है। सच्चे कवि इसी पर आसीन होते हैं और काल अश्व[8] द्वारा उसे चलाकर अमृत लोक की जय-यात्रा करते हैं।

---

१. चिन्तामणि-काव्य में लोकमंगल की भावना, पृ० १९२, १९३ भाग १।
२. काव्यकला पृ० १७।
३. पल्लव की भूमिका।
४. कविता पत्रिका, १९३८, अक्टूबर पृ० १०।
५. काव्यकला निबन्ध, पृ० ८।
६. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २४।
७. नई धारा, अक्टूबर १९५२, पृ० २१।
८. कालो अश्वोवहति सप्त रश्मिः
सहस्राक्षो अजरो भूमि रेताः
तमारोहन्ति कवयोः विपिश्चितम्
तृष्य चक्रा भुवनानि विश्वा। अथर्व० ११।४।३८.

निष्कर्ष रूप में काव्य की परिभाषा कुछ इस प्रकार होगी। जिन शब्दों से भावोद्रेक का उत्थापन हो तथा चमत्कारिक प्रणाली से आह्लाद का प्रकाशन हो वही काव्य है। अर्थात् काव्य वह कवि-कर्म है जिसकी भावना से चमत्कार से अनुप्राणित भावोद्रेक होता है। कवि हृदयतंत्री के स्वर भावाधिक्य में झंकृत होकर जब शब्दों के रूप में उन्मीलित प्रसरित तथा प्रवाहित होते हुए एक विशिष्ट स्वरूप धारण करते हैं तो वहाँ काव्य के दर्शन होते हैं। अतः "कवि अतीत अनागत तथा वर्तमान, सभी प्राणियों के धर्मों को, उनके कर्मों को तथा उनके चित्र-विचित्र फलों को, साक्षात् व्यवधान के बिना जानता है, वह सर्वज्ञ, सर्वशास्त्रवित् होता है। विचारों की प्रौढ़ता और प्रतिभा की नवोन्मेषशालिनी कला कवि के काव्य में वैशिष्ट लाती है।"[1]

मानव हृदय की भावुकता जब संकेत रूप से मौन भाषा में कवि से निवेदन करती है तो वह अपने हृदय-द्वार खोलकर वाणी के बिन्दुओं से विश्व में पीयूष वर्षण करता है। वस्तुतः वह मानवता के सद्गुणों का प्रतिनिधित्व करता है। उसकी स्वर-लहरी की सुधा, निर्जीव को सजीव तथा जड़ को चेतन बनाती है। उसकी रागिनी लोकोत्तर आनन्द की विधायिका है। आनंद प्रस्रवण की यह शक्ति जिस कवि में जितना ही अधिक होगी उसका काव्य उतना ही चिरस्थायी, स्फूर्तिमय एवं लोकजीवन के संश्लिष्ट प्रेम का भण्डार होगा। जगत् के बीच हृदय के सम्यक् प्रसार से कवि ऐकान्तिक एवं लोकवर्द्धक प्रेम के दो स्वरूप उठाता है। प्रथम ससीम और द्वितीय असीम की परिधि में अवगुण्ठित होते हैं। तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा द्वारा कवि इसी प्रेम को प्राणवान और भौतिक कामनाओं के सन्निवेश के पंकिल बनाता चलता है। मन के आनंदात्मक एवं दुःखात्मक अवयवों के मनोविकारों का यथार्थ चित्रण ही कवि को इष्ट होता है। ऐसा करके वह पाठकों को परिस्थिति का ज्ञान कराता है और हित-अहित स्वयं सोचने को प्रेरित करता है। बौद्धिकता एवं सहृदयता दोनों के संतुलित समन्वय से कवि मनुष्यता के उच्च स्वरूप का चित्र अंकित करता है। ये दृश्य नित्य जगत् में घटित होते हुए भी हमारे लिए अगोचर रहते हैं। कवि अपनी प्रतिभा के बल से इन मार्मिक स्थलों को ढूँढ़ लेता है। व्यक्ति विच्छिन्नता से हटकर समष्टि की ओर जब कवि जाता है तो उसका प्रभाव व्यापक एवं गंभीर हो जाता है। अन्वेषणात्मक प्रज्ञा के बल से सामान्य विषय-वस्तु एवं दृश्यों में भी कवि अनूठी भावव्यंजना भर देता है। उसके वरद हस्त के स्पर्श से ही प्रत्येक वस्तु कुछ-न-कुछ मार्मिकता से युक्त हो जाती है।

मानव की रागात्मिका वृत्ति से सम्बन्धित अनुभूति की तुला पर कसी और निखरी कल्पना अपनी मनोज्ञ कमनीयता के कारण काव्य की आस्वाद व्यंजकता का

१. गीता। शंकरानंद भाष्य, पृ० ४५८। अच्युत ग्रन्थमाला हिन्दी टीका प्र० सं०।

आधार बनकर काव्यगत अलौकिक चमत्कार को व्यक्त करती है। कवि का हृदय और मस्तिष्क दोनों रथ और अश्व का कार्य करते हुए काव्यगत सौन्दर्य चयन एवं स्फूर्ति-वर्द्धन में सहयोग देते हैं। हृदयपक्ष अवश्य बुद्धिपक्ष से प्रबल होता है। उपयुक्त शब्द-सौष्ठव एवं उपन्यास से काव्य-कलेवर कमनीय होता है। यदि काव्य में भाव हिरण्य-गर्भ है तो शब्द विराट। जैसे ईश्वर, हिरण्यगर्भ एवं विराट तीनों सृष्टि के कारण हैं वैसे ही जगत् कवि और भाषा तीनों के समुचित समन्वय से उत्तम काव्य की सृष्टि होती है। काव्य-रचयिता के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। व्यक्तित्व का प्रकाशन गुण-दोषों से युक्त साधनों द्वारा होता है। यदि यह कहा जाय कि भाव-प्रकाशन के साधन सर्वथा गुणमय ही होंगे तो यह कथमपि शक्य नहीं। इस विश्व की रचना ही गुण-दोषमय है। कवि की अभिव्यंजना में एक नवीनता एवं लोकोत्तर आनन्दत्व रहता है। लोकोत्तरत्व से तात्पर्य व्यावहारिक जीवन में न पाया जानेवाला नूतन आह्लादकारी आनन्द।

अतः डाक्टर श्यामसुन्दरदास के शब्दों में निस्सीम भाव जगत् से जिसे गोस्वामी जी ने "भावभेद रसभेद अपारा' का विशेषण किया है, यथेच्छ भावराशि चुनकर सुस-ज्जित करना यही काव्य की व्यापक व्याख्या हो सकती है।

—साहित्यालोचन पृ० ६१।

निस्सीम भाव जगत् से यथेच्छ भावराशि की उपलब्धि सुख-दुःख की निविड़ अस्मिता सूचक अनुभूतियों से होती है। सुख के क्षेत्र में हमारा अहंकार जितना ही विस्तृत क्षेत्र को समेटे चलेगा उतना ही अनुभूतियों में विपुलता एवं आवेग भरा होगा। यही बात दुःख के क्षेत्र में है। जब हम अपने व्यक्तिवादी 'स्व' के संकीर्ण दायरे से उठकर विश्ववादी अहं की परिधि में बढ़ने लगते हैं, दुःखानुभूति अधिक कालव्यापी एवं दृढ़ होती है। इसीलिये श्री रवीन्द्र ने कहा है कि "गंभीर दुःख भूमा है।"[१] विश्व के लिए जिस तरह परमात्मा चिन्तित रहता है वैसे ही यदि हम हो जायँ तो हमारी आत्मानुभूति एक दूसरे प्रकार की होगी। संत काव्य के प्राण तत्व सुख-दुःख की ऐसी ही अनुभूतियों से बने होते हैं। इस प्रकार की ही अनुभूति गद्य-काव्यों के लिए अपेक्षित है। जिस प्रकार कूप का जल नालियों से चलकर ही कृषक के क्षेत्र में पहुँचता है, उसी प्रकार भावराशियाँ भाषा के माध्यम से पाठकों तक पहुँचती हैं। पर यदि नाली बीच में सँकरी हो, टूटी-फूटी हो तो, तो जल क्षेत्र तक नहीं पहुँच सकता उसी प्रकार भाषा यदि विकसित नहीं है तो भाव सामाजिक तक नहीं पहुँच सकते। छंदबद्ध रचना में कवि पूर्ण स्वतंत्र होता है, पर गद्य-काव्यों में उसे पूर्ण स्पष्ट होना होता है।

---

१. रवीन्द्र साहित्य, भाग २४, पृ० ७, लाइन प्रथम

हिन्दी गद्य साहित्य के इतिहास का अध्ययन करने से यह ज्ञात हो जाता है कि उन्नीसवीं शती के अंतिम दो-तीन दशकों तथा बीसवीं शती के प्रथम दशक तक भाषा की अर्थवत्ता में पर्याप्त विकास हो गया था। यह विकास कुछ संस्कृत के अध्ययन का परिणाम था, कुछ परिस्थितियों की प्रेरणा से था तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं, बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू से ग्रहीत शब्दावलियों से हुआ।

संस्कृत तथा बंगला से अनूदित रचनाओं के द्वारा हिन्दी गद्य भाषा का भण्डार समृद्ध किया गया। राजनीति, दर्शन, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, न्यायशास्त्र आदि के नवनिर्मित शब्दों के प्राचुर्य से बीसवीं शती के प्रथम दशक तक भाषा का वैभव अतुल हो चला था। भाषा के इस विकसित कलेवर को पाकर ही गद्य-काव्य की अवतारणा हो सकी।

स्वरूपोपलब्धि—हिन्दी साहित्य में गद्य में काव्यत्व का निर्धारण आधुनिक युग की देन है। रीतिकाल के प्रतिभामनीषी साहित्याकार छंद को ही काव्य का पर्याय मानने लगे थे। यद्यपि उनमें अधिकांशतः संस्कृत साहित्य के पूर्ण मर्मज्ञ थे। संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य की उपलब्धियाँ बहुत प्राचीन हैं। भामह[1] तथा दण्डी[2] द्वारा गद्य-काव्य सम्बन्धी सिद्धान्त एवं व्याख्या प्रस्तुत करने के पूर्व, संस्कृत साहित्य में अनेकानेक-गद्य काव्यों के नाम मिलते हैं। 'सुमनोत्तरा', 'मैमरथी', 'उर्वशी', 'कारमती', 'अनंगमती', 'मनोवती', 'मालती' आदि गद्य-काव्य 'वासवदत्ता', 'कादम्बरी' तथा 'अवन्ति-सुन्दरी कथा' के पूर्व लिखे गये थे।[3] भोज की 'शृंगार मंजरी' और कुलशेषर की 'आश्चर्य मंजरी', जयरथ की 'अनंग लेखा' गद्य-काव्य के अच्छे उदाहरण हैं।[4] पर कालक्रम से साहित्यिक जगत् में सुबन्धु, बाण तथा दण्डी की रचनाएँ ही विश्रुत हो पाई हैं।

गद्य के स्वरूप का निर्माण जिस भारतेन्दु-युग में हुआ उसके अधिकांश लेखक संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। यद्यपि हिन्दी गद्य के क्षेत्र में संस्कृतनिष्ठ शैली अव्यवहारिकता का निर्देश 'भारतेन्दु' जी द्वारा हो गया था, फिर भी 'बाण' के आकर्षण से कुछ लोग बच न सके। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के 'आनन्द कादंबिनी' के पृष्ठों में साहित्यिक एवं साधारण स्थलों की भी भाषा उसी शैली की है, पर बाण का लावण्य उसमें नहीं है। द्विवेदी-युग में गोविन्दनारायण मिश्र ने बाण के चरण-चिन्हों

१. देखिए—काव्यलंकार प्रथम परिच्छेद श्लोक सं० २५ से २९ तक। भामह
२. देखिए—दण्डी काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद २३ से २८ श्लोक।
३. 'सुमनोत्तरा', 'मैमरथी', 'उर्वशी', 'मनोवती' के स्रष्टा का नाम अविज्ञात है।
४. 'कारमती', वररुचि द्वारा, 'अनंगमती' श्री पालित द्वारा, 'मालती' भट्टार हरिश्चन्द्र द्वारा लिखी गई है।

पर चलने का अथक परिश्रम किया है, पर उनकी भाषा में भी कृत्रिमता एवं भारीपन आ गया है। इन दोनों महानुभावों ने बाण की शैली का प्रयोग निबन्ध के क्षेत्र में किया। दूसरी ओर गद्य की मौलिक अलंकारिक शैली (कौशल) का प्रयोग ठाकुर जगमोहनसिंह भारतेन्दु-युग में, माधवप्रसाद मिश्र द्विवेदी-युग में तथा 'प्रसाद' एवं 'हृदयेश' छायावादी-युग में करते रहे। गद्य की इस मौलिक अलंकारिक शैली ने अपने प्रस्फुटन के दो मार्ग निकाले। एक आध्यांतरित, दूसरी वस्तुवादी। आध्यांतरित शाखा में मन के विषयी पक्ष की प्रधानता थी और वस्तुवादी धारा में विषय पक्ष की।

आध्यांतरित शाखा के प्रवर्तक थे, राय कृष्णदास, वियोगी हरि तथा चतुरसेन शास्त्री, वस्तुवादी शाखा के प्रणेता थे राधिकारमण सिंह, 'प्रसाद', हृदयेश, विनोद शंकर व्यास आदि। गद्य के इन दोनों रमणीय स्वरूपों को पहले-पहल गद्य-काव्य की संज्ञा प्राप्त हुई। प्रथम प्रकार की रचनाओं में रूपविधान का वैलक्षण्य उसे काव्य के अधिक समीप ले जा सका। दूसरी प्रकार की रचनाएँ शब्दविधान का ही पल्ला पकड़े रहीं, अतः उनमें लोकोत्तर आह्लादकत्व न आ सका। 'हृदयेश' के नंदननिकुंज[1], 'प्रसाद' की कुछ कहानियाँ। आकाशदीप, स्वर्ग के खण्डहर एवं नाटक। स्कन्दगुप्त पृ० २०, पृ० १३५, जनमेजय का नागयज्ञ पृ० ५२, अजातशत्रु पृ० ७। विनोदशंकर व्यास[2] की कहानियाँ। 'भूली बात', 'अभिनेता', 'अपराध' के बहुत से विषय-निरूपक स्थल, गद्य के माधुर्य से काव्यत्व सृजन की चेष्टा से भरे हैं। पर इनमें काव्यत्व साध्य होकर नहीं आया है वल्कि साधन होकर। संस्कृत साहित्य में गद्य-काव्य के दो भेद आख्यायिका तथा कथा किये गये हैं। पर वहाँ उनका साध्य काव्य ही है; आख्यान तो केवल साधन है। कहने का तात्पर्य यह हुआ कि आख्यान के माध्यम से गद्य में काव्य-सृष्टि साध्य मानकर ही हो सकती है, साधन मानकर नहीं। अतः यह मानना होगा कि किसी समय हिन्दी साहित्य के सारस्वतों ने गद्य-काव्य की परिधि को हो सकता है, नाटक, उपन्यास, कहानी तक बढ़ाया हो; पर आधुनिक युग में गद्य-काव्य आध्यांतरित शाखा के उस विधा का पर्याय हो गया है जो मूर्तिमान भावचित्र के साथ प्रकरण-रहित

---

१. देखिये नंदननिकुंज पृ० ५०। कवि की कमनीय सृष्टि······
पृ० ८२। निर्मल नील नभोमण्डल······
पृ० ९२। मैंने देखा मानस की मरालिनी को······
पृ० ८७। अंबर चुंबित राजप्रासाद ·····
पृ० २०७। कैलाश के कांचन शिखर पर······

२. ऐश्वर्य की कामना वासना के सिन्धु में उन भीषण लहरों के साथ छेड़खानियाँ करने को प्रस्तुत था।

सम्पूर्ण अर्थ प्रकाशित करता है तथा जिनमें छंद-योजना नहीं रहती, पर लय तथा विश्व-संगीत रहता है। आज के अधिकांश साहित्यकार इसे गद्य-गीत कहते हैं।

परिभाषा—काव्य के सभी प्राणवान तत्व गद्य काव्य में भी पाये जाते हैं बल्कि यों कहिये कि पद्य में माधुर्य का अभाव पदान्त के कारण न्यून होने पर क्षम्य हो जाता है, पर गद्य-काव्य में माधुर्य का अभाव कवि की अज्ञता सूचित करेगा। पं० अम्बिकादत्त व्यास ने गद्य-काव्य मीमांसा में इस ओर संकेत किया है।[1] गद्य-काव्य कवि की प्रतिभा को प्रतिफलित करनेवाला दर्पण है। सुन्दर भाव, रमणीय अर्थ, आह्लादजनक ज्ञान-गोचरता, परिपुष्ट भाषा, रस-अलंकार तथा ध्वन्यात्मकता, काव्य के सभी यथोचित उपकरण गद्य-काव्य में वर्तमान रहते हैं। एक भावना को केन्द्र-बिन्दु मानकर उसी का प्रसार सुसंगत अन्विति के साथ होता है। अनुभूतियों की वैयक्तिकता गद्य-काव्य की निजी विशेषता है। वस्तुतः गद्य-काव्य, गद्य एवं काव्य के संयुक्त लक्षणों का समन्वय उपस्थित करता है। सरलता, सेव्यता, सुसंगति, माधुर्य, लालित्य, भावुकता, तन्मयता, आकांक्षा और मनोयोग—गद्य-काव्य के अपने गुण हैं। अतः गद्य-काव्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है :—

गद्य-काव्य भावों का वह मूर्तिमान चित्रण है जो अपने उद्वेग में संगीत के स्वरों अथवा छंद की मात्राओं में अपने को नहीं बांधता और बिना प्रकरण के सम्पूर्ण अर्थ की व्यंजना करता है।

यद्यपि गद्य-काव्य व्यक्तिगत सत्ता के अनुसार मानसिक परिस्थितियों का चित्रण है, तथापि उसमें प्रकृति के बाह्य जीवन और मनुष्य के आंतरिक जीवन में सहानुभूति का तत्व होने के कारण जनसमुदाय के प्रति एक आत्मीयता होती है। वह संगीत के बाह्य रूपों में आबद्ध नहीं होता तथापि भावों की समान अवस्था पाकर उसमें सहज ही एकलय, एकध्वनि, एकआश्रय की सत्ता वर्तमान रहती है और अपने विशिष्ट मनोयोगों के बल पर किसी भी पाठक को हँसा या रुला सकता है। गद्य-काव्य का लेखक अपनी निजी पूंजी से ही रचना करता है, यदि उसकी अनुभूति सप्राण एवं यथार्थ नहीं है तो उसकी रचना साधारण गद्य से ऊपर नहीं उठ सकती। कवि के अज्ञात की पूर्ण भावव्यंजना करनेवाला 'गद्य-काव्य' उपन्यास, नाटक, निबन्ध एवं कहानी के निर्धारित साहित्य में साधारणतः अपने को प्रकट नहीं करता; क्योंकि इस प्रकार के साहित्य में लेखक अपने ज्ञात को ही अंकित करता है। विरले ही स्थल काव्य के लक्षणों और भावों की मुक्त अभिव्यक्ति के सामंजस्य से पूर्ण होकर गद्य काव्य-की कोटि में आते है।

इस प्रकार गद्य-काव्य साहित्य में अपनी एक स्वतंत्र और विशिष्ट सत्ता रख

---

१. गद्य-काव्य मीमांसा, पृ० २।

है। उमड़ती हुई उमंग से कुछ थोड़े से शब्दों में व्यक्तित्व का स्वाभाविक प्रतिबिम्ब देना, प्राकृतिक शक्तियों का कवि की दशाओं में भाग लेकर इन्हें प्रकट करना, भावों की लय और कविता के मुग्धकारी शब्दों के द्वारा सौन्दर्य-चित्र उपस्थित करना, स्मृति पर आघात पहुँचाकर कल्पना उकसाना, यही गीतिकाव्य से मिलते-जुलते गद्य-काव्य की कला तथा गद्य-कवि की सृष्टि का समष्टि रूप में संक्षेप में निदर्शन है।

—हरिमोहन, साहित्य संदेश पृ० १५, नवम्बर १९३८

कविता मनुष्य के अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् के पारस्परिक घात-प्रतिघात की अनियन्त्रित प्रतिध्वनि है। प्रकृति और पुरुष के अपने घात-प्रतिघात की यह प्रतिध्वनि शब्द से बनती है और अर्थ से पूर्णता पाती है। किन्तु शब्द और अर्थ उसके अवयव मात्र हैं। उसकी आत्मा तो रस है। जब तक यह प्रतिध्वनि हृदयस्पर्शी और आनंददायिनी नहीं होती तब तक यह कविता 'संज्ञा' की अधिकारिणी नहीं। ब्रह्मानंद की सहजानुभूति कवि को सरलता से हो जाती है और इसी रसानुभूति की अभिव्यक्ति वह गद्य या पद्य में करता है; भावों की मुक्त अभिव्यक्ति सहृदय समाज को प्रिय इसलिए होती है कि वह तन्मयता का निदर्शन है। इस कोटि के कवियों में किसी को छंद-शास्त्र के बन्धन प्रिय होते हैं, किसी को नहीं। भावों की इस मुक्त अभिव्यंजना को पद्य और गद्य दोनों में क्रमशः गीतिकाव्य और गद्य-काव्य की संज्ञा प्राप्त है।

गद्य-काव्य के विषय में श्री गुलाबरायजी कहते हैं, 'गद्य-काव्यों में भाषा गद्य की होती है, किन्तु भाव प्रगीत काव्यों-सा। गद्य शरीर में पद्य की आत्मा बोलती दिखाई पड़ती है। भाषा का प्रवाह भी साधारण गद्य की अपेक्षा कुछ अधिक सरस और संगीतमय होता है। गद्य-काव्य में रूपकों और अन्योक्तियों की प्रधानता रहती है। इसमें कहानी की भाँति एक संवेदना रहती है, किन्तु जहाँ वह प्रलाप-शैली का अनुकरण करता है, वहाँ अन्विति का अभाव भावातिरेक का द्योतक हो जाता है।'

—सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २५७ भाग द्वि०—गुलाबराय।

गद्य-काव्य : गीति की परम्परा में—अपनी संगीतात्मकता, वैयक्तिकता, लयात्मकता, अन्विति, सुसंगति, भावात्मकता, सरसता, चारुत्व, रमणीयता एवं आह्लाद-कारित्व के कारण गद्य-काव्य गीतिकाव्य की परंपरा में आते हैं। डा० श्री कृष्णलाल इसी मत की पुष्टि 'निबन्ध-संग्रह' की भूमिका में इस प्रकार करते हैं :

"पद्यबद्ध विचार-प्रधान निबंधों के ठीक विपरीत आधुनिक युग के वे गद्य-गीत हैं जिनमें भावना घनीभूत होकर गद्य में ही अपने स्वतन्त्र लय और संगीत के साथ एक कलात्मक सृष्टि करती है। नाटकों के स्वगत भाषण के समान लेखक की ये घनीभूत भावनाएं गद्य में गीतिकाव्य की तीव्रता और भावावेश व्यक्त करती हैं, इन्हें निबन्ध की अपेक्षा गीतिकाव्य कहना अधिक समीचीन जान पड़ता है।" (पृष्ठ १६)

डा० श्यामसुन्दरदास गद्य-काव्य को 'मुक्तक-काव्य' की कोटि में रखते हैं।[1] उनके ऐसा करने का एकमात्र आधार यही है कि गद्य-काव्यों में भावों की मुक्त अभिव्यंजना होती है। वस्तुतः गद्य-काव्य को मुक्तक की कोटि में आधुनिक काल के विद्वान् नहीं रखते। इसका सम्बन्ध गीतिकाव्य से ही मानते हैं।

शुक्लजी के मत का विचार—आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में गद्य-काव्य को निबन्धों के अन्तर्गत रखकर विचार किया है।[2] उनकी दृष्टि में गद्य-काव्य, या काव्यात्मक गद्य-प्रबन्ध या भावात्मक निबन्ध गद्य की एक नई गतिविधि है, पर भावों का सरस नियोजन होने के कारण गद्य-काव्य निबंध की कोटि में नहीं आता। भावात्मक प्रबन्ध या तो लेखक के व्यक्तिगत वस्तुसापेक्ष उद्गार होते हैं या कलात्मक सृष्टि पर गद्य-काव्य सत्य के महत्ता की भाव, विषय-वस्तु की विशालता एवं व्यापकता को आधार मानकर करता है। भावात्मक निबन्धों में ध्वनि, लय तथा संगीत आदि का सन्निवेश सरलता से नहीं हो सकता। भावात्मक निबन्ध और गद्य-काव्य का अंतर श्री गुलाबराय एम० ए० इस प्रकार स्पष्ट करते हैं:

"भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्य-काव्य में कुछ वैयक्तिकता और एकतथ्यता अधिक होती है, उसमें एक ही केन्द्रीय भावना का प्राधान्य रहता है और वह निबन्धों की अपेक्षा आकार में छोटा होता है और उसमें अन्विति कुछ अधिक होती है। निबन्धन की वह रीति जिसे आज की भाषा में गद्य-काव्य कहते हैं, एक विशिष्ट रचना है।"

उदाहरणों के माध्यम से इस विभेद का ज्ञान सरलता से किया जा सकता है। भावात्मक निबन्ध का एक उदाहरण देखिये :—

"चन्द्रमा की मन्द-मन्द हँसी का, तारागण के कटाक्षपूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो—प्रेम की भाषा शब्दरहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तष्क की भाषा शब्दरहित है। जीवन का तत्व भी शब्द से परे है।"

—'आचरण की सभ्यता से'—अध्यापक पूर्णसिंह

इसमें वस्तुसापेक्ष विचार, भावुकता के आचरण में बौद्धिकता, वर्णन की प्रवंचना कुछ सैद्धान्तिकता; आंशिकता तथा किंचित् परुषता दिखाई पड़ती है। इसकी

१. देखिये साहित्यालोचन पृ०, २४५

२. देखिये हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६१६ परिवर्द्धित और संशोधित संस्करण १६६६.

तुलना में एक गद्य-गीत का उदाहरण लीजिये :

> **चुप क्यों हो गये ?**
>
> **दादुरों के सघोष चीत्कार में भी जिस प्रकार वृक्षों की छाया में खिसककर—रजनी नीरवता के चुम्बन में व्यस्त रहती है, उसी प्रकार इस कोलाहल-पूर्ण संसार में भी, मेरे प्यारे तुम चुप क्यों हो ?**
>
> **वासना के आवेश में एक-दूसरे से जकड़ी हुई लहरें, जिस प्रकार वायु के शान्त हो जाने पर बिखरकर, धरा की तरल सतह पर सो जाती हैं, जो कुशल कलाविद ! अपना चित्र पूरा करके तुम भी क्या उसी प्रकार चुप हो गये हो !**
>
> **—हंस, जनवरी १९३१, शांतिप्रसाद वर्मा**

इसमें भावों की एक समग्र अखण्डता, भावों की समस्वरता तथा प्रवाह संगीत—ताल-लय-ध्वनि की झंकार, सहजोद्रेक, रसात्मक बोध, भावोत्कर्ष, ऐक्य, अन्विति, कलात्मक सृष्टि, रमणीयता, प्रकरण-विहीनता तथा काव्यत्व मिलता है।

भावात्मक निबन्धों में जहाँ भावों को एक नियन्त्रण में रहना होता है, एक शृंखला में बांधना पड़ता है, वहां गद्य-काव्य में ऐसा नहीं होता, यहाँ उसकी गति निर्बाध होती है।

रेखाचित्र भी गद्य-काव्य नहीं है ; क्योंकि रेखाचित्रों में जीवन की आंशिक झाँकी होती है। उसमें वह काव्यगत अखण्डता, ऋजुता, कोमलता, मनोज्ञ-अतिशयता तथा चारुता नहीं होती जो गद्य-काव्यों में पाई जाती है। महादेवी वर्मा, प्रकाशचन्द्र, प्रभाकर माचवे, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा विनयमोहन शर्मा के रेखाचित्रों को पढ़ने से उपर्युक्त कथित पार्थक्य ज्ञात हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि गद्य-काव्य लघु भावात्मक निबन्ध है तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि लघु निबन्धों में भावात्मक स्थल नहीं होते। वहां बौद्धिक पक्ष की ही प्रधानता होती है।

वस्तुतः गद्य-काव्य में कहानी, नाटक, काव्य तथा निबन्ध के शोभा कारक गुणों का सम्मिश्रण रहता है। कहानी की आख्यान शैली, नाटक की संवाद शैली, काव्य की रमणीयता, सरसता, लोकोत्तर आनन्दत्व, निबन्धों की वैयक्तिकता, संस्मरणों की आत्मीयता एवं विषय सन्दर्भत्व उपन्यासों की उपन्यस्यता आदि गद्य-काव्य में सन्निहित हैं।

अतः जब यह स्पष्ट हो गया कि गद्य-काव्य एक विशिष्ट प्रकार की रचना है और गीतिकाव्य की परम्परा में आता है तो गीतिकाव्य के क्रमिक विकास के साथ इसके स्वरूप उपलब्धि पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

विश्वभावना, वसुधैव कुटुम्बवत् की भावना का रूपान्तर है। सब में एक ही

समीक्षक श्री आई० ए० रिचर्ड्स को भी यह मत मान्य है।"[१] रिचर्ड्स के अनुसार कलाकार अपने क्षणिक अजनबी और व्यक्तिगत संवेगों को दबाकर एक महत्तर व्यक्तित्व को पाने के लिए बढ़ता है।[२]

गीतों को संगीत की मोहक ललित श्राव्यमयता से मुक्त होने के लिए चार अवस्थाओं को पार करना पड़ा है। पहली अवस्था में गीतों में संगीतात्मकता तथा चित्रात्मकता का संतुलित सन्निवेश पाया जाता है। दूसरी अवस्था में गीत, स्वर, लय, ताल, पद्धति आदि के शास्त्रीय मानों के आग्रह से रहित दिखाई पड़ते हैं। भावाभिव्यक्ति का अधिक प्राधान्य गीतों में होने लगा। तीसरी अवस्था में, भाव और संगीत, विषय और विधान आदि के एकीकरण से गीत और संगीत एक-दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करते देखे जाते हैं। इस काल के गीतों में स्वर और भाव दोनों को समान प्रमुखता है। इन गीतों में सहज सौंदर्य और भावैश्वर्य की झाँकी मिलती है। मीरा के पद जहाँ भाव-भूमि के प्रसार में सचेष्ट हैं वहीं संगीतात्मकता की रक्षा का उनमें प्रबल आग्रह है। छापे की कलों के कारण काव्य का पाठ्य-रूप सामने आ गया। विषय और विचार, अतः प्रधान स्थान पाने लगे। संगीत तत्व की प्रमुखता स्वभावतः कम होती गई, यहाँ तक कि छंदों की काव्यगत अपरिहार्यता गौण होगई। विकास की चौथी अवस्था में गीतों में आत्मनिष्ठता, आत्मानुभूति और आत्माभिव्यंजन का आग्रह बढ़ गया। जहाँ तीसरी अवस्था में छन्द और राग की सहायता से भावाधिक्य को प्रेषणीय करने के लिए आचार्यों ने विशिष्ट रसों के लिए तदनुकूल छन्दों की व्यवस्था की थी जैसे शृंगार के लिए शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, द्रुतविलम्बित, निराशा के साथ निवृत्ति में त्रोटक, सफलता के लिए प्रस्थान या प्राप्ति में अन्वर्थनाम पुष्पिताग्रा, वृथा वीरता प्रदर्शन में औपच्छन्दसिक, प्रपंचों के परित्याग करने में नाराच, संयोग से स्वयं प्राप्त विपत्ति या सम्पत्ति में स्वागता, वहाँ चौथी अवस्था में गीतों में संगीत का बाह्य आरोप पूर्णतः अस्वीकृत हो गया और इसके स्थान पर केवल रह गया उसका अन्तर्निहित प्रवाह। संगीत के शास्त्रीय विधान से विभिन्न संगीतात्मकता की आवेशमयी अभिव्यक्ति गीतों में मुखर हो चली।

आत्मानुभूति का मूलाधार अनन्त-जगत् है। योगदर्शन जागतिक मान के लिए आत्मा का चित्तवृत्ति के साथ सारूप्य होना स्वीकार करता है। जब तक आत्मा का रूप में अवस्थान नहीं होता है तब तक वह वृत्तियों के साथ मिलकर जागतिक

---

१. The progress of an artist is continual self sacrifice a continual extinction of personality. P. 17. III Edition.

२. देखिये—Principle of literary criticism.

वना रहता है।[1]

वृतियों की संख्या पाँच है—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।[2] सांसारिक ज्ञान का निश्चय प्रमाण से होता है। वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न समझ कर दूसरा समझना विपर्यय है। पदार्थशून्य शब्दज्ञान के आधार पर होनेवाली भावना विकल्प है। अभाव के ज्ञान का ग्रहण करनेवाली वृत्ति निद्रा है। अनुभव किये हुए विषय का प्रकट होना स्मृति है। इन वृत्तियों से आवृत्त अथवा निरुद्ध चित्तवृत्ति की पाँच अवस्थाएँ हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। क्षिप्त अवस्था में रजोगुण की प्रधानता होती है, मूढ़ में तमोगुण का आधिक्य होता है। विक्षिप्त में सत्य की खोज में चित्त आकुल रहता है; क्योंकि पूर्णतः सत्य का उद्रेक नहीं हो पाता। रजो-गुण के कारण चित्त में उद्विग्नता आ जाती है। एकाग्र दशा में चित्त शान्त हो जाता है। सत्य स्वरूप का दर्शन इसी अवस्था में होता है, पर भेद-प्रतीति वनी रहती है। सच्चे कवि या दार्शनिक ऐसी ही स्थिति के होते हैं। निरुद्ध अवस्था गुणातीत अवस्था है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक युग के अनुसार विचारप्रधान अन्तर्मुखी दार्श-निक और भावप्रधान अन्तर्मुखी काव्यकार होते हैं।

गीति की परिभाषा—हृदय की एकाकारिता से कवि अपनी चित्तवृत्ति को अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाता है। इसी विशेष चित्तवृत्ति को गीतिवृत्ति कहा जा सकता है या दूसरे शब्दों में उसे यों कह सकते हैं—"सजीव भाषा में व्यक्ति के आन्तरिक भावों की सक्षम अभिव्यंजना संगीतात्मकता के आग्रह के साथ जिसमें होती है, वह गीति-काव्य है।"[3]

कवि कल्पना के मूलतया दो पर्याय हैं—गीतात्मक या आत्मकेन्द्रित कल्पना तथा नाटकीय कल्पना। एक से विषयिप्रधान कविता प्रसूत होती है और दूसरे से विषयप्रधान। दोनों के पीछे दो अन्तर्दृष्टि कार्य करती हैं। आपेक्षिक दृष्टि तथा निरपेक्ष दृष्टि। आपेक्षिक दृष्टिप्रधान रचना विशेष रूप से भावप्रधान और आत्मधर्मी होती है। यदि कवि ने अपने आत्म का प्रसार नहीं किया है तो ऐसी रचनाएँ महत् की कोटि में नहीं आती हैं। आत्मधर्मी गीतिकार रवीन्द्र ने कवि की दो कोटियाँ मानी हैं। पहला अपनी बात कहनेवाला, दूसरा किसी विशेष सम्प्रदाय या समाज की बात कहनेवाला। जिस रचना से मनुष्य मात्र का आवेग, सुख-दुःख, आशा-निराशा, जीवन की मर्मस्पर्शी बातें स्वयंमेव प्रोद्भासित एवं प्रतिध्वनित हों उसमें ही कवि की अपनी बातें

१. वृत्तिसारुप्यमितस्र—योगदर्शन समाधि पाद ।।४।। सूत्र।
२. प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतय—समाधि पाद ।।६।। वही।
३. गीति-काव्य—डा० रामखेलावन पाण्डे, पृ० १७ प्र० सं०।

हैं। यदि कवि ने अपने मन को समग्र देश, सम्पूर्ण युग, अखिल ब्रह्माड किंबहुना चर, अचर, स्थूल, सूक्ष्म, त्रिकाल आदि सब में संयुक्त नहीं किया तो उसकी स्मृति चिरकालिक नहीं हो सकती।

गीतिकाव्य की भारतीय परंपरा—वैदिक युग में गीत निर्वैयक्तिकता की भावना से भरे थे। पौराणिक युग में व्यक्तिवादी धाराएँ यत्र-तत्र दिखलाई पड़ती हैं। दुःखवादी बौद्ध युग में जो वैयक्तिक भावना 'थेरी गाथाओं' में यत्र-तत्र झाँक उठी थी उसका उन्नत रूप कबीर के पदों में प्रकट हुआ। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल में वीर-पूजा की भावना को आधार मानकर गीतों का प्रचलन हुआ, पर इन गीतों में रागात्मक आवेश की पूर्णता दृष्टिगत नहीं होती। इस अभाव की पूर्ति विद्यापति ने की। इनके पदों में रागात्मक आवेश की संगीतात्मक अभिव्यक्ति है। भक्तिकाल में गीतों को व्यक्तिवादी धारा का प्रखर प्रवाह सूर एवं मीरा के पदों से निःसृत हुआ। भक्ति की चरमावस्था में सत्व का पूर्ण उद्रेक होता है। इस काल की वाणी में संगीत के तत्व अपने आप आ गये हैं। यह संगीत जन-साधारण के परिज्ञान की परिधि में नहीं आता। अतः इसे कुछ लोग शास्त्रीय कहने लगते हैं। सूर के पदों में इसी प्रकार के संगीत तत्व का मेल है। ये पद अपनी मार्मिकता, विदग्धता एवं गंभीरता में अन्यतम हैं। रीति-काल का मुक्त प्रवाह एकांगी रहा। भारतेन्दु के आगमन से गीतिकाव्य अपने नवीन मार्ग पर चल पड़ा।

हिन्दी-साहित्य के आधुनिक रीतिकाव्य पर पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव है। अतः इस सम्बन्ध में पाश्चात्य साहित्य की अभिज्ञता आवश्यक हो जाती है। पाश्चात्य विचार-धारा का मूल स्रोत प्राचीन यूनानी साहित्य की मान्यताएँ हैं। प्राचीन यूनानी कवि सोफो के गीतों में, सामूहिक रागात्मक वृत्ति की संतुलित स्थिति, कल्पना का उद्रेक, विचार की गौणता, प्रभाव सामंजस्य, शब्द-संगीत के समन्वय की चेष्टा तथा प्रभाव की इकाई देखने को मिलती है। वैयक्तिक पूर्वाग्रहों के प्रहार से गीतिकाव्य, सामूहिक संस्पर्श को छोड़ आत्मनिष्ठता के अंक में पर्यवसित हो गया। प्राचीन यूनानी गीतों में संगीत का पर्याप्त आग्रह देखने को मिलता है। कालान्तर में शब्द-संगीत की प्रतिष्ठा हुई और शास्त्रीय संगीत के मानों की उपेक्षा होने लगी। अंग्रेजी साहित्य के एलिज़ाबैथ युग में कवि लय पर ही ध्यान रखता था। रोमांटिक युग के प्रधान कवि शैली, कीट्स, स्विनबर्न पर भी इसका प्रभाव है। प्रारंभिक युग में इंग्लैण्ड में फ्रेंच गीतों की पद्धति पर ही गीत लिखे जाते थे। इटालियन गीतिकाव्यकार, पेट्रार्क के सानेट विधा को शेक्सपियर ने अंग्रेजी में अपनाकर एक नूतन रागात्मक अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। वर्ड्सवर्थ, शैली, बाइरन तक आते-आते गीति, विषय एवं आकार दोनों बन्धनों को तोड़ चुका था।

मुक्तकाव्य के इतिहास का प्रारंभ सन् १८६१ में फ्रांस में होता है। इसके रचयिता हिमवाड थे। इनकी परंपरा में काहन (Kahn) तथा लेफ़ग्यू (Lafrgue) आते हैं। लेफ़ग्यू ने वाल्ट व्हिटमैन की कविता का अनुवाद भी किया है। इसी विचार-धारा की नीले. (Niele), ग्रितेन (Gritten), वरहारीन (Verhareen) तथा डीरिगमीर (De Regmir) ने अपनाया। मुक्तकाव्य के क्षेत्र में मलारमे (Mallarme), नोलिश तथा निन्शोक का नाम विशेष प्रशंसनीय है। इटली में इस शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में दा-अलाजियो ने सबसे पहले मुक्तकाव्य की रचना की। गतिवाद के प्रवर्तक मेनेटी ने मुक्तकाव्य को सर्वप्रथम स्वच्छंद संज्ञा से विभूषित किया। रूस में यह विचार-धारा कुछ देर से आई। रुलेविनकोव तथा मैयाकाव्स्की ने अपनी आध्यात्मिक तथा बौद्धिक रचनाओं के लिए सफलतापूर्वक मुक्तकाव्य को अपनाया। धीरे-धीरे जनतावाद, समूहवाद, आवर्त्तवाद, अतिस्वच्छन्दता-वाद, गति-वाद तथा अति-यथार्थवाद, से सम्बन्धित कवियों ने इसे बड़ी आतुरता से अपनाया। कोरिया, मारगरेट, फूलर, एमिली, स्टेफेन, क्रेन आदि के हाथों से मुक्तकाव्य पूरे निखार पर आ गया। सन् १६१२ तक मुक्तकाव्य पांक्तेय हो गया था। सन् १६४० के बाद पुनरावर्तन की भावना कार्य करने लगी है। एडिथसिटवेल, आडेन, डेविड गैसकाय, इडविनम्फारे, रुथपिटर आदि सभी पुनरावतन के पक्ष में हैं।

आधुनिक युग के हिन्दी गीतों में सौन्दर्य के प्रति आकषरण, प्रणय निवेदन, अतृप्त आकांक्षा, वेदना की विवृत्ति, जीवन के अवसाद-विषाद, एवं रहस्य का उन्मेष है। गीतिकाव्य में छन्दबद्ध और मुक्त दोनों प्रकार के विधान पाये जाते हैं। हिन्दी कविता को परंपरा मुक्त छन्द-बन्धन से मुक्ति देने का श्रेय निराला को है।[1]

भाव और शैली की दृष्टि से गीतिकाव्यों के कई भेद हो जाते हैं—यथा, व्यंग्य-गीति, करुण-गीति, समाज-गीति, उपालम्भ-गीति, पत्र-गीति, रूपक-गीति, विचारात्मक गीति, सम्बोध-गीति, चतुर्दशपदी-गीति तथा गद्य-गीति।

स्वरूप दर्शन—गीतिकाव्य की परंपरा में गद्य-गीति इसकी अन्तिम शृंखला है। छंदबद्ध गीति का विकास मुक्त-गीति में तथा मुक्त-गीति का पर्यवसान गद्य-गीति में हुआ है। तुलनात्मक विवेचन से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायगा। तुलना के लिए तीन उद्धरण लिए जा रहे हैं, एक छंदबद्ध, दूसरा मुक्त, तीसरा गद्य-गीति।

---

१. गीतिकाव्य—रामखेलावन पाण्डे, पृ० १२५ प्र० सं०

(१)

कानों में गुड़हल
खोंस—धवल
या कुई—कनेर, लोध पाटल
वह हरसिंगार से कच सँवार
मृदु मौलसिरी के गूँथ हार
गौओं के संग करती विहार
फिर चातक के संग दे पुकार
वह कुंद काँस से
अमलतास से
आम्रमौर, सहजन पलाश से
निर्जन में सज ऋतु सिंगार।

—ग्राम्या, पृ० १८ प्र० सं०

ध्यान से देखने पर प्रतीत होगा कि इस उद्धरण के तत्व ये हैं :—

(१) ताल, लय तथा भावों का सामंजस्य एवं समत्व।
(२) आत्मस्फुरण।
(३) अनुभूति की रमणीयता एवं यथार्थता।
(४) भावावेगों की तीव्रता और अन्विति।
(५) उद्देश्य की एकता और प्रभावान्विति।

(२)

अँगड़ाई ले देह झटककर खड़ी हो गई।
एक सजीव प्रेरणा जैसी
जाग उठा जीवन।
गति का संचार हो गया।
फूट पड़ी चहल-पहल,
जड़ प्लैटफार्म पर।

—अजन्ता, जुलाई १९५४, पृ० १५

इस उद्धरण में संगीत की ललित श्राव्यमयता का अभाव है, पर फिर भी पूर्वापर का एक अवियोज्य मिलित सम्बन्ध है। कवि की परिवर्तित मनःस्थिति दृश्यों के नवविधान का निर्माण ठोंक-ठोंककर करती दिखाई पड़ती है। उद्धरण की साज-सज्जा अपने ढंग की निराली है।

(३)

प्रिय मैं शापित
मुझे अमिट पिपासा का अभिशाप मिला है।
जिस क्षण प्यास बुझाने का उपक्रम करता हूँ।
यह और भी दुर्दान्त हो उठता है।
इन पैरों में आग की लपटें हैं।
जो क्षण क्षण प्रज्वलित होती है।
और उच्च से उच्चतर उठते हुए,
कभी थकती नहीं।

—अजन्ता, मई १९५४, पृ० ११

इस उद्धरण में कर्त्ता, कर्म, क्रिया तथा क्रिया का विस्तार सभी अपने-अपने उचित स्थान पर हैं। दूसरे उद्धरण में इनकी अन्विति पद्यबद्ध रचना के सदृश है। इस उद्धरण में यद्यपि पद्यबद्ध रचना की सरसता नहीं है, फिर भी उसकी अपनी भावनाजन्य रागात्मक अभिनव सुषमा है। भावों में स्पष्टता, सघनता एवं अन्तस की सच्चाई है। इस उद्धरण की भाषा अधिक प्रौढ़ है। इसमें एक निजी लय, ध्वनि और आश्रय वर्तमान है। इसमें कवि किसी ज्ञात वस्तु की भावव्यंजना नहीं कर रहा है। यह कार्य तो नाटक, निबन्ध, कहानी आदि में होते हैं। यहाँ तो कवि अपने अज्ञात का ही निदर्शन कर रहा है। तुक और अनुप्रास की अपरिहार्यता इसमें स्वीकृत नहीं की गई है, फिर भी इस रचना में लालित्य, माधुर्य, भावुकता, तन्मयता, आकांक्षा तथा मनोयोग आदि के दर्शन होते हैं। व्यक्ति की आत्मानुभूति पद्यवत् भाषा में नहीं होती है, गद्यवत् भाषा में ही। अतः उन्हें मूल रूप में रखने पर उनका माधुर्य सुरक्षित रहता है। तात्पर्य यह कि निर्झर की नैसर्गिक प्रभा के समान गद्य-काव्य में एक स्वाभाविक सौन्दर्य होता है, जबकि पद्यबद्ध रचना साज-सज्जा के भार से आक्रान्त-सी दीखती है।

गद्य-काव्य एवं कविता का अंत दादू की एक रचना के आधार पर और स्पष्ट हो जायेगा।

(१)

अजहुँ न निकसे प्रान कठोर।
दरसन बिना बहुत दिन बीते,
सुन्दर प्रीतम मोर।
चार पहर चारों युग बीते,
रैन गँवाई भोर।

अवधि गई अजहूँ नहिं आये,
कतहुँ रहे चित चोर।
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे,
मारग चितवत तोर :
'दादू' ऐसी आतुर विरहिन,
जैसे चंद चकोर।

इसका रूपान्तर गद्य-काव्य में इस प्रकार होगा :

(२)

कितने कठोर हैं मेरे ये प्राण प्यारे,
तुम्हारा वह सुन्दर रूप, प्रियतम ! उसे देखे बिना कितने दिन बीत गये हैं।

चार पहर क्यों ! मेरे जीवन के चार लम्बे युग बीत गए हैं।
हाँ चार युगों की यह रात यों ही बीत गई है।
तुम्हारे दर्शनों की आशा तो उस रात तक ही थी।
प्यारे ! अब तो सवेरा हो गया है।
तुम और ही कहीं रम गए, मुझे दर्शन देने सारी रात न आये।
एक बार भी तो मैं तुम्हारे इस सलौने रूप को इन आँखों से न देख सकी।
फिर भी देखो प्यारे इसी आशा में आँखें तुम्हारे मार्ग पर अब भी बिछी हुई हैं।
तुम जानते हो, चकोर चन्द्रमा का विरही है।
लेकिन क्या तुम्हें पता नहीं कि, मैं तुम्हारे विरह की ज्वाला में जल रही हूँ ?

हाँ मैं तुम्हारे विरह की ज्वाला में जल रही हूँ।
फिर भी मेरे ये प्राण इस झुलसे हुए तन से नहीं निकले।
कितने कठोर हैं मेरे ये प्राण ! प्यारे ![1]

---

१. यह विवेचन "साहित्य-सन्देश" सितम्बर १९३८, रामप्रसाद विद्यार्थी के निबन्ध 'गद्य-काव्य की रूपरेखा' का आधार लिए हुए है।

दोनों रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं :

प्रथम रचना भावनाओं का स्पष्ट चित्र अंकित नहीं करती, आत्मनिष्ठा की भावना द्वितीय रचना में अधिक परिलक्षित हो रही है, साथ-ही-साथ रागात्मक अनुभूति एवं ऐक्य सम भाव से समानान्तर धरातल पर अवस्थित हैं। जीवन की यथार्थ अनुभूति का आह्लादकारी चित्रण भी द्वितीय रचना में अधिक सफलता से हुआ है। रचना में लयात्मक अनुभूति है। सबका एक स्वतंत्र समाहित प्रभाव द्रष्टव्य है।

छंदबद्ध रचना एवं गद्य-काव्य का अंतर स्पष्ट करते हुए रवीन्द्र ठाकुर ने 'साहित्येर स्वरूप' पुस्तक के २१वें पृष्ठ में कहा है कि काव्य-भाषा में एक वजन, एक संयम होता है और वही छंद है। ये छंद काव्य के अपरिहार्य अंग नहीं हैं, क्योंकि किसी समय भावस्थिति ऐसा रूप लेती है कि उसे गद्य के माध्यम से ही व्यक्त किया जा सकता है और किसी के द्वारा नहीं। इस प्रकार की रचना में एक सहज प्रात्याहिक भाव होता है, वही काव्य है। रमणी के पदक्षेप में जो लय, जो माधुर्य, जो समरसता, जो आकर्षण एवं लावण्य होता है, वही विराम, लय, माधुर्य, समरसता, आकर्षण एवं लावण्य ऐसी रचना में होता है।

गीति तथा गेय त्व—पद्यगीतियों को ध्यान से देखने पर उसके निम्न तत्व-दृष्टिगत होते हैं। (१) आंशिक जीवनानुभूति का कलापूर्ण प्रभावकारी चित्रण (२) आत्माभिव्यक्ति (३) प्रभावान्विति (४) संगीत, लय, तुक, छंद आदि (५) रागात्मक अनुभूति की सच्चाई, इकाई, सहजोद्रेक एवं समत्व। मोटे रूप में यह कहा जा सकता है पद्य-गीतियों में भावतत्व तथा गेयतत्व का मिश्रण रहता है। गद्य-काव्य में गेयतत्व अस्वीकृत हो जाता है। यह कहना कि यांत्रिक युग के पूर्व स्मृति में बिठाने की ही सुविधा से गीतियों में तुक तथा छंद की अपरिहार्यता स्वीकार की गई थी और अब जन-जन तक प्रत्येक रचना सुलभ हो सकती है और उसे स्मृति में बिठाने की आव-श्यकता नहीं रह गई, कुछ संगत नहीं प्रतीत होता। इसका तात्पर्य तो यही हुआ कि गीतिकार अपनी अनुभूतियों की सच्चाई के प्रकाशन की ओर न ध्यान देकर सामाजिक के ग्रहणशील स्मरणशक्ति की ओर ही विशेष ध्यानस्थ है। वस्तुतः ऐसा नहीं होता, साहित्यकार का ध्यान अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति पर सर्वप्रथम जाता है, पाठक की ओर बाद में। ध्यान से यदि देखा जाय तो पहले भी साहित्य-जगत् में तुक तथा छंद इसलिए नहीं ग्रहीत हुए थे कि पाठक उसे स्मरण कर लें, या रचयिता स्वयं उसे कण्ठस्थ कर लें, बल्कि किसी भी रूप-शिल्प का ग्रहण कलाकार की रुचिविशेष से सम्बन्धित ही होता था। हाँ, साहित्य से अलग क्षेत्र में यह बात अवश्य मान्य थी। फिर गीतिकाव्य को तुक तथा छंद से मुक्त करने के क्या कारण हो सकते हैं? क्या यथावत् भावांकन की प्रेरणा ने ही गीति को तुक तथा छंद से रहित नहीं किया है?

तत्व विवेचन :—मनुष्य का विकास उसके अन्तर्जगत् के विस्तार एवं प्रसार की अपेक्षा रखता है। मानवी जीवन की प्रगति से यदि वह यथार्थ में प्रगति है तो साहित्य प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। ज्यों-ज्यों बोध-चेतना विस्तृत होती है, मनुष्य की सांस्कृतिक प्रगति होती जाती है और दुर्बोध जटिलताओं को सामान्य प्राणी सरलता से जानना चाहता है। समग्र-परंपरागत विश्वासों के उच्छिन्न हो जाने से आज का जीवन संशय-बहुल हो गया है। इस प्रकार युग की माँग की पूर्ति के लिए गद्य-काव्य अपना एक विशिष्ट हाथ रखता है।

काव्य-रूप की दृष्टि से गद्य-काव्य, प्रबन्ध तथा मुक्तक की कोटि में नहीं आते। जैसा पहले कहा गया है कि वे गीति की परंपरा में हैं, अतः इतना समझना सरल ही होगा कि इनमें गीति के तत्वों का समावेश है साथ ही गद्य की स्पष्टता, ऋजुता, मसृणता, प्रौढ़ता तथा परिवर्तनशीलता है। किसी भी गद्य-काव्य को पढ़ने से उसके निम्नांकित तत्व सहृदय को स्वयं ही स्पष्ट हो जाते हैं :

(१) अन्तर्दर्शन एवं आत्मनिष्ठता (२) भावतत्व एवं लयतत्व का सामंजस्य एवं समत्व (३) अनुभूतियों की सप्राणता, यथार्थता एवं नवीनता (४) अखण्ड तीव्र भावानुभूति (५) समाहित प्रभाव (६) स्पष्टता एवं ऋजुता (७) सांकेतिकता तथा (८) आत्माभिव्यक्ति।

प्रथम तथा आठवें पर विचार भावपक्ष में होगा और शेष का विचार कला-पक्ष तथा रूप एवं शैली अध्यायों में किया जायगा।

रूप-प्रकार—हिन्दी गद्य-गीतों का रूप-विभाजन निम्न प्रकार से किया जा सकता है। ध्रुवक, आवृति, सूचक, करुण, वर्ग, आख्यान, संलाप, उपालंभ, सम्बोध गीति, व्यंग्य गीति, तथा रूपक गीति। इनका विस्तृत विवेचन रूप तथा शैली वाले अध्याय में होगा।

निष्कर्ष

पल्लव की भूमिका में श्री सुमित्रानंदन पंत लिखते हैं, 'मैं कल्पना के सत्य को जो केवल कवि-सुलभ संवेदनशीलता से प्राप्त किया जा सकता है, सबसे बड़ा सत्य मानता हूँ और उसमें ईश्वरीय प्रतिभा का अंश मानता हूँ। कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप हमारे अन्तर्तम प्रदेश का सूक्ष्माभास ही संगीतमय है।' आगे पंतजी और भी स्पष्ट करते हैं, 'रात्रि दिवस की आँख-मिचौनी, षड्ऋतु परिवर्तन, सूर्य राशि का जागरण, शयन, उपग्रहों का अश्रान्त-नर्तन, सृजन स्थिति संहार सब एक अनंत छंद, एक अखण्ड संगीत ही में होता है।' ईश्वरीय प्रतिभा से पंत का तात्पर्य सतोगुणी परमोज्ज्वल प्रकाश रूप, व्यवस्थापिका बुद्धि से है।

जीवन के वे ही क्षण पूर्ण हैं जब चर-अचर सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एकात्म भाव हो जाय। ऐसे क्षणों का अनुभव भाषाबद्ध होकर काव्य बन जाता है। 'पंत' जी का संकेत यही व्यक्त करता है। साथ ही यह भी सिद्ध करता है कि यह वाणी रहस्यात्मक होती है। काव्य और कला के उद्गम के सम्बन्ध में महादेवीजी अपने निबन्ध 'काव्य-कला' के पाँचवें पृष्ठ पर कहती हैं, 'बहिर्जगत् से अन्तर्जगत् तक फैले और ज्ञान तथा भावक्षेत्र में समान रूप से व्याप्त सत्य की सहज अभिव्यक्ति के लिए माध्यम खोजते-खोजते ही मनुष्य ने काव्य और कलाओं का आविष्कार किया होगा।'

इसी निबन्ध के आठवें पृष्ठ पर इस सम्बन्ध में वे और भी स्पष्ट कहती हैं, 'जीवन के निश्चित बिन्दुओं को जोड़ने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर लेता है, पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रंग भरने की क्षमता हृदय में ही संभव है। काव्य या कला मानों इन दोनों का सन्धिपत्र है, जिसके अनुसार बुद्धि वृत्ति के झीने वायुमण्डल के समान बिना भार डाले हुए जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर सत्य को अनंत रूपों में चिर नवीन स्थिति देती रहती है। अतः काव्य-कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि महादेवी सत्य को काव्य का साध्य और सौन्दर्य को उसका साधन मानती हैं।

सत्य के सुन्दरतम स्वरूप से परिपूर्ण होने के कारण गद्य-काव्य हिन्दी साहित्य में अपनी विशिष्ट सत्ता रखते हैं। यद्यपि गद्य-काव्यों में आख्यानों के माध्यम से विहित सत्य उन्मीलित होता है, पर वहाँ आख्यानत्व, अप्रधान होता है, अतः कहानी की शिल्पकला के अंगभूत अवयवों की वहाँ प्रधानता नहीं रहती है। यही कारण है कि गद्य-काव्य कहानियों से भिन्न होते हैं। बहुत-सी साहित्यिक कहानियों में काव्यात्मक शैली अवश्य देखने को मिलती है, पर उन्हें गद्य-काव्य नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार बहुत-से उपन्यासों में यत्र-तत्र अलंकृत गद्यशैली के रूप मिलते हैं, वे भी गद्य-काव्य नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें स्वतंत्र भावधारा का अभाव-सा रहता है। गद्य-काव्य का साहित्यिक भाषा में अर्थ गद्य-गीति ही लेना चाहिए; क्योंकि प्रबन्ध-रूप में गद्य-काव्य लिखे ही नहीं जा सकते, वह इसलिए कि भावधारा में सदा एकसी अक्षुण्णता नहीं रहती; वहाँ विषय एवं वस्तु की प्रधानता हो जाती है, विषयि-पक्ष गौण हो जाता है। भावात्मक निबंध भी गद्य-काव्य नहीं हो सकते, क्योंकि इनमें वैयक्तिकता तथा एकतथ्यता होती है जब कि भावात्मक निबंध एक ही केन्द्रीय भावना को प्रधानता देते हैं। गद्य-काव्यों में अन्विति कुछ अधिक होती है। गद्य-काव्य के कुछ अपने तत्व

होते हैं। इन्हीं तत्वों के कारण वह साहित्य की अन्य विधाओं से अलग हो जाता है। रवीन्द्र के शब्दों में कुछ ऐसे भाव मानस में उठते हैं जो गद्य के माध्यम से ही व्यक्त किये जा सकते हैं, और किसी भी प्रकार नहीं। उनमें काव्यत्व होता है। अतः वे काव्य-कोटि में आवेंगे।[1]

विषय एवं शैली की दृष्टि से गद्य-काव्य के अनेक प्रकार हो जाते हैं।

गद्य-काव्य शब्द हिन्दी साहित्य की जिस विशिष्ट प्रकार की रचना के लिए प्रयुक्त होता है, वह संस्कृत के गद्य-काव्यों से पर्याप्त भिन्न है। संस्कृत के गद्य-काव्यों में अलंकरण की ओर जितना ध्यान दिया गया है, भावों के उन्मुक्त प्रकाशन की ओर उतना नहीं, पर हिन्दी के गद्य-काव्यों में भावतत्व की ही प्रधानता रहती है। अतः हिन्दी गद्य-काव्य की धारा एक स्वतंत्र धारा है।

अन्विति के साथ गद्य की भाषा में भावों का वह प्रकाशन जिसमें रमणीयता, आह्लाद, प्रभावोत्पादकता, चारुत्व, आध्यात्मिकता, अलौकिक आनंद तथा पर्याप्त सरसता होती है, गद्य-काव्य की संज्ञा प्राप्त करता है। इस प्रकार की रचना में छंद तो नहीं होते, पर भावों की सबलता, विश्वसंगीत की लय, वक्रोक्ति, ध्वनि, सांकेतिकता आदि विशेषताएँ रहती हैं। गद्य की भाषा हमारे व्यवहारिक जीवन के अधिक समीप है, यही कारण है कि अत्यधिक भावुक हृदय कविजन जिन्हें छन्दों की कृत्रिमता प्रिय नहीं है, इसी के माध्यम से अपने भावों को व्यक्त करते हैं। ऐसा न समझना चाहिये कि पद्यबद्ध रचना के क्षेत्र में असफल होने पर ही वे गद्य का आश्रय लेते हैं। रवीन्द्रनाथ इसके प्रमाण हैं। इस प्रकार की रचना में पथबद्ध रचना की स्निग्धता, सूक्ष्मता, और सरसता तो रहती है, साथ ही कविता एक विशेष निजत्व से युक्त रहती है जो पद्यबद्ध रचना में कठिनाई से व्यक्त की जा सकती है। सरलता एवं प्रौढ़ता का क्रमिक विकास गद्य-काव्य की अपनी विभूति है। पद्य-बद्ध रचना के क्षेत्र में पूर्ण सफल व्यक्ति ही गद्य-काव्य-क्षेत्र में उतर सकते हैं। अतः गद्य-काव्य का प्रारम्भ उस स्थल से होता है जहाँ पथबद्ध रचना की पूर्ण सफलता के छोर का अन्त होता है। गद्य-काव्य दर्शन की कोटि में भी नहीं रक्खा जा सकता ; क्योंकि इसमें रागात्मिका वृत्ति के प्रकाशन की क्रिया की बहुलता रहती है। विचार-सरणियाँ नीरस तथा तार्किक न होकर मनोज्ञ अतिशयता से युक्त रहती हैं।

आध्यात्मिक प्रगति के साथ ही गद्य-काव्य का उदय हुआ होगा। वैदिक साहित्य में इसके प्रमाण मिलते हैं। अगले अध्याय में इसके उद्गम पर विचार किया जायेगा।

---

१. साहित्येर स्वरूप, पृ० २१।

दूसरा अध्याय

उद्गम

गद्य काव्यकार की मनःस्थिति का विश्लेषण—जीवन-व्यापार जितना ही व्यापक, द्वन्द्वमय, गतिमान, विलक्षण, सौन्दर्यपूर्ण, अकृत्रिम तथा ऊर्ध्वगामी होगा, अनुभूतियों का क्षेत्र उतना ही विस्तृत, आकर्षक, प्रभावपूर्ण तथा अनुरंजनकारी होगा। भावनाओं की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ऐसी स्थिति में, एक अपूर्व प्राकृतिक छटा विलासपूर्ण बिम्ब के समान होगी। जीवन के नानापक्ष, सुख-दुःख, अन्तर के व्यवधान, बाहर के अवरोह, लक्ष्य की दूरी, हर्ष के ह्रास तथा विषाद की पीड़ा, कवि के हृदय में एक अलौकिक अनुभूति प्रदान करते हैं। सच्चा कवि जीवनद्रष्टा होता है। जीवन नीरस भी होता है और सरस भी। लक्ष्यप्राप्ति के पूर्व की अवस्था शुष्क एवं नीरस होती है, यदि विजयी के मन में फलाकांक्षा है तो। और लक्ष्य प्राप्ति के पश्चात् जीवन सरस हो जाता है। पर नीरस जीवन के कार्य ही सरसता के स्रष्टा हैं। लक्ष्य प्राप्तिकाल में कठोर जीवन का स्मरणमात्र लक्ष्य प्राप्ति के आनन्द को शतशत गुना बढ़ा देता है। शुष्कता और सरसता मानव जीवन के दो पार्षद हैं। साहित्यिक के जीवन में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। हृदय की विशालता से सरसता की सृष्टि होती है और संकीर्णता से नीरसता की। नीरसता का शुष्क तार्किकता से अटूट सम्बन्ध है। शुष्क तार्किक जीवन यथार्थवाद का अंग है, इसके पोषक आदर्शवाद को अधिक महत्व नहीं देते, वे आदर्श की अनुभूति चाहते हैं और वह भी अपने ढंग की। पर यह यथार्थ आदर्श के बिना निष्प्राण है। यथार्थ का सदा से लक्ष्य आदर्श ही रहा है। अतः यह मानना होगा कि आदर्शवाद जीवन का कार्य है और यथार्थवाद फल। कार्य से फल अवश्य मधुर होता है, पर फल की प्राप्ति क्या कार्य के बिना सम्भव है? जिस आदर्श की कल्पना करके कवि अथक प्रयास द्वारा किसी अनुभूति-विशेष का ज्ञान करता है, उसे ही वह यथार्थ रूप में विश्व के समक्ष रखता है। इस अनुभूतियों के प्रकाशन का अपना ढंग होता है। कर्मठ तथा व्यस्त जीवन गद्य के अधिक समीप है, सरल एवं सुखमय जीवन अलंकरण के। इन दोनों क्षेत्रों के द्वारा भाव प्रकाशित होते हैं। प्रथम में संघर्षों का वेग तीव्र होता है तथा अनुभूतियों में तीव्रता एवं स्वच्छन्दता रहती है। दूसरे में

चूंकि भाव सरलता से प्राप्त हुए रहते हैं, अतः अलंकरण की ओर भी बची हुई शक्ति लगा दी जाती है। इनमें छन्द भी एक है। अनुभवों का आह्लादकारी प्रकाशन दोनों प्रकार की विधाओं में रस का संचार करता है। गद्य-काव्यकार अनुभव जगत् के बटोरे हीर-कणों की भेंट करता है। पद्यबद्ध रचना में कल्पना-पक्ष की प्रधानता एवं अनुभव-पक्ष की अप्रधानता कहीं-कहीं देखने को मिल सकती है। गद्य-काव्यकार की विभूति वैज्ञानिक तथा भावुक दोनों के उत्कृष्ट गुणों का परिणाम है, पद्य-काव्यकार प्रथम में वाह्याभिमुख होता है, फिर भावुक फिर वैज्ञानिक। वाह्याभिमुखता को ध्यान में रखकर ही वह छंदों के विधान का अनुसरण करता है। समाज में रहकर व्यवहार की ओर दृष्टि अपने आप चली जाती है; क्योंकि समाज के माध्यम से ही वह आनन्द की अनुभूति करता है। गद्य-काव्यकार अपने स्व के सम्पर्क से जितना आनन्द प्राप्त करता है, उतना समाज के सम्पर्क से नहीं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि गद्य-काव्यकार का यह अपना 'स्व' क्या है ? क्या उसके 'स्व' का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों के अभाव में संभव है ? बहुत-से लोग कहेंगे कि सामाजिक चेतना के आधार पर ही तो उसके 'स्व' का निर्माण हुआ होगा। उत्तर सरल ही है। सामाजिक चेतना के सम्पूर्ण संस्कारों का ज्यों-ज्यों विसर्जन होता चला जाता है, अपने 'स्व' की समीपता प्राप्त होती जाती है। पर फिर यह प्रश्न उठ सकता है कि सामाजिक चेतना के सम्पूर्ण प्रभावों के विसर्जन के पश्चात् मानव क्या मानव रह जायगा ? कहीं पशु तो नहीं हो जायगा ? क्योंकि बहुत-से विद्वान् यह मानते हैं कि मानव विकास करते-करते जहाँ तक आया है उसका परिज्ञान हमें समाज के द्वारा होता है और उनके आश्रय में ही हम आगे बढ़ सकते हैं। लेकिन विषय का एक दूसरा पहलू भी है। अपनी इकाई को हम ज्यों-ज्यों मिटाते जायेंगे विकास की सीढ़ियों पर चढ़ते जायगें और बहुत्व में एकत्व की भावना स्थापित करेंगे। गद्य-काव्यकार कुछ ऐसे ही स्तरों का व्यक्ति होता है। कुछ लोग यह भी कह सकते हैं कि महाशय आपकी दृष्टि में तो गद्यकाव्यकार पूरे संत हैं, पर क्या आप हिन्दी से इसके प्रमाण दे सकते हैं ? क्या हिन्दी गद्य-काव्य के आदि सूत्रधार, राय कृष्णदास, वियोगी हरि, श्री चतुरसेन शास्त्री संत हैं ? यदि वे नहीं हैं तो उनकी रचनाएँ गद्य-काव्य न होकर उसका आभास हो सकती हैं, क्योंकि यहाँ तो उत्तम कोटि के गद्य-काव्यों की ही चर्चा चल रही है।

समाज में जब शाश्वत आनन्द प्राप्त करने के साधनों की अवहेलना अनादर एवं भर्त्सना होती है तो ऐसे ही समय में दूषित वातावरण को परिवर्तित करने के लिये महान् शक्तियाँ भूतल पर आविर्भूत होती हैं। तमोगुणी वृत्तियों के बाहुल्य से उत्पन्न अशान्त वातावरण के संक्रामक, संघर्षात्मक द्वन्द्वप्रधान एवं क्षुब्ध काल में भी अपने विचारों की तीव्र धार से ये शक्तियां समाज के विकृत अवयवों को ठीक करने में

यथावत् संलग्न हो जाती हैं। दीर्घकालीन साधना एवं निःस्वार्थ भाव के बल से इनके विचारों में एक अद्भुत आकर्षण होता है और ये विचार सर्वकाल के लिये मान्य हो जाते हैं।

भाव चरित्र के सौन्दर्य-विकास की भावना से प्लावित, इनका अंतस प्रकृति के अणु अणु में विस्मय एवं नवीनता देखता है। प्रकृति के रूपसागर में तन्मयता से निमग्न होकर, देशकाल तथा पात्र के अनुसार इस प्रकार के साधक अपने व्यक्तित्व को ही अपनी रचना में उतारते हैं। जीवन-वैचित्र्य के कारण इनकी कला में विविधता आती है और सरलता के क्रोड़ से इनकी कला में सुषमा और सुसंगति अपने आप आ विराजती है। इनकी कला में जटिलता इसलिये नहीं आती कि जिसे वे कहना चाहते हैं उसका प्रत्यक्ष दर्शन कर चुके हैं। उनका कथन, सीमित, संकीर्ण मानव जीवन से सम्बन्धित नहीं होता बल्कि अपनी अन्तर्दृष्टि से वे बहुकाल, बहुदेशव्यापी, मानवी अनुभूतियों की यथार्थ चित्रपटी से मनोज्ञ एवं चारु दृश्य उपस्थित करते हैं। इनका जीवन पूर्णता की ओर मुख किये रहता है। यह पूर्णता बाह्य और अंतर के उचित सामंजस्य से स्थापित होती है। इसीलिये इनकी रचनाओं में जीवन का प्रकाश पूर्ण-मात्रा में विद्यमान रहता है, साथ-ही-साथ रचनाओं में यथार्थ-सौन्दर्य के दर्शन भी होते हैं। यह सौन्दर्य निर्मलता की पराकाष्ठा पर अवलंबित होता है, जो सात्विक बुद्धि का परिणाम है। कहने का तात्पर्य यह कि आत्म-साक्षात्कार के लिये किये गये संघर्षों से जन्य अनुभूतियों का विशाल भण्डार वे हमारे सामने रखते हैं, जिसे पाकर साधारण कोटि के लोग लोटपोट हो जाते हैं, क्योंकि प्रच्छन्न या अप्रच्छन्न रूप से जगत् के सभी प्राणी यही करने इस विश्व में आते हैं। इन अनुभूतियों का प्रकाशन वैशिष्ट से युक्त होता है। गद्य-काव्यकार की यही विशिष्टता उसकी मौलिकता का ढिंढोरा पीटता है जिसके अभाव में रचनाएँ अनुकरणात्मक हो जाती हैं।

उद्गम का स्रोत—प्रतिभा, बाह्य प्रभाव नहीं—विश्व एवं अनन्त सत्ता के अक्षुण्ण अबाध एवं अविच्छिन्न सम्बन्ध का ज्ञान, जगत् का प्रत्येक मानव करने को सत् असत् रूप में लालायित है, पर बहुतों के प्रयत्न भ्रामक, व्यर्थ तथा शक्तिक्षरण-कारी सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि यथावत् रहस्य नहीं ज्ञात होता। प्रकृति और पुरुष के बीच अज्ञान का एक कल्पित आवरण है। यह अविद्या, विद्या से निराकृत होती है।[1] आत्मा के आभास से जीव को जीवत्व है, आत्मा को संसार की प्रतीति

१. संसारः परमार्थो यं संलग्नः स्वात्मवस्तुनि।
इति भ्रांतरविद्या स्याद्विधयेषा विवर्तते।

—चित्रदीप प्रकरण १० पंचदशी

नहीं होती, यही ज्ञान विद्या है।[1] जगत् और जीव के निषेध होने पर परमात्मा ही रह जाता है। ब्रह्मा आदि स्तंवपर्यन्त सब जीव आत्मा के चित्र हैं।[2]

आध्यात्मिक शक्ति से युक्त कवि इसी आवरण को हटाकर जगत् को सत्य का ज्ञान कराता है। आध्यात्मिक शक्ति की अनन्त ज्ञान-रश्मियों से आलोकित बुद्धि में जीवन के तथ्य अपने प्रवृत्त रूप में दृष्टिगत होते हैं। इन रूपों का ज्ञान दो प्रकार से होता है। एक तो सहसा, जैसे बादलों में विद्युत कौंधकर रह जाती है, दूसरे निरावरणरहित अतिकाल व्यापिक। पहले से काव्य की सृष्टि होती है और दूसरे से दर्शन की। काव्य में हृदय-पक्ष की प्रबलता रहती है और ऐसी अनुभूतियाँ तत्कालीन परिस्थितियों की दुर्बलताओं से ऊपर उठी हुई विश्रामदायिनी एक स्थिर भूमि पर [illegible] होती हैं। मानव-विकास से सम्बन्धित, भूतकालीन, सप्रमाणिक, विशिष्ट सद्गुणों से अलंकृत विचारों की ये मालाएँ सहृदय जनों को सदा उल्लसित करती रहती हैं। इन सब दर्शनों का चित्रण अधिक मनोरम, सरस तथा आकर्षक होता है। इनके अनुभवों का वेग इतना तीव्र होता है कि यदि उसी काल में इनका अंकन न हो जाय तो शायद वे स्मृति-पटल से लुप्त हो जायँ। प्रत्यक्षदर्शी कवि इन अमूल्य अनुभवों को तत्काल भाषाबद्ध करता है। भाषाबद्ध करने के इन क्षणों में उसकी दृष्टि मन के विषयि-पक्ष की ओर ही अधिक रहती है, वह भाषा को खोजने का प्रयास नहीं करता अन्यथा भावना में तिरोहित हो जा सकती है। समयाभाव एवं शक्तिक्षय की आशंका से छन्दबद्ध रचना इस स्थिति में सम्भव नहीं है और भाव गद्य के कलेवर में साहित्य का रूप बनकर प्रकट होते हैं।

भावों को गद्याकार करने की यह क्रिया साहित्य में दो रूपों में होती है। एक तो प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर, दूसरे अनुकरण द्वारा। प्रत्यक्षदर्शन का कार्य सरल नहीं होता। अतः अधिकांश रचनाएँ प्रत्यक्षाभास हो जाती हैं। हिन्दी गद्य-काव्य की भावनाएँ प्रत्यक्ष दर्शन के परिणाम हैं या अनुकरण के, यह कार्य सुलझाना सरल नहीं है। उच्च् कोटि के साहित्य-स्रष्टा अवश्य गिरि-निर्झर के समान उत्तुंग गिरि-शिखरों से अपना मार्ग निकालते हैं, वे किसी दूसरे का अनुकरण नहीं करते। वे प्रकृति के नाना अवरोधों को धराशायी करके दुर्गम घाटियों से अपनी धारा निकालते एक-न-

---

१. आत्माभासस्य जीवस्य संसारौ नात्मवस्तुनः।
इतिवोधो मवेद्धविद्या लभ्यतैऽसौ विच्रारणात्।

—चित्रदीप प्रकरण ११ पंचदशी

२. ब्रह्माद्याः स्तंवपर्यन्ताः प्राणिनोत्र जड़ा अपि।
उत्तमाधम भावेन वर्तन्ते पट चित्रवत्।

—चित्रदीप प्रकरण ५ पंचदशी

एक दिन सागर में मिलकर विशाल हो उठते हैं। जीवन के प्रत्यक्ष-दर्शी कवि मौलिक होते हैं उनकी प्रेरणा का आधार अनन्त प्रकृति हुआ करती है।

रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य के इतिहास में इस प्रकार की विशिष्ट शैली का हिन्दी में आगमन बंग भाषा के प्रभाव से मानते हैं।[1] इस सम्बन्ध में साहित्य शब्द की व्याख्या करना आवश्यक हो जाता है। भारतीय साहित्य में साहित्य की व्याख्या तीन प्रकार से की गई है: हित, तृप्ति तथा उन्नयन के माध्यम से। 'हितं विहितं तत् साहित्यम्।' जिसमें हित छिपा हो वह साहित्य है। 'हितेन निरतिशय प्रेमास्पदेन इतरेच्छा अनाधीन इच्छा विषयेण हितं साहित्यम्।' अर्थात् निरन्तर साहित्य-सेवन करने वाले के पास 'हित' अवश्य पहुँच जाता है। 'अवहितं मनसा महर्षिभिः तत् साहित्यम्।' अर्थात् साहित्य हित का उत्पादक है। अनुकरण मूलक रचनाओं में हित तथा उन्नयन की भावना भले हो किन्तु तृप्ति की भावना नहीं मिल सकती; क्योंकि तृप्ति का सम्बन्ध अनुभूति से होता है और अनुभूति वैयक्तिक होती है। काव्य के वहिरंग स्वरूप-शैली से उसका इतना ही सम्बन्ध है कि अन्तरंग के द्वारा ही वहिरंग का निर्माण होता है। यदि हिन्दी गद्य-काव्यकारों में यह अन्तरंग अनुभूति नहीं थी तो वहिरंग रूप आया तो कैसे आया? काव्य के मौलिक तत्वों में अनुकृति को प्रधानता देने वाले पाश्चात्य यूनानी दार्शनिक अरस्तू भी वास्तविक जगत् की भावनाओं को काव्य का मूलाधार मानते हैं।

"वस्तु की प्रधानता देने से अरिस्टोटल का अर्थ निर्जीव घटनाओं का मुख्य मानने से नहीं है। वस्तु से तात्पर्य उन सार्थक जीवन-परिस्थितियों से है, जो मानव-चरित्र पर अधिकार रखती हैं और उसे अनेक दिशाओं में मोड़ती हैं।"

—आधुनिक साहित्य, पृ० ३७५ नंददुलारे वाजपेयी, प्र० सं०

भावनाओ का ज्ञान, जगत् के साहचर्य, सम्पर्क तथा सान्निध्य से होता है। किसी भी भावना के सामान्य रूपों का ज्ञान करने पर ही जटिल भावनाएँ स्वरूपगत होती हैं। इन जटिल भावनाओं की स्वरूपोपलब्धि यद्यपि सामान्य भावनाओं की सहायता से होती है, पर इसी आधार पर इनके ज्ञान को अनुकरणमूलक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वरूपोपलब्धि के पश्चात् इनकी स्वतंत्र सत्ता हो जाती है। गद्य-काव्यों में कवि की मधुमती भूमिका के रस-विन्दु रहते हैं। यदि इन्हें प्रभावमूलक मान लिया जाय तब तो इसका अर्थ यही होगा कि अंग्रेजी या वंगला-साहित्य के अध्ययनोपरान्त हिन्दी के प्रतिभामनीषियों ने सोच-साच करके दस-पाँच लाइन में किसी एक भाव को बैठाकर गद्य-काव्य का ढाँचा खड़ा कर दिया। पर ऐसा नहीं है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ६१० का० ना० स० सं० संवत् १९९९.

गद्य-काव्यकार किसी पूर्व-नियोजित योजना को ध्यान में रखकर रचना नहीं करता। वह कभी यह सोचता ही नहीं कि हमें इतनी सतर के बाद रचना समाप्त करनी हैं। वह तो एक भावधारा में बहता जाता है जहाँ विराम आया, उसे रुक जाना पड़ता है। लाख प्रयत्न करने पर भी वह आगे जा नहीं सकता और भरपूर रोकते हुए भी वह बीच में रुक नहीं सकता। भावना के इन विरल क्षणों में वह बंधनमुक्त होता है। भावनाओं का अनुकरण तो संभव नहीं है, शैली का अनुकरण भी एक तरह से असंभव ही है। लाख प्रयत्न करने पर भी शुक्लजी की आलोचना-शैली कोई अपना नहीं सकता, क्योंकि उनका व्यक्तित्व ही एक अद्भुत है। ध्यान रहे कि यहाँ अनुकृति से निकले शब्द अनुकरण का ही विचार हो रहा है।

गद्य-काव्यकार श्री चतुरसेन शास्त्री कम-से-कम अपने विषय में यह व्यक्त करते हैं कि उन्हें गद्य-काव्य लिखने की प्रेरणा किसी से नहीं मिली, उनकी अन्तःवासना ही उनकी प्रेरणा है। देखिये—

"मुझे कभी किसी से प्रेरणा नहीं मिली। मेरे मन में लहर आई और मैंने लिख डाला। मेरी अन्तःवासना ही मेरी प्रेरणा है। बचपन में मैं कविता ही लिखता था। अब भी कभी-कभी लिखता हूँ। पर छपाता नहीं। मुझे कविता के लिए तुनलाकर बोलना तथा भाषा के प्रवाह को तोड़-मरोड़कर गठरी बाँधना अच्छा नहीं लगता। मेरा विचार है कि साहित्य का नैसर्गिक सौन्दर्य गद्य में है, पद्य में नहीं। मैं अप्रतिहत गति से लिखता हूँ मेरा वेग बहुत है।···अटक-अटक कर चलना मेरा स्वभाव नहीं। इसीसे मेरे गद्य में पद्य का भाव-सौन्दर्य आ गया। यही गद्य-काव्य के जन्म का कारण हुआ।"

—मैं इनसे मिला था, पृ० ८७ प्र० सं०

सत्काव्य की उत्पत्ति के लिए जेम्स हेनरी लेहण्ट के अनुसार निम्नलिखित उपादान हैं–(१) जागतिक वस्तुएँ (२) तत्सम्बन्धी राग (३) वासना से उत्पन्न जागतिक वस्तुओं का मानसिक प्रतिविम्ब (४) इस प्रतिविम्ब का शुद्ध और सत्य होना (५) इस प्रतिबिंब में आनन्ददायिनी शक्ति की बहुलता तथा तज्जनित शक्ति-सम्पन्नता। तत्सम्बन्धी राग। प्रतिभा। नवीन अर्थ के उन्मीलन में समर्थ प्रज्ञा[1] से ही प्राप्त होता है। आनंदवर्धन ने इसे अपूर्व दृष्टि कहा है।[2] पाश्चात्य विद्वान् क्रोचे इस विषय में और

---

१. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता

—हेमचन्द्रकाव्यानुशासन पृ० ३ पर उद्धृत लुप्तप्राय 'काव्य-कौतुक' ग्रन्थ में निर्दिष्ट लक्षण

२. या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा

—ध्वन्यालोक कारिका ४४ पृ० ४४३ आचार्य विश्वेश्वर टीका तृतीय उद्योत

भी स्पष्ट हो जाते हैं।[१] उनके अनुसार प्रतिभा के बल से कवि स्वयं स्रष्टा होता है। उसे दूसरे की दृष्टि लेने की आवश्यकता नहीं है। आचार्य कुन्तक की दृष्टि में पदार्थ के स्वभाव की प्रधानता, आहार्य कौशल को अलंकार से सज्जित करने की कला को दूर भगा देती है।[२] महिम भट्ट के अनुसार रसानुकूल शब्द और अर्थ की चिन्ता में जब कवि सरस काव्य-चिन्तन में मग्न होकर समाहित होता है, और एकाग्रचित से उसकी प्रज्ञा क्षणभर के लिए पदार्थ के सच्चे स्वरूप का स्पर्श करती हुई जग पड़ती है, वही प्रतिभा है।[३]

प्रतिभा का कार्य जगत् को देखना और फिर नूतन सृष्टि करना होता है। कवि प्रतिभा से प्रसूत नूतन सृष्टि की विलक्षणता का प्रतिपादन आचार्य मम्मट ने इस प्रकार किया है :—

> **"प्रजापति की सृष्टि नियति के द्वारा उत्पादित नियमों का पालन करती है, कवि की सृष्टि ऐसे नियमों की संकीर्णता में कभी जकड़ी नहीं रहती, बल्कि वह बन्धनमुक्त की भाँति स्वतंत्र होती है। वह नियति-कृत नियमों से रहित, केवल आह्लादमयी होती है।"[४]**

वह नवरसों से युक्त, रुचिर मनोज्ञ तथा सर्वदा हृदयानुरंजक होती है, प्रतिभा के इस रहस्य का प्रतिपादन आनंदवर्धन ने अपनी प्राकृत गाथा में बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है—

> **ण अताण घडई ओही न अते दीसन्ति कह कि पुनरुत्ता।**
> **जे विभामा चिआणं अत्था वा सुकइवाणीनं।।**

—ध्वन्यालोक कारिका ७ चतुर्थ उद्योतः, पृ० ४७७, आचार्य विश्वेश्वर टीका अर्थात् प्रियतमाओं के हाव-भाव और सुकवियों की वाणी के अर्थ की कोई सीमा ही

---

१. Intuitive knowledge has no need of a master not to lean upon anyone, she does not need to borrow the eyes of others, for she has most excellent eyes of her own.—Aesthetics' page 2.

२. भाव स्वभाव प्राधान्य न्यक्कृताहार्य कौशलः व० जी० १।२६

३. रसानुगुण शब्दार्थ-चिन्तास्तिमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।

—व्यक्ति विवेक पृ० १०८

४. नियति-कृत नियमरहिताम्
आह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरस रुचिरां निर्मितिमादधती

—कर्वे भारती जयति।।काव्य-प्रकाश १।१

नहीं बन सकती है और वे किसी भी दशा में पुनरुक्त नहीं प्रतीत होते।[१]

दण्डी प्रतिभा को पूर्व वासना के गुणों से सम्बद्ध कथित करते हैं।[२]

अभिनव गुप्त इसे जन्मान्तर संस्कार मानते हैं।[३]

आनन्दवर्धन व्युत्पत्ति तथा अभ्यास दोनों से बढ़कर प्रतिभा की उपयोगिता काव्य में मान्य करते हैं। अतः यही कहना उपयुक्त होगा कि हिन्दी गद्य-काव्य प्रतिभा का परिणाम है, अनुकरण का नहीं। अब हम हिन्दी गद्य-काव्य पर अनुकरणमूलक आरोप को मनोवैज्ञानिक ढंग से भी विचार करके देखेंगे। अनुकरण एक ऐच्छिक क्रिया है। उडवर्थ महोदय के अनुसार ऐच्छिक क्रियाओं की निम्नांकित विशेषताएँ होती हैं :

(१) अभियोजन की यथार्थता (२) अभियोजन की नवीनता
(३) अभियोजन की प्रबलता (४) अभियोजन विस्तार

प्रथम में हम हेतुपूर्वक क्रिया को यथार्थ दिशा में प्रवाहित करते हैं और अपने अभियोजन को भी यथार्थ रूप से ही करते हैं। दूसरे में हमारे अभियोजन में नवीनता रहती है। तीसरे में प्रतिकूल स्थिति प्राप्त होने पर सारी शक्ति प्रबल वेग से लगाई जाती है। चौथे में अभियोजन का क्षेत्र विस्तृत होता है। अब प्रश्न यह है कि आंग्ल भाषा या बंगभाषा के प्रभाव से गद्य-काव्यकारों ने यदि अभियोजन किया है तो ऐच्छिक क्रिया की कौन-कौनसी विशेषताओं का आश्रय लिया है। क्या उन्होंने भाव या भाषा का यथार्थ अनुकरण किया है? क्या उनके अभियोजन में नवीनता आती गई है? क्या उनके अभियोजन प्रबल हैं और क्या उनके अभियोजन का क्षेत्र विस्तृत है? एक-एक करके प्रत्येक प्रश्न का उत्तर दिया जायगा।

आंग्ल भाषा की शब्दावली का अनुकरण तो हो नहीं सकता, रह गया आकार, वह तो कवि की मनःस्थिति से निर्धारित होता है। भाव के क्षेत्र में जैसा पहले कहा गया है, गद्य-काव्य में अनुकृति संभव नहीं है। अभियोजन में नवीनता के कोई प्रमाण हिन्दी गद्य-काव्यों के विविध रूपों को देखकर नहीं मिलते। इन रूपों का विकास अपने ही पूर्वरूपों के आधार से हुए हैं। हिन्दी गद्य-काव्यों को किसी भी प्रतिकूल स्थिति का सामना नहीं करना पड़ा है, अतः उनके विषय में अभियोजन की प्रबलता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अभियोजन में विस्तार का सम्बन्ध भाव तथा भाषा

---

१. न वै तेषां घटतेऽवधिः नचते दृश्यते पुनरुक्ताः
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम्।
—पृ० ४७६, कारिका ७ चतुर्थ उद्योत, आचार्य विश्वेश्वर-कृत टीका

२. पूर्व वासना गुणानुवन्धि प्रतिभानमद्भुतम्—काव्यादर्श १।१०४.

३. अनादि प्राक्तन संस्कार प्रतिभानमयः—अभिनव भारती खण्ड १ पृ० ३४६

से है । गद्य-काव्यकार भावों के अनुसार भाषा व्यवहृत करता है । इसमें उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता भी रहती है । कहीं वह उर्दू शब्द का जान-बूझकर प्रयोग करता है कहीं ठेठ शब्द का तो कहीं संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्द का। अनुकरणमूलक चेष्टाओं में चाक्षुष रूप के शाब्दिक कथन प्रक्रिया में इतनी स्वतंत्रता नहीं रहती ।

सौन्दर्य ग्रहण का मूल—प्रेरणा है

प्रथम कोटि के कलाकार रूप के आन्तरिक तथा बाह्य सौन्दर्य दोनों से प्रेरणा पाते रहते हैं । उपनिषद रूप को प्रकाशमय बतलाता है । यानी प्रकाश रूपायन है। प्रकाश का प्राण आनंद है और गति जीवन है । उपनिषदों के अनुसार सुन्दर रूप, रस, प्रकाश और आनंद सब एक ही है । हेगेल ने किसी विशेष रूपापन्न अभिव्यक्ति को ही सौन्दर्य माना है । बर्क महोदय यह मानते हैं कि अंतर के [illegible] आनंद के द्वारा भौतिक उपादानों से सौन्दर्य-सृष्टि होती है ।

सौन्दर्य वस्तुधर्मी होता है या आत्मधर्मी, यह भी प्रश्न विचारणीय है। कैन्ट ने इसे प्रमाता का आत्म-धर्म बतलाया है। ह्यूम महोदय भी सौन्दर्य की वस्तुवत्ता नहीं स्वीकार करते । क्रोचे सौन्दर्य को मूलतया मानसिक मानते हैं । यदि इसी सिद्धांत को गद्य-काव्य पर भी लागू किया जाय तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गद्य-काव्य की उत्कृष्टता के संस्कार हिन्दी साहित्य के विचारकों पर पहले से ही पड़ चुके थे । वे मार्ग की खोज में थे या मार्ग निकाल रहे थे, दोनों प्रतीतियाँ इस विषय पर की जा सकती हैं । यदि प्रथम को ही स्वीकार किया जाय तो भी गद्य-काव्य अनुकरणमूलक नहीं सिद्ध होता और यदि द्वितीय को माना जाय तब तो इसकी मौलिकता में सन्देह करने की गुंजाइश ही नहीं रह जाती । भावुक सौन्दर्य के प्रति इसलिए आकर्षित होता है कि उसने पूर्व से ही उसे अपने मोहपाश में निबद्ध कर रक्खा है। यह आकर्षण जन्मजन्मान्तर से प्राप्त संस्कार का प्रतिफल है। यद्यपि यह बाह्य दृष्टि से ही बनाया गया है, पर एक काल में नहीं। अतः यदि हमारे सभी कार्य अनुकरणमूलक ठहरते हैं तब गद्य-काव्य को यदि अनुकरणमूलक मान ही लिया जाय तो इसके महत्वाख्यायन में कोई हानि नहीं, अपूर्ण मानस जगत् का अनुकरण करता है पूर्ण मानस जगत्पिता का ।

भावुक की आत्मनिष्ठता विश्व को समेटे रहती है । दुःखी के दुःख को वह अपना ही दुःख मानता है । प्रकृति के रम्य रूप को अपना रूप । अतः उसके सौन्दर्य को वस्तुधर्मी कहा जाय या आत्मधर्मी, कुछ निर्णय नहीं हो पा रहा है । वस्तुतः उसका सौन्दर्य उभयनिष्ठ ही होता है । अपने गुणों का जीवन में प्रयोग अनुकरण की संज्ञा नहीं प्राप्त करता ।

बीसवीं शती के प्रथम दशक एवं द्वितीय दशक के बीच की नवीन साहित्यिक

उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए यह कहना अधिक समीचीन होगा कि यह काल हिन्दी साहित्य के सैद्धान्तिक स्वच्छन्दतावाद का प्रथम चरण था। इसमें व्यक्तिवाद का अच्छा विकास हुआ। इसके ही प्रतिफल साहित्य में विविधता आई। यह व्यक्तिवाद समय की माँग थी, अन्तर्प्रेरणा थी और थी कला के प्रति असीम अनुराग का फल। ऐसी ही परिस्थिति में हिन्दी साहित्य में गद्य-काव्य की रचना प्रारम्भ हुई।

भारतीय साहित्य में गद्य-काव्य की परंपरा का सूत्रपात वैदिक युग मे ही हो गया था। ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदों में बहुत से ऐसे स्थल हैं जो वास्तव में गद्य-काव्य ही हैं। वाणी के अनुपम विलास का मेल अनुभूति के साथ करके ऋषियों ने काव्य-गंगा में भाषा, भाव तथा रस की त्रिवेणी ही स्थापित की है। एक-एक महावाक्य सुन्दर रसपूर्ण काव्य हो गये हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् के २।४।—२।५।—३।४।—५।२।, छान्दोग्य के ३।१।—४।४।—कोषित के १।४-५।, २।१। और केन उपनिषद के १४।२२।—अंश गद्य-काव्य ही हैं।

वृहदारण्यक से एक दृष्टान्त देने से उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जायगा।

इयं पृथिवी।
सर्वेषां भूतानां मधु।
अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधुः।
यस्या यमस्यां पृथिव्यां तेजोमय अमृतमयः पुरुषौः।
यश्चा यमध्यात्मं शरीरस्तेजोमयोऽमृत मयः पुरुषः।
अयमेव स यो यमात्मेदमृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्॥

—पृ० २।५।१

यह पृथिवी, समस्त प्राणियों के लिए मधु है, यह तेजोमय अमर पुरुष जो पृथ्वी पर है, यह आध्यात्मिक तेजोमय अमर पुरुष जो शरीर में वर्तमान है, वही वास्तव में यह आत्मा, यह अमृत, यह ब्रह्म और सर्व है।

गद्यात्मक कविता का उपर्युक्त स्वरूप संस्कृत-साहित्य में वैदिक काल के बाद नहीं मिलता। यों तो गद्य-काव्य के बड़े-बड़े ग्रन्थ रचे गये, पर उनकी शैली विशेष अलंकारिक रही।

जयरथ की 'अनंगलेखा' के अंश की समता वैदिक गद्य-काव्य से करने पर शैली की भिन्नता स्पष्ट हो जायगी।

"विदर्भाङ्गना जनमपि वर्भगर्ममकरोत्, पंचतां जन यत्रपि, पंचालस्य वै मुख्यस्य पुष्णात्, पारसीकरणमप्यारसीकरणं चकार। मागधमपि विभागधान्यद्धात्। चौलकान्तां अप्यचोलकान्ता समुपादयत्, कुन्तलालसानंच्यकुन्तला लसांश्य निर्ममे। शूरसेनात् शूरसेनात् दर्शयत्।"

—अनंगलेखा, पृ० १०७, हस्तलिखित प्रति सरस्वती सदन, जगतगंज से।

अर्थ—विदर्भ देश की स्त्रियों को दर्भ से युक्त कर दिया। अर्थात् पतियों के मारे जाने से स्त्रियाँ कुशादि लेकर तर्पण करने लगीं और उनको वैधव्य प्राप्त हो गया। पंचता को प्राप्त कराता हुआ पंचाल नरेश को पंचाल्य से विमुख कर दिया। (पंचाल देश विशेष, पंच के अनुकूल जिसकी गति हो)

पारसी सैनिकों से युक्त राजा की सेना को पारसियों से रहित कर दिया। मागध देश के वीरों को जीतकर अमागधी कर दिया। (मागध सैनिकों से युक्त राजा की सेना को संहार कर नष्ट कर दिया) चोल देश की रमणियों को अचोल कर दिया, अर्थात् शृंगाररहित कर दिया, क्योंकि उनके पति मारे गये थे। कुन्तल से युक्त शत्रुओं की स्त्रियों को केश-प्रसाधन की रुचि से विमुख कर दिया, क्योंकि पतियों के मारे जाने पर केश मुण्डन होता है। शूरसेन को शूरसेन देश से निकाल दिया, तथा शूर वीरों से युक्त सेना को शूरवीरों से रहित कर दिया।

शब्द-योजना की लाघव निपुणता ने इस गद्य-शैली में एक अपूर्व गति संचारित कर दी है। इसमें श्लेष पर अधिक बल दिया गया है। वैदिक काल की रचनाएँ इससे पर्याप्त भिन्नता रखती हैं। सुबन्धु की रचना में श्लेष-विन्यास द्रष्टव्य है। 'वासवदत्ता' में कथा-वृत्त तो स्वल्प ही है, पर अलंकरण की भरमार है। देखिये :

नन्द गोपइव यशोदयान्वितः, जरासन्ध इव घटित सन्धिविग्रहः भार्गव इव सदानभोगः।

—वासवदत्ता, पृ० ६५

अर्थ—यशोदा अन्वित नन्द गोप के समान वह यश तथा दया से अन्वित था। जरा के द्वारा संगठित अंगवाले जरासंध के समान वह सन्धि और विग्रह का सम्पादक था। सदा आकाश में गमन करनेवाले शुक्र के समान वह दान तथा भोग से सम्पन्न था।

बाण की वाग्विदग्धता, अलौकिक वर्णनाशक्ति एवं शब्द-भंडार का ज्ञान इनकी रचनाओं को देखकर ज्ञात हो जाता है। देखिये :

चूणामणिलग्नलेखप्रतिबिम्बवाचितक्षणंचचारुचामीकर चामरग्राहिणी ययतां ययौयवनेश्वरस्य ॥

—हर्षचरित, पृ० १०७

इयं हि सुभटखंगमण्डलोत्पल-वन-विभ्रम भ्रमरीलक्ष्मीः क्षीर सागरात् पारिजातपल्लवेभ्यो रागम्, इन्दुशकलादेकान्तवक्रताम्, उच्चैःश्रवश्चंचलताम्, कालकूटान्मोहन शक्तिम्, मदिराया मदम् कौस्तुभमणिरतिनैष्ठुर्य्यम, इत्येतानि-सहवास परिचयवशाद्विरह विनोद चिन्हानिगृहीत्वेवोदगतां।

—कादम्बरी, पृ० २६४, हरिदास टीका

अर्थ—वीरों के खड्ग मण्डल रूपी कमल समूह के लास्य में लालसा रखने वाली भ्रमरी के समान महालक्ष्मी क्षीर सागर से निकलते समय पारिजात के पल्लवों से राग, अनुराग और लालिमा; चन्द्रखण्ड से वक्रता, उच्चैश्रवा से चंचलता, कालकूट विष से मोहन-शक्ति, मदिरा से मादकता और कौस्तुभमणि से निष्ठुरता आदि को अपने सहवासियों के वियोग-चिन्हों की भाँति लेकर निकली है।

कवि लक्ष्मी की वक्रता, चंचलता, मोहनशक्ति, मादकता, निष्ठुरता आदि का परिचय अनूठे ढंग से दे रहा है। दण्डी का वर्णन कुछ यथार्थ मंडित है। देखिये :

विदित मेवखलुविदित विदितक्रमस्य यथेमाप्रतिपादसुलभान्तराय दुर्योजन साधन समवायाश्च सम्पन्तय:। प्रार्थ्यमाना दु:खाया: समराध्यमाना दु:खशीला, रक्ष्यमाणा प्रपलायिनी च लक्ष्मी :।

—अवन्ति सुन्दरी कथा, पृ० १०५, चौखंभा संस्करण

अर्थ—ज्ञातव्य बातों को जाननेवाले तुझे ज्ञात ही है कि लक्ष्मी पद-पद पर विघ्न-बहुल होती है। उसकी प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के दुराचार का आश्रय लेना पड़ता है। बारंबार प्रार्थना करने पर भी उसका मिलना कठिन है। आराधन भी किया जाय तो दु:खदायिनी होती है। रक्षा करने की चेष्टा करने पर तीव्र वेग से भाग जाती है।

वाण की रचना में भाषा की चित्रोपमता, लय समन्वित विचारों की नूतन परंपरा तथा अलंकरणप्रियता अधिक है। दण्डी की भाषा शिष्ट, स्निग्ध एवं शान्त है। पद-विन्यास की प्रौढ़ता अनूठी लाक्षणिकता, सजीव मूर्तिमत्ता का समावेश, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का मनोरम प्रयोग आदि विशेषताएँ दण्डी के साहित्य में बहुलता से मिलती हैं।

हिन्दी गद्य-काव्यकारों ने वैदिक साहित्य की सरल शैली ही गद्य-काव्य के लिए अपनाई है, वाण तथा दण्डी की अलंकरण-प्रधान शैली नहीं। वर्तमान युग की व्यस्तता साहित्यकार से स्पष्ट कथन की माँग करती है, या यों कहें कि युग की व्यस्तता का प्रभाव साहित्यकार पर भी पड़ा है वह इसीलिए अपने कथन में स्पष्ट हो गया है। आज के जीवन की व्यस्तता पाश्चात्य विज्ञानवाद की देन है। वहाँ के साहित्य में इस प्रकार की शैली देखने को मिलती है। अंग्रेजी भाषा में गद्य-काव्य की रीति बाइबिल से आई। बाइबिल हिब्रू या इब्रानी भाषा में लिखी है। इस भाषा में गद्य का विकास पद्य की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ रहा। चित्त में भावोद्रेक होने पर प्राचीन यहूदी संत रुचि-विशेष के कारण गद्य में ही भाव प्रकाशित किया करते थे। इब्रानी गद्य-काव्य की यह विशेषता थी कि एक पंक्ति में प्रकट किये गये भाव, किसी-न-किसी रूप में दूसरी में पुनरावर्तित होते थे। इसे अंग्रेजी में श्लोकार्धगत भावसाम्य

कहा जाता है। जब अंग्रेजी भाषा में इब्रानी गद्य का अनुवाद किया गया तो इस गद्य-कविता के ढंग का बड़ा समादर हुआ; पर आध्यात्मिक अनुभवों के अभाव में यह शैली अपनाई न जा सकी। अष्टादश शतक के द्वितीयार्ध से अंग्रेजी में इसका कुछ-कुछ अनुकरण होने लगा। गैलिक भाषा बोलने वाली स्काटलैण्ड की एक पहाड़ी जाति का प्राचीन साहित्य, मैक्फरसन ने सन् १७६७ में प्रकाशित किया। अज्ञात गैलिक साहित्य के ऐसे गद्य-कवितामय प्रकाश से जो बाइबिल की भाषा से स्पर्धा करता था, साहित्य-रसिकों के हृदय में आनन्द की लहरें उमड़ पड़ीं। डाक्टर जानसन आदि ने इसके विरोध में कहा भी, इस तरह का उन्नत साहित्य अर्धबर्बर गैलिक जातियों में नहीं हो सकता और निश्चय ही मैकफरसन ने बाइबिल के ही भावों को चुराया है। स्मरण रहे कि हिन्दी गद्य-काव्य पर भी यही आरोप है।

इसके पश्चात् विलियम ब्लैक[१] के गद्य-काव्य लिखे गये। इनके गद्य-काव्यों की भाषा बाइबिल की-सी है। प्रसिद्ध अमेरिकन कवि वाल्टव्हिटमैन[२] (१८१९-१८९८) ने अपने गद्य-काव्यों में नवीन विशिष्टताएँ सर्जित कीं। योरोप तथा अन्य देशों के कवियों ने भी इस गद्य-कविता को अपनी-अपनी भाषा में अपनाया। खलील जिब्रान तक पहुँचते-पहुँचते गद्य-काव्य अपनी सभी विशेषताओं से युक्त हो गया।

श्री रवीन्द्र-जैसे मेधावी कवि-सम्राट् ने जब अपनी गीतांजलि और अन्य कविताओं का अनुवाद अंग्रेजी गद्य में किया तो उन्हें स्वतः बाइबिल की शैली प्राप्त हो गई। इसके पश्चात् आचार्य क्षितिमोहन सेन[३], पंजाब के कवि पूर्णसिंह[४], भाई वीरसिंह[५], प्रो० कृष्णमूर्ति[६] आदि की गद्य-काव्यात्मक रचनाएँ देखने को मिलती हैं। पूरणसिंह तथा भाई वीरसिंह की रचनाएँ मूल पंजाबी से अंग्रेजी में अनूदित की गई हैं।

गद्य-साहित्य के विविध रूपों में गद्य-काव्य के तत्वों का निदर्शन

यद्यपि अपने अर्वाचीन सुनिश्चित स्वरूप में हिन्दी गद्य-काव्य की परिपाटी सन् १९१४ के बाद आनेवाली विशिष्ट रचनाओं में ही सीमित की जाती है, तथापि गद्य-काव्य की उद्भावना के लिए पूर्वपद एवं पश्चातपद किया जानेवाला हिन्दी साहित्य के विद्वानों का प्रयास विस्मृत नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह एक क्रम बनाते हुए गद्य-काव्य को समझने का एक भारी सहारा है। अतएव यह आवश्यक है कि गद्य के माध्यम से कुछ ऐसे लेखकों की शैली का विवेचन किया जाय जिनकी

---

१. ब्लैक जीवन-काल (१७५७-१८२७)
२. Leaves of the grass.
३. कबीर के पद बंगाक्षर में, हिन्दी अनुवाद के सहित।
४. The sister of spinning wheel and other Sikh poems, 1940.
५. The String Beads, 1926.
६. At the feet of the master.

मंरचनाओं गद्य-काव्य के तत्व बिखरे हुए हैं; क्योंकि गद्य-काव्य के आधुनिकतम स्वरूप का प्रासाद इन पर ही खड़ा हुआ है। जिस प्रकार आत्मा सर्वप्रथम अपनी शक्ति विराट प्रकृति में बिखेरती है, पर चेतन के रूप में भासमान होने के लिए जड़ प्रकृति के तत्वों का आश्रय लेती है उसी प्रकार गद्य-काव्य ने अपने स्वरूप के उदय के पूर्व अपना तत्व नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, गीति आदि में उत्कीर्ण कर रक्खा था, इन्हें सँजोकर वह आज अपने आधुनिकतम रूप को प्राप्त कर सका है। आधुनिकतम गद्य-काव्य की ध्वनि, लय, संगीत एवं नाद-योजना के प्राथमिक बीज सर्वप्रथम ब्रजभाषा गद्य में उपलब्ध होते हैं जिसमें बाण की शैली की लयात्मकता, आकर्षण तथा अनुप्रास की छटा है। यथा :

"देख ही दरसन शांत रस वरसन मुनिन मन करषन, संतत सुख सरसन,
लतन तरुन कुंजन छवि पुंजन, सुबलफल फूलन मृदुमूलन
सघन बनन खग कुलवृन्दन, मंजु अलि पुंज गुंजन लुंज मन
करिन, दरिन झरनन झरन जल कनन दुर दिन
करन जगन मृगन गनन संकुलि सुधा सरिस सलिल सहित
अति ललित कूलन बलित विकसित वरन वरन अमल कमल
कलित कल कारंडव चक्रवाक जाल मराल माल कूजन मृदु
मूलन तकत चैताय उन्मूलन छवि भरितनि सरितनि
महा मंडित है।"

—आनंद रघुनंदन (१८३०) पृष्ठ ४०, विश्वनाथसिंह सभा० सं०

नाटककार ने इस शैली को ही गद्य माना है, यद्यपि इसी रचना में 'आजु के रोज ह्याईं रहौ रूप लखाय हमारे नैन सफल करौ' आदि सरल गद्य-प्रयोग भी हैं। अवश्य ही नाटककार के गद्य शब्द का तात्पर्य गद्य-काव्य ही है।

गद्य-साहित्य के आविर्भाव काल में सभी प्रान्तीय भाषाएँ बाण की शैली से अनुप्राणित दिखाई पड़ती हैं। बंगला-साहित्य के गौड़ीय-युग में एक स्त्री अपने पति को अलंकृत शैली में पत्र भेजती है। उत्तर भी इसी शैली में है।[1]

१. श्री चरण सरसी दिवानिशि साधन प्रयासी दासी श्रीमती मालती मंजरीदेवी प्रणम्य। प्रियवर प्राणेश्वर निवेदन चादौ महाशयो श्रीपद सरोरुह स्मरण मात्र शुभं विशेष। पर महाशय घनाभिलापि परदेशे चिरकाले काल यापन कोरितेछेन। जे काले ये दासीर कालरूप लग्ने पादेक्षप कोरियाछेन से काल हरण कोरिया द्वितीय काले काल प्राप्त होइ आछे। अतएव पर काले काल रूप के किछु काल सांत्वना कौरा दुई काले शुभ कर विवेचना कोरिवेन अतएव जाग्रत निद्रितार नाय संयोग संकलन परित्याग पूर्वक 'श्रीचरण युगले स्थानं प्रदान कुरु निवेदन इति।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दी साहित्य के आधुनिकतम विवेचकों ने वाण की गद्य-शैली को गद्य-काव्य की संज्ञा नहीं दी है, पर इसमें गद्य-काव्य का अलंकरण तत्व तो अवश्य वर्तमान है।

गद्य-काव्य के क्रमिक विकास का विवेचन सं० १६२५ में साहित्य में पदार्पण करनेवाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से सुगमतापूर्वक आरम्भ किया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने हिन्दी गद्य के प्रस्ताव-काल को समाप्त करते हुए अपने पूर्ववर्ती गद्य-साहित्यकार राजा शिवप्रसाद की अरबी, फारसी-प्रधान शैली और राजा लक्ष्मणसिंह की घरेलूपन लिए हुए शैली में एक सामंजस्य के द्वारा हिन्दी गद्य का स्वरूप तो निर्धारित किया ही, साथ ही अपनी तथा अपने काल की कृतियों में 'गद्य-काव्य' के कुछ अनिवार्य लक्षणों के प्राकाट्य में सीधा योग दिया। भारतेन्दुजी के नाटकों में भावपूर्ण स्थलों का बाहुल्य मिलता है। 'चन्द्रावली नाटिका' में भावावेश शैली के ऐसे काव्यत्व-पूर्ण मनोहर स्थल बहुत हैं जिनमें गद्य-काव्य के तत्व वर्तमान हैं। यथा—

नाटक—"सखी देख बरसात भी अबकी किस धूमधाम से आई है, मानों कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेवा भिजवाई है। धूम से चारों ओर घूमकर बादल परे-के-परे जमाये बंगपति का निशान उड़ाये, लपलपाती नंगी तलवार-सी बिजली चमकाते, गरज-गरजकर डराते, बान के समान पानी बरखा रहे हैं। और इन दुष्टों का जी बढ़ाने को मोर कर-रवा-सा कुछ अलग पुकार गा रहे हैं। कुल की मर्यादा ही पर इन निगोड़ों की चढ़ाई है। मनोरथों से कलेजा उमगा आता है।"

—चन्द्रावली, पृ० २४, इ० प्रे० सं०

भारतेन्दु-साहित्य में भाव-प्रकाशन की दो शैलियाँ परिलक्षित होती हैं—

पत्र का उत्तर—

परम प्रणयार्णव गंभीर नीर तीर निवसित कलैव राग सम्मिलित नितान्त प्रणयाश्रित श्री अनंग मोहन देवशर्मणः झटित घटित वांछितातक करण विज्ञापनंश्चादौ श्रमतीर श्रीकर कोमलांकित कमल पत्री पठित मात्रं शुभं। विशेष बहुदिवसावधि निरवधि प्रयास प्रवास निवास ताहाते कर्म फांस व्यतिरिक्त उत्तक्तातंककरणे कालयापन कोरितेछी। अतएव मन, नयन, प्रार्थना कोरे जै सर्वदा एकतापूर्वक अपूर्व सुखोद्भव मुखारविन्द यथायोग्य मधुकरीन्याय मधुमासादि आशादि परिपूर्ण होआ, प्रयास मीमांसा प्रणेता श्री ईश्वरेच्छा शीतान्ते नितान्त संयोगपूर्वक कालयापन कर्त्तव्य।

—बंगला साहित्य का इतिहास, पृ० १२३, मोहितलाल मजूमदार
प्र० सं० बंगला सं०

प्रथम अत्यन्त भावावेश की शैली के समय उन्होंने छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है। यह शैली गद्य-काव्य की भावव्यंजना के अति निकट है। यथा—

"हाय ! प्यारे, हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते। प्यारे, फिर यह शरीर कहाँ और हम-तुम कहाँ ? प्यारे, यह संजोग हमको तो अबकी ही बना है, फिर यह बातें दुर्लभ हो जायेंगी। हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किसको सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूँ। प्यारे, रात छोटी है। और स्वांग बहुत हैं। जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा। हाय ! मुझसी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं। रात-दिन रोते ही बीतते हैं। कोई बात पूछने-वाला नहीं, क्योंकि संसार में जी को कोई नहीं देखता, सब ऊपर ही की बात देखते हैं। हाय ! मैं तो अपने पराए सबसे बुरी बनकर बेकाम होगई। सब को छोड़कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की। हाय ! मैं किसकी हो के रहूँ, मैं किसका मुँह देखकर जिऊँ। प्यारे, मेरे पीछे कोई चाहने वाला न मिलेगा। प्यारे, फिर दिया लेकर मुझको खोजोगे। हा ! तुमने विश्वास-घात किया। प्यारे तुम्हारे निर्दयीपन की भी कहानी चलेगी। हमारा तो कपोत व्रत है। हाय ! स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो। बकरा जान से गया, पर खानेवाले को स्वाद न मिला। हाय ! यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे। वाह ! खूब निबाह किया। बधिक भी बधकर सुध लेता हैं, पर तुमने न सुध ली। हाय ! एक बेर तो आकर अंक में लगा जाओ। प्यारे, जीते-जी आदमी का गुन नहीं मालूम होता। हाय ! फिर तुम्हारे मिलने को कौन तरसेगा और कौन रोएगा। हाय ! संसार छोड़ा भी नहीं जाता। सब दुःख सहती हूँ, पर इसी में फँस पड़ी हूँ। हाय नाथ ! चारों ओर से जकड़कर ऐसी बेकाम क्यों कर डाली है।"

—भारतेन्दु ग्रन्थावली, ना० प्र० स० सं०, चन्द्रावली, पृ० ४४७-४८

द्वितीय प्रकार की भावावेश शैली में आत्मक्षोभ, कटु अनुभूति एवं व्यंगपूर्ण अभिव्यंजना का चित्रण मिलता है। इस शैली में विचार-व्यवस्था एवं व्यंग के कारण वाक्य बड़े होते हैं और संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यवहार मिलता है। इस प्रकार की शैली का प्रयोग सर्वत्र नहीं मिलता, पर जहाँ है वहाँ वह बड़ी ही परिष्कृत एवं प्रभविष्णु है। यथा—

"जब मुझे रमणी लोग भेद सिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण और विविध वर्णवसन में भूषित क्षीण कटिदेश कसे निज निज पति-गण के साथ प्रसन्न वदन इधर-से-उधर फर-फर कल की पुतली की भाँति फिरती

हुई दिखाई पड़ती है तब इस देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझ को स्मरण आती है और यही मेरे दुःख का कारण है।"

—नीलदेवी की भूमिका से, भारतेन्दु नाटकावली प्र० सं०, इ० प्रे०, पृ० ६७

भारतेन्दुजी ने वाण की विशेषण-प्रधान शैली भी अपनाई है। यथा—

"जहाँ मूर्तिमान सदाशिव प्रसन्न वदन आशुतोष सकल सद्गुणैकरत्नाकर, विनयैकनिकेतन, निखिलविद्या विशारद, प्रशांत हृदय गुणिजनसमाश्रय, धार्मिक प्रवर, काशीनरेश महाराजाधिराज श्री महीश्वरीप्रसाद नारायण सिंह बहादुर, और उनके कुमारोपम कुमार प्रभुनारायण सिंह बहादुर दान धर्म्म सभा, रामलीलादि के लिए धर्मोन्नति करते हुए और असत् कर्म्मनीहार को सूर्य की भाँति नाशते हुए पुत्र की तरह अपनी प्रजा का पालन करते हैं।"

—भारतेन्दु ग्रंथावली, ना० प्र० स०, 'प्रेम जोगिनी', पृ० ३३९

अत्यन्त भावावेश शैली के उत्कृष्ट रूप हमें द्विजेन्द्रलाल राय के अनूदित नाटकों में प्राप्त होते हैं। इसमें गद्य-काव्य के पर्याप्त तत्व हैं।[1]

भावावेश की यह शैली विक्षेपमूलक है। क्षोभ, दैन्य आदि का स्पष्ट चित्र इसके द्वारा गद्य-काव्यों में किया गया है।

प्रसाद तथा वृन्दावनलाल वर्मा के नाटकों[2] में भी गद्य-काव्य के तत्व वर्तमान हैं। यथा—

"उस हिमालय के ऊपर प्रभात सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित प्रभा का, पीले पोखराज का-सा एक महल था। उसीसे नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतल लता से सुगन्धित थी। सुनहरी

---

१. तो फिर देर क्या है ? या खुदा अब उसे नेस्तनाबूद कर दो। अभी गला घोट कर उसे मार डालो। अरे ऐसा ही है तो ऐ आसमान ! अभी तक तेरा रंग नीला क्यों है ! सूरज ! तू अभी तक आसमान के ऊपर क्यों है ! बेहया ! नीचे उतर आ ! एक बड़े भारी तूफान में तू चूर-चूर हो जा ! भूचाल ! तू हुक्म कर इस जमीन की छाती फाड़कर इसके टुकड़े उड़ा दे ! ऐ आग ! तू भभक कर तमाम दुनियाँ को खाक में मिला दे ! और क्या ही अच्छा हो, अगर भारी आँधी आकर वही खाक खुदा के मुँह पर डाल आवे।

—'शाहजहाँ', पृ० ३४, प्र० सं०

२. प्रसाद—चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ।
वृन्दावनलाल वर्मा—पूर्व की ओर।

किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को जला दिया। पुतली! उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रक्खे।"

—'स्कन्दगुप्त', पृ० २०, प्र० सं०

दिवस के गिराहीन गगन का सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा बोलता है, निशा के निश्शब्द नभ का राकेश चन्द्रिका की वाणी द्वारा अपनी पद-चाप को प्रकट करता है और राकेश न हो तो तमिस्रा में तारे।

—'पूर्व की ओर', पृ० ६, वृन्दावनलाल वर्मा च० सं०

भावावेश की शैली, अलंकरण की शैली तथा तथ्यनिरूपण शैली के अतिरिक्त गद्य-काव्य का विशिष्ट तत्व मानवीकरण भी नाटकों के स्वगत भाषणों में मिलता है। 'प्रसाद' से एक उदाहरण इस प्रकार है :

तक्षक—प्रतिहिंसे! तू क्यों हृदय को जला रही है! मैं अपने शत्रुओं को सुखासन पर बैठे, साम्राज्य का खेल खेलते देख रहा हूँ और स्वयं दस्युओं के समान अपनी ही धरणी पर पैर रखते हुए भी कांप रहा हूँ।

प्रलय की ज्वाला इस कंकाल में धधक उठती है। तू बलि चाहती है, तो ले मैं दूँगा। छल, प्रवंचना, कपट, अत्याचार सब तेरे सहायक होंगे, हाहाकार, क्रन्दन और पीड़ा तेरी सहेलियाँ होंगी। रक्तरंजित हाथों से तेरा अभिषेक होगा। शून्य गगन शवगंध-पूरित धूम से भरकर तेरी धूपदानी बनेगी। तक्षक पुजारी होगा—कंटकासन पर बैठकर तेरी उपासना करेगा। ठहर देवी ठहर!

—'जनमेजय का नागयज्ञ', पृ० ३१ च० सं०

यदि उपर्युक्त उद्धरण से तक्षक शब्द हटा दिया जाय तो गद्य-काव्य ही हो जायगा। 'आशा', 'गर्व', 'क्रोध' आदि पर इसी प्रकार गद्य-काव्य में रचनाएँ हुई हैं।

लाक्षणिक एवं चमत्कारिक शैली गद्य-काव्य की दीप्ति को ऊर्जस्वित करने में अतुलनीय है। गद्य के माध्यम से नाटकों में इसका सुन्दर स्वरूप मिलता है। यथा—

"शिशिर कणों से सिक्त पवन तुम्हारे उतरने की सीढ़ी बना था, उषा ने स्वागत किया, चाटुकार मलयानिल परिमल की इच्छा से परिचारक बन गया और बरजोरी मल्लिका के एक कोमल वृन्त का आसन देकर तुम्हारी सेवा करने लगा। उसने खेलते-खेलते तुम्हें उस आसन से भी उठाया और गिराया।"

—'अजातशत्रु', पृ० ४७

उपन्यास—भावप्रधान उपन्यासों के द्वारा भी गद्य-काव्य को अच्छा प्रोत्साहन मिला है। बालकृष्ण भट्ट का 'सौ अजान एक सुजान', प्रसाद का 'कंकाल', चंडीप्रसाद 'हृदयेश' की 'मनोरमा', व्रजनन्दन सहाय का 'सौन्दर्योपासक' तथा पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'वाण भट्ट की आत्मकथा' ऐसे ही भावप्रधान उपन्यास हैं। इनमें भाषा एवं

भाव का ललित एवं अलंकृत रूप यत्र-तत्र मिलता है। कवित्वपूर्ण प्रकृति वर्णन, कवित्वपूर्ण शैली एवं चरित्र-चित्रणों के संयोग से भाव-प्रधान उपन्यास, उपन्यास के रूप में काव्य ही जान पड़ते हैं।

उदाहरणों को देखने से यह बात ज्ञात हो जायेगी। यथा—

"निस्संदेह वह युवती यौवन चन्द्रोदय की चाँदनी थी, रति रसामृत की महा-नदी थी, क्रान्ति की कौमुदी थी, दमकती द्युति सौदामिनी थी, अनंग पहलवान के खेल का रंगशाला थी।"

—'सौ अजान एक सुजान', पृ० ६२, बालकृष्ण भट्ट प्र० सं०

"इस संसार में अग्नि कहाँ नहीं? निर्मल चन्द्रिका में, प्रफुल्ल मल्लिका में, कोकिल की काकली में, कुसुम के सौरभ में, मृदुल पवन में, पक्षियों के कूजन में, रमणी के मुखड़े में, पुरुष के हृदय में—कहाँ आग नहीं धधक रही है? किस आग में आदमी नहीं जलता, अगर प्यार करोगे तो भी जलना होगा और यदि नहीं प्यार करोगे तो जल-भुनकर खाक हो जाना होगा। लड़केवाले नहीं होंगे तो शून्य गृह लेकर जलना होगा और होंगे तो संसार-ज्वाला में जलना होगा।"

—व्रजनन्दन सहाय, 'सौन्दर्योपासक,' पृ० १२५ प्र० सं०

जूही की प्यालियों में मकरन्द मदिरा पीकर मधुपों की टोलियाँ लड़खड़ा रही थीं और दक्षिण पवन मौलसिरी के फूलों की कौड़ियाँ फेंक रहा था। कमर से झुकी हुई अलबेली बेली बेलियाँ नाच रही थीं।

—प्रसाद, 'कंकाल', पृ० ४६ तृ० सं०

साध्य समीर परिहासमय पुष्प-पुंज से क्रीड़ा कर रहा था। महेन्द्रा अपना अविरल संगीत प्रवाहित किये जा रही थी। स्निग्ध सौन्दर्य नृत्य कर रहा था, प्रकृति-परिवार संगीत गा रहा था और परिमलमयी शांति ताल दे रही थी।[1]

—मनोरमा प्र० सं० पृ० १५८, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

"धारासार वर्षा के बाद शिथिल वृन्त अशोक पुष्प के समान उनके नयन रक्त होने पर भी आर्द्र थे, तुहिन सिक्त शेफालिका कुसुमानल के समान उनका

---

१. चैत्र का प्रोज्ज्वल समुद्भासित नील नभोमण्डल इस समय योगी की भाँति निर्विकार, त्याग की भाँति विशाल और मोक्ष की भाँति उन्मुक्त था, और अतुल कान्तिमय चन्द्र अनन्त आनन्द की पुंजीभूत प्रभा की भाँति वहाँ देदीप्यमान हो रहा था।

—मनोरमा, प्र० सं० पृ० २६, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

नासावंश पिंगल होकर भी मनोरम था, विद्युत शिखा संवलित मेघमण्डल से आच्छादित चन्द्रमण्डल की भाँति उनका ललाट पट्ट प्रभामण्डित था।"[१]

—आचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बाणभट्ट की आत्मकथा पृ० १०८

कवित्वमय कहानियाँ—एक ओर जहाँ भाषा में व्यापकता लाने के लिए गंभीर कार्य हुआ वहीं उस गम्भीरता के बीच मनोरंजन के निमित्त, सरस साहित्य का सुन्दर सृजन भी किया गया। भाषा का नूतन सन्देश सब तक पहुँचाने में इस परम्परा का बड़ा हाथ है, क्योंकि इसने आख्यायिका के उस अंश को अपने उद्गारों का माध्यम बनाया जो हिन्दी संसार में अबाध गति से लोकप्रियता का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। यद्यपि इस विभाग का उद्देश्य कहानी को सृष्टि करना ही रहा है, फिर भी व्यवस्थित भाषा-शैली-भाव और विचार के मोहक परिपाक से, इस प्रकार के साहित्य में प्राचीन गद्य-काव्यों का विकसित स्वरूप एवं अर्वाचीन का मुकलित स्वरूप देखने को मिलता है। कवित्वमय कहानियों का यह युग गद्य-काव्य के उत्थान में एक सन्धि-काल है।

बाबू जयशंकर प्रसाद की 'स्वर्ग के खण्डहर', 'आकाशदीप' आदि कहानियाँ सौन्दर्य-सौष्ठव में गद्य-काव्य की समीपता प्राप्त करती हैं। गद्य-काव्य की भाषा का आधुनिक समुज्ज्वल स्वरूप उनकी कहानियों में मिलता है। भावपद्धति के निदर्शन का उनका चमत्कारिक शिल्प वस्तुतः गद्य-काव्य की निजी विभूति है। बाण की गद्य-काव्य सम्बन्धी परिभाषा से दूर हटकर यद्यपि प्रसाद की गद्य-काव्यात्मक कहानियाँ गद्य-काव्य के आधुनिकतम तत्वों से अलंकृत हैं, फिर भी उन्हें गद्य-काव्य की संज्ञा इसलिए नहीं दी जा सकती, क्योंकि उनमें प्रकरणहीनता नहीं है। भाव के अनुरूप चलनेवाली उनकी धारावाहिक भाषा का उदाहरण इस प्रकार है :

"शरद के धवल नक्षत्र, नील गगन में झलमला रहे थे।

चन्द्र की उज्ज्वल विजय पर अन्तरिक्ष में शरद लक्ष्मी ने आशीर्वाद के फूलों और खीलों को बखेर दिया।"[२]

---

१. उनके चिकुर-जाल अस्तव्यस्त हो रहे थे, मानो संकीर्ण तरुषण्ड से कष्टपूर्वक निकले हुए मयूर के विक्षुब्ध बर्हभार हों, पुष्करिणी के आलोड़ित शैवाल जाल हों या उद्वेलित मालती लता की विक्षुब्ध भ्रमर-पंक्ति हो।

—पृ० १८९, आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

२. "अनन्त जलनिधि में उषा का मधुर आलोक फूट पड़ा। सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कुराने लगी।"

"तारक खचित नील अम्बर और नील समुद्र अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था। अंधकार से मिलकर पवन दुष्ट हो रहा था।' —'आकाशदीप' से

'प्रसाद' की रचना में भावुकता, कल्पना तथा उक्ति-वैचित्र्य का पर्याप्त मिश्रण है। इन गद्यों में काव्य का प्रौढ़तम स्वरूप दिखलाई पड़ता है। भावभंगिमा तथा विषय-प्रतिपादन के साथ अप्रस्तुत विधानों का काव्योचित प्रयोग उनकी गद्य-रचना में एक अद्भुत चमत्कार ला देता है।

राधिकारमण प्रसाद सिंह की कहानियों में काव्यात्मक गद्य के बहुत से स्थल मिलते हैं। 'राम रहीम', 'पाँच फूल', 'टूटा तारा' को देखने से यह बात ज्ञात हो जायगी। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। यथा—

"जब युग के मनीषियों ने विलासिता के उल्लंग उच्छ्वास पर कला की मुहर देकर अच्छाई और बुराई की तमीज की दूरबीन ही बदल दी तो फिर बुद्धि की शानदार सिपहसालारी में लालसा के रिसालों को, नैतिकता की सल्तनत को लूटकर तबाह कर देने में कहाँ तक देर होगी ?"[1]

—पृ० १० 'टूटा तारा' : मौलवी साहेब कहानी

गद्य-काव्य की भावव्यंजकता, पदलालित्य, माधुर्य एवं रसात्मकता चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' की कहानियों में भरी पड़ी है। यथा—

"प्रणय का अनंत वैभव है। अंबर चुंबित राजप्रासाद के अभ्यंतर में, अनंत रत्नमाला से आलोकित विलास-कक्ष में, प्रस्फुटित पद्म-पुंज के पराग से आमोदित आराम में, कुसुम कलेवरा कामिनी की कंठ-लहरी से मुखरित प्रकोष्ठ में, मूर्तिमती रागिनी के स्निग्ध सौंदर्य से रंजित रंगभूमि में, शृंगारमयी कविता-

---

१. जवानी के पौर पर पैर रखते ही उनकी खुली आँखों ने झट यह अंदाज लगा लिया कि इस कुहकुनी की मीठी बातों में वे आ गये तो संभव है कि जीवन में थोड़ा रस तो मिले, पर उस रस की एक बूंद भी उनके चेहरे के तमाम पानी को धोकर बहा देने के लिए काफी होगी।'

—पृ० १२१, 'टूटा तारा' देवी बाबा कहानी

तथा

सावन की झरि तुम्हारे मन में सूने जीवन की व्यथा उभार जाती है, निशीथ की चाँदनी तुम्हारी नस-नस में किसी अज्ञात रस की प्यास जगा जाती है, हवा पर थिरकती हुई सुर की लहरी तुम्हारी छाती में मधु की फुहार उड़ेल देती है, तो सच मानों तुम्हारा हृदय तपस्वी का कठोर हृदय नहीं, एक मानव का सहज हृदय है। —पृ० ४५

इसी प्रकार 'वीर बाला' कहानी में भी अलंकृत शैली का प्रयोग हुआ है। यथा : विविध विलासों की गोद में पली थी, अनन्त चन्द्रिका की किरणों में खिली थी, अमृत के छींटों से सींची हुई लता थी। परिजात-पादप पर चढ़ी हुई कोमल लतिका थी।'

किशोरी के मधुर पदलालित्य से रमित साहित्य-सदन में प्रेम, अपनी विस्तृत विभूति से विभूषित होकर अपने अनिंद्य यौवन के अपूर्व प्रकाश में, अपने सौंदर्य की दिव्य ज्योति के मध्य में अनंत आनंद का प्रवर्तक होकर भगवान की आनंद-मूर्ति का 'साकार' परिचय देता है।"

—नन्दन-निकुंज, पृ० ८७

प्रकृति के नाना रूपों के प्रतिबिंबों को मानव के अन्तर्तम हृदय-कक्ष में स्थिर होकर बाह्य उपकरणों से प्रकाशित होते हुए 'हृदयेश' जी ने अनुभव किया था। इसीलिए प्रकृति की रूप-माधुरी के प्रति उनके हृदय में एक अद्भुत उल्लास था। उनके लिए अनुरागमयी प्रकृति का अनन्त मूर्तिमान सौन्दर्य, मानव की विविध चेष्टाओं का रूप धारणकर जगत् में प्रतिभासित होता प्रतीत होता था। सौन्दर्य-चयन की अटूट प्यास तथा आनन्दान्वेषण की अतृप्त क्षुधा ने इसीलिए 'हृदयेश' की गद्य-रचनाओं में काव्य-तत्व का पर्याप्त पुट दे डाला। इतिवृत्त, कथन, वस्तुव्यंजना, भावाभिव्यंजना तथा आंतरिक वृत्तियों का विश्लेषण एवं प्रकाशन—सब में भाषा का साहित्यिक एवं आलंकारिक स्वरूप संस्कृत की तत्समता के साथ दृष्टिगत होता है, परन्तु संस्कृत के समासांत पदावली का अन्धानुकरण इन्होंने नहीं किया है। भावोन्मेष के लिए सादृश्य-मूलक अलंकारों का प्रयोग इनकी रचनाओं में इस प्रकार हुआ है कि भावों में दुरूहता नहीं आ पाई है। इनकी भाषा भावों के अनुकूल गतिमान हुई है। 'विलासिनी' में भावाभिव्यंजना की चित्रोपमता द्रष्टव्य है। यथा—

"नन्दन-निकुंज की शीतल छाया के कृष्णाम्बर से सूक्ष्म तन्तुपुंज लेकर यदि स्वर्ग ने उसकी आपन्दलम्बित कलित कुन्तल केश-राशि की कल्पना की थी तो विश्व ने रत्नाकर के गंभीर विशाल हृदय में वात्सल्य सुन्दर भावों के समान लीला करनेवाले समुज्ज्वल मुक्ताफलों से उसका शृंगार किया था। प्रभात सूर्य की प्रोज्ज्वल प्रभा के सार को लेकर यदि स्वर्ग ने उसके प्रसन्न शोभामय ललाट की रचना की थी, तो विश्व ने मणिमण्डित कांचन-किरीट से उसे विभूषित किया था।"

—चाँद, अक्टूबर १९२६

भावों की स्वाभाविक व्यंजना के साथ काव्योन्माद का बिखरा हुआ स्वरूप हमें प्रेमचन्दजी की रचनाओं में मिलता है। यद्यपि इनमें प्रसाद की काव्य-कल्पना का उल्लास नहीं है, फिर भी भावों की लड़ियों में गुंफन, परिष्कार तथा आकर्षण है। यथा :

"अहा ! कितना विरागजनक राग है, कितना विह्वल करनेवाला। मैं अब तनिक धीरज नहीं कर सकती। पानी उतार में जाने के लिए जितना व्याकुल होता है, श्वास हवा के लिए जितनी विकल होती है, गंध उड़ जाने के लिए

जितनी उतावली होती है, मैं उस स्वर्गीय संगीत के लिये व्याकुल हूँ। उस संगीत में कोयल की-सी मस्ती है। पपीहे की-सी वेदना है, श्यामा की-सी विह्वलता है, इसमें झरनों का-सा जोर है, आँधी का-सा वेग है।

—'आत्म-संगीत' कहानी से

इसी प्रकार उषादेवी मित्रा की कहानी 'प्यासी हूँ', विनोदशंकर व्यास की कहानी 'अभिनेता', 'अपराध' तथा 'उसकी कहानी', गोविन्दवल्लभ पंत का 'मिलन मूहूर्त' वृन्दावनलाल वर्मा का 'प्रेम की भेंट', रघुवीरसिंह का 'सप्तदीप संग्रह', मोहनलाल महता का 'रजःकण' संग्रह तथा 'स्वयंवरा' कहानी, जैनेन्द्र का 'खेल', वाचस्पति पाठक की 'रानी', व्यथित हृदय की 'सुहागरात' आदि कहानियां काव्यतत्व से ओतप्रोत हैं। कुछ क उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। यथा—

"दुनिया के पर्दे में स्वप्न की रानी झाँक रही थी विजेता की भाँति। उसके नूपुर की मिलन गीत से पृथ्वी मूर्छित होती जाती थी।"[1]

—'प्यासी हूँ' कहानी से : उषादेवी

---

१. शिशिर सिक्त पौष के अवगुण्ठन से बूँद-बूँद कर शीत पृथ्वी पर चू रही थी। और वायु का चांचल्य सूर्य-किरण में रम-सा रहा था, समाधिस्थ योगी-सा।

—'मन का यौवन' कहानी से : उषादेवी

चन्द्रप्रभा ने झोंपड़ियों के उस टिमटिमाते प्रकाश को चुरा लिया।

—'अपराध' से : विनोदशंकर व्यास

उस दिन बाल-बसन्त के सुषमापूर्ण प्रभात में जब कोयल के करुण गान को छाती से लगाए मलय-सुरभि अपने मन से बह रही थी, एक भ्रमण वासवदत्ता की सुविशाल अट्टालिका के द्वार पर भिक्षा के लिए आ खड़ा हुआ। शारदीय शुभाकाश की प्राची में उदयोन्मुख चन्द्रमा की किरणें रूपोज्ज्वल चाँदनी बिछा रही थीं।

—'मिलन मूहूर्त' से : गोविन्दवल्लभ पंत

झील कल्लोल कर रही थी, उसकी लहरों पर तारे थिरक रहे थे। सम्पूर्ण जल-राशि हिलती हुई मुकुर-जटित श्वेत चादर-सी जान पड़ती थी।

—'प्रेम की भेंट' : वृन्दावनलाल वर्मा

यौवन की मदभरी बाढ़ उसकी भावना के पदतल पर टकराकर रह गई और मस्तानी अदा उसके रग-रग में अपनी लाली खो बैठी।

—'सप्तदीप' पृ० १३ : रघुवीरसिंह

प्रकृति की सुरभित साँसों ने मलयानिल बनकर फूलों में महक भर दी अंग-ड़ाई लेकर गुलाब की कलियाँ आँखें खोल अपने रूप को देखने लगीं झुककर।

—'रजकण', पृ० १९ : मोहनलाल महतो

"ऐश्वर्य की कामना वासना के सिन्धु में उन भीषण लहरों के साथ छेड़खानियाँ करने के लिए प्रस्तुत थी।"

'भूली बात' से : विनोदशंकर व्यास

"मैंने कितना सघन तुषार डाला रानी, तुम्हारी कामना की उन मनोरम कलिकाओं के ऊपर जो प्रस्फुटन के लिए अपना मुँह खोल रही थी और तुषार डाला उस राह में जिसे सुहागरात कहते हैं।"

'सुहागरात' से : व्यथित हृदय

"चतुरसेन शास्त्री तथा राय कृष्णदास की कहानियों में भी काव्य के तत्व वर्तमान हैं।

कहानियों के आख्यानों के माध्यम से भासमान काव्यमय गद्य ने समय पर अपने आधुनिकतम स्वरूप को विकसित कर गद्य-काव्य का रूप लिया है।

निबन्ध—आत्माभिव्यंजक निबन्धों में भी काव्य के तत्व बिखरे हुए हैं। भारतेन्दु-काल, द्विवेदी-काल तथा आधुनिक-काल के निबन्धों को देखने पर यह बात ज्ञात हो जायेगी। भारतेन्दु-युग में पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ठाकुर जगमोहनसिंह आदि के निबन्धों में गद्य-काव्य के तत्व बिखरे हुए हैं।

पं० बालकृष्ण भट्ट के गद्यों में भाषा का व्यापक रूप दिखलाई पड़ता है। इनकी रचनाओं ने गद्य-काव्य के निर्माण में सीधा सहयोग प्रदान किया।

इनकी बहुत-सी रचनाओं में, कल्पना एवं भावपूर्ण भाषा का निखरा हुआ स्वरूप दृष्टिगत होता है। यथा :

"कुल कामिनी-सी उषा देवी अपने कमनीय कोमल मुख कमल को अंधकार-पटल से छिपाये हुए घूँघट की ओट से मानों ताक रही है। निशानाथ चन्द्रमा अपनी प्यारी प्रियतमा निशा के वियोग में क्षीण और दुर्बल स्त्रैण स्त्रीजितों की लीला दरसाता हुआ पीला पड़ गया है।"

—'हिन्दी प्रदीप' : अप्रैल सन् १९०६

मौन मुग्ध संध्या स्मित प्रकाश में हँस रही थी, वे लम्बे ऊँचे दिग्गज पेड़ दार्शनिक पण्डितों की भाँति रूप-हास्य की सार-शून्यता पर मन-ही-मन गम्भीर तत्वा-लोचन का हँसी में भूले हुए मूर्खों पर थोड़ी दया बख्शना चाहते थे।'

—'खेल' से : जैनेन्द्र

'अबोध किशोर के पंच भव जीवन की स्पष्ट सारहीन किंतु हृदयस्पर्शिनी वह मानों तोतली भाषा थी।

—'रानी' से : वाचस्पति पाठक

भट्टजी की शैली में वचन-वक्रता सर्वत्र दर्शनीय है। आपके कथन में माधुर्य, आकर्षण तथा वेग पर्याप्त है। भट्टजी ने स्थान-स्थान पर भाव-द्योतन के लिये अंग्रेजी के शब्द भी रख दिये हैं। इनकी भाषा में कांति, ओज और आकर्षण है। उनके विषय-चयन में भी विशेषता एवं चमत्कारप्रियता परिलक्षित होती है। मुहावरों का प्रयोग भावों को तीव्र करने के लिए सर्वत्र आत्मीयता के साथ किया गया है। भावात्मक स्थलों में आवेश के साथ तत्समता का आधिक्य मिलता है। यथा :

"अब उधर भी नजर फैलाइए—स्वरूप देखिए मानो साक्षात् लक्ष्मी। मुँह से बोल निकला मानो फूल झर रहा हो। अंग-अंग की सजावट कोमलता, सलोनापन और सुकुमारता से मन हरे लेती है। चाल-ढाल, रहन-सहन में कुलांगनापना और भलमनसाहत बरस रही है। धन्य है उनका जीवन और महापुण्य भूमि है वह घर जिसे असूर्यंपश्या ऐसी स्त्रियाँ सती सावित्री-समान अपने पदन्यास से पवित्र करती हुई दीपक-समान प्रकाश कर रही हैं।"

—'भट्ट निबन्धमाला' भाग १, पृ० २१

भट्टजी की भावात्मक शैली सुसंबद्ध तथा प्रवाहयुक्त है। उनके भाव-प्रकाशन में आत्मीयता के भाव मिलते हैं। भाषा में विषयानुकूल चढ़ाव-उतार है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की रचना में जहाँ-कहीं भावात्मक स्थल आये हैं तत्समता प्रबल हो उठी है। 'आपसे' निबंध में आप इस प्रकार लिखते हैं। यथा :—

"भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के वाग्वैभव में जो कुछ है, भ्रम ही है। आप पानीहार होंगे तो इस बात के उठते ही पानी-पानी हो जायेंगे। देखें आप (आपका) ज्ञान रखते हैं कि नहीं। जिस आपको आप अपने लिए तथा औरों के लिए प्रति दिन-रात मुँह पर धरे रहते हैं, वह आप क्या है।"

—'आप' से

गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने गद्य-काव्यात्मक प्रबन्धों में ही नहीं वरन् साधारण बातों में भी अलकृत भाषा, सरस पदावली और लम्बे वाक्यों का आश्रय लिया है। साधारण गद्य के क्षेत्र में उनकी भाषा भले ही व्यवहारिक न हो, पर अपनी काव्योचित प्रौढ़ भाषा से उन्होंने 'गद्य-काव्य' को यथासमय प्रोत्साहित किया। इनके गद्य संस्कृत के गद्य-काव्य की शैली लिये हुए हैं। 'आनंदकादंबिनी' के पृष्ठों में संस्कृत की आलंकारिक, दीर्घ पदान्त, रंगीन इनकी रचना के बहुत से स्थल देखने को मिलते हैं। यथा—

"निदान जब कलित काले बलाहकों की कतार से अंधकारमय संसार की अपार बहार विहार के अनुसार अनुभव भई, भूपति भाद्रपद ने अपनी प्रान प्यारी निशा सुकुमारी को आलिगन करना प्रारंभ किया, कि अनादर की ग्लानि से

अभिमानरहित शोकसहित लज्जित सोज्ज्वल द्युतिवाली तारावली तरुणियों ने अपने अनुपम और अमन्द आनन को अदृश्य किया, तो मोहमय मलिन मन अपमान का औसर अनुमान मान मानकर भयंकर मरीचिकाओं ने भी मूँ छिपाकर, छपाकर के आकर में जाकर अपने संग से उसे भी न जाने कहाँ छिपाया।"

—आश्विन विक्रमी सं० १९३८, 'आनंदकादंबिनी'
ऋतु वर्णन, पावस प्रस्थान

'कतार से अंधकारमय संसार की अपार बहार, विहार के अनुसार' में अन्त्यानुप्रास का मनोहर प्रदर्शन हुआ है। इसी प्रकार 'अनुमान मान, मानकर मयंक मरीचिकाओं' में भी, मकार के पुनरावर्तन से वृत्यानुप्रास की छटा दर्शनीय है। चौधरी जी की भाषा में अनुप्रासों की छटा से पदविन्यास में आडम्बर नहीं आया है। उनके लेख अर्थगर्भित तथा सूक्ष्म विचारपूर्ण हैं। पर उनकी लेखनी की कारीगरी में पदों की दीर्घता के कारण अर्थबोध में कुछ कठिनाई अवश्य साधारण पाठकों को हो जाती है।

विजयराघवगढ़ के राजकुमार जगमोहनसिंह एक प्रेम-पथिक कवि और माधुर्य्यपूर्ण गद्य-लेखक थे। प्रकृति के नाना रूपों से उनका पर्याप्त परिचय था। इसीलिये विविध भावमयी प्रकृति के रूप-माधुर्य की उनमें सच्ची परख थी। इनका "श्यामा-स्वप्न" गद्य-काव्य के सभी गुणों से विभूषित कहा जा सकता है। इसमें ठाकुर साहब ने नरक्षेत्र के सौन्दर्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौन्दर्य के मेल में देखा है।

श्यामा-स्वप्न' का एक खण्ड दृश्य नीचे दिया जाता है। यथा :

"ऐसे दंडकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक दुर्गम, विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती, पूर्व समुद्र में गिरती है।"

—पृ० ४१ सभा संस्करण, 'श्यामा-स्वप्न'

भारतेन्दु-युग के उपर्युक्त लेखकों ने गद्य-काव्य के निर्माण में पर्याप्त उद्योग किया। पं० बालकृष्ण भट्ट तथा ठाकुर जगमोहनसिंह की रचनाएँ इसके प्रमाण-स्वरूप हैं, पर गद्य-काव्य के विकास की गति मंद रही, क्योंकि गद्य की व्यवस्था का कार्य अभी अपूर्ण था। गद्य-साहित्य के पूर्ण उत्कर्ष के अभाव में गद्य-काव्य का विशिष्ट स्वरूप देखने को फिर कैसे मिल सकता था। सं० १९५७ से पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के आगमन से हिन्दी गद्य का स्वरूप स्पष्ट होने लगा। यद्यपि द्विवेदी जी काव्यात्मक अभिव्यंजना की ओर ध्यान न दे सके, फिर भी उनकी रचना-शैली में भावव्यंजकता के साथ स्पष्टता, मधुरता और सरसता, साथ-ही-साथ गंभीरताके

साथ प्रवाह है। उनकी यह शैली गद्य-काव्य की पूर्णता में सहयोग प्रदान करती है। उदाहरण :

"किसी दीवान को उठाइये। आशिक, माशूकों के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरंभ से अन्त तक रँगा हुआ पाइयेगा। इश्क भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है, पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहनेवालों का सारा रोना, कराहना, ठंडी साँस लेना, जीते ही अपनी कब्रों पर चिराग जलाना, सब सच है? सब न सही उनके प्रलापों का क्या थोड़ा-सा भी अंश सच है।"

—'रसज्ञ-रंजन', पृ० ३५ द्वि० सं०

द्विवेदी-युग के अत्यधिक भावात्मक एवं धाराप्रवाह गद्यकार श्री पं० माधव प्रसाद मिश्र के गद्य-साहित्य में एक स्निग्ध वाग्धारा विलक्षण गति से मर्म पथ का अनुसरण करती चली है। 'मिश्रजी' के गद्य चमत्कारपूर्ण होते थे। इनकी शैली में आवेश तथा भावुकता, प्रौढ़ता एवं ओजस्विता, नाटकत्व एवं वक्तृत्व है। 'सुदर्शन' में उनके लेख प्रायः निकला करते थे। यथा :

"जहाँ महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतलस्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी-सी किन्तु सुशीतल वारिधारा बह रही है। जहाँ के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे वहाँ अब एक अन्धकार से घिरा हुआ स्नेह-शून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी-कभी यह भूभाग प्रकाशित हो जाता है।"

—सुदर्शन सं० १९५८, मार्गशीर्ष : 'रामलीला' से

तथा

"इन्हीं दिनों अत्यावश्यक कार्य के लिए मुझे घर जाना पड़ा। वहाँ से हरिद्वार। वैशाख का महीना, हरिद्वार का स्थान और गंगा का तट एक-से-एक बढ़कर था। इसी कारण वहीं कुछ दिनों ठहर गया। अकस्मात् वहाँ खबर पहुँची कि वैशाख वदी एकादशी की रात्रि को ३ बजे काशी का कलश गिर गया। संस्कृत विद्या का भण्डार लुट गया। विद्यार्थी अनाथ हो गये। दया का सागर शुष्क हो गया। मीमांसा मारी गई। दर्शन का अदर्शन हुआ। सत्यवादिता सो गई। लोक-यात्रा लोप हो गई। प्रियालायिता लीन हो गई। दानशीलता दीन हुई। शास्त्र सब निरुपयोग हुए। हा! स्वामी विशुद्धानंद के कैलाशवास से विशेषता की अब कथा शेष रह गई!!

लोग अब औजित्य को जलांजलि दें। मनस्विता का नाम भी न लें। दीनदयालुता प्रव्रज्यता को प्राप्त हो। विद्या वैधव्य को भी बांध लें। वाराणसी

धवल वस्त्र धारण करे। विधाता को ऐसे महापुरुष निर्माण करने योग्य परमाणु अब कहाँ मिलेंगे ? गुणों की दशों दिशाएँ शून्य हो गईं। भारत में अन्धकार छा गया। सनातन धर्म का जन्म अब निष्फल है। स्वप्न में भी क्या—वह दीर्घ कमलनयन, वह मुखसरोज फिर दिखाई देगा ? वह आजानु विलम्बित भुज-युगल, वह वृषभ-स्कन्ध वरवपु फिर भी कभी दृष्टिगोचर होगा ? वह पीयूष-वर्षिणी मध्यमानू सागरोद्‌गार गम्भीरा वाणी फिर भी कभी सुनेंगे ?"

—विशुद्धाचरितावली, माधव मिश्र निबन्धावली पृ० ४

गद्य-काव्य के लिए आवश्यक, रूपक-प्रधान शैली तथा अन्योक्ति-प्रधान शैली का प्रयोग मिश्रजी ने अपनी गद्य-रचनाओं में प्रायः किया है।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र की गद्य-शैली का विशिष्ट रूप भी इसी युग में देखने को मिला। इनकी शैली बाण की शैली के अधिक समीप है परन्तु बाण की अपनी व्यक्तिगत विशेषता है, किन्तु मिश्रजी ने केवल विशेषण पदों की भरमार ही अपने गद्य में की है, बाण की चमत्कारिता वे नहीं ला सके हैं। इनकी लेखन-शैली का पता इनके 'कवि और चित्रकार' नामक लेख से लगता है। यथाः

"मुक्ताहारी नीर-क्षीर विचार सचतुर कविकोविद राजराज हियसिंहासन निवासिनी, मंदहासिनी, त्रिलोक प्रकाशिनी सरस्वती माता के अति दुलारे प्राणों से प्यारे, पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल बलवाली, परम प्रभावशाली, सुजन जनमोहिनी नवरसभरी सरस, सुखद विचित्र वचन-रचना का नाम ही साहित्य है।"

—'गोविन्द निबन्धावली' पृ० ४

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय के गद्य में पद्यात्मक विभूति गंभीर भाव, सुन्दर मुहावरे एवं सजीवता है। आपकी शैली धारावाहिक है। यथा :

"हम असमय में तारे तोड़ना चाहते हैं, मगर काम आँख के तारे भी नहीं देते। हम पर लगाकर उड़ना चाहते हैं, मगर उठाने से पाँव भी नहीं उठते। हम पालिसी-पर-पालिसी करके उसके रंग को छिपाना चाहते हैं, पर हमारी यह पालिसी हमारे बने हुए रंग को भी बदरंग कर देती है। हम राग अलापते हैं, मेलजोल का, मगर न जाने कहाँ का खटराग पेट में भरा पड़ा है।"

सरदार पूर्णसिंह के आगमन से साहित्य में प्रथम बार वह भावावेश की शैली दृष्टिगत हुई जो गद्य-काव्यों में प्रयुक्त होती है। लाक्षणिकता के साथ भावों और विचारों के मिश्रण से आपने एक नवीन शैली की सृष्टि की। रहस्यपूर्ण, अनूठी विशद भावव्यंजना सरदार साहब की शैली की विशेषता है। भावों की मौलिक तथा वेदना के वेग को देखकर यह अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है कि हिन्दी

साहित्य में गद्य-काव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाने के लिए आकुल है। उनकी रचना का एक उदाहरण इस प्रकार है :

"उधर प्रभात ने अपनी सफेद किरणों से अँधेरी रात पर सफेदी की किरण छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी मैना अथवा कोयल की तरह बिस्तर से उठी, उसने गाय का बछड़ा खोला, दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सफेद आटा बना लिया। इस सफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर पर, एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हाँड़ी, जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनंद-दायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रंगीली जीती, जागती, चैतन्य और आनंदमयी प्रातः-कालीन शोभा-सी लगती है। मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को-अपने दिल में चुराई हुई एक चिनगारी को एक लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है, तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति नजर आती है। जब वह इस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है, तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनन्दायिनी लालिमा देख पड़ती है।"

—'मजदूरी और प्रेम', हिन्दी निबन्धमाला भाग २, पृ० १२ प्र० सं०

रचना में काव्यत्व पर्याप्त है। सरदारजी की भावुकता ने शैली में वाग्विदग्धता एवं कथनगत चमत्कार का मेल यथावत कराया है। कल्पना की चहचहाहट भी देखने योग्य है।

द्विवेदी-काल के गद्य-साहित्य ने गद्य-काव्य के निर्माण में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया। सरदार पूर्णसिंह के भावात्मक निबन्ध तथा व्रजनंदनसहाय की रचनाओं के द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी जो यह स्पष्ट कर रही थी कि गद्य के माध्यम से भावों के प्रकाशन की एक विशिष्ट शैली निकट भविष्य में ही दिखाई पड़ेगी। हिन्दी गद्य के इस प्रसार-काल में गद्य की भाषा में व्यापकता का अभाव बना हुआ था। भाषा में प्रौढ़ता लाने में, उसमें विशुद्धता प्रदान करने में, उसे व्यवस्थित रूप देने में तथा उसके भण्डार को बढ़ाने में बाबू श्यामसुन्दर दास का कार्य स्तुत्य है। उनके प्रयत्न से गद्य-साहित्य में नवीन विषयों का समावेश होने लगा। आपकी रचनाओं में भावात्मक स्थल भी मिलते हैं। यथा :—

"इस भारतीय आकाश के चन्द्रमा को अस्त हुए आज ४२ वर्ष हो चुके, पर उसकी यश-चन्द्रिका ज्यों-की-त्यों चारों ओर अब तक छिटक रही है, और जब

तक इस भारत-भूमि में हिन्दी भाषा, हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषियों का नाम रहेगा तब तक यह चन्द्रिका भी नित्य उज्ज्वलता से छिटककर भारतीय इतिहास को उज्ज्वल और हिन्दी साहित्य-सेवियों के मार्ग को प्रकाशित कर उन्हें उत्साहित करती रहेगी।"

—'हिन्दी निबन्धमाला', दूसरा भाग, पृ० १२१ : 'भारतेन्दु'

इस युग के दूसरे प्रभावशाली गद्य-लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल हैं। इन्होंने गद्य की भाषा को संयत, परिष्कृत एवं गंभीर बनाने का प्रशंसनीय कार्य किया है। गूढ़ विवेचन और निभ्रान्त अनुभूतियों से युक्त शुक्लजी की शैली मनोहर तथा प्रभावोत्पादक है। गंभीर विषयों पर लिखने के कारण इनकी शैली में भावात्मकता को कम स्थान मिला है, पर कहीं-कहीं ऐसे स्थल आ ही गये हैं। यथा :

"जो केवल प्रफुल्ल प्रसून-प्रसार के सौरभ संचार, मकरन्द लोलुप मधुप गुंजार, कोकिल कूजित-निकुंज और शीतल सुखद समीर इत्यादि की ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोगलोलुप हैं। इसी प्रकार जो केवल मुक्ताभास हिमबिन्दु मंडित मरकताभ शाद्वल जाल, अत्यन्त विशाल गिरि-शिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर-निहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही हृदय के लिए कुछ पाते हैं, वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।"

—'चिन्तामणि', प्रथम भाग पृ० २०४, १९४० संस्करण, इण्डियन प्रेस

शुक्लजी में असाधारणत्व की ओर रुचि थी, पर यह रुचि सच्ची सहृदयता की परख से ही सम्बन्धित थी। उनकी सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टि ने इसी प्रकार अपने निबन्धों में काव्यमय गद्य का उत्कृष्ट स्वरूप व्यक्त किया है।

भावात्मक निबंधों में भावावेश का यथावत् अंकन होता है। इसका वेग अप्रतिहत एवं दुर्द्धर्ष होता है। यथा :

"हा, पंडित गणपति शर्माजी हमको व्याकुल छोड़ गए ! हाय ! हाय ! क्या हो गया ? यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक जैसे सिर पर टूट पड़ा। यह किसके वियोग शनि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया, यह किसके वियोग-बाण ने कलेजे को बींध दिया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राण पखेरू के पंख जलाए डालती हैं। हा ! निर्दय कालयवन के एक ही निष्ठुर प्रहार ने किस भव्य मूर्ति को तोड़कर हृदय-मंदिर सूना कर दिया।"

—पद्मसिंह शर्मा, 'पद्म पराग' पृ० २२

शोक प्रकट करने के लिए यह शैली गद्य-काव्य में विशेष महत्वपूर्ण स्थल रखती है।

भावात्मक निबन्ध जब स्वगत भाषण के रूप में आकर नाटकीय ढंग से किसी अदृश्य वस्तु या व्यक्ति को संबोधन करके अपनी भावनाओं का कवित्वपूर्ण तथा नाटकीय प्रदर्शन करते हैं तो वे गद्य-काव्य के अधिक निकट आ जाते हैं। यथा :

"आशा ! आशा ! कौन ? कौन ? क्या तुम हो ? नहीं, नहीं तुम तो नहीं हो। मुझे ही भ्रम है, अब पहचान पाया। तुम आशा हो। तुम्हारे स्वरूप की, तुम्हारे रूप-लावण्य की, तुम्हारे आकर्षण-शक्ति की संसार प्रशंसा करता था— क्या ये सब गुण तुम्हीं में हैं ? नहीं, नहीं, कदाचित् संसार भ्रम में हो।

मुझे तो विश्वास नहीं आता। तुम्हारी मूर्ति तो मुझे बड़ी भयंकर जान पड़ती है।

भला सच कहना, तुमने उन्हें। विद्वानों का समाज अपने चंगुल में किस तरह फँसा पाया। तुम चाहे बतलाओ चाहे न बतलाओ, मुझे यह मालूम है कि इस मोहिनी मूर्ति पर बाजारू स्त्रियों के आकर्षण से मुग्ध साधारण जनों की तरह विद्वान भी तन्मय हो गए होंगे। परन्तु शोक है, धिक्कार है तुम्हारे ऐसे जीवन को।"

—मातादीन शुक्ल, 'मर्यादा' जुलाई १९१९

शिवपूजन सहाय के निबन्धों में भी गद्य-काव्य के तत्व बिखरे हुए हैं। यथा :

"यौवन वसन्त का एक प्रथम कुसुम दाम्पत्य दीपक की स्नेहसिक्त शिखा, किशोर दंपति के सरस विनोद का मृदुमधुर आधार, धूलि-धूसरित नग्न-जटिल योगी जिसकी दंतावली किरणविहीन मुख चन्द पर घुँघराली लटुरियाँ लोट रही हैं, मृण्मयी भूमि में पड़ा है।"

—'सुधा' १९२७ अगस्त

शांतिप्रिय द्विवेदी के निबन्धों में भी गद्य-काव्य के तत्व भरे पड़े हैं। यथा :

"इस प्रकार रागिनी उषा और विरागिनी सन्ध्या अथवा अनुरागिनी यमुना और तापसी गंगा का एकोन्मुख व्यक्तित्व आसक्ति में अनासक्ति और अनासक्ति में आसक्ति होकर उसके जीवन में प्रतिफलित हुआ था। विरूप आकृतियों और

कुरूप दृश्यों को देखकर वह विजन नीड़ की विहग बालिका की भाँति चौंक पड़ती थी।"[1]

—'परिव्राजक की प्रजा', पृ० १४

पण्डित सुमित्रानंदन पंत के गद्य-काव्य में भी काव्यात्मक भाषा का प्रयोग है। यथा :

"हिन्दी कविता की नीहारिका, सम्प्रति अपने प्रेमियों के तरुण उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति पा, साहित्याकाश में अत्यन्त वेग से घूम रही है, समय-समय पर जो छोटे-छोटे तारक-पिण्ड उससे टूट पड़ते हैं, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश संग्रहीत नहीं कर पाये हैं कि अपनी ही ज्योति में अपने लिए नियमित पंथ खोज सकें, जिससे हमारे ज्योतिषी उनकी गति-विधि पर निश्चिन्त सिद्धान्त निर्धारित कर लें, ऐसी दशा में कहा नहीं जा सकता कि यह अस्तव्यस्त केन्द्र परिधिहीन द्रवित वाष्प-पिण्ड निकट भविष्य में किस स्वस्थ स्वरूप में घनीभूत होगा, कैसा आकार-प्रकार ग्रहण करेगा, हमारे सूर्य की कैसी प्रभा होगी, चाँद की कैसी संध्या, हमारे प्रभात में कितना सोना होगा, रात में कितनी चाँदनी?"[2]

'गद्यक-पथ प्रवेशक'—१ प्र० सं०

---

१. आश्रम मृगों पर उसकी सहज ममता तो थी ही, किन्तु मरीचिका के पीछे दौड़ने वाले मृगों के लिए भी वह संवेदनशील थी। दोनों ही उसे निरीह जान पड़े थे।

—परिव्राजक की प्रजा, पृ० २७

तथा

प्रथम विश्वयुद्ध यदि धूमकेतु की तरह धुएँ की लहर उठाता हुआ चला गया तो द्वितीय विश्वयुद्ध राहु-केतु की तरह जीवन के प्रकृत प्रकाश को ग्रसकर दिशावधि को अपार अन्धकार से आच्छन्न कर गया।

—पृ० ६८ परिव्राजक की प्रजा : शांतिप्रिय द्विवेदी

२. उस व्रज की बाँसुरी में अमृत था, नन्दन की मधु ऋतु थी, उसमें रसिक श्याम के प्रेम की फूंक थी, उसके जादू से सूर-सागर लहरा उठा, मिठास से तुलसी-मानस उमड़ चला। आज भी वह कुछ हाथों की तूंबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीर्ण-शीर्ण खण्डहरों के टूटे-फूटे कोनों तथा गन्दे छिद्रों से दो-एक दन्तहीन बूढ़े साँपों को जगा, उनका अन्तिम जीवन-नृत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरने, तथा प्रवीण कला-कुशल बाजीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं, दस बरस बाद ये प्राणहीन केंचुलियाँ शायद इनके आँख झाड़ने के काम आयेंगी।

—गद्य-पथ प्रवेशक : सुमित्रानंदन पंत

तथा

अब हम उस युग का कैलाश देखेंगे जहाँ सुन्दरता मूर्तिमती तपस्या बनी हुई कामना की अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण हो, प्रेम की लोकोज्ज्वलकारिणी स्निग्ध चन्द्रिका में, संयम की स्थिर दीपशिखा-सी, शुद्ध एवं निष्कलुष सुशोभित है। वह उस युग का शतशत ध्वनिपूर्ण कल्लोलों में विलोड़ित वाह्य स्वरूप है, यह उसका गम्भीर निर्वाक अन्तस्तल!

—पृ० ४ वही।

समर्पण—भारतेन्दु, प्रतापनारायण तथा जगमोहनसिंह के समर्पणों में गद्य-काव्य के तत्व घनीभूत होकर बैठे हैं। यथा :

"प्यारे मैं तुम्हें क्या तमाशा दिखाऊँगा, हाँ धन्यवाद करूँगा क्योंकि निस्संदेह तुमने ऐसा तमाशा दिखाया कि सब कुछ भूल गया। अहा ! स्त्री-पुरुष, पंडित मूर्ख, अपना-बिगाना और छोटे-बड़े सबका तमाशा देखा पर वाह ! क्या ही तमाशा है—तमाशा तो है, पर देखनेवाले थोड़े हैं, न हो तुम देखो, मैं देखूँ, उन्हीं तमाशाओं में से यह भी एक तमाशा है, देखो।"

—'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' : भारतेन्दु

"प्यारे यह कौतुक देखोगे ? जिसके अभिनयकर्ता बहुत, दर्शक केवल हमीं-तुम ? वाह रे खेल ! देखनेवाले तो आँखें मूँदे बैठे हैं, तुम भी न देखोगे तो यों ही भोर न हो जायगा। वाह तुम्हारे मन का न सही तो हमारी बात टालोगे ? अवश्य देखिये ? अपने लोगों की कभी कोई बात टाली भी है कि आज ही नई रीति निकालोगे ! हाँ-हाँ साँच को आँच क्या ! यही तो चाहते हैं कि तुम तमाशा देखो और हम तुम्हें देखें।"

—'कलि कौतुक रूपक' : प्रतापनारायण मिश्र

श्रीमत हृदयंगम बाबू मंगलप्रसाद मणिजू—कन्हौली।

प्रियतम !

तुम मेरी नूतन और प्राचीन दशा को भली-भाँति जानते हो—मेरा तुमसे कुछ भी नहीं छिपा तो इसके पढ़ने, सुनने और जानने के पात्र तुम ही हो तुम नहीं तो और कौन होगा ? कोई नहीं, श्यामालता के वेत्ता तो आप हो न ? यह उसी सम्बन्ध का 'श्यामा-स्वप्न' भी बनाकर प्रकट करता हूँ, रात्रि के चार प्रहर होते हैं—इस स्वप्न में भी चार प्रहर के चार स्वप्न हैं, जग तुस्वप्नवत् है—तो यह भी स्वप्न ही है। मेरे लेखे तो प्रत्यक्ष भी स्वप्न हैं—पर मेरा श्यामा-स्वप्न स्वप्न ही है, अधिक कहने का अवसर नहीं।

—'श्यामा स्वप्न' जगमोहनसिंह, सभा संस्करण प्र०

पूर्व में ही कहा गया है कि इनमें गद्य-काव्य की सचेतन भावना नहीं है, पर गद्य-काव्य के सभी तत्व वर्तमान हैं।

रेखाचित्र—रेखाचित्रों का उदय यद्यपि गद्य-काव्य के बाद हुआ है, फिर भी इनमें गद्य-काव्य के तत्व बिखरे हैं। गद्य-काव्य ने अपने स्वरूप कोष से इन्हें कुछ कण प्रदान किये हैं। महादेवी का 'अतीत के चलचित्र' प्रकाशचन्द्र गुप्त का 'पुरानी स्मृतियाँ और नये स्केच', रामवृक्ष बेनीपुरी का 'माँटी की मूरतें' गद्य-काव्य की आभा से आलोकित हैं। यथा :

सबेरे के पुलक पंखी वैतालिक एकलयवती उड़ान में अपने नीड़ों की ओर लौट रहे थे। विरल बादलों के अन्तराल से उन पर चलाए हुए सूर्य के शब्द-बेधी बाण उनकी उन्मद गति में ही उलझकर लक्ष्यभ्रष्ट हो रहे थे।

—'अतीत के चलचित्र' पृ० ६ प्र० सं० महादेवी वर्मा

मैं पुराने साम्राज्य प्रासाद का खंडहर, इस बीहड़ में खड़ा निर्निमेष जीवन की गति देखता हूँ।

—'पुरानी स्मृतियाँ नये स्केच,' प्रकाशचन्द्र गुप्त, पृ० ११५ प्र० सं०

हाँ बरसात बीत गई। बाढ़ खतम हो गई। अब नदी अपनी धारा में है। शांत गति से बहती। न बाढ़ है, न हाहाकार। कीचड़ और खरपात का नाम-निशान नहीं। शांत स्निग्ध गंगा।

—पृ० ६, 'मांटी की मूरतें': रामवृक्ष बेनीपुरी प्र० सं०

अनूदित—जहाँ हिन्दी साहित्य के विविध रूपों में बिखरे हुए तत्वों को गद्य-काव्य ने समेटा है वहीं इतरेतर भाषाओं की अनूदित कृतियों से भी वह प्राणवान हुआ है। अश्रुधारा', 'आश्चर्य वृत्तान्त', 'कपाल कुण्डला', 'कृष्णकान्त का वसीयतनामा', 'बंकिम निबन्धावली', 'विचित्र प्रबन्ध', 'चन्द्रगुप्त', 'शाहजहाँ', 'नूरजहाँ' आदि के भाव-विधान तथा भाषा, ऐश्वर्य ने हिंदी गद्य-काव्य के आधुनिकतम स्वरूप-निर्धारण में पर्याप्त सहयोग दिया है। पूर्व-विवेचित प्रक्रिया से यह ज्ञात करना सुलभ हो जायगा कि गद्य-काव्य ने अपने तत्वों को कहाँ-कहाँ बिखेरा है।

निष्कर्ष

अनुभूतियों का आधिक्य, अहं की प्रेरणा से प्रकाश में आने की जोरदार माँग करता है। इस प्रकाशन के लिए किसी को कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं पड़ती। युग-विशेष की परिस्थितियों के कारण प्रकाशन का माध्यम बदलता रहता है। यदि यह न बदले तो कलाकार के व्यक्तित्व को ठेस पहुँचती है और प्रत्येक युग का कलाकार, अपने पूर्ववर्ती युग की उपलब्धियों के माध्यम से ही अपना मार्ग निकालता है। यह मार्ग चाहे संयोगात्मक हो चाहे विरोधात्मक, पर प्रेरणा का आधार पूर्ववर्ती कला-विषयक मान्यताएँ ही होती हैं। प्रतिभा-विशेष से नवीन निर्माण ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उसका पहले के ज्ञान से कुछ महत्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं है। नवनिर्माण में मौलिकता होती है। इस मौलिकता का आधार स्वप्न नहीं होता बल्कि यथार्थ। यह यथार्थ जीवन की समग्रता से बटोरा हुआ होता है। जिन कलाकारों ने ताजमहल की रचना की होगी उनके सामने कला-विषयक कुछ यथार्थ मान्यताएँ अवश्य रही होंगी, पर उन समूची मान्यताओं में अपनी भी मान्यताएँ मिलाकर ही उन्होंने एक दिव्य निर्माण कर डाला। इसी प्रकार गद्य-काव्य के विषय में भी कहा जा सकता है। अंग्रेजी गीतांजलि का प्रकाशन १९११ में हुआ और हिन्दी गद्य-काव्यों की रचना

उसके पश्चात् हुई। इसी आधार को लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि हिंदी काव्यों पर अंग्रेजी की शैली का प्रभाव पड़ा है। प्रारम्भिक काल के गद्य-काव्यकारों के सामने इसके शिल्प-विन्यास से सम्बन्धित यद्यपि कोई विशेष कौशल की परिज्ञान-निधि नहीं थी, फिर भी प्रत्येक बात के लिए पश्चिम की ओर ही दृष्टि घुमानी राष्ट्रीय दुर्बलता का द्योतक है ! पश्चिम से हमने साहित्य के क्षेत्र में बहुत कुछ सीखा है, इसका अपलाप नहीं किया जा सकता, पर गद्य-काव्य का कौशल कभी भी पश्चिम से नहीं लिया गया है। आकार के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। गद्य-काव्य के प्रारंभिक तीन आचार्यों में वियोगीहरि तथा चतुरसेन शास्त्री पर तो यह प्रभाव कभी भी मान्य नहीं हो सकता, रह गयी बात राय कृष्णदास की। कला-प्रेमी होने के नाते बाबू साहब ने यदि आकार को अपनाया भी होगा तो इसे भी अनुकरण की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किसी भावना का अनुकरण कलाकार अन्धवत् नहीं करता। प्रत्येक स्थिति में उसकी मौलिकता अक्षुण्ण रहती है।

गद्य की भाषा बीसवीं शती के प्रथम शतक के पश्चात् कुछ-कुछ अपने स्वरूप का इस प्रकार निर्माण कर चुकी थी, जिससे गद्य-काव्य का उदय संभव हो सका।

दूसरा महत्वपूर्ण विषय यह है कि क्या प्रसाद की कुछ कहानियाँ, हृदयेश का 'नंदन निकुंज', जगमोहनसिंह का 'श्यामा-स्वप्न' गद्य-काव्य है ? गद्य-काव्यकार गद्य-काव्य की रचना सचेतन स्थिति में करता है, वह यह जानकर लेखनी उठाता है कि उसे गद्य-काव्य ही लिखना है। 'प्रसाद' तथा 'हृदयेश' की कहानियों का लक्ष्य गद्य-काव्य की सृष्टि नहीं है। 'हृदयेश' की कहानियों में यद्यपि रूपक शैली का आश्रय लिया गया है, फिर भी वे गद्य-काव्य के सभी तत्वों से परिपुष्ट नहीं है। एक और महत्वपूर्ण विषय पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। क्या 'श्यामा-स्वप्न' में दिया गया जगमोहनसिंह का 'समर्पण' तथा भारतेन्दु के नाटकों के 'समर्पण' गद्य-काव्य के सभी अवयवों से युक्त हैं ? 'श्यामा-स्वप्न' के समर्पण में जगमोहनसिंह ने 'मिल्यौ न जगत् सहाय विरह चौरासी भटक्यो' पद्यबद्ध उद्धरण दिये हैं। इस उद्धरण से ही यह निश्चय हो जाता है कि ठाकुर साहब की दृष्टि इस समर्पण में गद्य-काव्य के निर्माण की ओर नहीं रही। 'समर्पण' में आये हुए भाव एवं भाषा की गतिविधि ने गद्य-काव्य के निर्माण में अवश्य सहयोग दिया है। 'श्यामा-स्वप्न' के विषय में तो पूर्व ही विचार हो चुका है। भारतेन्दु के नाटकों के समर्पण में गद्य-काव्य के सभी अवयव हैं, पर गद्य-काव्य की सचेतनता नहीं है, अतः उससे गद्य-काव्य की परंपरा नहीं चलाई जा सकती। प्रश्न यह उठ सकता है कि क्या सचेतनता भी गद्य-काव्य का कोई विशिष्ट तत्व है जिसके आधार पर भारतेन्दु के 'समर्पणों' को गद्य-काव्य कहने से इनकार किया जा रहा है ? यदि अनजान में किसी साहित्यकार ने कोई ऐसी रचना लिख डाली जो गद्य-काव्य कही जा सकती है तो उसे गद्य-काव्य यदि न माना जाय तो

किस सिद्धान्त के आधार पर ? यदि लक्ष्य का ज्ञान न रखकर कोई लक्ष्य के समीप पहुँचता है तो क्या उसे इस आधार पर लक्ष्य के समीप पहुँचने से इनकार किया जा सकता है कि उसे लक्ष्य का ज्ञान नहीं था ? इत्यादि विवादपूर्ण प्रश्न उठ सके हैं। समाधान के लिये इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि लक्ष्य का ज्ञान न रखनेवाले का साफल्य, लक्ष्य का ज्ञान रखनेवाले के साफल्य के समक्ष गौण ही होगा और इस तरह के साफल्य का अनुगमन भी श्रेयस्कर न होगा।

अतः प्रस्तुत प्रबन्धकार की दृष्टि में १९१४ से गद्य काव्य का उदय मानना समीचीन होगा। यद्यपि इसके पूर्व, नाटकों में, आख्यानों में, उपन्यासों में, निबन्धों में तथा समर्पणों में काव्य के तत्व बिखरे हुए थे, पर गद्य-काव्य का सुनिश्चित रूप उन्हें नहीं प्राप्त हो सका है।

गद्य-काव्यरूपी शिशु जन्मते ही इतना शीघ्र बढ़ने लगा कि कुछ ही काल में वह युवा भी हो गया। अतः अगले अध्याय में इसके विकास एवं इतिहास पर प्रकाश डाला जायगा।

तीसरा अध्याय

ऐतिहासिक विकास

गद्य-काव्य के जो बीज भारतेन्दु के नाटकीय समर्पणों में वर्तमान थे, अनुकूल वातावरण पाकर वही स्वरूपधारी हुए। बीसवीं शती के द्वितीय दशक के पूर्वार्द्ध में ही गद्य-काव्य रूपी कंजों के पुष्प साहित्य-सरोवर में कुसुमित होने लगे थे। इन प्रसूनों के विविध रूप-रंग, आकार, वैशिष्ट तथा सौन्दर्य में निखार उत्तरोत्तर होता गया। गद्य-काव्य ने अपने आधुनिकतम जीवन तक जो भी प्रगति की है उसमें तीन स्पष्ट सीमा-रेखाएँ दिखाई पड़ती हैं। विवेचन की सरलता के लिए इन्हें तीन कालों में विभक्त करके विचार करना समीचीन होगा—(१) प्रारम्भिक काल (२) मध्य काल (३) उत्तर काल।

प्रारम्भिक काल १९१४ से सन् १९३० तक फैला हुआ है। मध्य काल १९३० से १९५० तक तथा उत्तर काल १९५० से अब तक।

प्रारंभिक काल की रचनाएँ कुछ तो अनुवाद के रूप में हैं और शेष मौलिक हैं।

सन् १९१५ ई० में चन्द्रशेखर मुखर्जी के 'उद्भ्रान्त प्रेम' का अनुवाद पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा ने प्रकाशित कराया। पुस्तक की भूमिका में पं० रामदहिन मिश्र अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं, "कल्पना-पटु महाकवि भी संयतचित्त हो अपनी गंभीर गवेषणा और कल्पना-कौशल से वैसी सहृदय हृदय-हारिणी उक्तियों को नहीं निकाल सकता जैसी इसमें है और न इसके ऐसा नैसर्गिक दृश्यों का ही मर्मस्पर्शी वर्णन कर सकता है, विरह के बहाने व्यथितचित्त ग्रन्थकार ने इसमें जाति-प्रेम, धर्म-प्रेम और व्यक्ति-प्रेम का रहस्य प्रकाश किया है। तत्वविज्ञान, समाजविज्ञान और नीतिविज्ञान का मर्मोद्घाटन किया है, तथा आत्मत्याग, स्वार्थत्याग और अन्यान्य त्याग का उपदेश दिया है।"

ग्रंथकार की अभिव्यक्त मानसिक वेदना पाठकों के दिल को रुलाकर छोड़ती है। जीवन के जटिल तत्वों का मार्मिक विवेचन, धार्मिक विषम परिस्थितियों की सरल-तम व्याख्या तथा नैसर्गिक दृश्यों का वर्णन इस ढंग से हुआ है कि संसार की दुःख-मयता तथा अशान्तिमूलक स्थिति का पूर्ण चित्र इसमें भरे हैं।

भावावेश की यह शैली अपने मौलिक रूप में हिन्दी साहित्य में व्रजनन्दन-सहाय के 'सौन्दर्योपासक' में सन् १६१० ही में आ गई थी। व्रजनन्दनसहाय की इस रचना में भावों को घनीभूत करके थोड़े में कहने की प्रवृत्ति है। क्षोभ एवं व्यंग समन्वित शैली का निर्मल एवं प्रभविष्णु रूप देखने को मिलता है। यत्र-तत्र दार्शनिकता का भी पुट है। यथा :

"समय का प्रबल प्रवाह प्रति क्षण मानवी आशा और दुःख के भारी बोझ को अपने तरल तरंग में बहाए लिए जाता है। यह प्रवाह क्या किसी निर्दिष्ट स्थान को जाता है? यह समय का प्रवाह अनन्त की ओर प्रभावित होता है।"[1]

'सहाय' जी के वस्तुनिष्ठ वाह्य स्वरूप-सौन्दर्य का चित्रांकन रमणीयता से मंडित होकर कहीं-कहीं गद्य-काव्य ही हो गया है। यथा :

"यह वर्षा-वारि प्रमथिता, उमंग बाढ़ से विचलित, हावभावावर्त धारिणी तीव्र गामिनी परिपूर्ण नदी तो नहीं थी, किन्तु वसन्त निकुंज प्रह्लादिनी मन्द-गामिनी सुखद कल्लोलिनी, उज्ज्वल अपूर्ण तरंगिणी-सी विशेष प्रिय ज्ञात होती थी। वह वर्षा गुल्मलतादि से आच्छादित हरे-भरे प्रौढ़ पत्तों तथा सुन्दर स्वादिष्ट फलों के बोझ से अपने भार को सम्हालने में असमर्थ विशाल विटप तो नहीं थी, किन्तु ललित कोमल स्निग्ध श्यामल पल्लवों से सुशोभित मुकुलित तथा अर्द्ध-विकसित कलियों से विभूषित वसन्त तरुवर-सी चित्त मुग्ध करती थी।"[2]

और भी—

"गंगाजल पर चन्द्रालोक के नृत्य जैसा सुकुमार, नीलोज्ज्वल गगन जैसा कोमल, नील नीरद से वेष्ठित शशांक जैसा लावण्यमय, जो कुसुम उस गृह कानन को सुशोभित करता था वह नन्दन बन में खिलता है वा नहीं, सो नहीं कह सकता।"[3]

इसके समक्ष जब 'उद्भ्रान्त प्रेम' को रखकर देखते हैं तो अन्तर स्पष्ट हो जाता है। उदाहरण से यह बात ज्ञात हो जायगी।

"वह मुखड़ा विद्यापति की कविता की भाँति, प्रणय के प्रथमोच्छ्वास की भाँति, समाधिगत प्राण की स्मृति की भांति, निर्जन निकुंज में डोलती हुई संध्या वायु की भाँति, बाल्यकाल की सुख-स्मृति की भाँति, अकस्मात याद आये हुए और बहुत दिन के भूले-भुलाए सुख-स्वप्न के सदृश, कोमल कलकल शब्दकारिणी

१. पृ० १, सौन्दर्योपासक।

२. पृ० ६, सौन्दर्योपासक।

३. पृ० १०, सौन्दर्योपासक।

क्षुद्र तरंग मालिनी जाह्नवी के विशाल हृदय पर पूर्णिमा की रात्रि में मृदु पवन विकंपित शारदीया ज्योत्स्ना की भाँति और मेरे भूतपूर्व के स्मरण समान है।"[१]

चन्द्रशेखरजी की उपमाएँ रूप-योजना का वह महनीय दिव्य प्रसादपूर्ण तथा मर्म छवियों से युक्त अंकन नहीं कर पाई हैं जैसी 'सहाय' जी की उपमाएँ। मुख के सौन्दर्य की समता 'विद्यापति की कविता की भांति' करके चन्द्रशेखरजी रूप का वह साक्षात् चित्र नहीं उतार पाये हैं जैसा 'सहाय' जी का 'नीलनीरद सेवित शशांक' जैसा लावण्यमय प्रयोग। सौन्दर्यसूचक उपमाएँ जितने ही व्यापक अनुभूतियों के क्षेत्र को समेटे रहेंगी उतने ही उनके द्वारा व्यक्त प्रभाव ग्रहणीय होगा। जिस सौन्दर्य की अनुभूति पूर्ण मानसी हो उसका ज्ञान प्रत्येक के लिए सम्भव नहीं होता। कविता के सौंदर्य का ज्ञान मस्तिष्क तथा हृदय का विषय होता है। मुख-सौन्दर्य का ग्रहण नेत्रज अधिक मानसी कम होता है। अतः चन्द्रशेखरजी की उपमाओं में रूपांकन का प्रयत्न असफल कौशल है। 'सहाय' जी की रचना में यह बात नहीं है। 'सहाय' जी की इस शैली का विकास गद्य-काव्यों में आगे चलकर खूब हुआ। 'उद्भान्त प्रेम' के अनुवाद के साथ-ही-साथ गीतांजलि का हिन्दी अनुवाद तथा मौलवी महेशप्रसाद द्वारा अनूदित अरबी काव्य-दर्शन भी प्रकाशित हुए। दोनों रचनाओं में मूल भावों की मौलिकता को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया गया है।

सन् १९१६ में बंगला-कृति 'अश्रुधारा' का अनुवाद व्रजनन्दन मिश्र ने किया। रचना प्रिय के वियोग में लिखी गई है। इससे यह विरह की दग्धकारिणी मनोव्यथाओं से ओत प्रोत है। यथा :

"जो अनल दुःखदायक है अब आज वही मेरे लिए सुखोत्पादक है। इस अनल ही के प्रभाव से मेरा शरीर और मन संस्कृत हो रहा है, जो सृष्टि का कारण है वही नाश का सोपान है। भला आश्चर्य की और कौन-सी बात हो सकती है?"[२]

पुस्तक में प्रलाप एवं विक्षेप शैली का रूप यत्र-तत्र दृष्टिगत होता है। भावों की विक्षिप्तता भी कहीं-कही परिलक्षित होती है। रचना में चमत्कार एवं आलंकारिकता का अभाव है, इसलिये भावबोधन का क्रमागत ह्रास नहीं होता।

सन् १९२४ में 'नान्हालाल दलपतराम' की 'उषा' का अनुवाद गिरधर शर्मा ने किया है। बंकिम निबन्धावली तथा रवि बाबू के विचित्र प्रबंध का अनुवाद रूपनारायण पाण्डे ने इसी समय किया।

---

१. उद्भान्त प्रेम, पृ० ५।

२. 'अश्रुधारा', पृ० १२।

बंकिम का 'मेघ', 'वृष्टि', 'चौबे का चिट्ठा' तथा रवि बाबू का 'राजपथ', 'बन्द घर' आदि शीर्षक गद्य-काव्य के निखरे रूप हैं। यथा :

"मैं न बरसूँगा। क्यों बरसूँ ? बरसने से मुझे क्या सुख है ? बरसने में तुम्हें सुख है। लेकिन तुम्हारे सुख से मुझे क्या प्रयोजन ?

"देखो, मेरे क्या यंत्रणा नहीं है ? इस दारुण बिजली की आग को मैं सदा हृदय में धारण करता हूँ। मेरे हृदय में इस सुहासिनी सौदामिनी का उदय देखकर तुम प्रसन्न होते हो, तुम्हारी आँखें ठंडी होती हैं, मगर इस बिजली के स्पर्श से ही तुम जल जाते हो। इसी आग को मैं हृदय में रखता हूँ। मेरे सिवा किसकी मजाल जो इस आग को हृदय में रक्खे ?

देखो, वायु सदा मुझको अस्थिर किये रहता है। वायु को दिशा-विदिशा का ज्ञान नहीं है। वह सब ओर से चलता है। जब मैं जल के बोझ से भारी रहता हूँ, तब वायु मुझे उड़ा नहीं सकता। तुम डरना नहीं, मैं अभी बरसता हूँ, पृथ्वी अन्न से हरी-भरी हो उठेगी। मुझे पूजा चढ़ाना।"[1]

इस गद्य-खण्ड में आत्मनिष्ठता घनी है। नाटकीय अध्ययन के द्वारा भाव-प्रकाशन अच्छा हुआ है। रवि बाबू का 'राजपथ' अधिक मार्मिक तथा प्रभविष्णु है। यथा :

"मैं हूँ राज पथ। मुझे एक घड़ी के लिए भी विश्राम नहीं है। मुझे इतना भी विश्राम नहीं है कि मैं अपनी कठिन सूखी शय्या पर थोड़ी-सी हरी घास लगा सकूँ। इतना भी समय नहीं है कि मैं अपने सिरहाने की ओर एक नीले रंग का छोटा-सा जंगली फूल खिला सकूँ। बात भी नहीं कर सकता हूँ, तथापि अन्धे की तरह सब अनुभव करता हूँ। रात-दिन जब देखो तब, यह शब्द सुनता रहता हूँ।"[2]

सन् १९२७ ई० से रवीन्द्रनाथ के 'फ्रूट गेदरिंग' का अनुवाद भी 'फल संचय' के नाम से गिरधर शर्मा ने किया है।

'हंस' मार्च १९३१ में वाल्ट व्हिटमैन की रचनाओं का अनुवाद भी देखने को मिलता है। सन् १९३३ में खलील जिब्रान की कृति 'दी मैड मैन' का 'पगला' अनुवाद राय कृष्णदास ने किया है। इन अनुवादों से एक बड़ा लाभ यह हुआ कि गद्य-काव्य के भाव-क्षेत्र निर्धारण में बड़ी सहायता मिली, साथ ही भाषा में भावोत्कर्ष स्थापक शब्दों की अभिज्ञता भी हुई। यद्यपि यह तो ध्रुव सत्य है कि उत्तम कोटि का गद्य-काव्यकार पुस्तक पढ़कर गद्य-काव्य नहीं लिखता, फिर भी भाषा का परिज्ञान तो उसे

---

१. बंकिम निबन्धावली : 'मेघ शीर्षक' पृ० १५१ प्र० सं०

२. विचित्र प्रबंध : रवीन्द्रनाथ ठाकुर, अनुवादक रूपनारायण पाण्डे, पृ० ८५ प्र० सं०

पुस्तकों से ही होता है। हाँ, प्रतिभा की विदग्धता से कुशल गद्य-काव्यकार थोड़े से भी साधनों से बड़ा कार्य कर जाता है।

यों तो गद्य-काव्य की सचेतन भावना बीसवीं शती के द्वितीय दशक के पूर्वार्द्ध में ही उपलब्ध होती है, पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अज्ञात रूप से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकीय समर्पणों में व्यक्त किये गये भाव गद्य-काव्य का ही रूप लिए हुए हैं। 'पाखण्ड-विडंबन' रूपक के समर्पण को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी :

"मेरे प्यारे !

भला इससे पाखण्ड का विडंबन क्या होना है ? यहाँ तो तुम्हारे सिवा सभी पाखण्ड है, क्या हिन्दू क्या जैन ? क्योंकि मैं पूछता हूँ कि बिना तुमको पाए मन की प्रवृत्ति ही क्यों है, तुम्हें छोड़कर मेरे जान सभी झूठे हैं, चाहे ईश्वर हो चाहे ब्रह्म, चाहे वेद हो चाहे इंजील। तो इससे यह शंका न करना कि मैंने किसी मत की निन्दा के हेतु यह उलथा किया है, क्योंकि सब तुम्हारा है इस नाते से तो सभी अच्छा है और तुमसे किसी से सम्बन्ध नहीं इस नाते से तो सभी बुरे हैं। इन बातों को जाने दो। क्यों जी ऐसे निष्ठुर क्यों हो गए हो ? क्या वह तुम नहीं हो ? इतने दिन पीछे मिलना उस पर भी आँखें निगोड़ी प्यासी ही रहें। मुँह न छिपाओ, देखो, यह कैसा सुन्दर नाटक का तमाशा तुमको दिखाता हूँ, क्योंकि जब तुम अपने नेत्रों को स्थिर करके यह तमाशा देखने लगोगे तो मैं इतना ही अवसर पाकर तुम्हारी भोली छवि चुपचाप देख लूँगा।"[1]

इसी प्रकार 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'धनंजय विजय', 'मुद्राराक्षस', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'चन्द्रावली' तथा नाटक सम्बन्धी लेख के समर्पण भाग गद्य-काव्य कहे जा सकते हैं। नाटक-सम्बन्धी लेख का समर्पण संस्कृत तथा हिन्दी पदों के उद्धरणों से युक्त है। अतः यह मानना पड़ेगा भारतेन्दुजी ने अपने समर्पणों में जो भी गद्य के माध्यम से काव्य-सृष्टि की है वह उन्हीं तक सीमित रहा और इनके समर्पणों में गद्य-काव्य का भाव-उल्लास तथा वैशिष्ट्य नहीं है। सन् १८८५ में प्रकाशित ठाकुर जगमोहनसिंह के 'श्यामा-स्वप्न' समर्पण में भी गद्य-काव्य के तत्व अज्ञात रूप से पाये जाते हैं। पर इसका विवेचन पहले ही हो चुका है कि इन्होंने अपने समर्पण में गद्य-काव्य के वास्तविक स्वरूप का परिचय नहीं दिया है। यही कारण है कि गद्य-काव्य के विकास का क्रम बीसवीं शती के द्वितीय दशक के पूर्वार्द्ध से ही चलता है। 'इन्दु' पत्रिका सन् १९१४ किरण २ खण्ड १ में पारसनाथ त्रिपाठी की 'नदी' विषयक रचना गद्य-काव्य के सभी उपकरणों से युक्त है :

"अपने कुल से अलग होने के बाद इस संसार में तुझे जितने उपहार मिले

---

१. पाखंड विडंबन ; फाल्गुन सुदी १४ सं० १९२९ (सन् १८६२)

हैं, मनुष्यों की कटूक्ति, अभिशप्तधरणी की आवर्जना जितनी मिली है, उन सबों को मेरे इस निभृत हृदयोद्गार में लाकर रक्खो, अपने सर का बोझ हलका करो। कुछ देर हृदय-से-हृदय लगाकर विश्राम करो।"

विश्व एक ही सत्ता का प्रसार है। भावुक हृदय इसीलिये विश्व के नाना रूपों में एकात्म बोध करता है, क्योंकि उसे ब्रह्माण्ड के अणु-अणु में सत्ता की प्रतीति होती रहती है। यही कारण है कि वह विश्व के प्रत्येक रूप में चेतन की अनुभूति करता है। इस प्रकार की भावना गद्य-काव्य का प्राण है और इसका विकास गद्य-काव्य में आगे चलकर खूब हुआ है। भाषा एवं भावों की प्रौढ़ता इस प्रमाण का द्योतन करती है। गद्य सम्बन्धी साहित्य इसके पूर्व भी रहा होगा, पर प्रकाश में न आने से गद्य-काव्य सम्बन्धी मौलिक रचनाओं का विकास-क्रम सन् १९१४ से ही मानना होगा। संभव है भविष्य में इस पर और कुछ प्रकाश पड़े। इसी पत्रिका में सन् १९१५ खण्ड १ किरण ६ में 'अनन्य' जी की 'संयोग' रचना मिलती है। रचना इस प्रकार है:

"वियोग रूपी लहू की भारी जिस लतिका को स्नेह-सलिल से सींचता हुआ मैं धीरे-धीरे जीवित कर रहा था, जिसकी रक्षा के लिए तन-मन अर्पण कर चुका था, अहा भाग्यवश वही लतिका आशा-कुसुमों को गर्भ में धारण किये हुए आ उपस्थित हुई है।"

भावों का प्राबल्य, भाषा की स्निग्धता एवं कोमलता, अनुभूतियों का चारुत्व एवं रमणीयता, कल्पना की मनोहारिता, नवीनता की सृष्टि तथा अर्थ वैशिष्ट से युक्त ये दोनों रचनाएँ गद्य-काव्य के शैशवकाल ही में अपने परिपुष्टि स्वरूप के निदर्शन के प्रमाण हैं।

इसी वर्ष इसी पत्रिका के खण्ड २ किरण २ में प्रकाशित पं० विश्वम्भरनाथ जिज्जा की 'किसी की याद' रचना इस प्रकार है :

"यह किसके कण्ठ का स्वर का नाद मेरे कानों में गूँज रहा है? किसके संगीत-स्वर को सहसा याद करके हृदय प्रफुल्लित हो रहा है? क्या मुझे कोई बुला रहा है? मैं चाहता हूँ कि उस प्रियतम का स्वर अनंत आकाश में गूँजकर मुझे स्वयं अपनी ओर खींच ले—प्रेमपूर्वक आलिंगन करे।"

इस रचना में भावनाएँ रहस्योन्मुख हो गई हैं।

एक ओर जहाँ गद्य-काव्य अपने प्रकृत क्षेत्र में सँभालकर चल रहा था वहीं अन्य क्षेत्रों में भी इसे घसीटने का प्रयत्न किया गया है।

सन् १९१६ में प्रकाशित कुमार राधिकारमण प्रसाद सिंह की रचना 'नव जीवन वा प्रेम-लहरी' एक छोटा उपन्यास कहा जा सकता है या वर्णनाबहुल गल्प या अनल्प कल्पनामय खण्ड-काव्य भी कहें तो कोई हर्ज नहीं। इसमें करुण विप्रलंभ

शृंगार हैं। कथा वियोगात्मक है। मानवीय अन्तःकरण के निगूढ़ रहस्यों का, मर्म-कथा-व्यथाओं का और उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का इसमें बहुत अच्छा चित्र खींचा गया है, कहीं-कहीं प्राकृतिक दृश्य भी सुन्दरता से दर्शाये गये हैं। इसमें जैसे भावों की प्रवणता है वैसे ही शब्दों का एवं अर्थों का सौन्दर्य तथा माधुर्य है।

गद्य-काव्य की अखण्ड परम्परा का सूत्रपात राय कृष्णदास की 'साधना' द्वारा सन् १९१७ में हुआ। रायसाहब यह स्वीकार करते हैं कि 'गीतांजलि' से वे प्रभावित हुए हैं :

'गीतांजलि' ने खुद-ब-खुद मेरा हृदय अपनी ओर खींच लिया, इतना ही नहीं उसके एकाध पृष्ठों में ही इतनी कोमलता, भावुकता और सरसता मिली कि मैं उसमें तन्मय हो गया, साथ ही उसी तरह के कितने भाव घने मेघ-पटल की तरह अन्तस्तल में उमड़ पड़े।[1]

वाल्ट व्हिटमैन तथा खलिल जिब्रान की कृतियों का भी प्रभाव रायसाहब पर पड़ा है।[2]

'साधना' के गीतों में भावानुभूतियों की प्रबल प्रखरता का अभाव इस प्रमाण का द्योतन करता है कि रायसाहब गद्य-काव्य के क्षेत्र में भावावेश की तीव्रता कम, बल्कि बौद्धिक विश्लेषण के अधिक कौशल को ही लेकर उतरे हैं। रवीन्द्र, वाल्ट व्हिटमैन तथा खलील जिब्रान की गद्य-काव्यात्मक शैली उन्होंने अवश्य ग्रहण की है, पर मौलिक भावों के अभाव में उनकी रचना में वह आह्लादकारी रमणीयता, सौन्दर्य-चयन, गीत, लय, ध्वनि, समरसता तथा संगीत नहीं है जो बाद के गद्य-काव्यकारों की कृतियों में उपलब्ध होती है। रवीन्द्र की गीतांजलि का आंग्ल अनुवाद, वाल्ट व्हिटमैन की कृतियाँ तथा खलील जिब्रान के गद्य-काव्य जहाँ भावों के उत्कर्ष का ख्यापन करते हैं वहीं रायसाहब बौद्धिक स्तर से गद्य-काव्य की रचना करते हैं। इस कथन की सत्यता उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट हो जायेगी :

"मौन धैर्यवान मकड़ी

एक मौन, धैर्यवान मकड़ी मैंने देखी—एक छोटे अन्तरीप में—वहाँ वह अकेली थी।

१. हंस, १९३१ 'अतीत' शीर्षक लेख।

२. जब मैं उनसे अपनी 'शैशव रागिनी' के सम्बन्ध में कुछ वर्ष पूर्व मिला था तो उन्होंने उक्त दो महानुभावों की रचनाओं को देखने का आग्रह किया था। गद्य-काव्य पढ़कर गद्य-काव्य लिखना मेरे स्वभाव में नहीं है; फिर भी मैंने उन्हें देखा। हो सकता है रवीन्द्र, वाल्ट व्हिटमैन तथा खलील जिब्रान की कृतियों को पढ़ने पर ही रायसाहब गद्य-काव्य के क्षेत्र में उतरे हों।

मैंने देखा—कैसे उसने शून्य विस्तृत स्थान की खोज की
कैसे वह निकालती गई जाला, जाला, जाला अपने में से
सदैव उसे खोलती हुई, सदैव अथकित भाव से उसे फैलाती हुई।
और तुम—ऐ मेरी आत्मा—तुम ! तुम भी तो खड़ी हो,
स्थान के अथाह सागर से घिरी—विछिन्न
अप्रतिहत गति से विचरती, आगे बढ़ती, फेंकती—ढूँढ़ती हुई
विश्वमण्डलों को, उन्हें सम्बन्धित करने।
जब तक अपेक्षित सेतु न बँध जाये,
जब तक लचीला लंगर न रुक जाये,
जब तक तुम्हारा फेंका जाल कहीं न फँस जाये।"[1]

कोल्हू में पीसने के लिए वसन्त में जब तुम द्राक्षोद्यान से अंगूर बटोरो, तो मन ही मन उनसे यह कहना न भूलना—मेरी देह भी द्राक्षोद्यान है और मेरे फल भी द्राक्षा कोल्हू में पिसने के लिए बटोरे जायेंगे।

नवीन द्राक्षा मधु के समान हमें भी बोतलों में भरे रहना पड़ेगा।[2]

यदि जीवन में तुम्हारे दर्शन न करना मेरे भाग्य में नहीं है तो मैं सदैव यही अनुभव करता रहूँ और एक क्षण के लिए भी न भूलूँ कि मैं तुम्हारे दर्शनों से वंचित रह गया और मुझे सोते-जागते इस शोक की वेदना बनी रहे।

ज्यों-ज्यों इस संसार की भरी हाट में मेरे दिन व्यतीत हों और नित्य की आय से मेरे हाथ भरते जायँ त्यों-त्यों में सदैव यही अनुभव करूँ कि मुझे कुछ प्राप्त नहीं हुआ है। मैं यह एक क्षण के लिए भी न भूलूँ और मुझे सोते-जागते इस शोक की वेदना बनी रहे। जब थककर हाँफता हुआ मैं मार्ग के किनारे बैठ जाऊँ और भूमि पर धूलि में ही बिछौना लगा लूँ तो मैं सदैव यह अनुभव करूँ कि अभी दीर्घ यात्रा मेरे सामने है। मैं यह एक क्षण के लिए भी न भूलूँ और मुझे सोते-जागते इस शोक की वेदना बनी रहे।

जब मेरा घर सुसज्जित किया जाय। वाजे बजे और हँसी गूँजे तो मुझे सदैव यही खटके कि मैंने तुमको अपने घर निमंत्रित नहीं किया।

मुझे सोते-जागते इस शोक की वेदना बनी रहे[3]

जब मैं देखता हूँ कि तुम्हारे मन्दिर को मैंने ऐसा अशुचि, और अस्वच्छ कर

१. 'लीव्ज़ आफ दी ग्रास' से 'ऐ मेरी आत्मा'—वाल्ट व्हिटमैन
२. 'खान-पान' शीर्षक जीवन-दर्शन—खलील जिब्रान
३. गीत ७९—गीतांजलि हिन्दी अनुवाद—काशीनाथ

रखा है तब मैं लज्जित हो जाता हूँ परन्तु जब मैं देखता हूँ कि तुम उसी में प्रेम-पूर्वक विराज रहे हो तब तो मैं लज्जा में डूब जाता हूँ।

जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरे लिए सब कुछ करते हो और मैं तुम्हीं से मुँह मोड़ता हूँ तब मैं लज्जा से नत सिर हो जाता हूँ। परन्तु जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरी उस अवस्था में मेरे पास आते हो और उलटा मुझको ही मनाते हो तब तो ··।

जब मैं देखता हूँ कि लज्जा के कारण मैं अपने भाव तुमसे छिपाता हूँ तब मैं और भी लजा जाता हूँ। परन्तु जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरे उन भावों को जान गये हो तब तो मेरी लज्जा का पारावार ही नहीं रहता।[1]

चारों उद्धरण यथार्थ के प्रभूत चित्रों से युक्त है। पर प्रत्येक का प्रकाशन-कौशल अलग-अलग है।

प्रथम तथा द्वितीय उद्धरण आध्यात्मिक मर्म छवियों के स्वाभाविक उद्‌गार हैं। भावों की तीव्रता किसी विशेष साज-सज्जा की मुखापेक्षी नहीं है। तीसरे उद्धरण में भावों की अतुल गहराई तो है, पर व्यापकत्व की न्यूनता है। चौथे उद्धरण के भाव आध्यात्मिक जीवन के यथार्थ चित्रों से मंडित अवश्य हैं, पर एक गहरी रसात्मकता का संचार नहीं कर पाते। प्रथम तथा द्वितीय उद्धरण में जीवनानुभूति तीसरे से अधिक है, और तीसरे में चौथे से। उत्कृष्ट काव्य के रुपायक तत्व, बोधात्मक सूक्ष्मता एवं रसात्मक गहराई से लिये जाते हैं। वर्णित विषय जब तक जीवन अथवा जीवन-सम्बन्धी विचारों की जटिल व्यापकता से सम्बन्धित नहीं होता तब तक उसमें भावजन्य आवेग दृष्टिगत नहीं होता।

संलाप (१९२७) तथा प्रवाह (१९३१) में कुछ अधिक आत्मनिष्ठता है। छाया पथ (१९३१) में अधिक तीव्रता, उमंग-प्रवाह तथा ओज दिखाई पड़ता है। भावावेग में अलंकरण की ओर ध्यान कम गया है। यथा:

"निर्दयी! यह क्या, तूने इस वीणा के तार इतने चढ़ा क्यों दिए?
क्या तू उसके दर्द को समझ नहीं सकती?
इसी बीच वीणा बोल उठी—"चुप चुप, यही दर्द तो मुझसे इतना विलाप कराता है। तुझे नहीं मालूम कि मैंने अपना हृदय खोखला कर डाला है—इसी पीड़ा का सुख अनुभव करने के लिए।"
मैं चुप रह गया—वीणा आलापने लगी।
वह आलाप था या विलाप।[2]

---

१. 'साधना' लज्जा शीर्षक राय कृष्णदास।

२. छायापथ पृ० २५—आलाप का सुख।

कोरा भावावेग जब उक्ति-वैचित्र्य के रूप में होता है तो वह सामाजिक के हृदय में क्षणिक आह्लाद की सृष्टि करके रह जाता है। इससे आश्चर्य का प्रसाधन तो होता है, पर रमणीय तृप्ति नहीं होती। पर जब भावों का सम्बन्ध जीवन के महत ऐश्वर्य, मार्मिक छवियों तथा जटिल वास्तविकता से होता है तो पाठक आत्मविभोर हो उठता है। ऐसे स्थलों में भाषा संकेतों का आश्रय लेती है। रायसाहब के उक्त उद्धरण इसी कोटि के हैं। आगे चलकर सांकेतिकता ने गद्य-काव्य के पूरे साहित्य को छा लिया है। आख्यानों के द्वारा भावों का संकेत गद्य-काव्य की निजी विशेषता है। गद्य-काव्य साहित्य में इसके विकसित रूप पर्याप्त मिलते हैं। जीवनगत वास्तविकता के अखण्डित परिचयात्मक चित्र भी 'छायापथ' में मिलते हैं 'दर्पण', 'पात्र', 'कल्प-वृक्ष' आदि शीर्षकों में यथार्थ के विपुल चित्र हैं। रायसाहब के गद्य-काव्यों को छायावाद के अन्तर्गत रक्खा भी जा सकता है और नहीं भी। चूँकि रायसाहब की अनुभूतियाँ अधिकांश बौद्धिक हैं, यथार्थ की मार्मिक छवियों से मंडित नहीं, अतः उसे छायावाद के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है, पर छायावादी रचनाओं में जिस वायवी तन्तुओं का प्राबल्य, अतृप्त कुण्ठाओं की अभिव्यंजना, विशेषण तथा भाववाचक संज्ञाओं का बहुल प्रयोग, पीड़ा की भावना, प्रकृति पर आरोपित कल्पनाएँ, गत्यात्मक उदात्त चेतनाएं, सौन्दर्य के कोमल पक्ष, संवेदनाओं के सुकुमार तन्तु तथा सूक्ष्म रेखाएँ, भावचेतना के वितत चित्र एवं पृथुल स्पर्श, चित्रात्मक मांसलता, निपुण कल्पना, प्रतीक योजना, संनिवेशित संश्लेषण तथा विश्लेषण, संगीतात्मकता, भावरूप के अभिनव संविधान, कलात्मक संवेदनाएँ, जीवन के वैयक्तिक पक्षों की विवृति तथा ध्वनि-संवेदनाओं की अधिकता होती है। वह रायसाहब में यत्र-तत्र ही दिखाई पड़ती है। इनका स्वरूप बाद के गद्य-काव्यकारों में दिखाई पड़ता है। सरल शैली, विचारात्मक शैली, भावात्मक शैली, अलंकृत शैली, रूपक शैली, संवाद शैली तथा प्रकृति चित्रण शैली के अनेक रूप रायसाहब के गद्य-काव्यों में भरे हैं।

. पिछले अध्याय में दिखाया जा चुका है कि बाण की शैली का अनुकरण गद्य के क्षेत्र में भारतेन्दुयुगीन तथा द्विवेदीकालीन लेखकों ने जम कर किया है। पर द्विवेदी-युग के बाद भी जिस असीम निसर्ग के असंख्य भासमान विन्दुओं को एक अलौकिक क्रम में खड़ा करके बाण ने अपने कला-परिपाक का समुज्ज्वल स्वरूप प्रदर्शित किया था, वह स्पृहणीय बना रहा। सन् १९१६ में प्रकाशित वियोगी हरि की 'तरंगिणी' संस्कृत की तत्समता तथा संस्कृत गद्य-काव्य की अलंकरणप्रियता, विशेषणों की बहुलता, समासान्त पदावली तथा दीर्घ वाक्य-योजना एवं क्रियापदों की न्यूनता से युक्त है। यथा :—

"जब मैं अति विशद निर्जन अरण्य में कलरव कल कलित सुललित झरनों

का सुगति विन्यास देखता हूँ, मंद स्रोतस्विनी सरित तट तरुशाखा विहरित कलकण्ठी कोकिल की कुहुक ध्वनि सुनता हूँ, प्रभात ओसकण झलकित हरित तृणाच्छादित प्रकृति परिष्कृत बहुवनस्पति सुगंधित सुखद भूमि पर लेटता हूँ, तथा नाना विहगपूर्ण सुफलित वृक्षावृत्त गिरि सुवर्ण शृंग शुभ्र स्फटिकोमय शिला पर बैठकर प्रकृति छटा दर्शनोन्मत्त अर्वोन्मीलित साश्रु नयन द्वारा अस्त-प्राय तप्त कांचन वर्ण रविमंडलमय कमनीय कांति की ओर निहारता हूँ, तब स्वभाव सुन्दर, लज्जावनत अभ्रक सुमन सौरभ रसिकपवन, आकर श्रवण पुट द्वारा तेरा विरहोत्कंठित प्रिय संदेश सुना जाता है । [1]

अन्तर्नाद (१९२६), भावना (१९२८), प्रार्थना (१९२९), विश्वधर्म (१९३०), ठंढे छींटे (१९४२) तथा श्रद्धाकरण (१९४९) में वियोगी हरि वाण की शैली से बहुत दूर चले गये हैं ।

वियोगी हरि ज्यों-ज्यों जीवन-क्षेत्र में अग्रसर होते गये भाषा, भाव एवं शैली सब में संयत होते गये । जहां 'तरंगिणी' में वस्तुनिष्ठ वर्णनों की प्ररोचना अतिशय भावुकता एवं भावावेग का प्राबल्य है, वहीं बाद की रचनाओं में सामाजिक चेतना के यथार्थ चित्र, आत्मशोधन प्रक्रिया, आत्मग्लानि, वर्ण-व्यवस्था पर व्यंग, मन्दिर मस-जिद तथा पुजारियों पर तीखा व्यंग, देश की दयनीयता का चित्र, राष्ट्रीय उद्बोधन आदि के विपुल चित्र मिलते हैं । वियोगी हरि ने अपने इस प्रयास से गद्य-काव्य के क्षेत्र का महत प्रसार किया । भावावेश की परिमार्जित व्यंजना का उन्मुक्त द्वार इनके द्वारा ही खुला । 'अन्तर्नाद', 'भावना', 'प्रार्थना', 'विश्वधर्म' आदि में व्यक्त भाव इसके प्रमाण हैं । यथा :

"प्रभो, तेरा दर्शन मैं करती ही कैसे ? नेत्र तो निरर्थक नित्य दृश्य देखते-देखते कभी धुँधले और ज्योतिहीन हो गये थे । उनकी श्याम पुतलियाँ बाह्य रूप के प्रत्याघातों से श्वेत पड़ गई थीं । मेरी मंजु मानसी की दुरूह दुर्वासनाएँ भट्टी की भाँति तपाया करती थीं, और कामानल से भावनाटिका भी ध्वस्त हो चुकी थी । बिना तुझे रमाये कोई बाटिका लहलहा रही है ? [2]

संस्कृत की तत्समता तथा समासान्त पदावली का मोह वियोगी हरि धीरे-धीरे छोड़कर उर्दू शब्दों के प्रयोग, बाद में छोटे-छोटे हिन्दी-उर्दू मिश्रित मिले वाक्य, पुनः शुद्ध साहित्यिक भाषा का प्रयोग करते देखे जाते हैं । इनके द्वारा भाषा, भाव दोनों क्षेत्रों में गद्य-काव्य का पर्याप्त विकास हुआ । इन्होंने विशुद्ध बौद्धिकता का क्षेत्र न अपनाकर प्रथम में विशुद्ध भावुकता, पश्चात् सामाजिक भावुकता का भाव अपनाया ।

१. हरिप्रसाद द्विवेदी (वियोगी हरि) तरंगिणी, पृ० ५४
२. वियोगी हरि भावना, पृष्ठ ७९

सामाजिक भावुकता के क्रोड़ से निकले इनके जीवन्त यथार्थ चित्र रसात्मक बोध की सृष्टि करते हैं तथा व्यापक जीवन की पीठिका से सम्बन्धित होने के कारण रागात्मक आलोड़न-विलोड़न भी करते हैं। पर सामाजिक भावुकता के क्षेत्र में पदार्पण करने से वियोगी हरि की दृष्टि जीवन के वाह्य चित्रों में ऐसी उलझी की वे गद्य-काव्य का वह उदात्त स्वरूप नहीं व्यक्त कर पाये जो शाश्वत जीवन की मर्म छबियों का आकलन करता है। विशुद्ध भावुकता में रहस्यमयता भी है। भावात्मक शैली, समास शैली, अलंकृत शैली तथा संलाप शैली का विकास वियोगी हरि की रचनाओं में यथास्थान मिलता है।

जहाँ गद्य-काव्य के इस शैशव-काल में विशुद्ध मौलिक प्रयोग हो रहे थे वहीं कारयित्री प्रतिभा के अभाव में 'देवेन्द्र' की प्रेम सम्बन्धी इतरेतर भाषाओं के उद्धरणों से युक्त 'प्रेमकली' (१६२०) भी देखने को मिलती है। मार्मिक युक्तियों का यह एक अच्छा संकलन है, इसकी महत्ता इसी में है।

चतुरसेन शास्त्री के आगमन से गद्य-काव्य कई दिशाओं में ऊर्जस्वित हो उठा। भावात्मक चित्रों का जितना बाहुल्य आपके गद्य-काव्यों में पाया जाता है वह अत्यन्त सजीव, प्रभविष्णु तथा मोहक है। 'चिन्ता', 'गर्व', 'स्वार्थ' आदि मानसिक वृत्तियों के वस्तुनिष्ठ चित्रण, करुण तथा शृंगार के उत्कृष्ट रूप, शोक, क्षोभ, दैन्य आदि भावों के विशद चित्र, महापुरुषों पर प्रशस्तियाँ, देश की दशा का कारुणिक चित्र, नाटकीय, अभिनेयात्मकता, विषयों का स्वाभाविक प्रभावोत्पक निदर्शन एवं विधान, ऊहात्मक यथार्थ-समन्वित वर्णन तथा चित्रोपमता आपके गद्य-काव्यों में यथावत विकसित हुई है। 'रूप' का चित्रमय अंकन आप इस प्रकार करते हैं :

> **"उस रूप की बात मैं क्या कहूँ, काले बालों की रात फैल रही थी और मुखचन्द्र की चाँदनी छिटक रही थी। उस चाँदनी में वह खुल्ला धरा था। सोने के कलसों से भरा हुआ था और उसका मुँह खूब कसकर बँधा था, फिर भी महक फूट रही थी। उस पर आठ-दस चम्पे की कलियाँ किसी ने डाल दी थीं। भौंरे भीतर घुसने की जुगत सोच रहे थे। मदन कमान लिए खड़ा रखवाली कर रहा था। उसका सहचर यौवन अलसाया पड़ा था, न उसे भूख थी न प्यास, छका पड़ा था।"** [1]

शास्त्रीजी की रचना में भाषा का माधुर्य, वचनवक्रता, लाक्षणिकता, धारावाहिकता, हिन्दी-उर्दू का मिलाजुला रूप, सरल भावावेश शैली, मनोवैज्ञानिक चित्रण, मनोज्ञ पदविन्यास, ठेठ शब्दों का चुभता प्रयोग तथा सामाजिक यथार्थ चित्र मिलते हैं।

---

१. 'अन्तस्तल' रूप शीर्षक।

'अन्तस्तल' (१९२१), 'बनाम स्वदेश' (१९२२) तथा 'हाहाकार' (१९३०) इसके प्रमाण हैं।

शास्त्रीजी के गद्य-काव्यों में वस्तुवादी दृष्टिकोण का जितना विकसित अंकन मिलता है उतना अपार्थिवता का कम। वातावरण का सचेष्ट चित्रपट तैयार करने में आप कुशल हैं। अपने गद्य-काव्य के शिल्प में चारु कमनीयता, आवेग एवं वस्तुवादी आनंदविभोरता का मधुर घोल मिश्रित किया है।

पुष्ट सांकेतिकता, उपदेशात्मकता, अर्थगाम्भीर्य तथा साधनात्मक रहस्यवाद के भावप्रवण चित्र सन् १९२१ के पूर्व उतने मनोमुग्धकारी नहीं दिखाई पड़ते जैसा कि होना चाहिए। 'प्रभा' पत्रिका के जून १९२२ अंक में प्रकाशित 'नलिन' की रचना 'समुचित कर' तथा 'चेतावनी' इस अभाव की पूर्ति में सहयोग देती मालूम होती है। यथा :

(१)

समुचित कर

ऋषियो, यदि तुम्हें भगवान रामचन्द्र की परमा शक्ति सीता के जन्म की आकांक्षा हो तो तुम्हें घड़े भर खून का कर देना होगा। उसके बिना सीता का शरीर कैसे बनेगा ?

और बिना सीता का आविर्भाव हुए रामचन्द्र अपना अवतार कैसे सार्थक कर सकेंगे।

अतः ऋषियो ! उठो ! अविलम्ब अपना रक्त प्रदान करो।

(२)

चेतावनी

पथिक तुम्हें बड़े टेढ़े रास्ते से जाना है।

यदि तुम्हें निर्दिष्ट मन्दिर तक पहुँचना है तो इसके सिवा अन्य मार्ग न देखो। यदि तुम्हें मुक्त होने की अभिलाषा है तो तुम्हें सिद्धियों का लोभ संवरण करना पड़ेगा।

और पथ में मार सेना का अत्याचार सहने को प्रस्तुत रहना पड़ेगा। सिंहासन पर तुम अशुल्क नहीं बैठ सकते, तुम्हें उसका मूल्य अवश्य देना होगा ?

यदि तुम्हें उस पद की आकांक्षा हो तो तुम्हें इन सब के लिए सन्नद्ध रहना चाहिये।

वास्तविकता के यथार्थ का कलात्मक चित्रण उसी स्थिति में संभव होता है जब कलाकार अपनी केन्द्रीय अभिव्यक्त विचारधारा का वैविध्यपूर्ण, सर्वांगीण अन्तरंग तथा मूर्त्त चित्रण उपस्थित करता है, ऐसा करने ही से वह केन्द्रीय विचार अपने समस्त अन्तर्सम्बन्धों के साथ प्रोद्भासित हो उठता है और ऐसा होने पर ही कोई कलाकृति अपने आप में पूर्ण अविभाज्य इकाई होकर अमर होती है। ऊपर के काव्य-खण्ड अपने

ललित पद-योजना के कारण सुन्दर नहीं हैं बल्कि उनका सौन्दर्य अभिव्यक्त अनुभूति का चारुत्व है। काव्य-खण्डों का विषय-निरूपण व्यक्ति-विशेष के लिए ही सार्थक नहीं है वरन् वह मानवमात्र के दृष्टिकोण से अर्थवत् प्रतीत होता है। जीवन और जात के निर्भर संकेतों से सम्पन्न इस तरह के गद्य-काव्य की परिपाटी दार्शनिक क्षेत्र का भी स्पर्श करती है तथा साधन पथ के अवरोहों का दिग्दर्शन भी कराती है। दार्शनिक एवं साधनात्मक गद्य-काव्यों का यह क्रम तब से आज तक बना हुआ है।

दार्शनिक दृष्टिकोण के एक दूसरे पहलू पर भी गद्य-काव्यकारों का ध्यान जाने लगा। वह है जीवन का दुखद अन्त। 'प्रभा' पत्रिका के मार्च १९२३ अक में 'अंत' शीर्षक प्रतापनारायण श्रीवास्तव की रचना इसी प्रकार का विचार व्यक्त करती है :

"तेरी छाया कई बार देखी। जब तूने लहलहाती हुई ललित लता के प्रथम पुष्प को अपने कठोर हाथों से मसलकर भूमि पर फेंक दिया था तब तेरी छाया देखी थी, किन्तु तुझे कभी नहीं देखा। तूने सबको अपने में मिला लिया। क्या कभी तेरा भी अन्त होगा ?"

अपने सत्ता की सर्वकालिक प्रतीति तथा अपने अहं के चिरकालिक आह्लाद-कारिणी साधनों की स्थिति की कामना मानव में वनी रहती है। अपने प्रकाश एवं आनंद के साधनों को मिटते देखकर दुःख होना स्वाभाविक है। जीवन का यही यथार्थ है। यथार्थ के ऐसे विपुल प्रयत्नों से प्लावित गद्य-काव्य की भावधाराएँ जब से चली हैं, रुकी नहीं।

अभी तक गद्य-काव्यों में भाषा का माधुर्य एवं पद-लालित्य भास्वर नहीं हो पाया था। वाण की शैली का मौलिक प्रयोग गद्य-काव्यों में 'वियोगी हरि' ने अवश्य किया था, पर वे समास एवं विशेषणप्रधान भावयोजना में ही बँधे रहे, सौन्दर्य के कोमल पक्ष, सुकुमार संवेदनाएँ, भावरूप के अभिनव संविधान, संवेदनाओं की सूक्ष्म रेखाएँ तथा ध्वनि संवेदनाओं की ओर उनकी दृष्टि नहीं थी, भावुक हृदय होने के कारण उनकी दृष्टि उधर जा भी नंहीं सकती थी। 'चाँद' नवम्बर १९२३ के 'अमृत तत्व' शीर्षक ने इस अभाव की पूर्ति की। रचना इस प्रकार है :

"सुन्दरी वन्य लताओं के कोमल कान्त कलेवर से सुमन चयन करके, बन-वाहिनी विमल कल्लोल्लिनी से सुशीतल जल आनयन करके एवं शुष्क तरुपुंज से समिधा संचय करके वे अपने पतिदेव महर्षि की तपोमयी साधना में साहाय्य होती थीं।

राजराजेश्वरी भगवती कल्याणी सुन्दरी की प्रतिमा स्वरूपिणी रमणी के

निर्विकार और निःस्वार्थ त्याग तीर्थ की पवित्र भूमि में ही अमृत तत्व की मन्दाकिनी मधुर कलकल ध्वनि साथ निरन्तर प्रवाहित होती है।"[1]

इसी प्रकार चाँद अक्टूबर १९२४ 'समर्पण' शीर्षक में प्रकृति वर्णन का अनूठा चित्र है :

"नील नभोमण्डल में पूर्ण चन्द्र तारों की माला पहनकर मन्द मराल गति से विहार कर रहे थे। उनकी लोचन कादम्बिनी की सुधा-वृष्टि में कोमल जुही की लता स्नान कर रही थी और उसी के पास खड़ा होकर तारामण्डल मधुर स्वर में गा रहा था।" [2]

'चाँद' अक्तूबर १९२६ में 'आशा' तथा मार्च १९२७ में 'अन्तिम भिक्षा' प्रगल्भ कल्पना, अर्थवत् छवियों, विषय का नूतन संगठन तथा व्यक्तित्व प्रकाशन से पूर्ण है।

'हृदयेश' के गद्य-काव्यों में सर्वप्रथम अपने समुज्ज्वल रूप में छायावाद की स्वर-लहरी, लहर-बहर के साथ थिरकती दिखाई पड़ती है। गद्य-काव्य का यह नया मोड़ विषय-प्रतिपादन की नूतन भंगिमा को लेकर चला। पद्यवद्ध रचना के क्षेत्र में छायावाद ने जो डिंडिम घोप किया था वह यहाँ तक तो पहुँच गया, पर इधर छायावाद का मार्ग कुछ काल तक संकीर्ण ही रहा। कुछ इने-गिने निकाय ही इसमें आ पाये।

सन् १९२० के महात्मा गांधी के असफल असहयोग आन्दोलन से भारतीय गगनमण्डल नैराश्य एवं विषाद से आक्रान्त हो चला था। जातीय जीवन के अहं को ऐसी ठेस लगी थी जो सम्हाल के बाहर थी। ऐसी ही परिस्थितियों में जन-जीवन का चित्र प्रतिफलित करते हुए 'गुलाबराय एम० ए०' की 'फिर निराशा क्यों ?' १९२३ में प्रकाशित हुई। यद्यपि पुस्तक उपदेशात्मकता के ही विकास में सहयोग देती है, भापा में सरसता एवं गत्यात्मकता नहीं है, फिर भी उपदेशात्मक तथा विचारात्मक शैली के विकास में सहयोग तो देती ही है। यथाः

"संसार के सभी महासागर जिसकी एक छोटी-सी लहर हैं, उसी सत्ता सागर के हम भी बुदबुद हैं। हम उस महासागर के न भीतर हैं न बाहर। उसी महासागर के जलकण हैं। जल-बिन्दु जलधि से भिन्न नहीं और सिन्धु भी बिन्दु से भिन्न नहीं। बिन्दुओं को छोड़कर भला सागर कहाँ ?" [3]

प्रौढ़ आध्यात्मिक भावधारा के विकास में कुछ सहयोग तो इससे अवश्य हुआ,

---

१. 'अमृत तत्व' चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' चांद बम्बई १९२३
२. चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'
'फिर निराशा क्यों', पृ० ४३ : गुलाबराय

प्राँजल तथा परिष्कृत भाषा के व्यवहार ने विषय-निरूपण की दृष्टि भी प्रदान की, पर भावावेग की तीव्रता के अभाव में रसात्मक बोध का संचार इस रचना के द्वारा नहीं हो पाया। इस कमी को 'अभय विद्यालंकार' देवशर्मा की कृति 'तरंगित हृदय' (१९२६) ने पूरा किया। 'हम क्या खायें', 'प्रतिष्ठा', 'संध्या', 'भयंकर अग्निकाण्ड', 'घट का स्वामी' आदि शीर्षकों में भाषा एवं भाव पुष्ट हैं। 'सताने वाला कौन' शीर्षक में आप अपने भाव इस प्रकार व्यक्त करते हैं :

"आज अन्दर देखने में दीख रहा है कि क्लेश वर्षा करनेवाले वे बादल हैं जिनका मुझे पता न चलता था, मेरे हृदयाकाश में हो मँडरा रहे हैं और मैंने अपने संतप्त कलेवर से ही वाष्प देकर उन बादलों को बनने दिया है।" [1]

अन्तर्मुखी साधना का फलित रूप यह गद्य-काव्य साधनात्मक रहस्यवाद की गद्य-काव्य सम्बन्धी अभिव्यक्तियों को यथार्थ के महत् सौन्दर्य से मंडित तो करता ही है साथ ही आत्मनिष्ठता के प्रसाधन से विषय का विस्तार भी करता है।

चतुरसेन शास्त्री ने गद्य-काव्य की सीमा शृंगार तक तो पहुँचाई थी, पर उनके शृंगार में अश्लीलता नहीं दृष्टिगोचर होती। केशवलाल झा 'अमल' ने अपने 'प्रलाप' (१९२७) में इसे भी स्थान दिया। 'प्रेमपिपासा' तथा 'पहली रात' शीर्षक इस कथन की सार्थकता सिद्ध करते हैं।

'तरंगिणी' (१९२८) में जगदीश झा विमलने 'लोभ', 'आशा', 'वसन्त', 'स्वार्थ', 'धर्म', 'क्रोध', 'चिन्ता', 'होली', 'पापी पेट', 'संगीत', 'गुलामी', आदि विषयों पर गद्य-काव्य लिखे। भाषा में अनुप्रास की छटा दर्शनीय है। यथा

"हे सृष्टि के द्वार पर चौकस होकर चौकड़ी भरनेवाली चिन्ते ! तू ने अपन चोखे चंगुल की चपेट से किसको चारोंखाने चित्त नहीं किया ? किसके चाव में अपनी चंचल चमक से चकाचौंध नहीं डाली ?" [2]

'मधुप' शीर्षक में हृदय की चंचलता का प्राबल्य, अज्ञात यौवना विस्मृत लालसा कुमारी के हृदय की उत्कण्ठा है। 'आकांक्षा' में सती हिन्दू नारी का स्वरूप 'नौका' में अनंत की गौरवमयी सरिता का दर्शन, तथा प्रकृति की कल्पनातीत भीषण शक्तियों का गर्जन, 'भूल' में मानव समाज के चिरन्तन प्रकाश की क्षीण आभा, 'शिखनी' में नारी-हृदय का चंचल चीत्कार तथा 'प्रतीक्षा' में प्यासे हृदय की पुकार तथा अशान्त मन का क्रन्दन है। विविध विषयों के माध्यम से भाषा की अर्थवत्ता को पर्याप्त प्रौढ़ बनाया है।

---

१. तरंगित हृदय, पृ० २१ देवशर्मा

२. तरंगिणी, पृ० ११३ प्र० सं० जगदीश झा विमल

जीवन महत् का प्रकाश है। यह प्रकाश जिसमें जितना होगा वह उतना ही प्रकाशमय होगा और उस अनंत सत्ता का साक्षात्कार भी करेगा। 'कल्याण' १९२७ मार्गशीर्ष की 'तुम कौन हो' भूपेन्द्रनाथ सान्याल की रचना इसे आत्म-साक्षात्कार की भावना को व्यक्त करती है। 'कल्याण' आश्विन १९२८ में प्रकाशित गुप्तेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव की 'इला' भक्त की दैन्य स्थिति की व्यंजना करती है। पौष १९२८ 'कल्याण' की 'पथिक' रचना साधक के प्रलोभन-जन्य पतन की ओर निर्देश करती है।

नवम्बर १९२८ 'सरस्वती' में प्रकाशित शिलीमुख की 'कुछ' रचना आध्यात्मिक चेतना से पूर्ण है। कल्याण १९२९ मार्गशीर्ष, बालकृष्ण बलदुआ की 'अतृप्ति' माया की मनोहारिता, निःसारता अबाध गति एवं इसकी प्राप्ति के लिए किए गए व्यर्थ प्रयास का यथावत स्वरूप व्यक्त करती है। रचना इस प्रकार है:

"मैं नदी कगार पर बैठा हूँ—दोनों पैर लटकाये हुए। चपल लहरियाँ उचक-उचककर उन्हें छूती हैं, अस्फुट स्वर में कुछ कहती हैं और चट से भाग जाती हैं। मैं समझता हूँ—यह लहरियों का आवाहन है, वे मुझे बुला रही हैं अपने साथ क्रीड़ा करने के लिए, और मैं कूद पड़ता हूँ।
पर यह क्या ? जहाँ मैं कूदा वहाँ बालू-ही-बालू। नदी पूर्ववत् इठलाती कल-कल करती बहती रही, पर मुझसे तनिक दूर।"

राय कृष्णदास ने 'प्रवाल' में शैशव भाव के कुछ चित्र उतारे हैं। इनके पश्चात् दूसरा शैशवकालीन चित्र विनोदशंकर व्यास का 'हृदय' शीर्षक 'चाँद' मई १९२९ में देखने को मिलता है। रचना द्रष्टव्य है:

"मेरे अबोध हृदय ! अनायास ही जब तुम किसी की बात पर विश्वास कर लेते थे। परिचय होने पर भी बोलने को प्रस्तुत हो जाते थे अपरिचित को भी परिचित समझने लगते थे, एक बार किसी को देखकर हजार बार उछलने लगते थे। स्मरण है ?" [१]

सन् १९२९ में सद्गुरुशरण अवस्थी ने 'भ्रमित पथिक' एक अन्योक्ति-प्रधान गद्य-काव्य लिखकर गद्य-काव्य की दिशा को एक दूसरे ही क्षेत्र में मोड़ा। यह एक साधारण विवेकशील, प्रलोभनों में पड़कर पथभ्रष्ट होनेवाले पुरुष की जीवनी है। विभिन्न धर्मावलम्बी, सम्प्रदायी, कर्पूर की भाँति उज्ज्वल, काँटे-छुरी से खानेवाले, योरोपीय, वैरागी, जटाधारी तथा चिमटाधारी पथिक से मार्ग में मिलते हैं। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत के उद्धरणों से युक्त यह पुस्तक अवस्थीजी की अध्ययन-प्रौढ़ता का

१. चाँद, मई १९२८, पृ० १०९ : विनोदशंकर व्यास

परिचय तो देती है, पर मौलिकता की मधुरिमा को न्यून करती है। कहीं-कहीं संस्कृत की पदावलियों का अक्षरशः अनुवाद ही इन्होंने कर डाला है। यथा :

"भगवान अशिशिर किरण ने तन्तु शलाका आँकी, निर्मित सुवर्ण सम्मार्जिनी की भाँति अपनी सहस्रों दीधितियों द्वारा आकाश प्रांगण के पुष्प समूह के अनुकरणकारी नक्षत्रों को बुहारकर एक ओर कर दिया।"[1]

यह कादम्बरी के निम्न स्थल का अनुवाद है :—

"प्रतलाक्षिक तन्तु पाटलाभिरामायिनीभिरशिशिर किरण दीधितिय: पद्मरागशलाका संमार्जिनीभिरिन समुत्सार्य माणे गगन कुट्टिम कुसुम प्रकटे तारागणे।[2]

यह पुस्तक अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक वनियान के Pilgrim's Progress के आधार पर है। पर जिस प्रकार वनियान की पुस्तक में Simple sloth, Presumption जैसे पात्र हैं, Hill of difficulty, land of vainglory, valley of Mountain, valley of shadow of death Delectable mountain इत्यादि स्थान हैं। वैसे 'भ्रमित पथिक' में नामकरण नहीं हुआ है। केवल इनका आभास-मात्र है। संस्कृत-साहित्य में इसकी शताब्दी प्रथम में महाकवि अश्वघोष की एक अन्योक्ति-प्रधान रचना प्राप्त होती है, ईस्वी पात्र, बुद्धि, धृति कीर्ति एवं बुद्ध भगवान हैं। इसके अनंतर 'काल का मोह पराजय' नामक नाटक मिलता है जिसमें विवेकभद्र, ज्ञानदर्पण, कीर्तिमंजरी, प्रताप, पार्श्वदेव इत्यादि पात्र आते हैं।

श्रीकृष्ण मिश्र (१०४२) का प्रबोध चन्द्रोदय नाटक भी इसी प्रकार है। इसमें विवेक, मोह, विद्या, प्रबोध, मिथ्या दृष्टि, दंभ इत्यादि पात्र हैं। इसके अनुकरण पर वेंकटनाथ विरचित 'संकल्प सूर्योदय' कविकर्णपूर विरचित 'चैतन्य चन्द्रोदय' तथा शैव संप्रदायावलंबी 'विद्यापरिणय' एवं 'जीवानंदन' है। इनका निर्माण-काल बारहवीं शताब्दी है।

हिन्दी साहित्य में गद्य के क्षेत्र में तो नहीं नाटक के क्षेत्र में अवश्य 'प्रसाद', 'पंत' आदि ने रूपक-प्रधान नाटक लिखे हैं। 'प्रसाद' की 'कामना', 'पंत' की ज्योत्स्ना इसके प्रमाण हैं। 'कामना' में विलास, विनोद, कामना, लालसा, लीला, सन्तोष, क्रूर विवेक, दंभ, दुर्वृत्त आदि पात्र हैं। 'ज्योत्स्ना' में संध्या, ज्योत्स्ना, सुरभि, कल्पना, ऊषा, इंदु, पवन, स्वप्न, अरुण, छाया, विहग, किरण, ताराएँ, ओस, झिंगुर, जुगनू, मृग, कुसुम, लहर, तितली आदि पात्र हैं।

---

१. भ्रमित पथिक, पृ० ७

२. कादम्बरी, पृ० ८ : हरिदास टीका-सहित

पूर्व में निर्धारित गद्य-काव्य के स्वरूप के अनुसार यद्यपि 'भ्रमित पथिक' खरा नहीं उतरता और संकोच के साथ ही इसे गद्य-काव्य माना जा सकता है, पर प्रतीक एवं रूपक की बहुलता, अध्यात्म-विषयक चर्चा एवं बीच-बीच में आलकारिक शैली के कारण इसे गद्य-काव्य माना जा सकता है।

प्रारम्भिक काल की प्रवृत्तियाँ तथा विकास-रेखाएँ ; गद्य-काव्य के प्रारंभिक काल की रचनाओं में, बौद्धिक भावुकता, भक्तिपरक भावुकता, सामाजिक भावुकता, मांसल भावभंगी, साधनात्मक रहस्यवाद, रहस्यमय सत्ता के साक्षात्कारजन्य विघ्न-बहुलता, पृष्ठभूमि के लिए प्रकृति-चित्रण, अमूर्त्त विधान, वस्तुनिष्ठ विवरण, भावों का मनोवैज्ञानिक चित्रण, भाषा की आलंकारिक शैली, समास शैली, सरल शैली, विचारात्मक शैली, रूपक शैली, भाववाचक संज्ञाओं एवं विशेषणों का प्रयोग, राष्ट्रीय भावनाएँ, महामानवों की प्रशस्तियाँ, देश की दशा के कारुणिक चित्र, राष्ट्र-चेतना में व्याप्त निराशा का प्रतिबिंब तथा विषाद के भावों की प्रधानता देखने को मिलती है। कलात्मक सौन्दर्य तथा ध्वनि-योजना को पर्याप्त स्थान नहीं मिल पाया है। जिन गद्य-काव्यकारों ने बौद्धिक नियोजन पर बल दिया है उनकी रचनाओं में माधुर्य का अभाव खटकता है। जहाँ अतिशय भावुकता के दर्शन होते हैं वहाँ भी भाषागत सौन्दय निखार नहीं पा सका है। संस्कृत की कोमलकांत पदावली का प्रयोग कहीं-कहीं अवश्य दिखाई पड़ता है, पर उसमें वचन-वक्रता स्वल्प ही दृष्टिगत होती है। भावों की रंगीनी का भी अभाव इस काल की रचनाओं में परिलक्षित होता है। यद्यपि गद्य-काव्य के क्षेत्र का पर्याप्त विस्तार किया यगा, पर इस विस्तार में आत्मनिष्ठता उभार पर नहीं आ पाई है। गद्य-काव्यकारों के व्यक्तितत्व में कोई ऐसा वैशिष्ट नहीं दृष्टि-गत होता जिससे काव्य-शक्ति के महत ऐश्वर्य का बोधन हो। चित्रमय भाव-योजना का कुछ उत्कर्ष चतुरसेन शास्त्री के गद्य-काव्यों में अवश्य देखने को मिलता है, पर अन्य गद्य-काव्यकारों की रचनाओं में इसका अभाव ही है। गद्य-काव्य की संगीत-मयता भी खुलकर प्रकाश में नहीं आ पाई है। कहीं अनुभूतियों के विराट ऐश्वर्य के दर्शन अवश्य होते हैं और वे व्यापक जीवन की चित्रपटी पर अंकित भी की गई हैं पर उनमें विपुल गहराई तथा चिरकालीन तन्मयीभवनयोग्यता स्वल्प ही है। आख्या-नक गद्य-गीतियों की कलागत महत्ता भी मुक्त रूप से प्रसार न पा सकी। संबोध गद्य-गीतियों का तो अभाव ही है। भावानुभूतियों में आवेग तो है, अन्विति भी है, पर ये जीवन के जटिल प्रश्नों से नहीं उलझी हैं। करुणा की भावना में विज्ञापन की भावना जितनी गूंजती है उतनी विषाद की कम। जीवन के मार्मिक पक्षों का कहीं-कहीं उद्घाटन अवश्य हुआ है, पर इनकी मार्मिकता सहृदय को बरबस आकृष्ट करनेवाली

नहीं है। मांसल अनुभूतियों के चित्र अवश्य प्रभावपूर्ण हैं और कहीं-कहीं ये रीति-काल की सीमा का भी स्पर्श करती देखी जाती हैं।

प्रकृति-चित्रण के भाव यथार्थपूर्ण होते हुए भी कुछ कृत्रिमता का बाना धारण किए हुए हैं, इससे उनके सौन्दर्य में उत्कर्ष की स्थिति नहीं आ पाई है। मर्म छवियों के प्रकाशन में इस काल के गद्य-काव्यकारों में कृपणता के भाव दिखाई पड़ते हैं और जहाँ ये प्रकाशित की गई हैं इनमें चमत्कारिक आह्लाद पूर्ण नहीं है। बालकृष्ण बल-दुआ की 'अतृप्ति' अवश्य भावों का मूर्तविधान प्रस्तुत करती है। चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के गद्य-काव्य ध्वनि, लय तथा गति-योजना का विधान करते हैं। स्पृहणीय अर्थवत्ता की कमी इस काल के गद्य काव्यों में विशेषतः परिलक्षित होती है। फिर भी प्रारंभिक काल की पूर्वकथित रचनाएँ इसकी पूर्वसूचना तो देती रहीं हैं कि निकटतम भविष्य में ही गद्य-काव्य अपने विपुल भाव-राशियों से जगमगाने ही वाला है।

मध्य-काल—मध्य-काल गद्य-काव्यों का प्रौढ़ काल है। प्रौढ़ता में ओज, कान्ति, लावण्य, दीप्ति, शक्ति, आकर्षण, हावभाव, भ्रम, छल, स्फूर्ति तथा क्रिया होती ही है। यह काल प्रौढ़ता के सभी विशेषणों से विभूषित है। काव्य की प्रौढ़ता, व्यापक जीवन की अनुभूतियों की प्रखरता तथा भाषा की कलात्मक महत्ता पर निर्भर करती है। इन दोनों क्षेत्रों में गद्य-काव्य यथावत विकसित हुआ है।

उपर्युक्त कथन की सत्यता का द्योतन १९३० में ही मोहनलाल महतो 'वियोगी' के धुँधले चित्र ने दिया। जब मोहनलाल कह उठते हैं, 'मानसरोवर के स्वच्छ जल पर गोधूलि का मलिन अंचल खिसक पड़ा'[1] तो मालूम होता है 'प्रसाद' जी ही छायावाद का स्वर गद्य-काव्य में भर रहे हैं। इस रचना में छायावाद की लाक्षणि-कता, कोमलता, सुकुमारता, माधुर्य, दीप्ति तथा प्रसाद है। एक चित्र देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

> **"जब मदिरा की खुमारी अपने पूर्ण यौवन पर थी और मुझे सारा संसार कुलाल चक्रवत् दिखलाई पड़ता था उसी समय मेरे शान्त नीड़ के नीचे संसार-भर के मानवों का महा मेला लगा। अंतःसलिला फल्गु का निर्जन तट, असंख्य तड़िता लोक से जगमगा उठा, देश के जख्मों पर मरहमपट्टी करनेवाले पुराने पागलों का खासा जमघट दिखलाई पड़ता था। मानों सिरधरों की बस्ती बस गई हो। आँसू की तरह शीतल जल को अपनी विशाल छाती में छिपाकर फल्गु भी यह सब देख रही थी।"[2]**

इसी प्रकार 'बंदनवार' की अभिनव लाक्षणिकता, पुष्ट भाव-व्यंजना, महत

१. धुँधले चित्र, पृ० १६।
२. धुँधले चित्र, पृ० ६६।

अर्थगांभीर्य तथा अनुरंजनकारी आह्लाद, प्रौढ़ता का डिंडिम घोष किए बिना नहीं रहता । देखिये :

"केवट तुम्हारी नाव तरंगों पर थिरक रही है और मुझे भी जाना है । क्या ही अच्छा होता यदि 'इस पार' को ही 'उस पार' बनाकर आने-जाने के झंझट से पार पा जाता ? क्या यह परिवर्तन संभव है—मेरे केवट ?"[1]

काव्य-पराग के सौरभ से श्लथ उक्त उद्धरण अपने चारुत्व एवं अतिशय भाव-मनोज्ञता के माध्यम से गद्य-काव्य के उत्कृष्टतम स्वरूप की झाँकी देता हुआ सहृदय को अपनी भावजन्य कमनीयता से मुग्ध किए बिना नहीं रहता।

सन् १९३० जुलाई 'हंस' अंक की शंकरदेव की रचना 'विराट मशालची' तथा 'जीवन-गीत', नवम्बर अंक में शान्तिप्रसाद वर्मा का 'प्रणय' एवं 'सुधा' पत्रिका के इसी सन् की शकुन्तला गुप्ता का 'हृदयोद्गार' आत्म-धार्मिकता से ओत-प्रोत है ।

गूढ़ चिन्तनों की यह धारा बढ़ती ही गई । 'हंस' जनवरी १९३१ अंक में शांतिप्रसाद वर्मा की रचना 'चुप क्यों हो गये', बालकृष्ण बलदुआ की 'भावना' तथा शंकरदेव की 'पंखुड़ियाँ' इस तथ्य की सत्यता सिद्ध करती हैं । 'प्रेमा' जनवरी १९३१ बालकृष्ण बलदुआ का, 'मेरा अधिकार' मई १९३१ रघुवीरसिंह का वह सौन्दर्य भी इसी प्रकार हैं । सन् १९३२ में प्रकाशित शांतिप्रसाद वर्मा की रचना 'चित्रपट' आध्यात्मिक उत्कर्षापकर्ष का चित्र, साधन सम्बन्धी कठिनाइयाँ, साधन पथ की बीहड़ता, मार्गच्युत होने पर पाश्चात्ताप आदि का स्पष्ट चित्रांकन करती है । रहस्यमय सत्ता के प्रति की गई अभिव्यक्तियाँ अनेक मार्ग लेकर चलती हैं ।

'चरणों में', 'आश्चर्य', 'तुम ?', 'निराश', 'निरादर' आदि शीर्षकों में भावों का उन्मुक्त प्रकाशन हुआ है ।

'तेरे दीपक की ज्योति' शीर्षक में भावविह्वलता द्रष्टव्य है :

"तेरे दीपक की ज्योति
तेरे दीपक की ज्योति
मेरे शरीर में अपना प्रकाश फैलाये,
जिससे वह निरोग और स्वस्थ रहे ।
मेरे मन में अपना प्रकाश फैला दे,
जिससे वह शुद्ध और सात्विक रहे ।
मेरे हृदय में अपना प्रकाश फैला दे,
जिससे वह संवेदनशील और भावुक रहे ।
मेरे वचनों में अपना प्रकाश फैला दे ।
जिससे वह सत्य तथा कल्याणकर रहे ।

---

१. वन्दनवार : मोहनलाल महतो, पृ० १५० (१९५०)

मेरे पापों का नाश करदे और मुझे अपने सोनहले पंखों पर बैठा कर तेरी स्वर्गीय ऊँचाई तक उठा ले जाय।"[१]

उपर्युक्त गद्य-गीत यह स्पष्ट कर रहा है कि इस काल के पूर्व के गद्य-काव्यों में संगीतात्मकता, लयात्मकता तथा समरसता उतनी मात्रा में नहीं थी जितनी इसमें है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मध्य काल में गद्य-गीत अधिक संगीतमय हो चले थे। परुषता के स्थान पर अब गद्य-गीतों में कोमलता दिखलाई पड़ने लगी।

प्रकाश से ही अनन्त सत्ता का ज्ञान होता है। इसी उत्कट अभिलाषा के कारण चन्द्रशेखर सन्तोषी 'विप्लव इच्छा' (१९३२) में महान विप्लव के आकांक्षी हैं। ऐसा विप्लव जिसमें 'मनुष्य जाति सदैव के लुप्त हो जाय और आशा के पुल टूट जायँ। सुन्दरता की सामग्री नष्ट हो जाय। मदवालों का मद चूर हो जाय। भोलों का भोलापन संसार से जाता रहे। भक्ति तथा पूजा का काम ही न रह जाय। विज्ञानियों की शालाएँ भस्म हो जायँ। धर्मियों की धर्मपताका विलीन हो जायँ और हे प्रभो! इस पृथ्वी पर घमंड करनेवाले पर्वत खाक हो जायँ। सरिताएँ सूख जायँ। पक्षियों का चहचहाना मिट जाय। कलरव कभी कान तक न पहुँच सके। फिर क्या ? केवल एक वस्तु रह जाय और वही वस्तु रहे जो अनंत हो। तो बस वही अनन्त ही रह जाय।[२]

जहाँ गद्य-काव्यों में आध्यात्मिक चिन्तन के विविध रूप दृष्टिगत होते हैं, वहीं लौकिक पक्ष की ओर भी गद्य-काव्यकारों की दृष्टि गई है। पार्थिव प्रेम को लक्ष्य करके लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' का 'वियोग' (१९३२) प्रकाशित हुआ। इस रचना में मनोरम तथा सुकुमार भावों की छटा है। तथ्य-निरूपण का कार्य अभी तक गद्य-काव्य के माध्यम से स्पष्ट रूप में नहीं हुआ था। इस रचना ने इस कमी को पूर्ण किया है। यथा :

"सुख की मिथ्या और आधारहीन कल्पना में भी जो आकर्षण रहता है वह उसकी दुर्लभ संभावना में कहाँ है। प्रकृति के तत्व की विकृति ही सृष्टि है।"[३]

'वियोग' पत्नी के विरह में लिखा गया है। शोक की तीव्र अभिव्यंजना यथार्थ 'रचना' में नहीं हो पाई है, फिर भी भाव परिष्कृत तथा सुरुचिपूर्ण हैं।

महाराजकुमार रघुवीरसिंह की रचना 'बिखरे फूल' (१९३२), 'शेष स्मृतियाँ' (१९३९) तथा 'जीवनधूलि' (१९५०) के द्वारा गद्य-काव्य ने नया मोड़ लिया। विशेषतः 'शेष स्मृतियाँ' अतीत का रम्य रसात्मक चित्र प्रस्तुत करती है। लाक्षणिकता तथा वचन-वक्रता से युक्त यह रचना भापा एवं भाव दोनों क्षेत्र में गद्य-काव्य की

१. चित्रपट, पृ० २९ : शांतिप्रसाद वर्मा
२. 'विप्लव इच्छा' शीर्षक—चन्द्रशेखर सनेही
३. वियोग, पृ० १०५ : 'सुधाँशु'

महत्ता घोषित करती है। इनके आगमन से गद्य-काव्य इतिहास-ऐसे नीरस विषय में भी प्रवेश कर पाया। नर-क्षेत्र में सौन्दर्य का उद्घाटन इससे दूसरा शायद ही देखने को मिले। कथन का ढंग चमत्कारिक एवं आह्लादपूर्ण है। यथा :

"दुर्भाग्य रूपी दुर्दिन में उस अँधियारे में नितान्त अन्धेपन को उस अनन्त रात्रि में रात्रि का राजा उस अन्धी को ले उड़ा और वह पहुँची वहाँ जहाँ समुद्र बीच शेषशायी विश्राम कर रहे थे।"[1]

भावों का यह वैचित्र्य पाठकों को अनंद के तिलस्म में पहुँचा देता है।

इस काल में अपने 'स्व' के प्रकाशन के अनेक मार्ग दिखाई पड़े। 'हँस' मार्च १९३३ अंक में पं० सूर्यनाथ तकरू 'जलता जीवन' शीर्षक में अपने भाव इस प्रकार व्यक्त कर रहे हैं :

"मेरे इस जलते जीवन पर किसी ने करुणा की दो बूँद न डालीं। सब मेरी दीपशिखा देखकर, मेरे प्रकाश को देखकर, मुझे प्रसन्नता की रेखा समझते रहे। सबने समझा—मुझ पर सुख, सौभाग्य, श्री, और सौन्दर्य सावन-भादों की तरह बरसा करता है। दुनिया के इसी भ्रम पर तो मुझे हँसी आती है। पर, आह ! अगर मैं रो सकती !

मगर मैं रोती भी तो हूँ। राह पर अपने गरम-गरम आँसुओं को बहाया जो करती हूँ। अपनी जलती हुई भाषा में अपनी मनोव्यथा को रातभर कहती रहती हूँ, अपठनीय लिपि में लिखती ही रहती हूँ। पर उन उलझी हुई रेखाओं को पाने का किसे अवकाश ? किसे आवश्यकता ? उस रहस्य को सुलझाने की किसको चिन्ता !

मेरी इस स्नेहमयी देह में एक सूत्रात्मा है जो अपने लिए आलोकित अन्त की इच्छा करती है। वह स्वयं अपना जीवन होम कर उसे जगाये रहती है, जगाये रहेगी। वह आशा जब तक मैं हूँ, मेरी देह है, तब तक जगेगी, जलेगी। उसी आशा को सत्य करने के लिए मैंने अपने जीवन-दीप को मंगल-दीप बना दिया है। उसी स्वप्न के लिए मैं बही जा रही हूँ, उसी चिन्ता में घुली जा रही हूँ।

और अन्त में रातभर अलख जगाने के बाद जब वह आया, मेरा प्रियतम, तब मेरा अन्त भी आ गया। प्रेम-मिलन के रंगीन चित्र, आशा का इन्द्रधनुष, आकांक्षाओं का बसन्त पलकभर में विलीन हो गया। फिर भी मैं अपनी सजल समाधि में पूर्णोल्लास से एक बार हँस पड़ी। मेरा प्रिय मेरे ही हृदय-रक्त से अपनी पगड़ी रंगकर निकला था। तभी, मुझे अपने जलते जीवन की सफलता का बोध हुआ।

---

१. पृ० १२४, शेष स्मृतियाँ

इसी प्रकार इसी अंक के 'शैशव' में धर्मेन्दु विद्यालंकार तथा 'वक्र वांछा' में शान्तिप्रसाद वर्मा भावनाओं का नवीन दृष्टिकोण लेकर उपस्थित हुए हैं।

'तूणीर' (१९३८) के प्रकाशन से देवदूतजी ने आध्यात्मिक चिन्तन को गद्य-काव्य के माध्यम से आगे बढ़ाया। 'वह कौन है', 'चिन्तन में विघ्न', 'आवाहन', 'दुर्लभ दर्शन' आदि शीर्षक इसके प्रमाण हैं। प्रकृति चित्रणों में भी अब रम्यता दिखाई पड़ती है। यथा :

> **"सुधांशु के हास्य-विलास ने मुझे सम्मोहित करके मेरे म्लान मुख पर मुग्धता की छाप डाल दी थी। प्रभात का पूर्ण प्रकाश अभी होने ही को था। निशा देवी मुझे अपने स्नेहपूर्ण अंक में लिए मेरे भविष्य के चिन्तन में निमग्न हो आकुल-व्याकुल हो रही थी।"[1]**

मई-अप्रैल १९३४ 'हंस' में प्रकाशित मगनजी भाई विशारद की 'वीणा', 'काव्य-कलाधर' दिसम्बर १९२४ तथा जनवरी १९३५ में शिवदेव उपाध्याय की 'कणिका' साधनात्मक रहस्यवाद के उत्तम चित्र हैं।

प्रकृति और जीवन में समान रूप से व्याप्त सौन्दर्य एवं शक्ति, ज्ञान की सूक्ष्म असीमता के मापदण्ड के अध्यात्म की अरूप व्यापकता को नाम रूप देकर कालान्तर से भावों के सुनहले रुपहले रूपों में सजाई गई है। फलतः हमारे जीवन में असंभाव्य भी संभाव्य हुआ है, पर सब कुछ जानने पर भी हमारा ज्ञान 'कणिका' तुल्य ही बना हुआ है। उपाध्यायजी की 'कणिका' उसी महासागर में अपना एक कण और मिला रही है।

आध्यात्मिक साधना की मंद सुरभि केदार के 'अधखिले फूल' (१९३४) में भी दिखाई पड़ती है। 'साधन', 'जीवन नौका', 'उलझा हुआ आँचल', 'निर्दोष', 'मुसकान' 'समुद्र' आदि शीर्षक इस भाव की व्यंजना करते हैं।

मई-अप्रैल १९३४ 'हंस' अंक फरवरी १९३९ में 'स्वप्न' तथा 'गीत' नामक दुर्गेशनंदिनी की रचना प्रकाशित हुई है। प्रकृति-चित्रण में आत्मनिष्ठता पर्याप्त है, साथ ही प्रतीकों का बहुल प्रयोग भी देखने को मिलता है। 'चाँद' १९३६ अंक में प्रकाशित 'वीणा' तथा नवम्बर में कहानी आध्यात्मिक पुट से सिक्त है।

मदिरा (१९३४) निर्झर और पाषाण (१९४२) मुक्ति और मशाल के द्वारा गद्य-काव्य के क्षेत्र में तेजनारायणजी काक एक नई दीप्ति, नई प्रेरणा, नवीन सौन्दर्य तथा नया सन्देश लेकर आये। छोटे-छोटे शब्दों में वेदना की कुशल अभिव्यक्ति है। इनकी कृतियों में जीवन की कोमलता और परुषता का दिव्यालोक एक साथ दिखाई

---

१. 'तूणीर' पृ० २, 'दुर्लभ दर्शन' शीर्षक

पड़ा। प्रकृति के रहस्यों का सांकेतिक प्रकाशन रमणीयता से सहृदय को तृप्त करता है। यथा :

"बनस्थली के उस वृद्ध वृक्ष ने न जाने कितनी बार आँधी और पानी की विकट मार सही है। कुल्हाड़ी के कुटिल प्रहारों को भी कितनी बार उसने सिर झुकाए हुए चुपचाप सहन कर लिया था। एक दिन सारा-का-सारा प्रान्त धक-धक करके जल उठा। भूखी अग्नि की क्षुधा-तृप्ति के लिए वह वृक्ष स्वयं ही अग्नि की लपटों का भोजन बना।

कुछ दिन बाद—लोग उस वृक्ष के अधजले शरीर को भी उठा ले गये—शायद उसे फूँककर राख कर देने के लिए। आज वह वृक्ष मरकर भी जीवित था।"[1]

आख्यानक गद्य-गीतियों का प्रवाह इस युग की सबसे बड़ी विशेपता है। यथार्थ चित्रण का यह माध्यम पर्याप्त निखार पा गया है, साथ ही पुष्ट सांकेतिकता से ओत-प्रोत भी है। भापा की व्यंजना-शक्ति को इसके द्वारा गद्य-काव्यकारों ने अधिक प्राणवान बनाया है।

जहाँ एक ओर गद्य-काव्यकार प्रकृति चित्रण, यथार्थ-प्रधान भावुकता तथा अध्यात्म चिन्तन की ओर झुके रहे, वहीं अतिशय भावुकता का स्रोत भी कुछ लोगों ने बहाया है। अध्यापक कनक अग्रवाल की रचना 'उद्गार' (१९३५) इस कथन की पुष्टि करती है। 'विस्मृति स्मरण', 'कब आओगे', 'प्रियतम के नाम' आदि शीर्षकों को देखने से ज्ञात हो जायगा। 'प्रियतम के नाम' शीर्षक में अग्रवालजी इस प्रकार लिखते हैं :—

"प्रियतम !

बाट जोहते-जोहते घड़ियाँ बीत चुकीं, कितना ही समय व्यर्थ निकल गया, पर तुम्हारे दर्शन ! फिर भी दर्शन न हुए। यह तो असह्य है। सच कहो अब कब आओगे ? यों ललचाने से काम न चलेगा। क्या तुम्हारे दरबार में भी झूठ, मिथ्या व लल्लो-चप्पो का दौर-दौरा होने लगा है ? यदि ऐसा ही है, तो तुम्हारे में और आजकल के दुनियावी व्यवहार में क्या भेद रहा ? इसको समझो और भक्त की पुकार पर ध्यान दो।"[2]

भावों के यथावत चित्रण के लिए 'अग्रवाल'जी ने ठेठ तथा उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग किया है।

---

१. 'मदिरा', पृ० ४२ : 'मर कर जीना'

२. 'प्रियतम' शीर्षक उद्गार से

श्री देशराज की रचना 'तरुणाई के बोल' (१९३५) विभिन्न विचारों का संग्रह है। भाषा शिथिल तथा अपरिमार्जित है।

प्रकाश की किरणें बादलों के कारण जिस प्रकार थिरकती हुई जलराशि पर धूप-छाँह का मनोरम दृश्य उपस्थित करती हैं उसी प्रकार इस काल के गद्य-काव्यों में भिन्न-भिन्न शैलियों के कारण भावनाएँ भिन्न वर्णी हो गई हैं। इस काल की छायावादी रचनाएँ जहाँ एक ओर कर्तव्य-चिन्ता के ज्वालामुखी से दहक रही हैं वहाँ उसमें सजल प्रणय-सिन्धु का उच्छ्वास है। गीत के स्नेहकेश में सौन्दर्य सुरभित एवं प्रणय मधुरित कलित कुसुम ही गुंफित नहीं हुए बल्कि वेदना के तुहिन कण भी भरे हैं। देखिए :

"युगों से पुकार रही हूँ देव। कंठ सूख गया, जीभ में छाले पड़ गये फिर भी तुम न बोले न बोले।

देखो नील आकाश में धुनी हुई रूई जैसे बादलों को हटाकर रात को चन्द्रमा झाँककर मेरा उपहास कर जाता है, सवेरे ऊषा निष्ठुरता से हँस जाती है, हरे नये पल्लवों के पर्दे को चीरकर उन रंध्रों से प्रभात की किरणें मुझे गुदगुदाने का विफल प्रयास कर जाती हैं, चंचल सहृदय विहंग मेरे कानों में तुम्हारे आने का मिथ्या सन्देश कहकर मुझे प्रसन्न करना चाहते हैं, परन्तु तुम नहीं पिघलते—

प्राणाधार!

संसार का पथ अनन्त हो गया और मेरे शिथिल पदों की शक्ति सान्त—

क्या घनश्याम सजल जलद में दमक जानेवाली विद्युत् के समान निविड़ अन्धकार का हृदय वेधकर तुम्हारी स्मित मेरे पंथ को आलोकित न करेगी।"[1]

संसार की विषमता से क्षुब्ध किसी आत्मा का मौन रुदन एवं प्रभु के चरणों में भावार्पण उस काल में और भी वेदनामय हो जाता है जब पथ की बीहड़ता का ज्ञान होता है और एकाकीपन का भान। रचना में संवेदनशीलता है। भाषा, प्रौढ़ तथा प्रांजल है।

इसके समक्ष जब हम जापान के राज-कवि नागूची की एक रचना रखते हैं तो यही कहना पड़ता है कि हिन्दी गद्य-काव्य इतरेतर भाषाओं के समक्ष वैभवहीन नहीं है। यथा :

"नीहार धूमिल वन से। वह अवश्य ही वन है, पर छाया की भ्रान्ति से युक्त। मुझे किसी विहग की अस्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ रही है। ओ एकाकी! क्या तुम भी दुःखी हो? क्या तुम भी एकाकी हो? क्या तुम भी मरण और अन्धकार

---

१. चाँद, दिसम्बर १९३५ : योगमाया, पृ० २६१

के सहचर हो ? मैं तो वेदना की भित्ति पर आश्रित कवि हूँ। मेरा कार्य है, धूपदान और मूक प्रार्थना।

निस्तब्धता में हल्की-सी कंपन उत्पन्न करने में भी मुझे कैसा भय लगता है। ओह ! वसन्त कितनी मधुर मन्थर गति से आता है और मेरी आत्मा मूक निस्तब्धता के हृदय का मानों चुंबन करना चाहती है। शीर्ण पत्ते के समान उस धूमिल पक्षी का शब्द नीचे और नीचे डूबा-सा जा रहा है। कहाँ जा रहा है वह तो मेरी ही आत्मा के समान है, जिसकी उड़ान कहीं निरुद्देश्य आरम्भ होकर अब अन्तहीन हो गई है ? न जाने वह किस लक्ष्य तक पहुँचना चाहती है ? फिर—फिर मुझे दूसरे पक्षी की अस्पष्ट ध्वनि सुन पड़ी। प्रिय एकाकिनी ध्वनि ! मुझे बताती जा कि तुझे कहाँ जाना है ? क्या तू अक्षय ज्योत्स्ना के रजत मन्दिर में जा रही है या विश्राम के तन्द्रिल वक्षस्थल में श्रान्ति खोने ? हे सखि ! मेरे प्राणों को भी अपनी संगी बनाकर लेती जा।"[1]

और भी—

"प्रशान्त शीतल, मन्थर और मधुर रजनी में जब मोतिया और गुलाब महक रहे होते हैं, तो अनेक बार बहुत बार, मेरे मानस में एक ही विचार उठता है। मैं भी इस परिमल में एक अणु परमाणु रूप होकर बस गया होता, तो क्या ही अच्छा होता।"[2]

पुनश्च—

"नव बसन्त के प्राण स्पर्श से सचेत पुष्प कुंज आनन्द से प्रफुल्लित हो रहे थे। समीप बहनेवाली सरिता का प्रवाह-कलरव उस अशेष प्रणय-गीत के चरणों में गुनगुना रहा था। आम्र मंजरी से अवनत शाखा पर मदमत्त कोकिला अपनी कूक से रसिकों को आकुल बना रही थी। मैं ठहर गया।"[3]

नवीन रूप-रेखाओं के माध्यम से गहरी संवेदना, कल्पना की रंगीनी, भावों की मर्मस्पर्शिता तथा अतिशय मनोज्ञता इस काल की छायावादी रचनाओं की विशेषता है। अपने सम्पूर्ण प्राणवेग से प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म सौन्दर्य को असंख्य रूप-रंगों में अपनी भावना को सजीव करके छायावाद की जो अभिव्यक्तियाँ दिनेशनंदिनी के गद्य-काव्यों में उपस्थित हुई हैं उसने विस्तृत सूक्ष्म की सुन्दर और सजीव चित्रशाला के द्वारा प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद आदि की उज्ज्वल विद्युत-रेखा,

---

१. जापान के कवि नागूची, चाँद, दिसम्बर १९३५

२. अनु० शंकरदेव, हंस जुलाई १९३५—गुजराती कवि धूमकेतु।

३. हंस, जुलाई १९३५ : योगेन्द्र—अनु० शंकरदेव।

लघुता-विशालता, कोमलता-कठोरता, चंचलता–निश्चलता और मोह-ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब ही नहीं व्यक्त किया है, बल्कि खण्डित और विकलांग सौन्दर्य प्रतिभाओं के पूर्ण और अखण्ड रूप भी निर्मित किए हैं। भापा में माधुर्य का ऐश्वर्य, उक्तियों की चमत्कारिक विविधता, निरपेक्ष आदर्श का असंख्य सापेक्ष रूपों में सृजन, भाषा का लचीलापन, अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता, समष्टिगत चेतना और सूक्ष्मगत सत्ता का नवीन उन्मेष, सहज मार्मिकता, भावों का बांकपन, दृष्टि की रंगमयता, मानव जीवन के रूपों का विश्लेषणात्मक परिचय, भावात्मक दृष्टिकोण, व्यापक जीवन के कोमल स्पन्दन, अक्षय सौन्दर्यकोष, सशक्त व्यक्तित्व, उल्लास-विषाद के चित्र, संकेतात्मक शैली, समृद्ध कल्पना, दीप्ति का वैभव तथा अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन के भाव उनके शबनम, मौक्तिक माल, शारदीया, दुपहरिया के फूल, मनुहार, उनमन, वंशीरव स्पन्दन तथा सारंग में भरे पड़े हैं।

'दुपहरिया के फूल' की भूमिका में शाखाल एम० ए० उनके विषय में लिखते हैं :

"दिनेशनंदिनी के गद्य-गीत कुसुम की अविरल सुरभि की भाँति प्रवाहित होते हैं और जिस प्रकार शक्ति तथा तीव्रता की विषमता के कारण सुरभि के प्रवाह में बहुरूपता आती है उसी प्रकार उनमें विविध विषयों तथा भावनाओं के कारण अनेकरूपता से सौन्दर्य का प्रस्फुटन हुआ है। अप्रत्यक्ष तक पहुँचनेवाला ध्येय उनके काव्य को संकेतवादी बनाता है।"

दिनेशनंदिनी ने अपने गीतों में प्रकृति के सुन्दर चित्र सँजोये हैं। उनमें इन्द्र-धनुष के रंग हैं, पर वे स्थायी हैं। उनके प्रसूनों में पारिजात का परिमल है।

उर्दू, फारसी, संस्कृत, परिमार्जित हिन्दी के शब्दों का प्रयोग, मुहावरेदार भाषा तथा प्रौढ़ व्यंजना आपकी रचनाओं में दृष्टव्य हैं। विविध भाषाओं का इतना विस्तृत परिज्ञान अन्य किसी गद्य-काव्यकारों में नहीं मिलता।

भाव तथा भाषा की विशेपता निम्न उदाहरणों से व्यक्त हो जायेगी :

"वांछा समुद्र की उत्ताल लहरों, आशा सरिता के गह्वर भवरों और जीवन-नद के विषम चढ़ते-उतरते ज्वारों का मैं अपनी अकेली टूटी नौका में बैठकर सामना करती हूँ।"[१]

"पी जी भर पी, प्रेम ने फलक के पैमाने में वारुणी गुलरंग भरी है।"[२]

१. 'शबनम' ५३वाँ शीर्षक

२. 'शारदीया' ६७वाँ शीर्षक

"माशूक की जुल्फों में बिना बँधे यदि मैं क़ाबा की ज़ियारत करने जाऊँगी तो मुझे डर है कि मेरी दुआएँ क़ुबूल नहीं फ़रमाई जायेंगी।"[1]

भाषा एवं भाव इनके द्वारा विविध रूप धारण कर आये। अपने ही क्षेत्र में जमकर दिनेशनंदिनीजी ने गद्य-काव्य की प्रौढ़ता, कलात्मकता एवं विस्तार के प्रति स्तुत्य कार्य किया है।

इनकी रचनाओं में यौवन की सरस मांसलता, अज्ञात सत्ता से मिलन की आतुरता एवं बेकली है। हृदय के भावों का तरल प्रवाह जीवन की विपमताओं को चूर-चूर करता काव्य-रूप में प्रस्फुटित हुआ है। भावनाओं में नारी-हृदय की सहज कोमलता, सतर्कता, बेबसी, अल्हड़पन, ताजगी तथा चिर नूतनता का यथावत उत्तरोत्तर विकास हुआ है। इनके गीतों में यौवन के फेंके हुए सुमन-सरों का बाहुल्य तो है ही, साथ-ही-साथ यौवन के शौर्य-स्निग्ध आँसू, प्रेमपुलक की रम्यता, आशा के झीने मेघावरण, जीवन और मृत्यु की द्वन्दात्मक सरसता, किसी लुटे वैभव का संस्मरण, सुधांशु के हास-विलास का सम्मोहन एवं माधुर्य, तथा आकांक्षाओं से बोझिल मानस की तरंगें हैं। नंदिनीजी का क्रमिक साहित्यिक विकास इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है:

दोलायमान, चंचल मन तुरंग पर आसीन नन्दिनीजी 'मौक्तिकमाल, 'शबनम' आदि पुष्पों को लुटाती 'उनमन' में ऊन मन होकर, 'स्पन्दन' तथा 'सारंग तक पहुँचते-पहुँचते प्रियतम के रंग में पूर्णतया रंग गई हैं।

काव्य में हम दो प्रकार की प्रवृति पाते हैं, एक तो चुने हुए विषय का परिस्फुरण, दूसरा कवि-कौशल। प्रथम का नाम है कला-व्यापार तथा दूसरे को प्रकाशार्थी कुशलता कह सकते हैं। विषय-निर्वाचन में विशेष महत्व निजी अनुभूति का होता है। विषय के साथ कवि की एकात्मकता अत्यन्त विचारणीय है। भाव-चित्रों में विशिष्ट और सामान्य की क्षणकालिक सापेक्ष्यता तथा परिस्थितिजन्य एकता का पाठकों के लिए चिरकालिक संतोषप्रद अंकन ही कलागत एकात्मकता का अर्थ हो सकता है। यह चित्र तभी अर्थवान तथा सम्पूर्ण बनता है जब वह इन परस्पर-विरोधी तत्वों के चिंतन-संघर्ष को भी साथ ही उद्घाटित करे, ताकि उसकी कलाकृति संतोष प्रदान करने के साथ ही विचारोत्तेजक हो और मनुष्य को इन दोनों तत्वों की ओर भी गंभीरता तथा सारपूर्ण एकता स्थापित करने के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दे। 'चांद' मई १९३६ तथा जुलाई अंकों में निकले युगुल एम० ए० के गद्य-गीत, भाव-पक्ष तथा कला-पक्ष दोनों के समुचित सौन्दर्य से युक्त हैं। यथा:

"वहाँ, जहाँ दीपक जलते नहीं और पक्षी अन्धकार में चुपचाप अपनी अवशेष यात्रा समाप्त करते हैं, मैं सावेश अपनी बाहुओं को शून्य में फैलाये बैठा हूँ। रात्रि के

---

१. पृ० २१—'दुपहरिया के फूल'

प्रारम्भ से ही प्रिय को आबद्ध कर पाने की चेष्टा में हृदय ने केवल अपनी कसक समेटने की ही अनुभूति की है, और बार-बार की प्रतारणाओं के प्रतिकूल भी निकट सामने के इस मौन विलाप से विचलित होकर परस्पर गुँथी भुजाएँ जब इस बार भी केवल एक शून्य का भार हृदय पर ला पटकेंगी, तब तो मुझे विश्वास है, दूर उस पार बैठे चक्रवाक का सुपरिचित क्रन्दन सहसा पीछे विश्व के अट्टहास से त्रस्त होकर मेरी छाती छीलने लग जायगा।"[1]

'चाँद' जुलाई १९३६ अंक में प्रकाशित राकेशजी के गद्य-गीत वियोग की पीड़ा का रम्य स्वरूप व्यक्त कर रहे हैं।

प्रकृति के चित्रणों में रम्यता, सौन्दर्य के रेखाजालों से बना रसात्मक चित्र तथा कलात्मक संवेदनीयता भी इस काल के गद्य-गीतों की विशेषता है। यथा :

"आम की डाली पर बैठी हुई कोकिल की मृदुल चंचु मंजरी की प्याली में डूबी ही रह गई।

भ्रमर ने वीणा बजाई, ओस-कणों में सोई हुई नीरवता जाग उठी, दूर पश्चिम क्षितिज के पार सोने की किरणों से सूचित पहाड़ी के पीछे स्वर्णिम अस्ताचल के पर्यङ्क पर झुकता हुआ सूर्य, परों के फड़फड़ाने का शब्द सुन थोड़ी देर को पहाड़ी की चोटी पर ठहर गया, तभी उड़ती हुई कोयल निकट आकर बोली, 'दिनपति ! मुझे मोतियों की एक लड़ी चाहिये, शिव की हासचन्द्रिका से भी शुभ, जाह्नवी के पवित्र फेन से भी सफेद, आलिंगन से भी कोमल मुझे ऐसी मोतियों की लड़ी चाहिये।"[2]

तथा

"बातुल--हाँ—पागल दिनकंत—विक्षिप्तता का अभिषेक कर—गोधूलि के ओंठों पर—पीत किरणावली छिटका उसे सुन्दरतम बनाने का विफल प्रयास कर रहे थे। उपवन रूपी हाट में मल्लिका के पुष्पों की ठेलमठेल थी।"[3]

(१)

उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण की भावना के स्फुट रूप भी अब देखने को मिलने लगे। यथा :

"आज तुमसे मेरा परिणय है।

अपना वह क्षणिक मिलन कैसा होगा, यही पहेली है।

मैं और तुम दोनों अमर हैं।

---

१. चाँद, १९३६ जुलाई अंक

२. चाँद सितम्बर १९३६ : भगवतीप्रसाद पान्थरी...

३. चाँद, सितम्बर १९३६ : 'ग्रीष्म ऋतु' : शांतिस्वरूप गौड़

मैं इस मिलन-बेला में अपना जीवन तुम्हारे जीवन में मिला दूँगा और तुम मेरे बदले जीना।

आज तुमसे मेरा चिर-परिणय है।"

(२)

"सोचता था, कब मिलेंगे ?

नित्य दूर-दूर से भेंट हो जाती—नयनों से बोल भी—सौन्दर्य की प्रदर्शिनी—इस दुनिया में तुमसे सुन्दर मुझे कोई नहीं मिला।

मिलन की इच्छा उत्कट हो उठी,

पर तुमने मिलते ही कह दिया, 'यह अंतिम मिलन है'

सोचता था, कब मिलेंगे ?"

(३)

"लोग कहते हैं तुम्हें गाना नहीं आता।

यदि नहीं आता तो यह विश्व संगीतमय कैसा ?

कवि की कविता में, भ्रमरों के गुंजन में, पक्षियों के कलरव में और अपने—हृदय की गति में मुझे किस संगीत का आभास हो रहा है। लोग कहते हैं, तुम्हें गाना नहीं आता।"[1]

बाह्य जगत् में व्याप्त चेतन सत्ता के रहस्य का आभास काव्य-रूप में प्रस्फुटित होकर जीवन और काव्य दोनों को एक परिष्कृत और अभिनव रूप प्रदान करता है। लोक के विविध रूपों की एकता पर स्थित अनुभूतियां एकान्तिक रूप के कारण जब अपनी व्यापकता का स्पष्टीकरण कराना चाहती हैं तो उसे व्यक्ति की कलात्मक संवेदनीयता का आश्रय लेना होता है। अखण्ठ और व्यापक चेतना के प्रति केशव-प्रसाद वर्मा का आत्म-समर्पण कोई नवीन नहीं है। युगों से इस प्रकार के आत्मसमर्पण होते रहे हैं और होंगे, पर इस प्रकार के आत्म-समर्पण सहसा घटित नहीं होते यही विशेषता है। भाषा सरल है, पर भाव सांकेतिक हैं।

"व्यक्ति-प्रधान भावात्मक काव्य का वही अंश अधिक-से-अधिक अन्तस्तल में समा जाने वाला अनेक भूले सुख-दुःखों की स्मृतियों में प्रतिध्वनित हो उठने से उपयुक्त और जीवन के लिये कोमलतम स्पर्श के समान होगा जिसमें कवि ने गतिमय आत्मानुभूत भावातिरेक को सयत रूप में व्यक्त कर उसे अमर कर दिया हो या जिसे व्यक्त करते समय वह अपनी साधना द्वारा किसी बीते क्षण की अनुभूति की पुनरावृत्ति करने में सफल हो सका हो। केवल संस्कार-मात्र कविता के लिए सफल साधन नहीं है और न किसी बीती अनुभूति की उतनी ही तीव्र

---

१. चाँद, अक्टूबर १९३६ : केशवप्रसाद वर्मा।

भावुक अमूल्य जीवन में तुमने अनेकों चित्र बनाये किन्तु व्यर्थ, सम्हल जा, सजग हो जा।

अब इन कलापूर्ण हाथों से चंचल रमणियों के चित्र न बना, और न बना वह विलासप्रिय दृश्य जिसे देखकर कायर हो जायँ भारत के वीर पुरुष।"[1]

'हंस' फरवरी १९३७ में प्रकाशित देवीलाल सामर-कृत रचना 'तुम और मैं' अध्यात्म की व्यंजना करती है। यथा :

"मेरे अन्तस्तल की अस्पष्ट लहरी में तुम अक्षत माधुर्य और विश्वास भरते हो और मेरे हृदतंत्री के उच्छृंखल तारों से अपनी तान मिलाते हो, मेरे भावुक चंचल मन को एकनिष्ठ साधना में लीन करते हो मेरे उद्वेलित भाव प्रौढ़ बन कर जीवन के गूढ़ तत्वों को सुलझाने लगते हैं और मैं इस नश्वर जगत के माया-जाल को सुलझाने लगता हूँ।

मैं मानव के अंध-विश्वास और संकीर्ण हृदय से उत्पन्न मिथ्या ज्ञान को त्याग कर प्रशान्त प्रेम-पथ का अनुसरण करता हूँ, जहाँ एक व्यक्ति से नहीं, एक वस्तु से नहीं, एक समूह से नहीं, पर निखिल विश्व-प्रेम की प्रतिमूर्ति से महाशान्ति का प्रादुर्भाव होता है। मेरी इच्छाओं का अंत होता है, मेरी भावना-स्थली में मेरा ममत्व नष्ट होकर एक व्यापक विश्व-प्रेम का रूप निखरता है, मेरे समस्त धर्म, कर्मबन्धन, पूजा-पाठ आदि अब उस निखरे हुए आलोक में केवल अपादान मात्र दिखते हैं।"

कवि अपनी कविता में जीवन के मार्मिक एवं कोमल क्षणों का संग्रह करता है, ज्ञान के कठिन वृन्तों पर उसकी अनुभूतियों के सुरभित सुमन जब खिल उठते हैं, वह उन्हें एकत्रकर मालाकार कर देता है। इन अनुभूतियों में भरा हुआ पर्याप्त सौन्दर्य ही रसिकों का कण्ठहार बनता है, वह अपनी ही तृप्ति के लिए कविता करता है और अपनी कविता की संजीवनी से मृतकों में जीवन का संचार करता है, उसकी कविता हमारे मौन की शान्ति, असंतोष की तुष्टि और आनंद की पुष्टि है। सत्य और यथार्थ के एकान्त में निहित प्रतिच्छाया का ही चित्रण सत काव्य होता है।

बड़े नियंत्रण और जागरुकता से आत्मा आदेश देने के योग्य बलवती होती है। हमारी आत्मा का विकास बहुत-कुछ हमारे वातावरण से निर्मित होता है। अज्ञानाकाश के नीलिमांचल से वासना तारिकाओं के खिसक जाने के बाद ही कुछ विशेष अनुभव होते हैं। इनकी दूसरी रचना 'परिचय' 'हंस' जुलाई १९३८ में प्रकाशित हुई है। यथा :

---

१. जगन्नाथप्रसाद 'चित्रकार' चाँद, सितम्बर १९३७, पृ० ४६७

"विश्व का यह अंधकार भरा है।

मेरे अंतर दीप अब भी जले हुए हैं। मैंने अपना पथ पा लिया है। मैं करुण लहरों में बहकर विश्व का रोदन ढूँढ़ रहा हूँ और विश्व की इन करुण पुकारों के साथ अपनी पीड़ाओं का रहस्य सुलझा रहा हूँ। कलियों में प्राण फूँककर निखर आनेवाली सौरभ सृष्टि की अदृश्य प्रेरणा शक्ति है, फूलों में विनाश का मूक संदेश लिये हुए, सौन्दर्य हमारे प्राणों की मूक चेतावनी है, उदय-अस्त का क्रम हमारे जन्म-मरण की करुण कहानी है, नभ के ये अक्षत आकाश-दीप हमारे स्नेह से चमके हुए असंख्य हीरक कण हैं, सर्वत्र थिरकनेवाली सुन्दरता हमारे अंतस्तल की मुस्कराती हुई मनःस्थिति है और अंधकार की कालिमा लिये हुए यह कुरूपता हमारे सन्तप्त हृदय की एक भ्रान्ति है।

इस विराट सृष्टि के हम शिशु हैं, भोलापन हमारा बन्धन बनाये और पथ का अज्ञान हमारा घोर संताप है।

बादल की तरह जब रो-रोकर हम अपना अस्तित्व खो बैठेंगे, विश्व की कठोर रुखाई को प्लावित कर उसे सुखकर करेंगे तब यह जीवन-सरिता अपनी समस्त करुण-कहानियों के लिये उस महासागर में मिलेगी, जहाँ से उसका जन्म हुआ था।"

इसी प्रकार अध्यात्म-विषयक वह रचना जो 'हंस' अप्रैल १६३६ में प्रकाशित हुई थी, इस प्रकार है:

"वह

मेरी आँखों में उलझकर वह कहीं छिपा है।

मेरे हृदय-मन्दिर में प्रेम की मीठी लौ उसने जलादी है। वह जीवन का स्नेहमय पथप्रदर्शक है, नेत्रों की उज्ज्वल ज्योति है, प्राणों की पाली हुई मधुर विरह रागिनी है, मेरे जीवन की वही एक मात्र निधि है।

मैंने उसे देखा नहीं। मैंने उसे अपनाया नहीं और न मैंने उसके पद स्पर्श का सौभाग्य ही पाया है। जीवन के अज्ञात दूतों ने उसकी स्नेह-स्मृतियों का अद्वितीय जाल बिछाया है। पर मैं दिन-दिन हृदय-मंदिर की संकीर्ण आराधनाओं से विचलित होकर अपने पथ से हटने लगता हूँ और अंत में आसक्तियों से गुथा जाकर अपनी स्वाभाविक जिज्ञासा भी खो बैठता हूँ।

परन्तु जब से मैंने मिलन का मोह त्यागकर विरह का विश्वव्यापी महत्व समझा है, मुझे आभास होने लगा है कि मंदिर की इन बंद दीवारों में मेरा आराध्य नहीं है। यह तो माया का मूल सपना है। इसको तोड़ कर ही इस

विश्व में उसकी छवि देखी जा सकती है । वह मेरी आँखों में उलझकर सर्वत्र छिपा है ।

सूक्ष्म की सौन्दर्यानुभूति और रहस्यानुभूति पर आश्रित गीत-काव्य अपने लौकिक रूपकों में इतना परिचित और मर्मस्पर्शी हो सका कि उसके प्रवाह में युगों से प्रचलित सस्ती भावुकतामूलक और वासना के विकृत चित्र देनेवाले गीत सहज ही बह गये ।"[१]

जीवन और कला के क्षेत्र में इसने युगान्तकारी परिवर्तन किये हैं । कवि भावित और अनुभूतसत्य की परिधि लाँघकर न जाने कितने विचार बटोरता है, पर उसमें उन्हीं विचारों को महत्व प्राप्त होता है जो अध्यात्म की सूक्ष्म एवं स्थूल गत व्यापकता लिए हुए होते हैं । सामरजी की रचनाओं में देहात्मवादी मार्क्स कवियों की पृथक ऐकान्तिकता नहीं है और न है वैज्ञानिकों का बौद्धिक दृष्टिकोण । उसमें तो है उनके सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग से उद्‌बुद्ध उनकी रचना की रागात्मक आध्यात्मिकता । भाषा में सरलता एवं ध्वनिमूलक अभिव्यंजकता पर्याप्त है ।

देवीलाल सामर बी० ए० की एक और रचना 'कल्याण' नवम्बर १९४५ में 'आत्म-परिचय' के नाम से प्रकाशित हुई थी । इसमें प्रकाश के पश्चात् अन्धकार का चित्र है ।

"मैं इन असंख्य रत्न-कणों में एक कुरूप रत्न था ।

तुमने अपने स्निग्ध हाथों से मेरा मुख उज्ज्वल किया और अपने कक्ष से छुड़ाकर मुझे अलग अस्तित्व दिया ।

पर इस बहुरंग वातावरण में मेरे नेत्र चौंधिया गये और मैं तुम्हारा सम्बन्ध भूल गया । असंख्य इच्छाओं ने मुझे घेर लिया । और मैं समस्त जीवन की एकता भूल गया ।

अब मैं अपना पथ अलग ढूँढ़ता हूँ, अतीत और भावी का भेद भूल जाता हूँ, प्रकृति का सन्देश खो देता हूँ, प्रेम का महत्व नहीं जानता हूँ ।

तुमसे मिलने की बात एक कल्पना मात्र समझता हूँ और इन असंख्य आसक्तियों में पड़कर मैं अपनी ज्योति खो देता हूँ ।

सृष्टि ने गान गाया, उषा ने हमारे उनींदे नेत्रों को जगाया, पतझड़ ने हमारे उदास हृदय में वसन्त की कामना जागृत की और विश्व के अणु-अणु ने मिल कर एक ही गीत गाया । पर मैंने कर्मों की इस कठोर विडम्बना में पड़कर अनन्त तानसरिता की सृष्टि की और विश्व-गान के उस सरल माधुर्य को अनिश्चित काल तक के लिए उलझा दिया ।

---

१ महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ६८

तुम्हारा अस्तित्व मेरे लिए रहस्य बना, तुम्हारा प्रेम एक स्वप्न रह गया। और सृष्टि को निरुद्देश्य समझकर मैं भी पथ-भ्रष्ट-सा इधर-उधर भटकने लगा।

सितम्बर १९३७ 'हंस' अंक में 'अनजान' की रचना', 'अज्ञातपथ' एवं जुलाई १९३८ के अंक में पुनर्जन्म प्रकाशित हुई है। रचनाएँ दार्शनिक हैं।

'अज्ञात पथ'

जंगलों की खाक छानी, बन-बन घूम डाले। पहाड़ों से टक्करें लीं। पर तुमको न पाया। पर्वत-कंदराओं में, सुन्दर उपवनों में, झरनों में, मधुर कलरव में, नदियों की इठलाती हुई तरंगों में तुम्हारी राह देखी, पर तुम वहाँ भी न दीखे।

सुनता हूँ तुम उसे मिलते हो जो इस दुनिया से परे हो, विमुख हो, विरागी हो।"

'पुर्नजन्म' रचना इस प्रकार है :

"जीवन, जीवन है। नाशवान तो उसका आधार है, उसकी काया है। मरण तो उसी का है जिसमें कि वह बसता है।

जीवन तो ध्रुव की तरह अटल है। सत्य की भाँति शाश्वत है। वह नितान्त निर्विकार है। जीवन ने काया को अपनाकर मानव का सृजन किया, काया के रोम-रोम में स्रोत-स्रोत में जगमग करता सौन्दर्य भरा।

मानव अपनी कंचन-सी काया पर पुलक उठा, फूल उठा। उस पर गर्व भी कर उठा—वह काया को जगमग करते सौन्दर्य के उपादान को भूल गया। गर्व ने उसको शाश्वत सत्य-पथ से च्युत कर दिया।...और वह भ्रम के मार्ग पर हो लिया।

जैसे-जैसे वह भ्रम-मार्ग में आगे बढ़ता, उसकी काया की पवित्रता उतनी ही कम होती गई।

माया और कृत्रिमता भरे भ्रम-मार्ग में बढ़ते-बढ़ते मानव कृश और जर्जर हो गया। रास्ते भर की लुभावनी माया में अपनी काया की कंचनता लुटा बैठा।"

विश्व के रहस्य से सम्बन्ध रखनेवाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धि के सहारे गतिशील होती है तब यह दर्शन की सूक्ष्म एकता को जन्म देती है और जब हृदय का आश्रय लेकर विकास करती है तब प्रकृति और जीवन की एकता विविध प्रकार से व्यक्त करती है। आधुनिक कवियों के लिए आज की परिस्थिति में प्राचीन मनीषियों की अनुभूतियाँ संभव नहीं, पर उनकी दृष्टि उस तल का स्पर्श तो करेगी ही। प्रकृति और पुरुष की शक्ति एवं सौन्दर्य का ज्ञान प्रत्येक काल में होता आया है। किसी युग

में विशेष रूप से तो किसी में सामान्य रूप से। 'अनजान' की रचनाएँ इसी भाव को व्यक्त करती हैं।

'हंस' नवम्बर १९३७ में प्रकाशित रानी टंडन की कृतज्ञतासूचक रचना 'मेरे देवता' इस प्रकार है—

"मेरे देवता—
तुमने आने का वादा किया था। तुम्हारी भेंट के लिये मैंने बड़े अरमानों से माला गूँथी, आरती के लिए, एक दीपक जलाकर रखा और तुम्हारे चरण धोने के लिए जल भर कर पात्र।
चन्द्र ज्योत्स्ना पृथ्वी तल पर चाँदी की वर्षा कर रही थी और मैं ? मैं अपलक नेत्रों से कर रही थी प्रतीक्षा तुम्हारे आने की।
धीरे-धीरे कालिमा ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया।
घोर अंधकार निविड़ अंधकार !!
और न जाने कब मेरी आंख लग गई।
इसी समय मेरे देवता।
तुमने चुपके से मेरी कुटिया में प्रवेश किया, कुटिया के चारों कोने जगमगा उठे।
मैं हड़बड़ाकर उठी।
उफ !
दीपक तो कभी का बुझा पड़ा था
प्रेमोपहार सूख गया था
जलपात्र भी रिक्त पड़ा था—
मैं किंकर्तव्य विमूढ़ बन गई—
और तुम—
तुम खड़े मुस्करा रहे थे मेरी बेबसी पर
मैं तुम्हारे चरणों पर गिर पड़ी—मेरे नेत्रों में उमड़े हुए आँसू तुम्हारे चरणों का प्रक्षालन करने लगे।
तुमने बड़े स्नेह से मुझे उठाया।
आश्चर्य !
तुम्हारे चरणों पर गिरा हुआ प्रत्येक अश्रुकण पारिजात पुष्प में परिणत हो गया। और मैंने देखा।
तुम खड़े मुस्करा रहे थे—
मेरे देवता।"

रचना में माधुर्य-भरित आत्मसमर्पण के भाव नारी-हृदय के सम्पूर्ण ममत्व एवं कोमल भावनाएँ हैं।

'कल्याण' दिसम्बर १९३७ में 'हंसा' नामक दिनेशनंदिनी की रचना रूपक के माध्यम से भावों का प्रकाशन इस प्रकार कर रही है :

"हँसा—
ऐ मूर्ख पंचेन्द्रियों के पिंजरे में तैने इस हंस को क्यों कैद कर अनन्त जीवन के आघातों से सुरक्षित कर रक्खा है ?
निरंजन ज्योति को निरन्तर देखनेवाली इसकी दिव्य दृष्टि माया के चलचित्र देखते-देखते धुँधला गयी है।
सदा अनहद नाद को सुननेवाले उसके कान विश्व के भयंकर चीत्कार को सुनते-सुनते पथरा गये हैं।
ब्रह्माण्ड में जीवन-विद्युत संचरण करनेवाला इसका पारस स्पर्श यहाँ की भौतिक वस्तुओं को छूते-छूते मिट्टी हो गया है।
कल्पतरु के अमृत फलों का आस्वादन करनेवाली इसकी कोमल रसना संसार विष-वृक्ष के खट्टे-मीठे, कड़वे, कसैले, फल चखते चखते छिल गयी है।
नन्दन कानन के पारिजात की सौरभ सूँघनेवाली इसकी प्राण-शक्ति दुनिया के जहरीले वातावरण में श्वास लेते-लेते मृतप्राय हो गयी है। हंसा। अमरता का आवाहन सुनकर हीरक-कुसुम-सी कोमल लता की कुंजी से अस्थिपिंजर के मांसल कफ़स का द्वार धीरे से खोलना, क्षण-भंगुर मोह के बन्धनों से अपने परों को मुक्त करना और फिर अनन्त आकाश में विजय-वैजयन्ती फहरा आजादी का गीत गाते हुए उड़ जाना !!!"

अव्यक्त का स्पर्श कर मानव अगोचर जगत् से सम्बन्ध रखनेवाली रहस्यानुभूति का उद्घाटन तादात्म भावापन्न होकर करता है। कवि का स्पर्श संवेदनशील एवं आह्लादकारी होता है।

पिंजरबद्ध जीव की स्थिति का वर्णन विविध रूपकों में अन्य कवियों द्वारा भी हुआ है। उपर्युक्त खण्ड में पिंजरबद्धता की स्थिति का दुखद वर्णन है, साथ ही हंस को अवसर पाकर उड़ जाने की सलाह भी है।

सन् १९३७ का वर्ष गद्य-काव्य के इतिहास में पर्याप्य वैभवपूर्ण माना जा सकता है। पत्र-पत्रिकाओं में निकली हुई रचनाएँ जहाँ विपुल वेग से इसके क्षेत्र को विस्तृत कर रही थीं, वहीं, पुस्तकों के रूप में नारायणदत्त बहुगुना की 'विभावरी', भँवरमल सिंधी की 'वेदना' तथा रामप्रसाद विद्यार्थी की 'पूजा' ने भाषा एवं भाव के

अभिनव संविधान से युक्त होकर गद्य-काव्य के ऐश्वर्य को बढ़ाया है। इस कथन की सार्थकता तीनों रचनाओं के उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट हो जायेगी।

"अंशुमाली प्राच्य के छोर से मंद-मंद मुस्कराकर वसुधा में स्वर्ण की वर्षा करता हुआ नील वर्ण गगनांगण में शनैः-शनैः बढ़ता चला गया। प्रकृति ने भी अपना नर-वेष धारण कर विश्व के रंगमंच से अगणित मधुर-मधुर स्वरों में कर्ण प्रिय गीत गाये। सब जीव-जन्तु जड़-चेतन अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में पदार्पण कर जीवन-होड़ मचाने लगे।"[1]

'विभावरी' में प्रकृति वर्णन के रम्य रूप, साधन पथ की विघ्नबहुलता, पथ पर सतर्क रहने की चेतावनी आदि है।

"उसके स्नेह के गीत सुनकर परिचय की उत्कण्ठा थी, आशा के मादक विलास में जीवन की उल्लासिता थी, मदिर मदिर, उस दिन उससे परिचय हुआ था, नव कुसुमित जीवन की पंकिल कलियों पर, मधुप निकट के अभिगुंजन गान में, उघड़ती, महकती वेदना के मंजुल विलासमय परिचय का प्रभात था—आलोक का प्रसरण। मैंने उसी दिन प्रिय के स्नेह-विहान में वह किरण सब घोला था, वह राग अलापी थी कि हम दोनों के जीवन में उसी दिन से एक ही गान, एक ही उन्मन, एक ही मूर्च्छना बसी है, वह परिचय था या परिणय।

आज भी जीवन के प्रांगण में प्रभात होता है। प्रभात की लालिमा वह उन्मन, वह मूर्च्छना ? प्रिय का वह मंजुल जीवन, मेरा उसमें घुल-घुल पड़ना और फिर होना, वह मधुर-मधुर मिलन-संगीत, स्नेह की स्वप्निल गाथा ? वह परिणय था यह परिचय रह गया।"[2]

'वेदना' में भँवरमल सिंघी 'करुणा' के भावों का यथावत् विकास किये हैं।

"रुद्र मूर्ति यह तुम्हारी कैसी प्रवृत्ति है ? इस अखिल विश्व की उपास्यदेवी प्रस्फुटित माधुरी—मनोरमा मुस्कान—से तुम्हें इतना विरोध क्यों है ? उग्रवेश ! क्या तुम सौम्य नहीं हो सकते ? तो लो, मैं तो इस रूपसि की अधर सुधा का पान करता हूँ और तुम अपनी ही—मेरे प्रतिकूल प्रगति के वेग से अपनी रक्षा करो। हाँ, सम्हाल लो अपने प्रचण्ड त्रिशूल को भैरव ! तुम्हारी मूक गर्जना से दिशाएँ काँप रही हैं, पर तुम नहीं जानते मैं अभय हूँ, अजेय हूँ, अमर हूँ।"[3]

---

१. 'विभावरी' विश्व शीर्षक पृ० २३ : नारायणदत्त बहुगुना

२. 'भँवरमल सिंघी'—'वेदना', ७७ शीर्षक

३. रामप्रसाद विद्यार्थी 'पूजा' पृ० ४

'पूजा' में रामप्रसाद विद्यार्थी ने साधनात्मक रहस्यवाद के उत्कृष्ट चित्र व्यक्त किये हैं। असीम की दिव्य झाँकी, उल्लास तथा आँसुओं के चित्र, साधक की आराध्य-विषयक सामीप्य भावना की आकांक्षा, माया की मूर्च्छना आदि की अभिव्यक्तियाँ अनुभूति की प्रखरता से युक्त हैं।

अब तक कथित गद्य-काव्यों में कौटुम्बिक जीवन के चित्र नहीं मिलते। 'हंस' मई १९३८ में कमलाकर शुक्ल 'मिट्टी के चूल्हे' में यह भाव व्यक्त करते हैं।

'हंस' जुलाई १९३८ अंक में प्रकाशित नेमिचन्द्र जैन की रचना 'एक तारा' आत्मनिष्ठता से पूर्ण अध्यात्म का मनोरम चित्र व्यक्त करती है।

'हंस' अक्टूबर १९३८ में सत्यवती मल्लिक 'कवि के प्रति' अपनी रचना में प्रभु के प्रति कृतज्ञता के भाव व्यक्त करके काव्य-सौन्दर्य को इस प्रकार वर्द्धित कर रही हैं :

"जीवन की उलझी घड़ियाँ ज्योंही सुलझने लगतीं, वे और भी गुँथीली हो उठतीं, उन दिनों यह अगम पथ शुष्क नीरस मरु भूमि-सा, काटने करता। तभी नव पल्लवों की मर-मर ध्वनि की भाँति तुमने अपनी मृदु स्वर-लहरी प्रतिध्वनित की।

उस कोमल गुंजन के स्पर्श से मेरे प्राण झनझना उठे। कंकड़ों से भरे पथरीले मार्ग में मानों लाल-पीले प्रसून बिछ गये। सूखे तृणों में मोहकता छा गई। सृष्टि मेरी नजरों में पलट गई।

वे बेसुध पल !

शिशु का सरल हास्य ! निर्झर का कल-कल निनाद। गिरि-शृंगों की भेद-भरी आकुलता, मेघ का गर्जन, सिन्धु का उत्पीड़न, संध्या तारा का एकाकीपन आज मेरे जीवन के मुग्ध संगी हैं।

और अंत में फूटी पड़ती है प्रिय ! तेरे अमर गीतों की मुक्ता-सी लड़ियाँ। किस अदृश्य आलोक से दीप्त किया मुझे ! इस मग्न खंडहर को।"

'हंस' दिसम्बर १९३८ में प्रकाशित इनकी 'द्विधा' प्रभु की विभूतियों का वर्णन करती है।

शृंगार काल की मानुषी सौन्दर्य-भावना एवं भक्ति-काल की आत्मचिन्तना का मिश्रित रूप भी कहीं-कहीं इस काल की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। यथा :

"उस दिन के आदिम प्रभात में तुमने प्रथम मौन उघाड़ा—तुम्हारे सौम्य मुखारविन्द की लालिम झलक मेरे कपोलों को अनुरंजित कर गई, मैं सहसा अपनी वर्ण-विभ्रान्ति से चमकी—फिर हँस पड़ी।

तुमने कहा—पृथ्वी—तेरे आशाओं को पल्लवित कर, फूल-फल से सुशोभित

करके मैं आया—ओरी देख देख ! मैंने अपनी आँखों के झर-झर वारि से तुम्हारे पग धोये—अपने चंदन सुरभित श्यामल अंचल से उन्हें पोंछा, अपनी कबरी के कोमल-कुसुम दामों को पदतल में अर्पण करके मैं उठी और चलती बेला बोली—प्रिय प्रणाम !

तुमने चकित विस्मय से पूछा—ऐं—फिर इतनी मुग्धता और मधुरता का क्या प्रयोजन था ।

मेरी आँखों की पलकें नमित हो गईं—तुम खीझे—मैं मृदुता से आगे बढ़ी ।

तुम संध्या के नीरस शयनागार में प्रवेश करके रो पड़े ।

मैंने उस दिन अपने गतिपथ में बारेक मुँह फिराकर कहा था—पथिक तुम मेरे पीछे आओ ।

किन्तु तुम स्थाणु ?

कोई अपनी धमनी के चलते स्रोत को—अपने झंकृत नूपुर के चंचल तालों को बरबस कैसे दबा ले ?

मैंने तो कहा था पथिक तुम पीछे, मेरे पीछे आओ ।"[1]

'हंस' नवम्बर, १९३८ विष्णु प्रभाकर की 'आश' रचना अमूर्त्त भाव का अच्छा चित्रण करती है । तथा फरवरी १९३९ वीरेन्द्रकुमार का 'अन्धकार का संगीत' प्रकृति का यथार्थपूर्ण मनोरम स्वरूप व्यक्त करता है । जहाँ रागात्मक, आवेगपूर्ण, सशक्त एवं मार्मिक रहस्यात्मक अभिव्यक्तियाँ इस युग के गद्य-काव्यों में देखने को मिलती हैं वहीं रहस्य का बौद्धिक विश्लेषण भी देखने को मिलता है ।

(१)

मैं भी एक प्रवाह में हूँ
लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है ।
मैं उस असीम शक्ति से सम्बन्ध जोड़ना चाहता हूँ ।
अभिभून होना चाहता हूँ—
जो मेरे भीतर है
शक्ति असीम है
मैं शक्ति का एक अणु हूँ
एक असीम बूँद—
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिंबित करती है,
एक असीम अणु—
उस असीम शक्ति को जो उसे प्रेरित करती है,

१. 'परिवेदना' हंस, अक्तूबर १९३८ : निर्मला मित्रा

अपने भीतर समा लेना चाहता है
उसकी रहस्यमयता का परदा खोलकर
उसमें मिल जाना चाहता है,
उसे जान लेना चाहता है।
यही मेरा रहस्यवाद है।

(२)

लेकिन जान लेना तो अलग हो जाना है
बिना विभेद के ज्ञान कहाँ ?
और मिलना है भूल जाना,
जिज्ञासा की झिल्ली को फाड़कर
स्वीकृति के रस में डूब जाना,
जान लेने की इच्छा को ही मिटा देना,
मेरी माँग स्वयं अपना खण्डन है
क्योंकि वह माँग है।
दान नहीं।

(३)

असीम का नंगापन ही सीमा है
रहस्यमयता वह आवरण है जिससे ढँककर
हम उसे असीम बना देते हैं।
ज्ञान कहता है कि जो आवृत है, उससे मिलन नहीं हो सकता
यथार्थ मिलन अनुभूतियों का क्षेत्र है
मैं इस पहेली को हल नहीं कर पाया हूँ
यद्यपि मैं रहस्यवादी हूँ
क्या इसीलिए मैं केवल एक अणु हूँ
और जो मेरे आगे है वह एक असीम।[1]

'अज्ञेय' जी ने इस रचना में रहस्यवाद के विषय में तार्किक ढंग से विचार किया है। रचना प्रौढ़ एवं परिमार्जित है।

'हंस' अप्रैल १९३९ में प्रकाशित प्रेमनारायण टंडन का 'श्मशान' जून के 'संदेश' अंक में रामेश्वरी गोयल के प्रणय-सम्बन्धी गद्य-गीत, तथा 'हंस' सितम्बर १९३९ में प्रकाशित 'मृत्यंजय' जी की 'वह रेखा' शैली के विशिष्ट रूपों से युक्त हैं।

१. हंस, अप्रैल १९३९ : 'अज्ञेय'

रजनीश की 'आराधना' (१९३९) पत्नी-वियोग में लिखा गया है। देवीदयाल दुबे का 'जाग्रत स्वप्न' (१९४०) अध्यात्मपरक है। श्री रामकुमार वर्मा के 'हिमहास' में छायावाद का पुट है। यथाः—

(१)

"रात दिन अपनी आँखें खोलकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे थे। अब वे नींद के बोझ से झुककर मुरझा गये हैं। हाय, अब भी तुम नहीं आये!"

(२)

"यह फूल देख रही हो? यह मेरा जीवन है, जिसमें तुम्हारे प्रेम की सुगंध है। तुम्हें न पाने के कारण देखो तो मेरी सुगंधि कहाँ-कहाँ खोई जा रही है।"

दो चित्र शीर्षक 'हिमहास'

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन 'अज्ञेय' की चिंता (१९४१) तथा 'भग्नदूत' गद्य-काव्य के क्षेत्र में नवीन प्रयोग है। पुरुष तथा स्त्री के दृष्टिकोण से मानवी प्रेम के उदभव, उत्थान, विकास, अन्तर्द्वन्द्व, ह्रास, अन्तर्मंथन, पुनरुत्थान और संतुलन की कहानी 'चिंता' में व्यक्त की गई है। नारी का स्वरूप 'विश्वप्रिया' में आप इस प्रकार व्यक्त कर रहे हैं:

"तितली, तितली! इस फूल से उस पर, उससे फिर तीसरे पर, फिर और आगे, रंगों की शोभा लूटते, मधुपान करती, उन्मत्त, उद्भ्रान्त तितली!

मेरे इस सम्बोधन में उपालंभ की जलन नहीं है। तितली! तुम्हारा जीवन चंचल, अस्थिर, परिवर्तन से भरा है, तुम दो पल भी एक पुष्प पर नहीं टिक सकती, तुम्हारी रसना एक ही रस के पान से तृप्त नहीं होती, एक व्रत तुम्हारे लिए असम्भव है··· किन्तु यह कहकर मैं प्रवंचना का उलाहना नहीं देना चाहता तुमने यदि अपना जीवन ससार के असंख्य फूलों को समर्पित कर दिया है, तो मैं क्यों ईर्ष्या करूँ? मैंने तुम्हें गन्ध नहीं दी, तुम्हारे लिए मधु नहीं संचित किया।

किन्तु तुममें गन्ध का सौरभ लेने की, मधु का स्वादन करने की, फूल-फूल पर उड़ने की, जो शक्ति है, वह तो मैंने ही दी है! तुम्हारा यह अनिवर्चनीय सौन्दर्य, तुम्हारे पंखों पर के ये असंख्य सौन्दर्यमय रंग—ये मेरे ही उपहार हैं। फिर भी मैं तुम्हारी प्रवृत्ति से ईर्ष्याँ क्यों करूँ?

मैं मानो तुम्हारे जीवन का सूर्य हूँ, तुम सर्वत्र उड़ती हो, किन्तु तुम्हारी शक्ति का उत्स, तुम्हारे प्राणों का आधार, मैं ही हूँ—मेरी ही धूप में तुम इठलाती फिरती हो—मैं इसी को प्रति दान समझता हूँ कि मेरे कारण तुममें इतना सौन्दर्य

और इतना मधुर आनन्द प्रकट हो सकता है ।
तितली, तितली !"[1]

तथा

"इस परित्यक्त केंचुल की ओर घूम-घूमकर मत देखो । यह अब तुम्हारा शरीर नहीं है ।
अपने नये शरीर में चेतनामय स्फूर्ति के स्पन्दन का अनुभव करो, शिराओं में उत्तप्त रक्त की ध्वनि सुनो, अपनी आकृति में अभिमान पौरुष को देखो ! यह सब पाकर भी क्या तुम उस निर्जीव लोथ से, जिसका तुमने परित्याग कर दिया है, अपने मन को नहीं हटा सकते ?
अपने विध्वस्त निवास का अब ध्यान मत करो ।
नैसर्गिक कृति के विशाल प्रस्तार को देखो, शीतल पवन के तीक्ष्ण मनुहार का अनुभव करो, उन्मत्त गजराज की तरह बढ़ते हुए जलप्रपातों का रव सुनो, और उसमें अपना नया वास-स्थान पहचानो ! अपने पुराने ।"

पुरुष द्वारा व्यक्त भावों में नारी के कृतघ्नता के भाव, उद्दामवासना के चित्र, चरित्रहीनता आदि की सफल अभिव्यक्तियाँ हैं ।

नारी द्वारा व्यक्त भावों के कुछ चित्र इस प्रकार हैं :
"मेरे उर में जिस भव्य आराधना का उपकरण हो रहा है, तुम उसके लक्ष्य, मेरे आराध्य, नहीं हो ।
मेरे उरस्थ मेरा तुम्हारे प्रति प्रेम—उस प्रेम व्रत के सम्यक् उद्यापन की कामना में निरत उग्र शक्ति ही मेरा आराध्य है । तुम ? तुम हो उस आराधना के आरती-दीप, मेरे सहयोगी, मेरी उपासना को दीप्ति देनेवाले, मेरे प्रज्वलित प्राण ! पर मेरे उर में जिस भव्य आराधना का उपकरण हो रहा है, तुम उसके लक्ष्य, मेरे आराध्य, नहीं हो ।" [2]

तथा

"प्रियतम ! जानते हो, सुधाकर के अस्त होते ही कुमुदिनी क्यों नतमस्तक होकर सो जाती है ?
इसलिए नहीं कि वह प्रणय से थकी होती है ।
इसलिए नहीं कि वह वियोग नहीं सह सकती ।
इसलिए नहीं कि वह सूर्य के प्रखर ताप से कुण्ठित हो जाती है ।
प्रियतम ! वह इसलिए है कि वह एक बार फिर सुधाकर की शीतल ज्योत्स्ना में

१. चिन्ता' ३५ शीर्षक, पृ० ४७–४८
२. 'चिंता' पृ० १६६

जागने का सुख अनुभव करना चाहती है, वह चाहती है सुधाकर के कोमल स्पर्श से चौंककर, उठकर, एक अलस, सलज्ज विस्मय से सिमटते हुए भी प्रकट होकर पूछना, 'जीवन' तुम्ही हो।"[1]

नारी-हृदय की कोमलता, उद्दण्डता, परुषता, दीनता आदि का साथ-साथ चित्र उतारकर अज्ञेयजी ने अपनी सूक्ष्म सूझ का परिचय दिया है। 'अज्ञेय' ने जिस पुरुष को ध्यान में रखकर 'नारी' के प्रति भाव व्यक्त किए हैं वह आंग्ल शिक्षा एवं सभ्यता-स्नात नारी से ही परिचय प्राप्त कर सका है। पवित्रता की दिव्य विभूति, भारत का वैभव, चारित्रिक दृढ़ता से सम्पन्न नारी से नहीं। पुरुष तथा नारी के भावों में आधुनिक युग के यथार्थ वासनामूलक प्रणय के सौरभ एवं असौरभ के वहुमुखी चित्र उतारने में 'अज्ञेय' के गद्य-काव्य-कुशल शिल्प का न्यास करते हैं।

'हंस' सितम्बर १९४० में प्रकाशित कनक मधुकर की 'वेदना' दुःखवादी धारा में सहयोग दे रही है :

"वेदना अभिशाप है या जीवन के लिए एक स्तुत्य वरदान
दुःख, दुःख के लिए है या उसमें जीवन का सुख सन्देश ?
पीड़ा में कोई चीत्कार है अथवा करुणा-भरी, अठखेलियाँ ?
विपदा सबको अपने पक्ष से डिगाने आती है या उसे कठोर सक्रिय जीवन में ढालने ?

आपदाओं के बवण्डर आपदा के रूप में उठते हैं, या उसके शमन-हेतु शान्ति-धारा के रूप में, कष्ट-पर-कष्ट, विपदा-पर-विपदा मानव को पतन के गर्त्त में ढकेलने आती है या उसे सतह से ऊपर उठाने ? और फिर यह प्रश्न हल हो जाता है कि वेदना में मृत्यु का अभिशाप छिपा है या जीवन का सुख स्वप्न।"

अक्तूबर १९४० 'चारण' में प्रकाशित 'अन्तरिक्ष' रचना में फतहसिंह 'मानव' अंतरिक्ष को सम्बोधित करते हुए अपने हृदयगत भावों को व्यक्त करते हैं। इसी प्रकार जून १९४१ 'सुधा' अंक में कुमारी विद्या भार्गव अन्तर्मुख हो अपने दोषों को देख रही हैं।

तथ्यातथ्य निरूपण की आलोचनात्मक शैली के गम्भीर एवं चमत्कारिक रूप श्यामू संन्यासी के 'कोयले (१९४२) में मिलते हैं। यथा :—

"उनकी सात पुश्तों की लड़ाई थी और वे जन्म-भर लड़ते रहे। एक दिन श्मशान की उस काली भूमि पर दो चितायें जलीं और ठण्डी हो गईं। राख एक-

---

१. अज्ञेय : चिन्ता भाग एकायन, पृ० १३७ शी ४९

दूसरे को छूती घुलती-मिलती उड़ चलीं। और जो एक-दूसरे को अत्यन्त घृणा करते रहे वे अपनी धूल को ही रोककर रख न सके।"[1]

तथा

"वृद्धा ने तीर्थ कुण्ड में डुबकी मारी और मन-ही-मन मनाया हे त्रिलोकी नाथ! मेरे बेटे-पोतों को सुखी रख, एक पोते का विवाह देख लूँ और तब मुझे उठा लेना।

युवती ने हाथ जोड़कर जल में सिर नँवाया—हे घट-घटवासी! उन्हें सुखी रख, समझ दे। कन्या ने नाक-कान में अँगुलियाँ डालीं। उछलकर कूदते हुए उसके मन में आया—गोबर से लिपा-पुता घर—धान-चून से भरा-पूरा घर और और कुँवर-कन्हैया जैसा वर। हे सत्यनारायण भगवान।"[2]

आपके गद्य-गीतों में सामाजिक भावना के प्रति मीठा व्यंग्य, सुधार की भावना तथा श्रमजीवियों के प्रति सहानुभूति है।

सन् १९४३ में 'साहित्य देवता' के प्रकाशन से एक नवीन चेतना का सृजन हुआ। श्री माखनलाल चतुर्वेदी की इस कृति में मस्तिष्क तथा हृदय का संतुलित स्वरूप व्यक्त हुआ है। प्राचीन भव्य भारतीय संस्कृति के प्रति आपके हृदय में समादर है और नवीन जागरण की गत्यात्मक उद्बोधकता। जीवन के विविध पक्षों की परिस्थितियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंगों को, सुख-दुःख, आलस्य, हिंसा, ईर्षा, जुगुप्सा आदि भावों को तथा संसार के सारभूत तत्त्वों को जिस निकटता से देखकर अपनी रचना में आपने कुशलता से व्यक्त किया है, वैसा कम साहित्यकारों की कृतियों में उपलब्ध होता है। भक्ति-भाव समन्वित आपकी भावनाएँ जीवन के नित्य स्वरूप का स्पर्श करती हुई नूतन परंपरा के निर्माण का स्वर मुखरित करती हैं। अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, अध्यवसान पद्धति पर अप्रस्तुतों का आरोप, ध्वनिमूलक शब्दावलियाँ तथा वक्रोक्ति के बहुल प्रयोग से भाषा की अर्थगत महत्ता को आपने वैभवपूर्ण किया है। कथन की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। यथा :

"तुम्हारी बीन से रात को तड़पानेवाली सोरठ गाई थी और सबेरे विश्व-संहारकों से जूझने जाते समय उस बीन से युद्ध के नक्कारे पर डंके की चोट लगाई थीं। नगाधिराजों ने मस्तक पर उतरनेवाली निम्नगाओं की मस्ती-भरी दौड़ पर और उनसे निकलनेवाली लहरों की कुरबानी से हरियाली होनेवाली भूमि पर, लजीली पृथ्वी से लिपटे ताल नीलाम्बर महासागरों पर, और उनकी

---

१. कोयले पृ० ३५

२. वही, पृ० ५१

लहरियों को चीरकर गरीबों के रक्त से कीचड़ सान, साम्राज्यों का निर्माण करने के लिए, दौड़नेवाले जहाजों के झंडों पर, तुम्हीं केवल तुम्हीं लिखे दीखते हो।"[१]

इसी वर्ष नरोत्तमदास गुप्त 'नरेन्द्र' की 'जीवन-रेखायें' और विश्वम्भरनाथ 'मानव' की 'सोने से पहले' रचना प्रकाशित हुई है।

बौद्धिक चेतना के कारण यथार्थोन्मुखी 'नरेन्द्र' ने पीड़ित जीवन के मानचित्र और विकृतियों का आकलन जिस सूक्ष्मता से किया है, उससे इनकी रचना में मर्म-स्पर्शिता का प्रवेग अत्यन्त उभरकर दिखाई पड़ता है। जीवन की इनकी पकड़ यथार्थ के विपुल मनोरम चित्रों से स्नात एवं आर्द्र हैं। यथा:—

"गर्मी की दोपहरी में—
जबकि आकाश ठसाठस तेज धूप से भरा हुआ है, समस्त संसार आग-सी वर्षा से तप्त हो रहा है—
तुम एक तपस्वी की भाँति शांत-मौन हो, खड़े हो।
तुम्हारी वह सरसता, वह सौन्दर्य कहाँ गया ?
कहो भी—तुम्हें आज किस निर्मम ने लूटा है ?
तुम्हारे हृदय में कौन-सी ऐसी अज्ञात वेदना है—?
तुम्हारे सूखे ओंठों पर विषाद की छाप है,
तुम्हारे नयनों में आर्द्र-सा कुछ जमा हुआ है—वह जीवन की इस ताप से पिघलकर हलका होना चाहता है।
ऐसा न हो पादप ? यह छलककर तुम्हारे जीवन के सब रहस्य को इस निष्ठुर विश्व के सामने रख देगा।
इसके बदले में तुम जानते हो कि तुम्हें क्या मिलेगा ?
उपेक्षा और उपहास······?"[२]

तथा

"उपेक्षा से बने तुम विश्व को कौन-सा संदेश देने आए हो,
घन !
आज तुम्हारा हृदय जीवन के किस संकोच से काला पड़ गया है ?
नभ में निराश, बेतहाशा भागे फिरते हो, कहो भी अपनी व्यथा ?
इस-शून्य में क्या खोज रहे हो······?

---

१. पृ० ४ 'साहित्य देवता'

२. पृ० ८५ जीवन-रेखायें

तुम्हारा उर तुम्हारे सुप्त उद्गारों से रुँध-सा गया है। तुम्हारे मूक नेत्रों में तुम्हारी वेदना की भाँति अश्रुकण झाँक रहे हैं—जो जीवन में किन्हीं अज्ञात घड़ियों में निकलकर इस विश्व के सम्मुख तुम्हारे हृदय का मर्म प्रकट करना ही चाहते हैं।
आखिर इन्हें कब तक नेत्रों में ही दबाए रक्खोगे—मेघ !
इस निष्ठुर संसार ने कब किसी की अंतर्व्यथा को समझने का प्रयत्न किया है ?
तुम भूल करते हो, दुःख में चीत्कार मारकर व्यर्थ में ही अपना विश्वास खोते हो।"[1]

जीवन में अवकाश किसे प्रिय नहीं होता, क्रियाशील जीवन विश्राम विरहित होकर संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण दुःखद हो जाता है। कर्म के अनन्त सूत्र में बँध जाने से 'नरेन्द्र' विषाद-मग्न हो रहे हैं :

"तूफानी झंझावातों के आवेग उसमें उत्ताल तरंगें उठा देते हैं, जो आ-आकर जीवन के जीर्ण किनारों से टकराती हैं और फिर वहीं लौट जाती हैं। तुमने मुझे कर्म के अनंत सूत्र में क्यों बाँध दिया ?
मेरी यह लालसा कब थी ?
नाथ ! जब तक मैं प्रकाश में था, मुझे तुम्हारा अभाव प्रतीत न हुआ ! अब मेरे जीवन की घटा पर अंधकार की छाया पड़ने लगी है, जिससे मैं तुम्हारे सौम्य प्रकाश की रेखा भूलता जा रहा हूँ।
मेरे हृदयाकाश में विषाद के काले बादल छा गये हैं, जिनमें से तृष्णा और वासनाओं की लम्बी-लम्बी बूँदें निरन्तर गिर रही हैं। चारों ओर कालिमा बढ़ती जाती है। भय और आशंका ने मेरे चारों ओर कारागार की दीवारें खड़ी कर दी हैं। तुमने मुझे कर्म के अनन्त सूत्र में क्यों बाँध दिया ?
मेरी यह लालसा कब थी ?"

विश्वम्भरनाथ 'मानव' ने अपने 'सोने से पहले' कृति में साधनात्मक रहस्यवाद का अच्छा विकास किया है। कुछ चित्र इस प्रकार हैं :

"जब मैं अपने पथ पर जा रहा था तब बहुत-सी सुकुमार पलकें उठ-उठकर मुझे कुछ देने की याचना करती रहीं। उस समय मैंने कहा था 'शुभे ! याचक नहीं हूँ। मैं कृतज्ञ रहूँगा, पर लूँगा कुछ भी नहीं।[2]

तथा

वसंत के दिनों में विकसित होकर गुलाब की पंखुड़ियाँ मुझसे प्रायः पूछती

१. पृ० ५३, जीवन-रेखायें
२. पृ० २४, अनुताप शीर्षक

हैं 'हमारी यह कोमलता और वर्ण की चारुता क्या तुम्हें रुचिकर नहीं हैं ?'
राका रजनी की ज्योत्स्ना मुझसे प्रायः प्रश्न किया करती है,
'क्या मेरी यह मुसिकान तुम्हें पुलकित नहीं कर पाती ?'
पतझर काल में पवन मेरे पास से खिसककर कभी-कभी कहने लगता है
'क्या मेरे पतित उच्छ्वास तुम्हारे हृदय को तनिक भी विकल नहीं कर पायेंगे ?'
प्रभा की आँसू-भरी रजनी कभी-कभी अपनी भीगी पलकों को उठाकर मुझ से पूछती है 'तुम इतने पाषाण क्यों हो ?'
प्रियतम मैं इन्हें कोई उत्तर नहीं दे पाता, चाहता हूँ, मेरे अन्तर में निर्वासित गुलाब की सुकुमारता से निर्मित, चाँदनी के भार से मंडित तुम्हारी अनिंद्य गंभीर सजल लावण्य प्रतिभा ये देख पाते !
पर इनकी भावना पर आघात जो होगा। अत: प्रियतम !
मैं इन्हें कोई उत्तर नहीं दे पाता।"[१]

गद्य-काव्य की वस्तुपरक कृतियों में इन्द्रशंकर मिश्र की 'चिकोटी' (१६४६) एक महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। सामाजिक, साहित्यिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्रचलित परिपाटियों एवं प्रचलनों पर संकेतात्मक चिकोटी मिश्रजी ने काटी है। गद्य-गीतों के शीर्षक देखने से ही इसका अनुमान लगाया जा सकता है। 'घूस तथा घूसा', 'माँग और भाँग,' 'रूप और रुपया', 'जोड़ा नहीं तोड़ा' आदि अनुप्रास-प्रधान शीर्षक आपकी विलक्षण सूझ का पता देते हैं। आपकी भाषा चुस्त, चलती तथा सजीव है। 'प्रणय गीत' (१६४६) में शिवचन्द्र नागर ने प्रणय के विविध रूप व्यक्त किए हैं। प्रेम, याचना, अनन्त प्रतीक्षा, ममता, त्याग, निराशा, व्यथा, अतृप्ति, नीरवता, आनंद आदि भावों का चित्रण मर्मस्पर्शी हुआ है। आनन्दमूलक स्थिति का वर्णन आप इस प्रकार कर रहे हैं:

"अज्ञानाकाश के नीलिमांचल से वासना तारिकाएं खिसक गई हैं।
प्राची से स्वर्णिम उषा का मृदुल चुंबन पा कलियाँ चिटख रही हैं।
फूल खिल, रहे हैं, ज्ञानोदय की प्रथम रश्मि का आवाहन पा आज प्राणविहग, आनंदोन्मत्त होकर नाच रहा है, गा रहा है। आज मेरे जीवन का स्वर्ण प्रभात है, स्वर्ण विहान है।"[२]

पर उमानंदन चतुर्वेदी की साधना अभी जारी है :

---

१. पृ० ३२, सोने से पहले
२. पृ० ११, प्रभात-प्रणय गीत

"दानी कब से रिझा रहा हूँ तुझे ! कितने रंगीन चित्र अपनी पुतलियों पर बना-बनाकर मैंने आँसुओं से धो डाले। कितनी अरमानों की रिक्त प्यालियाँ अमृत बेला में अपने कंपित करों में थामकर चल पड़े थे, मेरे पागल प्राण सुदूर नीरव प्रान्त में अपनी बस्ती को छोड़कर तृप्ति की भीख माँगने। क्या उनका कुछ अवशेष भी छोड़ा तूने, इस जीर्ण कलेवर में ? दिवाकर ने अपने अरुण वाण दिग्बालाओं के रक्त-रंजित वक्ष में से खींच लिए हैं, क्या मेरा प्रश्नवाचक मेरे प्राणों में ही चुभा रह जायगा ? देखो मेरे बीन के अंतिम स्वर तुम्हें रुला देंगे।

इन जन पथ पर आते-आते न जाने कितने हृदयों में उलझ चुके हैं मेरे बीन के तार ! तड़पने दो मेरे बीन-तार। तुम्हें तरल न बना दिया तो गीत कैसा और गायक कहाँ का। पर डरता हूँ दाता ! तरल बनो तो मेरी रोमावलियों में घुल-मिलकर मुस्कुराना—आँखों से न बह जाना—मेरे प्राणों के अल्प अस्तित्व को डुबोकर।"[१]

जहाँ गद्य-काव्यकार जीवन के सभी अभावों को वरदान मान सत्यान्वेषण में ही लगे रहना वरेण्य समझते रहे वहीं जीवन के जलते प्रश्नों की ओर भी कलाकारों का ध्यान गया है।

'हंस' मार्च १९४७ में प्रकाशित हरिमोहनलाल श्रीवास्तव की 'रोटी', मई १९४७ में प्रकाशित मोहनसिंह सेंगर की 'कवि और कल्पना', सरस्वती मई १९४७ में प्रकाशित कुमारी विमला सिंह की रचना 'कलाकार' इसी कोटि की हैं।

प्रो० रामनारायण सिंह का 'मिलन पथ पर' (१९४७) प्रभु चरणों में अर्पित भावों का भण्डार है। ब्रिजलाल वियाणी का 'कल्पना कानन' (१९४७) अनुप्रासों की छटा से शोभित है।

इस वर्ष की अन्य रचनाएँ 'हृदय तरंग' (रघुवर नारायण), 'अपने गीत', 'मन के गीत' (वालकृष्ण बलदुआ), 'निशीथ' (ब्रह्मदेव) आदि हैं। 'हृदय-तरंग' तथा 'निशीथ' भावात्मक हैं।

'अपने गीत', 'मन के गीत' भक्ति-प्रवाह से युक्त हैं। साधन पथ के विभिन्न अवरोहों का भी इनमें वर्णन है। यथा :

"आज एक ओर तो मृत्यु का अंतिम विवश तड़पन मूर्तिमान विश्व की निस्सारता का चित्र सजीव खड़ा किये है और दूसरी ओर लोग मुझे वैभव और यश के सुनहले प्रलोभन दिखा रहे हैं।"[२]

---

१. 'सरस्वती' फरवरी १९४७

२. 'अपने गीत', पृ० ८४ : बालकृष्ण बलदुआ

विद्याकुमारी भार्गव की 'श्रद्धांजलि' (१९४८) कोमल भावों के माध्यम से यथार्थ जीवन का मनोज्ञ चित्र उतारती है। यथा :

"जीवन प्रसून फूलते हैं, परन्तु मुरझाई कलिका की भाँति अपने शैशव में ही मुरझा जाते हैं। आकांक्षा हिमाचल के मनोरम पर्वतों पर विचरने को है, किन्तु एक नियति का भीषण झकोरा सहसा आ आकांक्षा की प्रबल चाह को छिन्न-भिन्न कर देता है।"[1]

जुलाई १९४८ 'ज्योस्ना' के सांध्य आवाहन में शकुन्तलादेवी 'प्रभा' संध्या का इस प्रकार स्वागत कर रही हैं :

' संध्या ही मेरे जीवन की चिर सहचरी, मेरी प्रतिच्छाया है। जीवन में निरंतर असफलताओं की चोट से मनुष्य जब जर्जरित हो जाता है तब वह आश्वासन खोजने लगता है—और वह आश्वासन उसे एकाकिनी संध्या के अंचल में मिलता है। उसी तरह बाहुल्य के संसार से भी ऊबकर मनुष्य जब अशान्त होता है, परेशान होता है, गर्मी असहनीय हो जाती है तो फिर उसके लिए संध्या अपने आंचल में शान्ति और संतोष लिए खड़ी रहती है, इसलिए संध्ये ? तुम्हारा मैं हृदय से स्वागत करती हूँ ?

विषमताओं के भण्डार में, असंख्यों की ढेर में मैं किसे खोजूं, किसका दामन पकडूँ—किसे अपनाऊँ, किस मुकलित मुखमण्डल की लालिमा में अपने को खो दूँ—मेरा एक सोने का संसार है—पर उसकी स्वर्णिम आभा स्वर्गलोक का स्वप्न-मात्र है—चकाचौंध पैदा करनेवाली चंचल छाया भर ही है। उसमें वह शीतलता कहाँ जो तृप्त कर दे—मेरी परिस्थिति रंगरेलियों की ओर मुझे आमंत्रित कर रही है। पर मैं उनसे दूर ही रहना चाहती हूँ। इनमें पड़ने के लिए मुझमें न सामर्थ्य है और न साधन ही।[2]

'ज्योस्ना' सितम्बर १९४८ में प्रकाशित इन्द्रबहादुर खरे की रचना 'सावन की साँझ' प्रकृति का रम्य चित्र उपस्थित कर रही है। अक्तूबर १९४८ की पूनमचन्द्र वरडिया की 'सनातन' रचना सनातन सत्य का उद्घाटन करती है। दिसम्बर १९४८ गंगानन्द सिंह का 'खिलौना' वासना के दुःखद परिणामों की मार्मिक कथा व्यक्त करता है।

'प्रदीप' फरवरी १९४९ में प्रकाशित 'दीपक' में शान्ति एम० ए० दीपक के रूपक से क्षणिक आलोकित जीवन की मर्म कथा कहती हैं।

'प्रदीप' मार्च १९४९ की 'भिक्षु' रचना में पृथ्वीसिंह प्रभु के दरबार में भिक्षा लेने जाते हैं।

---

१. श्रद्धांजलि, पृ० ४६ : विद्याकुमारी भार्गव

२. जुलाई १९५८, 'ज्योत्स्ना'

मध्यकाल की प्रवृत्तियाँ तथा विकास-रेखाएँ :—शरीरी, अशरीरी, वायवी, वस्तुपरक, प्रकृतिवादी, हृदयवादी, प्रयोगवादी, प्रगतिवादी, कल्पना-प्रधान छायावादी, अध्यात्मवादी, रहस्यवादी, दार्शनिक आदर्शवादी, यथार्थवादी एवं उपदेशात्मक प्रवृत्तियाँ मध्य काल के गद्य-काव्य में परिलक्षित होती हैं। प्रारम्भिक काल की रचनाओं में संगीत तत्त्व का उतना समावेश नहीं हो पाया था, परन्तु इस काल के गद्य-काव्यों की संगीतात्मकता पहले से बढ़ी हुई। सुकुमार एवं कोमल भावनाएँ संगीत के मधुर स्वरों से मुखरित हो उठी हैं। विशेषतया कवियित्रियों की रचनाओं में नारी-हृदय का सहज स्नेह, चांचल्य, आकर्षण, सौन्दर्य एवं रूप-माधुरी का विलास दृष्टिगत होता है। भावों के क्रमिक आरोह-अवरोह, नर्तन-विवर्तन, अवस्थिति एवं विवस्थिति में भी पर्याप्त निखार दिखाई पड़ता है। कला की पटभूमि भी अभिनव सुषमा से मण्डित हुई हैं। यथार्थ एवं कल्पना के विपुल मनोज्ञ चित्र, कलागत महत्ता की गहरी अनुभूति कराने के साथ-ही-साथ चेतना का परिष्कार भी करते हैं।

जीवन में समग्रता के भाव तथा मानवतावादी दृष्टिकोण भी इस काल की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। वस्तुवादी कलाकार जीवनयापन के साधनों की प्राप्ति में जहाँ वर्गयुद्ध एवं विद्रोह का स्वर घोषित कर रहे हैं वहीं आत्मधर्मी कलाकार क्षमा, दया, सन्तोष, इन्द्रिय-निग्रह, अपरिग्रह एवं परोपकार को ही जीवन का साध्य मान कर चले हैं। कुछ कलाकार अपनी कुण्ठाओं की मुक्त अभिव्यक्ति में ही तृप्त होते दिखाई पड़ते हैं।

प्रकृति चित्रणों के नाना रूप स्वतन्त्र तथा पृष्ठभूमि के रूप में मिलते हैं। रूपक, अन्योक्ति, प्रतीक एवं संकेतों के बहुत प्रयोग से भाषा की अर्थवत्ता को प्रभविष्णु बनाया गया है। चमत्कारिक कथनों में रसाभास कम देखने को मिलेगा। संस्कृत, उर्दू, बंगला आदि भाषाओं की शब्दावलियों का खुलकर प्रयोग इस काल की रचनाओं में दिखाई पड़ता है।

आकार के क्षेत्र में भी सन्तुलन, समन्वय तथा ऐक्य की ओर ध्यान दिया गया है। विराम-चिन्हों के कुशल प्रयोग से भावाभिव्यक्तियाँ बलवती हो गई हैं।

अलंकारों की साज-सज्जा, ध्वनियों की सप्राणता प्रसाद एवं माधुर्य गुणों से युक्त है। ओज गुण का अभाव अवश्य कुछ खटकता है।

दीनता, क्षोभ, करुणा, निराशा, विषाद, असूया, हर्ष, अमर्ष आदि भावों के चित्र अधिक मार्मिक हो उठे हैं। चित्रोपमता की ओर भी कलाकारों की दृष्टि गई है। नादयोजना, लययोजना तथा समरसता से शोभित इस काल की कृतियाँ अपनी प्रौढ़ता का परिचय दिये बिना नहीं रहतीं।

नवीन शब्दों के प्रयोगों से तथा नवीन ध्वनियों के निर्माण से युक्त यह मध्य

काल गद्य-काव्य का युवाकाल कहा जा सकता है, इसमें सन्देह को स्थान नहीं रह जाता।

लाक्षणिक प्रयोगों के विदग्ध एवं चित्ताकर्षक रूपों का बाहुल्य प्रतिभा की महनीयता का शंखनाद किए विना नहीं रहता। मर्म छवियों के चित्र उतारकर इस काल के कलाकारों ने गद्य-काव्य के ऐश्वर्य-भंडार को गौरवमय किया है।

जीवन में अभाव की झलक देखकर कुछ कलाकार वादविशेष से भी चालित दिखाई पड़ते हैं। पर इस प्रकार के गद्य-काव्यों में प्रगति की धारा अपने मुक्त वेग से नहीं वह पाई। वादविशेष के दुर्गम गिरि-शृंगों से प्रगतिवादी कलाकारों ने काव्य की निर्झरिणी बहाई अवश्य है, पर काव्यत्व की धारा कहीं-कहीं रुक-सी गई है।

रवीन्द्र के 'बन्दघर', 'राज पथ' आदि की शैली पर तेजनारायण काक, मोहन लाल महतो वियोगी आदि ने कुछ गद्य-काव्य अवश्य लिखे हैं, पर रवीन्द्र की मानवतावादी भावुकता ये लोग नहीं ला पाये हैं। बंकिम के 'मेघ', 'वृष्टि', 'जुगनू' की शैली पर गद्य-काव्य दो-चार ही खोजने से मिलेंगे। पर उनमें बंकिम की आत्माभिव्यंजक शैली की पूर्ण प्राणवत्ता नहीं है।

महत् ऐश्वर्य जितना ही विराट होगा उसका आधार उतना ही सूक्ष्म होगा। स्थूल के माध्यम से उसका प्रकाश पूर्णतया दृष्टिगत नहीं होता, उसके समझने के लिए सूक्ष्म प्रज्ञा की आवश्यकता पड़ती है। काव्य का सूक्ष्मतर ऐश्वर्य वाणी का विषय होने के कारण सूक्ष्मतर संवेदनाओं की अपेक्षा रखता है। इस काल की रहस्यवादी अभिव्यक्तियाँ साधनात्मक रहस्यवाद से सम्बन्धित होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म आधार को लिए हुए हैं, उनमें अन्तर्मुखता के भाव अधिक हैं।

विषयों की दृष्टि से यह काल व्यापक क्षेत्र को समेटे चला है, सगुण-निर्गुण के विशद चित्र भी इस काल की रचनाओं में देखने को मिलते हैं। आत्मनिवेदन की भावना अत्यन्त दैन्यपूर्ण तथा हृदय-द्रावक हो गई है। सूक्ष्म संवेदनाओं के अभाव में सस्ती भावुकता तथा कोरी बौद्धिकता के भी भाव कुछ गद्य-काव्यकारों की कृतियों में मिलते हैं। इनमें रसात्मकता कम तथा चमत्कार की भावना अधिक मिलती है।

कल्पनाओं के अत्यन्त मनोरम चित्रों का विपुल भण्डार आह्लादपूर्ण है। उनमें जीवन की रसमयी माधुरी तथा आकर्षण है। मानवीकरण तथा विशेषण विपर्यय के भी अच्छे स्वरूप इस काल की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

उत्तर-काल—जब सूक्ष्म शक्तियों का आधार प्राप्त व्यक्तियों में स्वार्थ-पूर्ति की उत्कट वासना अमानवी सीमा का स्पर्श करने लगती है तो सामाजिक जीवन में विशृंखलता तथा दुर्बलताएँ स्पष्ट होने लगती हैं। जीवन-यापन के साधनों पर भी ये अमानवी शक्तियाँ नियंत्रण कर लेती हैं, बौद्धिक शक्तियों से युक्त कलाकार तब इनके विरोध में अपना स्वर निनादित करता है, चूंकि कलाकार अभाव के प्रवल यातना से

क्षुब्ध होकर ऐसा स्वर गुंजरित करता है, अतः उसकी वाणी में पूँजीपति एवं सामन्ती भावनाओं के प्रति आक्रोश, विद्रोह का स्वर, वर्गसंघर्ष की भावना, क्रान्ति का आवाहन, ध्वंस का चित्र अपने अभावों का दैन्यपूर्ण प्रदर्शन एवं इसके समक्ष विलासपूर्ण पूँजीपतियों की अमानुषी लीला का चित्र, जीवन के पग-पग पर उनके अवरोह आदि की भावनाएँ भरी होती हैं। ऐसे साहित्य में जीवन के तात्कालिक प्रश्नों को ही ध्यान में रखकर साहित्य-सर्जना होती है।

प्रत्येक समर्थ साहित्य सृजन के पीछे जीवन की किसी-न-किसी प्रकार की मीमांसा होती है, परन्तु यह पृष्ठभूमि जितनी ही तलस्पर्शी होगी, जितने ही गहरे अनुभवों और सहृदय प्रयत्नों के आधार पर रची जाएगी, उतने ही अंश में वह युग-साहित्य अथवा सच्चा साहित्य बना सकेगा।

जीवन के ऊपरी सतह से जिस साहित्य की सृष्टि होती है उसमें नैराश्य, विषाद एवं द्वन्द के ही चित्र भरे रहते हैं। परिणामतः कलाकार का साहित्य जीवन के वैभव का चित्र न उतारकर अभाव का ही पट बुनता है। सांसारिक वैभव स्वयं अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए दुर्बल एवं परमुखापेक्षी है। आवरणमय होकर ही वस्तुगत सौन्दर्य, सुन्दर तथा भद्र मालूम होता है।

प्रगतिवाद की जो भी रचनाएँ गद्य-काव्य में इस काल में उपलब्ध हैं उनमें विषयों का उचित संतुलन, मौलिकता का उथलापन एवं यौनविषयक बातों पर असंयम की भावनाएँ दिखलाई पड़ती हैं। प्रगतिशील कलाकार इसे ही जन-साहित्य के नाम से पुकारते हैं।

कलाकार के मानस का सतत मन्थन करनेवाली अचेतन में स्थित भावनाएँ अभिव्यक्त वाङ्मय के गर्भित रूप हैं। कला के निखिल तत्वांकुर भावप्रेरणा के अव्यक्त रूपों में निहित होते हैं। अव्यक्त की अभिव्यक्ति अथवा गर्भित की बिगर्भणा यदि समस्त निर्माणों में अनियंत्रित नहीं हो पाई है तो कलाकार के विश्वात्म के निर्लिप्त क्षणों की सृष्टि-साधना नित्य रमणीय अभिव्यक्ति से पुष्ट एवं चैतन्य से प्रतिच्छायित न होकर अभिव्यक्त-जन्य विराट सृष्टि के प्रत्येक स्थावर-शत्वर भावों की व्यक्त कला के आह्लादमयी क्षमता से हीन हो जाती है। शिव शक्ति की सार्वत्रिक व्याप्ति के कारण ही स्वान्तःसुखाय कला भी विश्वहिताय होती है। कलाकार में ज्योतांश चैतन्य की आभा एवं भावुक प्रकृति की आभा है, इसी से वह आत्म-ज्योति के मधुर आलोक में समस्त स्थावर जंगम का अन्तर्दर्शन करता है और जब उसकी सहज प्रसन्न अनुभूति और मानसी करुणा विश्व मुखी होती है तो वही अभिव्यक्त रूप में विश्व-साहित्य अथवा जन-साहित्य की संज्ञा से विभूषित होती है।

• काव्य का सत्य विज्ञान के सत्य से अधिक व्यापक तथा गूढ़ होता है। वह

व्यक्ति, समाज और देश-काल की सीमाओं से ऊपर उठकर त्रिकालव्यापी होता है। यह समस्त स्थूलताओं से आगे बढ़कर आत्मा की सूक्ष्म वृत्तियों और अनुभूतियों का स्पर्श करता है। काव्य का भावनात्मक सत्य व्यक्ति विशेषत्व से शून्य होकर आता है।

'गेहूँ और गुलाब' (१९५०) में जीवन की जटिल वास्तविकता से उत्पन्न क्षोभ एवं अभाव का प्रवीण चित्र तो मिलता है, पर काव्य के समग्र वैभव से यह रचना अलंकृत नहीं है। दृश्यों का चित्रविधान मनोमुग्धकारी है। यथा :

'नदी कछार झौआ के बन में हिलोर है ह्रास है" —पृ० २०

"अब अजीब धम्माचौकड़ी है, उठा पटक है, चीख है, चिल्लाहट है। हड़ हड़ हड़, धड़ धड़ धड़।" —पृ० ५१

गद्य-काव्य अपने विकसित क्षणों में कल्पना के आधार पर चित्र विधानकारी मधुरसंगीतमयी भावव्यंजना का सुन्दर स्वरूप भी अब व्यक्त करने लगा। यथा :

"एक बार दिनमणि भी पिघल उठते हैं, जब निशा सुन्दरी शोक में अपने एक-एक आभूषण उतारकर फेंकने लगती है, और तृणराजि की पत्ती-पत्ती पर उसके अश्रु कण चमकने लगते हैं।

प्रणय का भार उसका कोमल हृदय सह नहीं पाता। प्रिय के आगमन की सूचना से उसका मंजु मुख लज्जा से लाल हो जाता है, और वह किसी अज्ञात यवनिका में अपने को छिपा लेती है।"[1]

'सरस्वती' जनवरी १९५० आशारानी माथुर के गद्य-गीति, 'अजन्ता' अप्रैल १९५० कुमारी मन्दाकिनी के गद्य-काव्य, 'अजन्ता' जुलाई तथा अगस्त १९५०, 'मैंने तुम्हें देखा है' एवं सौन्दर्य डा० शं० जापुरवार की रचनाएँ, जून १९५० 'ज्ञानोदय' 'मुझसे न कहो', रामगोपाल सिंह के गद्य-काव्य, 'कल्याण' अक्तूबर १९५० बाल-कृष्ण बलदुआ की रचना 'आराध्य' तथा जून १९५० 'ज्ञानोदय' रतन पहाड़ी का 'दो अंतर' अध्यात्म विषयक विपुल चित्रों से युक्त है।

'अभिसार' (१९५०) में किशोर साहू ने लौकिक प्रेम के विपुल पंकिल अपंकिल चित्र, समाज पर तीखा व्यंग, विषाद आदि के यथेच्छ चित्र प्रस्तुत किए हैं। यथा :

"शायद दिल जलाने में तुम्हें मजा आता है।

तभी तो मेरे पहलू में लेटकर, मेरे कंधों पर सर रक्खे, सफेद चादर पर नागिन से, अपने काले बालों को बिखेरे, अपनी बड़ी बड़ी घातक आँखों पर लम्बी लम्बी पलकें निढाल छोड़कर तुम कह उठती हो, 'हाय मुझे नींद आती है शायद दिल जलाने में तुम्हें मजा आता है।"[2]

---

१. अजन्ता मई १९५०, सुदर्शनसिंह चक्र

२. पृ० ५३—'अभिसार'

तथा—

"मंदिर के द्वार पर एक दिन एक वृद्ध पंगु कोढ़ी आया।
पुजारियों ने उसे भीतर जाने से रोक दिया।
भगवान कुपित हो जाएँगे उन्होंने कहा।
पुण्य स्थान में पापियों का क्या काम !
कोढ़ी हँसा।
"पुण्य स्थान में पापी ही आया करते हैं, मेरे भाई" उसने उत्तर दिया।
औरों के लिए तो सारा संसार पड़ा है।"[१]

और भी—

"समुद्र के किनारे तक फैली हुई रेत के बीच बरसों हुए एक पौध उठी थी। पानी की असंख्य लहरों ने असंख्य रागिनियाँ गा-गाकर उस पौध के चरण धोए। समुद्र ने अपने उदर से निकालकर असंख्य चढ़ावे उस पर अर्पण किए। बढ़कर वह पौध ताड़ का वृक्ष बनी
साँझ को कभी-कभी कुछ मछुए अपनी नौका उस ताड़ से ही लगाकर किनारे लौटने लगते हैं, तब वह ताड़ भी किनारे पर लगे हुए ताड़ों से जा मिलने के लिए व्याकुल हो रुदन कर उठता है। परन्तु समुद्र के किनारे दूर तक फैली हुई रेत के बीच लगे ताड़ का वह रुदन समुद्र की असंख्य लहरों की असंख्य रागिनियों में लोप हो जाता है। उसकी सिसकियाँ किनारे पर लगे हुए ताड़ों तक नहीं पहुँच पातीं।"[२]

सुख-दुःख के भ्रमरावर्त से विलोड़ित इस भवसागर में जितना ही साधक आगे बढ़ता है आलोक रश्मियों से पथ भासमान हो उठता है, इसी आलोक के बिना संसार के जीव माया-मूर्च्छना से आक्रान्त होकर अशान्त हो रहे हैं। रंगनाथ दिवाकर की रचना 'अन्तरात्मा से' (१९५१) इसी सत्य का उद्घाटन कर रही है। रचना भक्ति-रस पूर्ण तथा सत्यासत्य विवेचन से प्लावित है। भाषा की चित्रोपमता के साथ ही अनुभूतियों का सजीव चित्रण भी है। उर्दू, साहित्यिक, ठेठ आदि शब्दों के बहुल प्रयोगों से शब्द-सौष्ठव निखार पा गया है। भावों की उत्कृष्टता आकर्षक है। यथा :

"इस क्षणिक क्षुद्र जीव को कैसी-कैसी आकांक्षाओं में जकड़ दिया है। वे हैं समुद्र तरंगों के सदृश्य अनंत, आसमान की भाँति विशाल। इस छोटे से चित्र में तुमने इसे भर कैसे दिया।"[३]

---

१. पृ० ७—'अभिसार'

२. पृ० ७१ 'अभिसार' प्र० सं० से

३. ४१वाँ गीत 'अन्तरात्मा' से

तथा—

"वह कौन-सा निष्ठुर दिन था जब तुमने अपने हृदय-मंदिर से मुझे दुत्कार कर दूर कर दिया ? हाय मैं उस दिन से आज तक भू-मण्डल में चंचल यात्री की तरह भटक रहा हूँ ।"[1]

प्रभु के प्रति कृतज्ञता का भाव व्यक्त करना भक्तों की सदा की परिपाटी है। इस क्षेत्र में भी गद्य-काव्य ने अपने चित्र सँवारे हैं। 'अजन्ता' जुलाई १९५१ 'कुसुम' की रचना', 'ऋणी जीवन' इसी प्रकार है। इसी अंक में इन्दिरा देवी 'छलिया' में प्रेम की पर्याप्त तड़पन है। 'सुमित्रा' १९५१ अक्तूबर अंक में रमा कक्कड़ अनन्त तक गीत गाने का उपक्रम कर रही है तथा 'ज्ञानोदय' दिसम्बर १९५१ अंक में सुरेन्द्रनाथ चतुर्वेदी की आत्माभिव्यंजना शैली सुकुमार भावनाओं से युक्त है।

'सरस्वती' जून १९५२ में प्रकाशित श्रीमती गिरजादेवी सक्सेना की रचना 'विच्छेद बेला' भाव तथा भाषा का मनोरम स्वरूप इस प्रकार व्यक्त करती है :

"प्रिय वह हमारे चिर-विच्छेद की बेला थी ।
प्रातःकालीन पवन बाल शिशु-सा सिसक रहा था
दिवाकर की रश्मियाँ अपनी प्राथमिक अभिव्यक्ति में किसी नवयौवना के लाज-भरे सौन्दर्य-सी रक्तिम हो रही थीं ।
निशीथिनी की विरहव्यथा ओसकण बन वसुन्धरा के वक्षस्थल पर राशि-राशि बिखर गई थी ।
ऐसे नवजात क्षण में विशाल नद की छाती पर वह तरिणी मेरी प्रतीक्षा में चंचल हो उठी ।
प्रिय तुम्हारी बलिष्ठ भुजाओं का सहारा ले मैं नौकारूढ़ हो गई । मेरे हृदय की गति से तरणी काँप उठी । तुम अपनी समस्त व्यथा वहन करने में प्रयत्नशील थे । और मेरी व्यथा नयनों की कोरों पर झलक रही थी ।
तब वह प्राणहीन नौका सहसा सप्राण हो, उत्ताल तरंगों को क्षत-विक्षत करती मुझे कहाँ ले चली,
तभी तुम्हारे विशाल वक्षस्थल का केवल एक उच्छ्वास प्रभंजन के सद् में मुखरित हो उठा ।
उसके आवेग से मेरी नौका अत्यन्त गतिशील हो, अनन्त यौवना नर्तकी की सहस्रों मुद्राओं में नर्तन करने लगी ।
जल-प्लावन ताल दे रहा था और जलराशि पर बहता फेनिल क्या मानो नर्तकी का स्वेद ।

---

१. ५९वाँ गीत 'वही'।

"कुछ ही समय बीता, तुम एक क्षीण रेखा मात्र बन गये। क्षितिज भी सागर के गर्भ में विलीन हो गया, ऊपर शुभ्र नीलाकाश था, नीचे अथाह जल-राशि थी और उस पर संतरण कर रही थी मेरी क्षुद्र नौका।

प्रिय में तुम्हारे निर्देशित मार्ग पर स्वयं से निर्भय होकर जा रही थी और तुम्हारी अस्पष्ट रूपरेखा धीरे-धीरे धूमिल होकर क्षितिज रेखा में विलीन हो गई। तब विराग मानों साकार हो, मेरे नयनों के समक्ष छा गया।

प्रिय वह हमारे चिर विच्छेद की बेला थी।"

सृष्टि के निखिल चेतन-अचेतन में व्याप्त अखिलेश्वर का चिन्तन शकुन्तला-कुमारी 'रेणु' अपनी उन्मुक्ति (१९५३) में कलात्मक ढंग से करती हैं। इनकी रचना में जीवन की प्यास तथा हास है, भाषा में लय, गति, संगीत एवं लाक्षणिकता का मधुर मिश्रण है। 'उन्मुक्ति' के प्रकाशन ने हिन्दी गद्य-काव्य की संगीतात्मकता को पर्याप्त प्राणवान बनाया है।

भावाभिव्यक्तियों की गहराई एवं व्यापकता ने गद्य-गीतों के माधुर्य का विश्व विजयी घोष-सा कर दिया है।

'गुरूदेव' (१९५३) में महावीरशरण अग्रवाल कान्तियुक्त रुचिर काव्य-मुक्ताओं की आभा भरकर आये हैं।

प्रकाश ज्ञान-स्वरूप होता है। इसमें अभाव की अनुभूति नहीं होती। यह प्रकाश विराट की ही विभूति है, पर इसका भान नहीं होता। अंधकार के क्षणों में घनी वेदना से आक्रान्त जीवन प्रभु से प्राप्त प्रकाश के लिए विकल हो उठता है। मई १९५४ 'अजन्ता' अंक में विद्या मेहरोत्रा इसी प्रकार का भाव व्यक्त कर रही हैं। यथा :

**"प्रतीक्षा के पल जब सजग होते हैं तब न आकर
जब वे पल बेसुध हो जाते हैं और चेतना शिथिल
तुम तब आते हो।
आशा की ज्योति से जब नयन दीप्त होते हैं तब न आकर
जब नयनों में निराशा की बदली घिर आती है,
तब तुम आते हो।
हृदय बगिया में जब हास सुमन खिलते हैं तब न आकर
जब नयनों से अश्रु-मुक्ता झरते हैं
तुम तब आते हो।
जीवन को सत्य समझकर जब तुम्हें पुकारती हूँ तब न आकर
जब तुम्हें स्वप्न समझ लेती हूँ**

तुम तब आते हो ।
जब साकार तुम्हें पाना चाहती हूँ तब न आकर
जब तुम्हें निराकार मान लेती हूँ
तुम तब आते हो ।"

यदुनाथ पाण्डेय 'प्रस्थान' (१९५४) में गद्य-काव्य का एक नया विधान लेकर आये । रचना प्रसाद गुणपूर्ण है ।

चन्द्रिकाप्रसाद श्रीवास्तव का विश्वात्मा की 'अंतर रागिनी' (१९५५) विशिष्ट गद्य-गीतों का संग्रह है । इसमें पार्थिव तथा अपार्थिव दोनों प्रकार की भावनाओं का यथेष्ट विकास हुआ है । दोनों के चित्र देखने से ज्ञात हो जायगा यथा :

**"आखिर मुझसे इतना स्नेह क्यों है ? क्यों तू मुझ पर घने बादलों के समान मँडराती हुई स्नेहधार की वर्षा करती रहती हो ?
आखिर क्यों ? क्या पाया है तूने इस निष्ठुर से ? पीड़ा, तड़पन और वेदना । यही न या और कुछ ? बोलो मेरे प्राण ! इस निष्ठुर पर इतनी ममता क्यों ? तेरी चिर-कामनाओं का केन्द्र यह तुच्छ है—इसे मानता हूँ, तेरा जीवन-प्राण यह अदना सृष्टि का बोझ है—इसे भी स्वीकार करता हूँ, किन्तु इसे कभी तूने अपना कर्तव्य पालन करते कभी देखा है ? न जाने कौन-सी अशुभ बेला में, नियति के निष्ठुर क्षण में तेरा फूल-सा कोमल हाथ इस वज्र हाथ के संयोग में आया । आह ! मैं समझता हूँ इस पापिष्ट ने तेरा वह कोमल हाथ—हाय रे ! मसल डाला है…फूल गये हैं वे हाथ । तुम्हारे हृदय में उठती हुई आहें वेदना के अश्रु कण स्पष्ट झलक रहे हैं ।"[1]**

तथा—

**"जीवन की आकांक्षा समाप्त हो चली थी । संसार शून्य-सा तथा सर्वस्व खोया-खोया लगता था । जिन्दगी क्या थी—केवल साँय-साँय का क्रन्दन मात्र । इतना निराश्रित, फटा दिल लिए मृत्यु को आलिंगन करने की तैयारी थी । सोचता था मृत्यु ही चिर समाधि बनेगी ।
आह ! मृत्यु का आह्वान हो चुका था । मेरी जीवन-नैया मृत्यु के महासमुद्र में डुभ-चुभ होने ही वाली थी कि निराशा को चीरती हुई ऊषा स्मित हँसी ले जीवनाकाश में फूट पड़ी । अरुणाई से जीवन-आकाश भर चला !
अवाक् स्तम्भित ! यह कैसा रहस्य !!
और तभी देखा वह प्रियतम मेरे साथ आँखमिचौनी खेलने लगा ।"[2]**

---

१. पृ० २, अन्तर रागिनी
२. पृ० ३५, अन्तर रागिनी—चन्द्रिकाप्रसाद

संघर्ष के इस युग में व्यक्ति अपने ही वातावरण तक दृष्टि डालता है, फिर भी 'वह विराट पुरुष' 'ज्ञानोदय' अक्तूबर १९५६ रचना में रामनारायण उपाध्याय विराट का दर्शन कर रहे हैं। यथा :

"सुदूर पूर्वांचल की कन्दराओं से वह निकला, उसने समुद्र स्नान किया और चल दिया अपनी मंजिल की ओर। बड़ी सुबह खेत जानेवाले किसान ने उसे प्रणाम किया, मंदिर के पुजारी ने उसे अर्घ्य चढ़ाया, और गाँव के चरवाहे ने कुछ दूर उसका संग निबाहा।

वह श्वेत वस्त्रों पर श्वेत रंग की चादर ओढ़े था, और उसका उन्नत ललाट सूर्य की तरह चमक रहा था।

वह सहस्रों भुजाओं वाला था और उसके कदम सनसन करती वायु से होड़ ले रहे थे।

वह बड़ी-बड़ी नदियों, पर्वतों, और मैदानों को उलाँघता और अपने विशाल बाहुओं से समय के पृष्ठों को उलटता चला जा रहा था। दिन-भर चलने के बाद जब वह अपनी मंजिल के नजदीक पहुँचा तो खेत से लौटते किसानों ने उसे पुनः प्रणाम किया और गायों को चराकर लौटता हुआ चरवाहा उससे पुनः आ मिला।

साँझ पड़े धूप-धूप के बच्चों ने वृक्षों की ऊँची-ऊँची चोटी पर चढ़कर उसे विदा दी।

और छाया ने बड़े हर्ष से ललककर उसके चरण छू लिये। दिन-भर का हारा-थका, होने से उसने पुनः पश्चिमी समुद्र में स्नान किया। और सुदूर अस्ताचल की कन्दराओं में चला गया।"

'वीणा' दिसम्बर १९५६ के 'चिर के रहस्य' शीर्षक में शिवनारायण उपाध्याय रहस्य का ज्ञान एक विचित्र ढंग से करते हैं। इसी अंक में गोविन्दसहाय शर्मा का 'तारक मालिका' ने 'मुस्करा दिया' गद्य-गीत यथार्थ का यथावत चित्र अंकित करने में सफल है।

गद्य-काव्य का सुप्रभात नवीन दीप्ति एवं आलोक लेकर आया था। पर वह आदर्श से प्रेरित था, अतः उसमें थकान न आ पाई। सूक्ष्म अनुभूतियों के ही संचय में वह लगा रहा, इसीलिये ज्योतिमय की ज्योति से वह आज भासमान हो रहा है। देखिये :

"मैं हूँ आदर्श से प्रेरित—ज्योतिमय।
मैं थका हूँ, पर हारा नहीं।
मैं खीजा हूँ, पर निराश नहीं,

मेरे दूध के प्याले में मालिक ने शक्कर नहीं
डाली, डाल दी मुट्ठी-भर काली-काली मिरचें,
पर इसका उलाहना नहीं। दूध की पौष्टिकता तो मुझे मिली ही। इसी से मेरी आँखों में ज्योति है और गति में दृढ़ता। इसी से मेरा मन घाव खाकर भी मुर्दार नहीं हुआ। मैं गिर-गिरकर भी उठा और निश्चित राह पर चलता रहा—बढ़ता रहा।
इसी से, यथार्थ के व्यंग-बाणों से पीड़ित होकर भी आदर्श से प्रेरित रहा—ज्योतित रहा।
मैंने घुटने नहीं टेके।
झाड़-झंखाड़ रास्ते में आये, तो उनमें उलझन जरूर, पर सदैव पार कर ही लिया उन्हें।
यों, मैं खीजता हूँ पर निराश नहीं।
यों मैं थका हूँ पर हारा नहीं।"[1]

'उदीची' (१९५६) के प्रकाशन ने गद्य-काव्य के शिल्पविधान में नवीनता का संचार किया है। इसमें आर्जव सौष्ठव तथा पर्याप्त रमणीयता है। यथा :

"क्या सन्ध्या हो गयी ?
तुम्हारी जूड़ा के पुष्प मुरझाये से लग रहे हैं जिन्हें मैंने दूर यक्षों के उद्यान से लाकर तुम्हारे शीर्ष का शृंगार किया था।
छाया क्या सोने जा रही है ?
वृक्षों के नीचे शुष्क पत्रों की शय्या मर्मर करने लगी है।
वनान्त की वेतस राजि से चक्रवाकों के मिथुन परस्पर से बिदा लेकर न जाने किस तट को जा रहे हैं। ओह ! तुम्हारे स्कन्ध से यह सुगन्धित प्रवाह स्खलित होकर वायु में तिर रहा है जिसे मैंने गन्धर्वों की जय-यात्रा पर उपहारस्वरूप पाकर तुम्हारे स्कन्ध का शृंगार किया था।
किरणें कहाँ गयीं ?
दिशाओं के अधर पर अभी-अभी मदिरा बह रही थी। उनका तन्द्रिल मुख कितना सुन्दर था ! किरणें बार-बार दिक्कपोलों को चूम-चूमकर चली गयीं। ओह ! तुम्हारे कुण्डलों से लिपटी हुई वह किरण भी चली गयी जिसे मैंने प्रत्यूष के संगीत में छिपाकर तुम्हारे श्रवण शृंगार के लिए लाया था।
रात्रि वह गीत गा !

---

१. ज्ञानोदय, दिसम्बर १९५६ : बालकृष्ण बलदुआ

सिन्धु न जाने किस अपार अछोर पिपास में हा-हा कार कर रहा है ।
विस्तृत आकाश का यह नक्षत्रपुंज न जाने किस अन्धकार में दीपमाला जगाये बैठा है, यह विश्रामहीन वायु न जाने किस अजाने देश की यात्रा में बाँसरी बजाता जा रहा है और यह अचल पाषाण अपनी जड़िमा से न जाने किस उदास का ध्यान कर रहा है !
हे मौन तुम्हारे अन्तर का स्वर भी क्यों नहीं सुनायी पड़ता आज ?"[१]

उत्तर-काल की प्रवृत्तियाँ तथा विकास-रेखाएँ—स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हिन्दी साहित्य ने पर्याप्त प्रगति की है। दार्शनिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक चेतना में पर्याप्त परिष्कार किया गया है। एक ओर जहाँ गद्यकार जीवन की जटिल-तम वास्तविकता का चित्र खींचने में लगा हुआ है वहीं दूसरी ओर उदात्त बौद्धिक चेतना के महत् ऐश्वर्य का भी प्रकाश दिखाई पड़ रहा है। जीवन की विविधता में एकता के दृष्टिकोण ने गद्य-काव्य के कला-सौष्ठव में रमणीयता का आह्लादकारी मेल किया है। कला, संगीत एवं साहित्य भाव की त्रिवेणी पर आ मिले हैं। अतः गद्य-काव्य की अभारणीयता में लयात्मक झंकार तथा संगीतात्मकता के भाव घने हो उठे हैं। शकुन्तलाकुमारी के रेणु के नव शिल्पविधान ने काव्य में सहज प्रसन्नता, ऋजुता, सुकुमारता, दीप्ति, संगीत एवं माधुर्य का सन्निवेश किया है। ब्रह्मदेव की 'उदीची' ने गद्य-काव्य में नया मोड़ स्थापित किया है। प्रभावमूलक शैली का ऐसा उदात्त रूप पूर्व में कथाचित् ही दृष्टिगत होगा। आज कलाकार की कलागत चेतना निपुण ग्रन्थन की ओर उन्मुख न होकर निपुण भाव-प्रकाशन की दिशा में जा रही है। इसीलिये भावानु-भूतियों की स्वाभाविकता में प्रखरता, आकर्षण एवं प्रवाह के पर्याप्त छींटे उपलब्ध हो रहे हैं। भाषा की चित्रोपमता में रामवृक्ष बेनीपुरी पूर्ववर्ती सभी कलाकारों से आगे बढ़ गये हैं। जीवनानुभूति के विपुल यथार्थ चित्रों का चमन भी इस काल की विशेष प्रवृत्ति परिलक्षित हो रही है। एक ओर जहाँ हमें इस काल की रचनाओं में भाव-गांभीर्य, नवीन कल्पनाविधान, नूतन साज-सज्जा एवं वचन-विदग्धता के चित्र मिलते हैं वहीं दूसरी ओर, भावतरलता भावों की तरुणता, आनन्दोद्रेक की झनझनाहट, राशि-राशि भाव पुष्पों की अर्धस्फुट सौरभ, बाल-कोकिलाएँ, तरुण पपीहों तथा प्रौढ़ शुकों की सहस्र स्वरों में चहचहाहट एवं सुधावर्षण, उज्ज्वल जाह्नवी तथा भविष्य की अस्पष्ट नीली यमुना का विशाल संगम, सौन्दर्य का काश्मीर, वह्निवाढ़, उल्का-भूकम्प, वृद्धि-विनाश के चित्र हँसते-गरजते, चढ़ते-गिरते, रोते-रुलाते दिखाई पड़ते हैं।

भाव तथा भाषा के समुचित सामंजस्य ने एक विशिष्ट रूप-विन्यास की सृष्टि

---

१. पृ० २१—शीर्षक १९ उदीची ब्रह्मदेव

की है। आध्यात्मिक चेतना 'अन्तरात्मा' से तथा 'गुरुदेव' के माध्यम से बावन के डग के समान बढ़ी दिखाई पड़ती है। रहस्य और अलौकिकता की भावनाएँ भावुकता से युक्त होकर भी बौद्धिक वास्तविकता के स्पर्श से नहीं बच पाई हैं। अतृप्त आकांक्षा की काल्पनिक पूर्ति एवं पलायन-वृत्ति के स्वप्न भी इस काल की रचनाओं में मिलते हैं। आज के रिक्त तथा संदिग्ध जीवन के प्रति नवीन अनुराग, कल्पना तथा नवीन दृष्टिकोण भी इस युग की रचनाओं में दिखाई पड़ते हैं।

निष्कर्ष

गद्य-काव्य की मन्दाकिनी प्रारंभिक काल से लेकर उत्तर काल तक निरवच्छिन्न गति से प्रवहमान है। इस अमृत जाह्नवी के मार्ग में आध्यात्मिकता के पुलिन, वासना के कर्दम तट कल्पना की सैकत भूमि, वादों के ध्वनिपूर्ण कल्लोल, उपासकों के श्वासोच्छ्वास, व्यक्तिगत कुण्ठाओं के भ्रमरावर्त तथा सौन्दर्य का इन्द्रधनुषी नीलाचल मिलते गये हैं। रहस्यात्मक भावना गद्य-काव्य का अपना तत्व है, यही कारण है कि तीनों काल की रचनाओं में कम-विशेष इसके रूप उपलब्ध होते हैं। यह रहस्य-भावना कहीं बौद्धिक आवरण लिये हुए है और कहीं साधनात्मक शक्ति। बौद्धिक भावुकता तथा रागात्मक भावुकता का भी क्रम आज तक नहीं टूटा है। यही कारण है कि भावुकता के अम्बुधि में मुक्ताएँ, सीपियाँ, घोंघे, सिकार, कर्दम, सैक्त तरल वीचियाँ, लोकोज्ज्वलकारिणी स्निग्ध चन्द्रिकाएँ, ज्वार, तूफान आदि देखने को मिलेंगे। गद्य-काव्य के कुलालों ने काव्य-पट की विभिन्न रूपाकृतियाँ भी निर्मित की हैं। इनमें कोई तो दीपशिखा-सी तापस बाला के समान प्रभा-मंडित निष्कलुष स्वाभाविक सौंदर्य की प्रतिमूर्ति है और कोई अपनी बाह्य रूप-राशि से मुग्धकारिणी तथा कहीं-कहीं रूप-प्रतिभाएँ भोड़ी एवं बेडौल भी हो गई हैं। गद्य-काव्यों में समस्त संसार को निमग्न करनेवाले सूर की भगवद्भक्ति के आनन्दाधिक्य का जलप्रलय तो नहीं है, पर ग्रीष्म की ज्वाला से दग्ध, पृथ्वी को शांति देनेवाले मेघों का मधुर जलदान अवश्य है। ईश्वरीय अनुराग के अनन्त उद्गार भव की उष्मा से नीरस हृदयों को रस से प्लावित तथा उर्वर करने से नहीं चूकते। युग की उच्छृंखलता को यहाँ पाँव पसार कर सोने का स्थान तो नहीं मिला है, पर लुक-छिपकर बैठी अवश्य है। युग की नूतनता ज्यों-ज्यों गद्य-काव्य में समाविष्ट होती गई है, नवीन ध्वनियाँ, नवीन स्वर-झंकार, नूतन राग, नई कल्पनाएँ एवं भावनाएँ, साज-सज्जा तथा स्पन्दन के साथ ग्रहीत हुई हैं। भाव और स्वरों की सरस सन्धियाँ काव्य की रमणीयता को वर्द्धित करती ही जा रही हैं।

गद्य-काव्य का विकास तीनों कालों में निम्न दृष्टियों से हुआ है :

(क) गुण की दृष्टि से।

मीलित झंकार से भी युक्त हो गया। भावों की अखण्डता को स्थापित करने के नूतन प्रयोग भी हुए।

(घ) विविध साहित्यिक प्रभाव की दृष्टि से :—

(घ) द्वितीय काल में छायावादी, प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी आन्दोलनों के प्रभाव में पड़कर गद्य-काव्य विविध वर्णी हो गया। प्रथम काल के गद्य-काव्यकार राय कृष्णदास, छायावाद की शैली का प्रकाश जो कुछ अपने गद्य-काव्यों में कर पाये थे वह, अधिक जीवन्त तथा उल्लासमय न था। द्वितीय काल में ही छायावाद के ऊर्जस्वित स्वरूप गद्य-काव्य में प्राप्त होते हैं। जहाँ पद्य-काव्य पर से छायावाद का प्रभाव हट रहा था वहीं गद्य-काव्य पर यह बना रहा।

प्रगतिवादी विचारधारा प्रच्छन्न रूप से हिन्दी गद्य-काव्य में सन् १९४२ के पूर्व ही आ गई थी। पर १९४२ में नरेन्द्र के आगमन से इस दिशा में खुलकर कार्य हुआ। इस धारा का प्रौढ़ काल (गेहूँ गुलाब) सन् १९५० माना जा सकता है। अज्ञेय ने गद्य-काव्य के क्षेत्र में प्रयोग सन् १९४१ से ही करना प्रारम्भ किया है, पर इस दिशा में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो पाया है।

(च) भाषा, भाव, विषय तथा उपादान की दृष्टि से :—

प्रथम काल की भाषा पूर्ण विकसित नहीं थी, या यों कहा जाय—भावों का प्रसार गत्यात्मक भाषा में नहीं हुआ है। द्वितीय काल ने इस कमी को पूरा किया। गद्य-काव्यकार नवीन अर्थभूमियों की खोज किए, इस खोज में उन्होंने भावों की नवीन उद्‌भावनाएँ कीं। तृतीय काल में भाषा का सौष्ठव और भी प्रेयस हो गया है। प्रथम काल में गद्य-काव्य काव्य का विषय आध्यात्मिकता, बौद्धिक भावुकता, प्रकृति, सामाजिक सहृदयता, सुधारवाद, विशुद्ध भक्ति आदि तक ही सीमित रहा। द्वितीय काल में इन्हें स्थान तो दिया ही गया इसके अतिरिक्त, ऐकान्तिक साधना, साधनात्मक अनुभूति, दुःखवाद, वर्गवाद, परात्परता, प्रकृति चित्रण के विविध पक्ष, नारी, लौकिक प्रेम, वात्सल्य के भाव, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा सामाजिक विकृतियों आदि पर भी रचनाएँ हुईं। इनके प्रकाशन के लिए अनेकानेक उपादान खोजे गये। प्रतीक, व्यंग आदि के आश्रय से भाषा के अर्थ-गांभीर्य में वृद्धि की गई।

गद्य-काव्य ने प्रयोग काल, विकास काल तथा अब मन्थर काल भी देखा है। इन सभी कालों में भावों का चारुत्व इतना आकर्षक तथा मनोज्ञ है कि इसके परिचय के बिना गद्य-काव्य की विशेषता का परिज्ञान संभव नहीं है। अतः अगले अध्याय में भावपक्ष पर विचार होगा।

चतुर्थ अध्याय

भाव-पक्ष

भावनाओं का सम्बन्ध विषय के अन्तरंग तथा बहिरंग—दोनों पक्षों से होता है। विषयिप्रधान भावनाएँ दार्शनिकता की ओर उन्मुख होती हैं और विषयप्रधान वस्तुतत्व की ओर। गद्य-काव्य की विषय-सीमा मानव-मन के अंतरंग एवं बहिरंग दोनों कूलों का स्पर्श करती है। अंतरंग विषय की सीमा विषयि की व्यक्तिगत अनुभूति पर आधारित होती है। पर वह अनुभूति मानव जीवन की व्यापक पृष्ठभूमि को समेटे रहती है। गद्य-काव्य में व्यक्त भाव निम्नलिखित वर्गों में रक्खे जा सकते हैं:

(१) दार्शनिक (२) भक्तिपरक (३) रहस्यवादी (४ छायावादी (५) गांधी-वादी (६) यथार्थवादी (७) प्रगतिवादी (८) प्रयोगवादी (९) उपदेशपरक (१०) मानवतावादी ११) परात्परतावादी (१२) दुःखवादी (१३) अमूर्त्त चित्रण (१४) प्रकृति चित्रण (१५) तथा विविध।

दार्शनिक—दार्शनिक विचारधारा अन्तदर्शन तथा आत्मनिष्ठता का परिणाम है। इन्द्रियों का स्वभाव बाह्यदर्शी होता है। ज्यों-ज्यों अंतर्मुखी हो जाती है, जगत् से राग हटने लगता है। गीता अध्याय २ के ५६, ५७, ५८ श्लोकों में भगवान् कृष्ण ने पूर्ण अर्न्तमुखी स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताये हैं। पुरुष में केवल मध्यस्थ भाव और द्दष्टात्व भाव होने के कारण ही कर्ता होते हुए भी वह अकर्ता ही बना रहता है और उसके समस्त कर्मों में कर्त्ता के वे ही गुण (सत्व, रज, तम) बने रहते हैं। प्रकृति के साथ उसका संबंध अंधपंगुन्याय का है।[1]

बुद्धि ही अहंकार और मन के संयोग से समस्त विषयों का अवगाहन करती

---

१. तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षीत्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टत्वमकर्त्तृ भावश्च ॥१९॥
तस्मात्तत्संयोगदचेतनं चेतावदिव लिंगम्।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥ —सांख्यकारिका

है। इसीलिए समस्त इन्द्रियों के मुख्य करण में बुद्धि, अहंकार और मन है।[1]

महर्षि कणाद के मत से आत्मा का मन के साथ संयोग, मन का इन्द्रियों से तथा इन्द्रियों का विषय से सम्बन्ध होने पर गुणादि का ज्ञान होता है।[2]

मन की व्याख्या वैशेषिक दर्शनकार ने इस प्रकार की है—आत्मा का इन्दिय और विषय से सम्पर्क होने पर ज्ञान के भाव अथवा अभाव को व्यक्त करने का माध्यम मन है।[3]

अन्तर्मुखी इन्द्रियों के द्वारा जीव व्यवस्थित एवं स्थितप्रज्ञ होकर अपनी सत्ता एवं जगत् की सत्ता देखता है। अन्तदर्शन के लिए इन्द्रिय-निग्रह का मार्ग अष्टांग योग बतलाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एवं समाधि से चित्त की वृत्तियां निरुद्ध हो जाती हैं तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है।[4] पर अपने स्वरूप में स्थित होने का मार्ग विघ्नबहुल है। एकाकी सम्बलरहित पार करना पड़ता है। इसीलिए शकुन्तलाकुमारी रेणु कहती हैं :—

मुरझाये सुमन, पथ पर बखेर, मैं आगे बढ़ जाती हूँ।
चाहे बटोही मिलें, न मिलें।
दुर्गम विघ्नघाटियों को पार करती हुई जीवन-पथ पर मैं बढ़ती ही जाती हूँ

—उन्मुक्ति पृ० ४४

सांख्यकार महर्षि कपिल समस्त चर-अचर की उत्पत्ति मूल प्रकृति से मानते हैं। इस मूल प्रकृति से पृथक् अविकारी पुरुष है[5] प्रकृति उनकी दृष्टि में नित्य, व्यापी, निरवयव है और व्यक्त जगत् अनित्य, अव्यापी तथा सावयव है।[6] पुरुष त्रिगुणात्मक जगत से परे, विवेकशील, असामान्य, चेतन अपुरुषधर्मी और अविषय है।[7] त्रिगुणात्मक

---

१. सान्तःकरण बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहतेयस्मात् ।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ।।३५।। —सांख्यकारिका

२. आत्म समवायादात्म गुणेषु ।।अध्याय ६।। आह्निक १ सूत्र १५ वैशेषिक

३. आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षे ज्ञानश्च भावोऽभावश्च मनसोलिंगम् ।
—वैशेषिक अध्याय ६—आह्निक १ सूत्र १०

४. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।।३।। समाधि पाद १ पातंजल योगदर्शन

५. दृष्टमनुमानमाप्तवचनंच सर्व प्रमाण सिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेय सिद्धिः प्रामाणाद्धि ।।४।। —सांख्यकारिका

६. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितंलिंगम्
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ।।१०।। —सांख्यकारिका

७. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यम चेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा चपुमान् ।।११।। —सांख्यकारिका

अव्यक्त प्रकृति के ही परिणाम से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति होती है। पुरुष केवल भोक्तृ-भाव से तथा कैवल्य प्राप्ति के लिए इस प्रकृति का संग करता है।[1]

अकर्त्ता पुरुष, अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न महत्तत्व के कारण से ही प्रवृत्त मार्गी हो जाता है। महत्तत्व का दूसरा नाम बुद्धि है। इसमें 'स्व' तथा 'पर' का भेद नहीं होता। इसका विकार अहंकार के द्वारा ही अहंता का बोध होता है। अहंकार तीन प्रकार का होता है। सात्विक, राजस और तामस। अध्यवसाय, बुद्धि, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य सात्विक अहंकार हैं इनसे प्रतिकूल धर्म तामस अहंकार है। राजस अहंकार को सांख्यकार ने तेजस अहंकार माना है।

पंचतत्व और तन्मात्राएँ तामस अहंकार से उत्पन्न होती हैं। मन का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों से है, अतः यह उभयात्मक माना गया है। दार्शनिक अनुभूति के लिए अन्तर्मुख हो साधना के मार्ग में बढ़ना होता है। यथा :

"बढ़ती ही जाती हूँ।
यातना कंटक पांव छाले करते हैं।
फिर भी प्रियतम की खोज में मैं चलती ही जा रही हूँ।
मेरा पथ अगम है, अनन्त है।
चलना ही मेरा एक मात्र लक्ष्य है—
चाहे पथ पर बटोही मिलें चाहे न मिलें।"[2]

इस प्रकार की साधना दृढ़ अभ्यास का फल है। निश्चय ही बहुत काल तक निरन्तर आदरपूर्वक सांगोपांग चित्त की स्थिरता का प्रयत्न करने पर अभ्यास दृढ़ होता है।[3] गीता में भी भगवान् ऐसी मनःस्थिति के लिए अभ्यास एवं वैराग्य साधन बताते हैं।[4]

निर्मल चित्त से इष्ट की प्रतीति होते देर नहीं लगती :

---

१. कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्चं।
परिणामतः सलिलवत्प्रति प्रतिगुणाश्रय विशेषात् ॥१६॥
संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१७॥ —सांख्यकारिका

२. 'उन्मुक्ति' पृ० ४४ शीर्षक —४२

३. सतु दीर्घ काल नैरन्तर्यसत्काराऽसेवितो दृढ़ भूमिः ॥१४॥
—योगसूत्र : साधनपाद योगदर्शन

४. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥६।३५—गीता

"मैं उन्हें ढूँढ़ने क्यों जाऊँ ? सखि !
वे आज मुझे यहीं मिल गये—
मन में !
मैं उन्हें मनाने क्या जाऊँ ? सखि !
वे आज सहसा मुस्करा उठे—
नयन में !
मैं उन्हें रिझाने क्यों जाऊँ ? सखि !
वे आज यहीं बँध रहे—
स्नेह बन्धन में ! [1]

"सत्य अनन्त है, अकल्पनीय है। अतः हम जो कुछ जान सकते, चाह सकते, हो सकते, वह एकांकी सत्य है। दूसरी दृष्टि से वह असत्य भी हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य वह नहीं।

इस स्वीकृति में से व्यक्ति को एक अनिवार्य धर्म प्राप्त होता है। उसको कहो प्रेम।" [2]

"यदि मूल में प्रेम की प्रेरणा नहीं है तो शिव और सुन्दर की समस्त आराधना भ्रांत है। सुन्दर और शिव की प्राप्ति के अर्थ यात्रा करने की पहली शर्त यह है कि व्यक्ति प्रेम-धर्म की दीक्षा पाए, उसका अभिषेक ले।

प्रेम कसौटी है। सुन्दर और शिव के प्रत्येक साधक को पहले उस पर कसा जायगा। जो खरा उतरेगा वह खरा है। खोटा निकलेगा वह खोटा है।" [3]

सत्य ध्येय से परे है। वह अमूर्तिक है। शिव और सुन्दर उसके ही मूर्तिमान स्वरूप हैं। सत्य, निर्गुण निराकार की अन्तिम सचाई है। यह मानव की उपासना में सगुण, स्वरूपवान शिव और सुन्दर हो जाता है। शिव और सुन्दर आलम्बन में ही रहते हैं।

अन्तर्दर्शन की विभिन्न कोटियाँ हैं। अहं की यत्किंचित् प्रतीति के साथ सत्ता की प्रतीति। अहं की एककालिक विस्मृति के साथ सत्ता की प्रतीति। अहं के अन्तरायवायी विस्मरण के साथ सत्तामयत्व का भान। हिन्दी गद्य-गीतों में इन सभी के रूप उपलब्ध हैं।

अहं की यत्किंचित् प्रतीति—

"अहा ! यही तो आनन्द है आनन्द, निरालम्ब आत्मानन्द, नित्यानन्द आनन्द

---

१. 'उन्मुक्ति' प्र० सं० शीर्षक ७५ शकुन्तलाकुमारी रेणु
२. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ६२ : जैनेन्द्र
३. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ६२ : जैनेन्द्र

अव्यक्त प्रकृति के ही परिणाम से व्यक्त जगत् की उत्पत्ति होती है। पुरुष केवल भोक्तृ-भाव से तथा कैवल्य प्राप्ति के लिए इस प्रकृति का संग करता है।[1]

अकर्त्ता पुरुष, अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न महत्तत्व के कारण से ही प्रवृत्त मार्गी हो जाता है। महत्तत्व का दूसरा नाम बुद्धि है। इसमें 'स्व' तथा 'पर' का भेद नहीं होता। इसका विकार अहंकार के द्वारा ही अहंता का बोध होता है। अहंकार तीन प्रकार का होता है। सात्विक, राजस और तामस। अध्यवसाय, बुद्धि, धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य सात्विक अहंकार हैं इनसे प्रतिकूल धर्म तामस अहंकार है। राजस अहंकार को सांख्यकार ने तेजस अहंकार माना है।

पंचतत्व और तन्मात्राएँ तामस अहंकार से उत्पन्न होती हैं। मन का सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों से है, अतः यह उभयात्मक माना गया है। दार्शनिक अनुभूति के लिए अन्तर्मुख हो साधना के मार्ग में बढ़ना होता है। यथा :

"बढ़ती ही जाती हूँ।
यातना कंटक पाँव छाले करते हैं।
फिर भी प्रियतम की खोज में मैं चलती ही जा रही हूँ।
मेरा पथ अगम है, अनन्त है।
चलना ही मेरा एक मात्र लक्ष्य है—
चाहे पथ पर बटोही मिलें चाहे न मिलें।"[2]

इस प्रकार की साधना दृढ़ अभ्यास का फल है। निश्चय ही बहुत काल तक निरन्तर आदरपूर्वक सांगोपांग चित्त की स्थिरता का प्रयत्न करने पर अभ्यास दृढ़ होता है।[3] गीता में भी भगवान् ऐसी मनःस्थिति के लिए अभ्यास एवं वैराग्य साधन बताते हैं।[4]

निर्मल चित्त से इष्ट की प्रतीति होते देर नहीं लगती :

---

१. कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्चं।
परिणामतः सलिलवत्प्रति प्रतिगुणाश्रय विशेषात् ॥१६॥
संघात परार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च ॥१७॥ —सांख्यकारिका

२. 'उन्मुक्ति' पृ० ४४ शीर्षक —४२

३. सतु दीर्घ काल नैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़ भूमिः ॥१४॥
—योगसूत्र : साधनपाद योगदर्शन

४. अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥६।३५—गीता

"मैं उन्हें ढूँढ़ने क्यों जाऊँ ? सखि !
वे आज मुझे यहीं मिल गये—
मन में !
मैं उन्हें मनाने क्या जाऊँ ? सखि !
वे आज सहसा मुस्करा उठे—
नयन में !
मैं उन्हें रिझाने क्यों जाऊँ ? सखि !
वे आज यहीं बँध रहे—
स्नेह बन्धन में ! [1]

"सत्य अनन्त है, अकल्पनीय है। अतः हम जो कुछ जान सकते, चाह सकते, हो सकते, वह एकांकी सत्य है। दूसरी दृष्टि से वह असत्य भी हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य वह नहीं।

इस स्वीकृति में से व्यक्ति को एक अनिवार्य धर्म प्राप्त होता है। उसको कहो प्रेम।" [2]

"यदि मूल में प्रेम की प्रेरणा नहीं है तो शिव और सुन्दर की समस्त आराधना भ्रांत है। सुन्दर और शिव की प्राप्ति के अर्थ यात्रा करने की पहली शर्त यह है कि व्यक्ति प्रेम-धर्म की दीक्षा पाए, उसका अभिषेक ले।

प्रेम कसौटी है। सुन्दर और शिव के प्रत्येक साधक को पहले उस पर कसा जायगा। जो खरा उतरेगा वह खरा है। खोटा निकलेगा वह खोटा है।" [3]

सत्य ध्येय से परे है। वह अमूर्तिक है। शिव और सुन्दर उसके ही मूर्तिमान स्वरूप हैं। सत्य, निर्गुण निराकार की अन्तिम सचाई है। यह मानव की उपासना में सगुण, स्वरूपवान शिव और सुन्दर हो जाता है। शिव और सुन्दर आलम्बन में ही रहते हैं।

अन्तर्दर्शन की विभिन्न कोटियाँ हैं। अहं की यत्किंचित् प्रतीति के साथ सत्ता की प्रतीति। अहं की एककालिक विस्मृति के साथ सत्ता की प्रतीति। अहं के अन्तरायवायी विस्मरण के साथ सत्तामयत्व का भान। हिन्दी गद्य-गीतों में इन सभी के रूप उपलब्ध हैं।

अहं की यत्किंचित् प्रतीति—

"अहा ! यही तो आनन्द है आनन्द, निरालम्ब आत्मानन्द, नित्यानन्द आनन्द

---

१. 'उन्मुक्ति' प्र० सं० शीर्षक ७५ शकुन्तलाकुमारी रेणु
२. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ६२ : जैनेन्द्र
३. साहित्य का श्रेय और प्रेय, पृ० ६२ : जैनेन्द्र

ही आनन्द है। कर्म वृक्ष का कोमल मधुर फल है यह, साधन कुसुम की सुवासित सुधा है यह, जीवन का सच्चा सर्वस्व है यह, नर-जन्म सार्थक करनेवाली अमृतधारा है यह। [1]

सत्ता के साक्षात्कारजन्य आनन्दानुभूति के क्षणों में, अहं के क्षीण स्मरण बने रहते हैं। इसी से गुह्य एवं इहातीत की प्रतीति आह्लादकारी होती है। इसके बाद की अवस्था हाल या वेसुधी की होती है।

अहं की एककालिक विस्मृति के साथ सत्ता की प्रतीति :—

"न शीत है, न उष्ण, न इधर है न उधर, कहना व्यर्थ है। अब अप्रकट कुछ नहीं, प्राप्त कुछ नहीं। महान् कुछ नहीं। किसी का अस्तित्व नहीं दीखता। केवल मैं हूँ। मैं वही हूँ। यह वही है। यही है वह।" [2]

इस स्थिति में 'मैं वही हूँ' यह प्रतीति कुछ काल तक रहती है। फिर 'मैं' की प्रतीति 'वह' का रूप ले लेती है।

अहं के अन्तरायवायी विस्मरण के साथ सत्तामयत्व का भान—

सतत निरन्तर प्रवहमान अविच्छिन्न साधना एवं विद्याभ्यास द्वारा जिस बोध ने अविद्या को जीत लिया, अविद्याजनित संसर्ग से वह क्षुब्ध नहीं होता।[3] ज्ञान से वाधित अविद्या, व्यवहार में लगे हुए ज्ञानी को, तत्व बोध के कारण विक्षेपकारिणी नहीं होती। उदाहरण के लिए निम्नांकित गीत दिये जाते हैं—

"पयस्विनी की निर्मल धार कलकल करती उत्तंग गिरि शृंगों को पावन करती, झाड़, झंखाड़, खल्वाटमय मार्ग, नदी-नालों से मिलती आगे बढ़ी। सामने देखा तो मरुभूमि है। फूट पड़ी सहस्र धारायें मरुभूमि में। दिग्दिगन्त में व्याप्त हो गई जलराशि। मरुभूमि के भाग्य जग उठे थे।" [4]

वाट्सडंटन ने अभिव्यक्ति को रूप द्वय में विभाजित किया है, प्रथम आत्म-परायण, दूसरी निरपेक्ष। आत्म-परायण प्रवृत्ति की आपेक्षिक दृष्टि होती है और नाटकीय की निरपेक्ष। आपेक्षिक में आत्मभाव प्रबल होता है और निरपेक्ष होती है मुक्त अवाध। एक में अचिरकालीन तन्मयीभवनयोग्यता रहती है तो दूसरे में प्रबन्ध-

१. 'अन्तरात्मा' से पृ० ६६ शीर्षक ६०

२. 'अन्तस्तल' मुक्ति पृ० ७०

३. आदायविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृम्भणया
युद्धा बोधो जयत्सोद्य सुदृढोबाध्यतां कथम् ॥२८१॥ पञ्चदशी तृप्तिदीप प्रकरण ७

४. शैशवरागिनी—पृ० २७
यह प्रवन्धकार की अपनी अप्रकाशित कृति है।

कालीन प्रवाह एवं रमणीयता। पर विषय एवं विषयी के बीच कोई ऐसी सीमा-रेखा खींचना सरल नहीं है। व्यक्ति के बोधतत्व से अहं का प्रसार होता है।

स्वामित्व, स्वार्थ तथा एकाधिकार की भावना से युक्त अपनी सृष्टि, सीमित सुख तथा आत्यान्तिक दुःख की विधायिका है। जब हमारा अहं अपनी तथा विश्व-सृष्टि के बाह्य में, दो को भूलकर आन्तरिक ऐक्य में स्थित होता है, तो अन्तःकरण की प्रसारवत्ता के कारण आनन्द-स्थिति में दृढ़ता, घनत्व, आवेग तथा व्यापकता आ जाती है। बुद्धि के माध्यम से इस ज्ञान में दार्शनिकता आती है और हृदय के माध्यम से भावुकता। प्रथम का दृष्टिकोण दार्शनिक होता है, दूसरे का रहस्यवादी। अहं की प्रधानता भले ही उसका लक्ष्य बहुजन हिताय हो, पूर्ण भौतिकतावादी दृष्टिकोण उत्पन्न करता है। इस भौतिक दृष्टिकोण की सृष्टि परिवेश, वातावरण तथा संस्कार-विशेष से होती है। इसमें इन्द्रियाँ बाह्य सुखों की ओर आकृष्ट होती हैं। ऐसा व्यक्ति बहिर्मुखी होता है और स्थूल जगत् के प्रलोभनों की ओर अधिक खिंचता है। सुख की कल्पना जो भी वह बना लिया हो उसको वह यथार्थ में परिणत करना चाहता है। ऐसे व्यक्तियों की बुद्धि रजप्रधान होती है, अतः वे जीवन के तत्वों की सूक्ष्म विवेचना की ओर ध्यान नहीं देते, वे थोड़े से पुरुषार्थ से अधिक की प्राप्ति चाहते हैं। वह भी अधिक की मापतौल की उनकी अपनी दृष्टि होती है। स्थूल बुद्धि में अधिक की माप-तौल की शक्ति स्थूलता से युक्त होती है, सूक्ष्म लाभों तक उनकी दृष्टि नहीं जाती। यदि ऐसी ही धारणा-शक्ति साहित्यकार में भी आ गई तब तो साहित्य की अधोगति होने लगती है। क्योंकि फिर तो साहित्य का ध्येय महत्तम नहीं रहता, क्योंकि उसमें मानव जीवन की विकृत गाथा एवं असन्तुलित चरित्रांकन रहता है जिससे पाठकों में उच्छृङ्खल तथा अस्वास्थ्यकर भावनायें भर जाती हैं।

ईश्वर का स्वरूप—विभिन्न शक्तियों के रूप में प्रकाशित वह अचिन्त्य शक्ति वैदिक काल में एक व्यक्तित्व लेकर प्रकट हुई है :—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

—ऋग्वेद १०-१२१-१

यह हिरण्यगर्भ (भूतों पंच महाभूत, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) का, साथ ही, समस्त प्राणियों का जनक था । एक वही स्वामी था, वही इस पृथ्वी और आकाश को धारण किए हुए था । वह सत्य, ऋतु तथा तप था ।[१] वह निराकार भी था साकार भी था । अकाय, अव्रण, अस्नाविर तथा कवि मनीषी, सर्वव्यापक स्वयंभू[२] दोनों प्रकार के ईश्वर-विषयक, अगुण तथा सगुण विचार वेदों में मिलते हैं ।

शुद्ध माया में पड़े हुए परब्रह्म के बिंब की संज्ञा ईश्वर दी गई है ।[३] वह बाहर-भीतर दोनों ओर प्रज्ञावाला नहीं है, उसकी प्रतीति ही उसका प्रमाण है, उसमें प्रपंच का सर्वथा अभाव है । वह सर्वथा शान्त कल्याणमय अद्वितीय है ।[४] वह समस्त नित्य-चेतन आत्माओं का भी नित्य चेतन आत्मा है ।[५] वह वायु रूप से समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है । वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म[६] और महान से भी महान है ।[७]

वह शक्ति अकल, अनीत, अनाम' अद्वय, अरूप, ब्रह्म की संज्ञा से सर्वप्रथम विभूषित है'।

वह भगवान नारायण परं ज्ञान हैं वही परागति हैं[८] वह विराट पुरुष सर्व-

---

१. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत—ऋ० ८-८-४८

२. अकायमव्रणं अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः —यजुर्वेद ४०।८

३. सत्व शुद्ध्यविशुद्धिभ्यां माया विद्येचतेमते ।
माया विंबो वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वर : —तत्वविवेक प्रकरण १।१६ पंचदशीः

४. नान्तः प्रज्ञं न वहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञान घनं न प्रज्ञं नाप्तम्
शिवद्वैतं चतुर्थमन्यनो स आत्मा सविज्ञेयः —माण्डूक्योपनिषद् ७

५. कठ—द्वितीय अध्याय, द्वितीय वल्ली—१३

६. कठ—द्वितीय अध्याय द्वितीय वल्ली १०

७. अणोरणीयान्महतो महीयान्—कठ—प्र० अध्याय द्वि० वल्ली श्लोक २०

८. नारायणं परं ज्ञानं नारायण परागतिः—श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्ध अध्याय ५।१६

लोकमय है, उसके चरणों में पृथ्वी, नाभि में भुवर्लोक और सिर में स्वर्लोक है।[1] ब्रह्म का यह सविशेष रूप है।

सृष्टि-प्रसार के कार्य से वे ब्रह्मा-रूप धारण करते हैं, पोषक कार्य से विष्णु-रूप तथा संहार कार्य से शिवरूप। भगवान के ये तीनों रूप सादि और सान्त हैं। वैसे तो वे तीनों कालों में सत्य एवं परिपूर्ण हैं, न उनका आदि है न अन्त। वे तीनों गुणों से रहित, सनातन एवं अद्वितीय हैं। वह परमात्मा सर्वज्ञ हैं।[2] उसी में सुखादि भोग की विचित्रता नहीं है। यह तो अल्पज्ञ जीव में है।

जीव का स्वरूप-मलिन अविद्या में परब्रह्म का बिम्ब जीव की संज्ञा प्राप्त करता है। यह जीव प्रति शरीर में भिन्न, नित्य तथा विभु[3] है। भारतीय मनस्वियों के द्वारा जीव विषयक विचार इस प्रकार हुआ है :

(१) **विवर्तवाद**—जीव में जीवत्व अध्यस्त है।

(२) **द्वैतवाद**—जीव-नित्य, विभु तथा शाश्वत है।

(३) **शून्यवाद**—जीव प्रकृति का संघात है।

(४) **द्वैताद्वैतवाद**—जीव चित् सत्ता का अंश है।

(५) **एकेश्वरवाद**—जीव की उत्पत्ति ब्रह्म की प्रेरणा से हुई है।

(६) **विशिष्टाद्वैतवाद**—चित अचित् या सत्चित्-विक्षिष्ट ईश्वर का शरीर जीव है।

(७) **विशुद्धाद्वैतवाद**—जीव ईश्वर-रूप ही है।

(१) **विवर्तवाद**—भगवान् शंकराचार्य के विचार से अद्वय तत्व ही अविद्या-शक्ति के द्वारा जीव और जगत् के रूप में प्रतिभासित हो रहा है। क्योंकि संसार असत् है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और सत् सर्वकालिक है, उसके उत्पन्न होने की बात ही नहीं उठती है। अतः सृष्टि भ्रान्ति है, स्वप्नवत् है। ब्रह्म ही जगत् में अनस्यूत है, फिर भी न जानकर यह प्रश्न होता है।

"तुम कौन हो ? कहाँ हो ?

मेरे हृदय के गुप्त अन्तस्तल में बैठे हुए क्या तुम्हीं मेरे भावों का मन्थन कर रहे हो ?

---

१. भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः।
स्वर्लोकः कल्पितोंर्भूर्ध्ना इतिवालोक कल्पना। —भागवत, द्वि० स्कंध अ० ५।४२

२. तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एकएव तर्क संग्रह—पृ० १३ न्यायबोधिनी टीका।

३. जीवस्तु प्रति शरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च—पृ० १३—वही।

मेरी आत्मा के गूढ़ अन्तर में छिपे हुए क्या तुम्हीं मेरे विचारों का नियंत्रण कर रहे हो ?
मेरी वाणी के हलके परदे में उतरकर क्या तुम्हीं मेरे वचनों को कोमल बना रहे हो ?
मेरी लेखनी के अग्रभाग से खिसककर क्या तुम्हीं मेरी कविता में सौन्दर्य भर रहे हो ?
तुम ? कौन हो ? कहाँ हो ?"[१]

बुद्धि सदा सत्, असत्, सदसत् और सदसद्भिन्न इन चार कोटियों में लिप्त रहती है। अस्ति, नास्ति, उभय और नोभय, चल, स्थिर आदि कोटि से चतुष्टय से रहित आत्मतत्व स्वानुभूति का विषय है। ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय के परे ही विशुद्ध ज्ञान है। वस्तुतः जगत् ही तत्व है, क्योंकि अद्वय तत्व ही अविद्या शक्ति के द्वारा जीव और जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है। द्वैत अविद्या-कृत है। अविद्या की आवरण एवं विक्षेप शक्तियों के हट जाने पर चित्त परिनिष्पन्न परमार्थ ब्रह्मस्वरूप हो जाता है तब एक अनिवर्चनीय सुख-दुःख द्वन्दातीत परमानन्द की प्राप्ति होती है, जिसे निर्वाण कहते हैं।[२] पर यह अनुभूति एकाएक नहीं हो जाती। पहले कुछ ही क्षण के लिये होकर मिट जाती है। आत्म-प्रकाश धीरे-धीरे आता है। वह भी जब साधन की अन्तिम स्थिति होती है। देखिये :

"मैं एक शान्त पथिक हूँ।
अब मेरे मार्ग पर प्रकाश की छाया पड़ने लगी है। ज्यों-ज्यों मैं आगे बढ़ता हूँ मेरी थकान दूर होती जाती है।
अब मुझे प्रज्वलित दीप-शिखा स्पष्ट दिखाई देती है।"[३]

इसके आगे गद्य-काव्यकार कहता है, 'ज्यों-ज्यों मैं तुम्हें खोजने के लिये आगे बढ़ता हूँ मुझे स्वयं अपने खो जाने का भय हो जाता है।' यही तो कबीर ने कहा है 'तूँ तूँ करता तूँ भया मुझमें रही न हूँ।' वास्तव में तत्व अद्वय, अनादि, अनन्त, सविकल्प द्वारा अगम्य नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मस्वरूप है। इसके ज्ञान से आवागमन से मुक्ति मिलती है।[४] सविकल्प बुद्धि द्वारा नेति-नेति के रूप में ही उसका निर्वाचन हो

१. शीर्षक 'तुम'—पृ० ३३ 'सोने से पहले' : 'मानव'
२. माण्डूक्य कारिका ३।४६
३. 'सोने के पहले' —शीर्षक आश्चर्य, पृ० २२
४. कठ० १।२।२३

सकता है क्योंकि वह बुद्धिगम्य नहीं है। इस विषय में मौन ही सर्वोच्च दर्शन है।[१] यह व्यष्टि की जाग्रत स्वप्न, सुषुप्ति तथा समष्टि की विश्व, तेजस और प्राज्ञ सभी अवस्था त्रय का द्रष्टा है और इनसे अतीत व्यष्टि का तुरीय और समष्टि का अभाव है। जगत् आत्मतत्व का ही अविद्या-कृत विवर्त है। अविद्या प्रेयस है, विद्या श्रेयस। अविद्या की अनित्यता का ज्ञान होने पर कवि की वाणी बोल उठती है :

"संसार के झूठे संगीतो ! अपनी तानों को रोक दो,
जिससे मैं जीवन का अनन्त संगीत सुन सकूँ।"[२]

गीता में भगवान् उस परम तत्व को बुद्धि से परे बतलाते हैं।[३] उस परम तत्व की शक्ति से ही अखिल ब्रह्माण्ड प्रकाशित हो रहा है। कठोपनिषद् में नचिकेता को यमराज ने यही बताया है। वह 'ज्योतिषां-ज्योति' है। बुद्धि उसके विषय में यहीं तक सोच सकती है। 'वह सब की अवधि सब की गति है।'[४] जिस विज्ञाता के द्वारा यह सब कुछ जाना जाता है उस विषयी विज्ञाता को विषय-रूप में कैसे जाना जा सकता है।[५] इसीलिये 'मानव' जो 'सोने से पहले' में कहते हैं :

"शलभ दीपक के लिए विकल है, पर दीपक किसके लिए जलता है यह मैं नहीं जान पाया।
चातक मेघों को पुकारता है, पर मेघ किसके लिए रोता है, इसका ज्ञान मुझे नहीं है।
चकोर चन्द्रमा की निकटता के लिए तरसता है, पर चन्द्रमा किसकी आकुल खोज में है यह मैं कभी न खोज पाऊँगा।
नद समुद्र के चरणों को स्पर्श करने के लिए उतावला हो रहा है, पर समुद्र किसके लिए कराहता है, इसका अनुमान मैं नहीं लगा सकता।[६]

वह परम ब्रह्म उसको ही प्राप्त होता है जिसके हृदय में उसके साक्षात्कार की उत्कट इच्छा है।[७] उत्कट इच्छा के द्वारा भी वह एक-दो दिन में नहीं जाना जा

---

१. बृ० २।४।१४
२. मानव विप्लवगीत, पृ० २७ : 'सोने से पहले'
३. बुद्धे परतस्तुसः तृतीय अध्याय ४२ श्लोक गीता
४. साकाष्ठा सापरा गति—कठ० प्र० अध्याय तृतीय वल्ली ११ श्लोक
५. विज्ञातारमरे। केनविजानीयात्—बृ० २।४।१४
६. पृ० २५—आशंका—'सोने से पहले'
७. यमैवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्—
कठ० प्र० अध्याय द्वि० वल्ली २३

सकता। इसलिये कवि कहता है :—

"हमारा जीवन एक रात है—अमा की रात।
मेरे तुम्हारे बीच में दूरी की सरिता बहती है।
हम तुम दो नगरों के दो किनारों पर चकवा-चकवी से जगते हैं।"[१]

श्रुति भगवती जीवों को इसीलिये सावधान करती है कि हे जीव ! उठो, जागो, महापुरुषों की कृपा से मार्ग ज्ञात करो। उसके मार्ग पर चलना, छुरे के धार पर चलना है।[२] अनुभवी महापुरुषों के द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने से वह शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। जब महापुरुषों के महावाक्यों का चिंतन होने लगता है तब आंख का पर्दा खुलता है और ये भाव आते हैं :

"अन्धमति हूँ मैं, सत्य ज्ञान शून्य हूँ मैं प्रभु ! हमेशा अहं की पीठ पर आरूढ़ होकर अवलोकन करनेवाला अज्ञानी हूँ मैं। प्रभु, 'अहम' भाव के दुर्दम, दुःख से मेरा, अपना कहते हुए दिन-रात हैरान हो रह हूँ।"[३]

तत्व का बाधक, जीव का मन, विक्षेप तथा आवरण है। यह मायाजन्य अज्ञान का प्रतिफल है। इनका निराकरण धीरे-धीरे होता है। ज्ञानालोक की अंशतः अनुभूति होने पर माया का व्यापार साधक को आकुल कर देता है और वह कहने लगता है :

"हृदयेश, तुम्हारी तथा मेरी प्रेम-लीला के बीच आनेवाले ये कौन हैं ?
दिन-रात मेरे पीछे पड़कर मुझे मोहित करने की कोशिश में लगे हैं। तुम्हें भुलाकर, दूर हटाकर, स्वयं मेरे अन्तरंग में घर बसाना चाहते हैं। उन्हें मैं नहीं चाहता। तुम्हारी छाया तक मैं उनमें नहीं देख पाता।"[४]

जगत् के बन्धनों से दुख की प्रतीति भगवत मार्गी को उस समय तक होती रहती है जब तक पूर्ण अहं का तिरोभाव नहीं हो जाता। पूर्ण अहं के तिरोभाव हो जाने पर प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह आदि के प्रति प्रिय तथा अप्रिय भाव नहीं रह जाता। ऐसा व्यक्ति गुणातीत कहा जाता है।[५]

---

१. पृ० ६ 'सोने से पहले'
२. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
 क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तकवयोवदन्ति
 —कठ० प्र० अ० तृतीय वल्ली १४
३. 'अन्तरात्मा' से पृ० २० शीर्षक २१ : रंगनाथ दिवाकर
४. शीर्षक ४१ 'अन्तरात्मा' से पृ० ३८
५. प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
 न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥
 उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
 गुणा वर्तन्त इत्येव यो वतिष्ठति नेंगते॥ २३ गीता अध्याय १४॥

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक ब्रूनो ने समस्त जड़-चेतनमय विश्व को ईश्वर के रूप में भासित होते हुए माना। उनका दर्शन इस प्रकार है। विश्व ईश्वर के अन्तर्गत है। अनिवर्चनीय एवं अचिन्त्य ईश्वर का साक्षात्कार निर्विकल्प अनुभूति द्वारा ही हो सकता है। ब्रूनो चैतन्य के अतिरिक्त और कोई तत्व स्वीकार नहीं करते। इनकी दृष्टि में इससे ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और तिरोधान है। सृष्टि में जो चेतन व्याप्त है उसको ब्रूनो ने चेतन अणु चिदणु या जीवाणु नाम दिया है। ये जीवाणु ईश्वर के आभास मात्र हैं। स्पिनोजा ने ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों मानकर देकार्त के देहात्म क्रिया, प्रतिक्रियावाद का स्वरूप बदल दिया है। इनकी दृष्टि में ईश्वर के तीन रूप हैं। विश्व, विश्वात्मा तथा पर। "शंकराचार्य के समान उन्होंने व्यवहारिक जगत् की सत्ता स्वीकार की है और परमार्थिक क्षेत्र में उसे विवर्त माना है[1]। इन्होंने यह बतलाया है कि इन्द्रियानुभव से सत्य का स्थूल आवरण मिलता है। संश्लेष्णात्मक ज्ञान सीमा से भूमा की ओर ले जाता है। नहीं तो इस प्रकार के भाव आते हैं।

"सदैव समीप रहते हुए भी मैं तुम्हें दूर क्यों समझता हूँ? क्या तुमने मुझे ऐसा विश्वास करा दिया है? नहीं, अपनी भूल से मैं ऐसा समझ बैठा हूँ।"[2] आत्मज्ञान द्वारा मिथ्या ज्ञान, दोष-राग द्वेष, प्रवृत्ति कर्म, पुनर्जन्म दुःख के क्रमशः निवृत्त हो जाने पर अपवर्ग मोक्ष की प्राप्ति होती है।"[3]

"न भोग से, न सांख्य से, न कर्म से, न विद्या उपासना से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मोक्ष तो केवल ब्रह्म आत्मा के एकत्व ज्ञान से ही सिद्ध होता है। मोक्ष सिद्धि का अन्य कोई साधन नहीं है।"[4]

अद्वैतवाद का ही रूपान्तर शंकराचार्य ने विवर्तवाद किया है। अद्वैत वेदान्त पदार्थ की तीन सत्ताएँ स्वीकार करता है। व्यावहारिक, प्रतिभाषिक तथा पारमार्थिक।

व्यावहारिक सत्ता जीव के जन्म-मरण, बन्ध-मोक्ष आदि व्यवहार को सिद्ध करती है।

प्रातिभासिक सत्ता में केवल विषय की प्रतीति होती है, पदार्थ की स्वतंत्र सत्ता नहीं होती।

---

१. दे० पाश्चात्य दर्शन पृ० १०६, चंद्रधर शर्मा

२. 'साधना' शंका शीर्षक पृ० ४८ चतुर्थ सं०

३. दुःखजन्य प्रवृत्ति दोप मिथ्या ज्ञाना ना मुत्तरोत्तरापापे, तदन्तरा पायादपवर्गः न्याय सूत्र ।१।१।२।

४. न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्य था॥ —विवेक चूड़ामणि। ५८।

पारमार्थिक सत्ता की स्थिति में केवल अखण्ड चिन्मात्र परमार्थ सत्ता अनुभूत होती है, जगत् का भान नहीं रहता। जगत् की, सुषुप्ति समान विस्मृति होती है। यथा उपरति की पराकाष्ठारूप निर्विकल्प समाधि, तुर्या अथवा तुर्यातुर्या अवस्था में। अखण्ड, अद्वय की प्रतीति के लिए ज्ञान की सात भूमिकाओं[1] को पार करना होता है। इन भूमिकाओं का वर्णन वेदान्त ग्रंथों[2] में भरा पड़ा है।

(२) **द्वैतवाद**—मीमांसक तथा नैयायिक द्वैतवादी हैं। मीमांसक कर्म के द्वारा सुख की कल्पना करते हैं। नैयायिक तर्क द्वारा सत वस्तु की व्याख्या करते हैं। सांख्य सत्कार्यवादी है। इनके अनुसार नित्य, अव्यक्त प्रकृति व्यक्त जगत् के रूप में परिणत होती है। प्रकृति का कार्य, जगत् सत् है उसका आविर्भाव तथा तिरोभाव भर होता है। कारण से ही कार्य होता है। योग के अनुसार प्रकृति परिणामी है, फिर भी वह अनादि और नित्य है। मुक्त पुरुष के लिये वह अदृश्य हो जाती है। योग के सिद्धान्त में किसी वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं है। सर्वथा निर्विकार, असंग, चेतन पुरुष का, जड़ प्रकृति से सम्बन्ध अनादि सिद्ध अविद्या से वास्तव में नहीं है। जब आत्म-दर्शन रूप ज्ञान से, अविद्या का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब अज्ञानजनित संयोग का भी अपने आप अभाव हो जाता है। फिर प्रकृति का पुरुष से सम्बन्ध नहीं रहता और जन्म-मरण आदि दुःखों का अत्यंताभाव हो जाता है, तथा पुरुष को कैवल्य अवस्था की प्राप्ति हो जाती है।[3] योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने से चित्त निर्मल हो जाता है और योगी मन बुद्धि, अहंकार तथा इंद्रियों से आत्मा की पृथक सत्ता का अनुभव करता है।[4] यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के ये आठ अंग हैं।[5] हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन इनसे वासनाओं का संग्रह होता है। इनका अभाव होने से उनका भी अभाव हो जाता है।[6] यदि कुछ काल तक इनका अभाव रहा, फिर न रहा तो यही स्थिति होती है :—

"पथिक कल तो तुम सुन्दरता, स्वच्छता, स्वाभाविकता और सादगी की प्रतिमूर्ति से प्रतीत होते थे। तुम्हारे दर्शन मात्र से ही यह ज्ञात हो जाता था

---

१ शुभेक्षा, विचारणा, तनुमानसी, सत्वापत्ति आसंसक्ति पदार्थभावनी तुर्या।

२. मुण्डक ३।१।४।, अक्ष्युपनिषद् ४।४१, अन्नपूर्णोपनिषद् ५।८१-९०, योगवासिष्ठ ४-१३, १५-१८, २०-२२, ५८-६०, ६२-६५, ६६-६९, ७१-७३, ६, ७, ८-१०, १-८, महोपनिषद् ५-२७-३५।

३. तद्भावात्सयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।२५। साधन पाद-२। योगदर्शन

४. योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।२८। साधन पाद २। वही

५. यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणाध्यान समाधियोऽष्टावंगानि।

६. हेतुफलाश्रयालम्बनैः संग्रहीतत्वा देषामभायेतद्भावः। ११। कैवल्य पाद ४। वही

कि तुममें ईश्वर-महिमा स्मरण का भाव जाग्रत है। एकाग्रता तुम्हारे सामने हाथ जोड़े खड़ी थी। तुम्हारे शब्द स्वर्गीय थे। नहीं! नहीं! तुम्हीं स्वर्गीय थे। हा! आज कैसा भारी परिवर्तन हो गया? तुम सांसारिक प्रलोभनों के शिकार हो गये।"[1]

आत्मज्ञान का मार्ग सरल नहीं है। इसीलिए उसे सावधान होने की आवश्यकता है। देखिये :

"पथिक तुम्हें बड़े टेढ़े रास्ते से जाना है।

यदि तुम्हें निर्दिष्ट मन्दिर तक पहुँचना है तो इसके सिवा अन्य मार्ग नहीं।

देखो! यदि तुम्हें मुक्त होने की अभिलाषा है तो तुम्हें सिद्धियों का लोभ संवरण करना पड़ेगा।

और पथ में मार सेना का अत्याचार सहने को प्रस्तुत रहना पड़ेगा।

सिंहासन पर तुम अशुल्क नहीं बैठ सकते, तुम्हें उसका मूल्य अवश्य देना होगा।

यदि तुम्हें उस पद की आकांक्षा हो तो तुम्हें इन सब के लिए सन्नद्ध रहना चाहिये।"[2]

योगशास्त्र ने योगी के मार्ग के विघ्नों का निर्देश किया है, अतीत का ज्ञान[3], सब भूतों की वाणी का ज्ञान[4], पूर्वजन्मों का ज्ञान[5], दूसरे के चित का ज्ञान[6], अन्तर्ध्यान होना[7], मृत्यु का ज्ञान[8], अमित बल[9], दूरदेश का ज्ञान[10] तथा समस्त लोक का ज्ञान[11] हो जाता है। पुरुष का ज्ञान होने से योगी में प्रातिम, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ये ६ सिद्धियाँ प्रकट होती हैं।[12] मुक्ति की आकांक्षावाले साधक को इनसे बचना चाहिए। उपर्युक्त गद्य-गीति में इसी ओर संकेत हैं।

---

१. 'कल्याण' चैत्र कृष्ण ११, १६८५ ब्रह्मचारी इंद्र शास्त्री
२. 'चेतावनी' प्रभा, जून १६२२
३. विभूति पाद ३-१६ : योगदर्शन
४. विभूति पाद ३-१७
५. विभूति पाद ३-१८
६ विभूति पाद ३-१६
७. विभूति पाद ३-२१
८. विभूति पाद ३-२२
६. विभूति पाद ३-२४
१०. विभूति पाद ३-२५
११. विभूति पाद ३-२६
१२. विभूति पाद ३-३६

पाश्चात्य दार्शनिकों में रेने देकार्त द्वैतवाद के समर्थक हैं। सत्य की सार्वभौमता, सहजता, अवाधिता और निश्चयात्मकता देकार्त्त को मान्य है किन्तु इस सत्य को प्राप्त करने का साधन संदेह है। स्वतः सिद्ध ज्ञाता की स्व प्रकाशता का प्रतिपादन देकार्त्त के स्थान का मूलाधार है। द्रव्य गुण और पर्याय उनके तीन पदार्थ-विभाजन हैं। जगत् को देखकर जीव के मन में सन्देह उठता है। क्या वास्तविक सुख जगत् में नहीं है? वह इसकी छान-बीन करता है उसके मन में प्रश्न उठते हैं :

"हृदय-सर में पद्मराग ढालनेवाला, कुसुम-कुंज पर गुंजन करके अनुराग के अश्रु मुक्ता बिखेरनेवाला—कहाँ है, कहाँ है वह सौन्दर्य ? किस ओर है, वह सौन्दर्य ?" [1]

जगत् के संबन्ध से प्राप्त सुख को संसारी जीव पदार्थ जन्य ही मानते हैं, पर कवि का दृष्टिकोण निराला होता है। देखिये :

"सूर्य की किरणों ने बादलों को रंगीन कर दिया था। वे अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रहे थे। दर्शकों ने उसे बादलों का ही रंग माना। सूर्य के शक्ति की वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। वे कितनी भ्रान्ति में थे।" [2]

द्वैत की सत्ता का अभाव साधक को सहसा सर्वकालिक नहीं होता। द्वैत का सर्वकालिक अभाव दीर्घ काल की साधना का फल है। किसी भी काल में यदि द्वैत भावना हट जाती है तो परम प्रकाश की उपलब्धि हो जाती है, पर संसार के संसर्ग में आने से पुनः वही स्थिति हो जाती है। देखिये :

"निशा की कालिमा भाग चुकी थी। फिर भी मैं सो रहा था। सहसा रवि-किरणें मेरे कक्ष में प्रविष्ठ होने लगीं। उसके प्रकाशपुंज से नेत्र खुल गये। देखता हूँ कक्ष की प्रत्येक वस्तुयें उचित ढंग से रक्खी हुई हैं। मुझे आश्चर्य होने लगा कि इनको इस प्रकार सजाकर किसने रक्खा है। रखने में क्या ही सुघराई तथा लावण्यता एवं सादगी विराजती थी। देखकर मन मुग्ध हो गया। धीरे धीरे मेरे मित्रों का कक्ष में प्रवेश होने लगा। उन्हें मेरे कक्ष की साज-सज्जा अरुचिकर प्रतीत हुई। उन्होंने उसे अपने ढंग से सजाने का उपक्रम किया। मेरे मना करने पर भी वे न माने। मैं चुप ही रहा प्रतिरोध न कर सका, क्योंकि मैंने उन्हें मित्र मान रक्खा था। मेरा कक्ष उनके हस्तपक्षेप से सौन्दर्यहीन हो गया। वे चले भी गये। अब मैं पुनः प्रतीक्षा में हूँ। देखें वह दिन कब आता है जब मेरा कक्ष पहले की तरह सुसज्जित हो जायगा।" [3]

---

१. मई १९३० 'हंस' गुजराती कवि—दावालाल के विचार

२. शीर्षक १३४—शैशवरागिनी अप्रकाशित रचना

३. शीर्षक १३२—शैशवरागिनी

(३) **शून्यवाद**—शून्यवाद को दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में नागार्जुन ने प्रतिष्ठित किया है। शून्यवादी अपने को माध्यमिक मानते हैं, यह मध्यम मार्ग अरस्तू के 'स्वर्णिम मध्यम' (Golden mean), हीगले के सम्पक्ष (Synthesis) तथा वेदान्त के समन्वय की भाँति है। यह सत् असूत, शून्य-अशून्य, भाव-अभाव, पुण्य-पाप आदि समस्त द्वन्दों में अंतर्यामी रूप से व्याप्त रहता है। उनको जीवन और ज्योति देता है। उनका आधार और अधिष्ठान है, फिर भी उनसे विलक्षण है। संसार के लिए प्रयुक्त, शून्य शब्द का अर्थ है, प्रतीत्य समुत्पन्न या स्वभावशून्य, निर्वाण के लिए इसका प्रयोग अद्वय तत्व या प्रपंचशून्य के अर्थ में लेना चाहिए। स्कन्ध पुद्गल, वोधिसत्व, महायान, प्रज्ञापारमिता यहाँ तक कि स्वयं बुद्ध और निर्वाण—जहाँ तक वे बुद्धिग्राह्य हैं—अंत में मिथ्या और स्वभावशून्य सिद्ध होते हैं। यदि निर्वाण से भी विशिष्ट कोई अन्य पदार्थ बुद्धि द्वारा सोचा जा सके तो वह मिथ्या होगा।[१] बुद्धि द्वारा विवेचित सब पदार्थ स्वप्नवत् प्रतिबिम्बवत्, मायावत्, स्वभावशून्य है।[२] लंकावतार[३], ललितविस्तर[४] समाधिराग[५] एवं सुवर्णप्रभास[६] सूत्र सभी बुद्धिग्राह्य धर्मों को असत्य बतलाते हैं।

विषयी, विषय, उनका सम्बन्ध, कर्म और फल, दिक् और काल, भूत-भविष्य-वर्तमान सब असत्य हैं। क्लेश, कर्म, देह, कर्त्ता-भोक्ता, फल आदि गन्धर्वनगर मृग-तृष्णा तथा स्वप्न के समान है।[७]

आचार्य आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति और शांतिदेव इसी प्रकार समस्त जगत्प्रपंच को असत सिद्ध करते हैं।

ध्यानचतुष्ट्य[८], समाधित्रय,[९] एवं भूमि दशक[१०] के द्वारा सविकल्प बुद्धि निर्विकल्प ज्ञान में परिणत हो जाती है।

---

१. यदिनिर्वाणादप्यन्यः कश्चिद्धर्मो विशिष्टताः स्यात् तमप्यहं
मायो दमं स्वप्नोपमतितिवदेयाम—अष्ट साहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता पृ० ४०

२. वही, पृ० ३६, १९६, २९८, २०५, २७६, ४२३, ४८४ आदि।

३. वही पृ० २२, ५१, ६८, ८४, ९०, ९५

४. वही पृ० १७६, १८१

५. वही पृ० २७, ८९

६. वही पृ० ३१, ३२, ४४

७. केशाः कर्माणी देहाश्च कर्तारश्च फलानि च।
गंधर्व नगराकारा मरीचिस्वप्न सन्निभाः। —माध्यमिक कारिका १७।३३

८. ध्यानचतुष्ट्य—सवितर्क सविचार। सापेक्ष सविकल्प बुद्धि की स्थिति।
द्वि० ध्यान०—समाधिजप्रीति सुख एवं आत्मप्रसाद की उपलब्धि का

तत्व या सत्य में दो रूप हैं—संवृति और परमार्थ। संवृति सविकल्प सापेक्ष बुद्धि का नाम है। परमार्थ, बुद्धि द्वारा अगोचर निष्प्रपंच- निर्विकल्प एवं निरपेक्ष या विशुद्ध ज्ञान का नाम है।

बौद्धों के दुःखवादी दर्शन का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पर्याप्त पड़ा है। गद्य-काव्य में भी इस प्रकार के विचार पाये जाते हैं।

हेतु सुख विहार। अविचार, अवितर्क, निष्प्रीहिक कहलाता है। ब्राह्मविहार—तुर्यावस्था, सविकल्प बुद्धि, निर्विकल्प में बदल जाती है।

९. समाधित्रय —शून्यता समाधि—इसमें संसार की स्वभावशून्यता का ज्ञान, तत्व के प्रपंचशून्यता का ज्ञान होता है।
अनियमित्त समाधि—इसमें प्रपच के निमित्त का ज्ञान होता है।
अप्रणिहत समाधि—इसमें प्रपंच के मिथ्या आवरण का निराकरण तथा तत्व का साक्षात्कार होता है।

१०. प्रथमभूमि प्रमुदिता —इसमें बोधिसत्व बुद्धि की निर्बलता का ज्ञान करके शुद्ध ज्ञान की खोज में अग्रसर होता है।

द्वितीय भूमि —विमला में तीन कुशल मूलों (बोधिचित्तोत्पाद, आशय निशुद्धि और अहंकार मकार परित्याग) को संचित करके आर्य अष्टांगिक मार्ग (सम्यक दृष्टि, संकल्प, वाक् कर्मान्ति, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि) में सम्यक प्रतिष्ठित हो जाता है।

तृतीय भूमि —प्रभाकरी में विषयी, विषय, मति के तर्क-वितर्क, विकल्प अपेक्षा के मिथ्यात्व का ज्ञान होता है।

चतुर्थ भूमि —अर्चिष्मती में बुद्धि के सब संशय और सन्देह शान्त हो जाते हैं।

पंचम भूमि —सुदुर्जया में सांवृतिक और पारमार्थिक सत्यों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है।

षष्ठ भूमि —अभिमुखी में अहंकार, ममकार का सर्वथा परित्याग होकर प्रतीत्य समुत्पाद का पूर्ण अर्थ ज्ञात हो जाता है।

सप्तम भूमि —दूरंगमा में शून्यता के दोनों पक्षों (स्वभावशून्यता तथा प्रपंच-शून्यता) का पूर्ण ज्ञान हो जाता है।

अष्टम भूमि —अचला में संसार और निर्वाण का अद्वैत ज्ञात होता है।

नवम भूमि —साधुमती में तत्व का प्रकाश चतुर्दिक दिखाई पड़ता है।

दशम भूमि —धर्म सेधा में बोधिसत्व स्वयं तत्व रूप हो जाता है।

"विहग नीड़ में आकुल जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रहा था।
समीर प्रवाह के वेग से विटपी नीड़ गतिमान हो जाता था। विहग की वेदना बढ़ जाती थी। अन्य खग चारे की तलाश में उड़ गये थे। सहसा उसके प्राण पखेरू अनंत में उड़ गये। वह मरण का अंतिम सन्देश भी न दे पाया। विधि की यही विडम्बना है।"[1]

तथा--

"विश्व की क्रूर शृंखला बोली।
भावुक ! रोये जा—जितना भी तुमसे रोया जाय।
वेदनामय मुस्कान उसके अधरों पर लहरा गई और उठी हृदय में किसी अज्ञात स्थान से एक मीठी-मीठी टीस।"

"शृंखला-रोदन में भी एक गायन है और जलन में भी है मधुर आत्म-शांति।
मैं रोकर ही गाता हूँ और करता हूँ अनन्त आत्म-शक्ति का मधुर अनुभव।

भावुक बोल उठा साथ ही उमड़ पड़ी उसकी दबी हुई अन्तर्वेदना और मैंने देखा कि—
उसके आभामय उभय अक्षि सरोवर कान्ति युक्त मुक्ता-बिन्दुओं से तरल मनोरम हो उठे।[2]
मेरी पीड़ा वह रंगीनी है जिसमें जीवन के ज्योतिपद्म उषा का रंग पाते हैं।
मेरे आँसू उस सागर की लहरें हैं जिसकी ऊर्मियों का कभी उतार नहीं होता, जिसके वक्ष पर सदा अनन्त की छाया प्रकाशित रहती है। मेरा हृदय उन मणियों की खान है, जो आज तक किसी के प्यार की भेंट न हो सकीं।
मैं उस जीवन की भूल-भुलैया हूँ जिसमें भटकना ही रहस्य का अधरामृत पाना है।
मैं उस लहर का कंपन हूँ जो चिर अशान्ति की अग्नि में जलती है।[3]

उपर्युक्त रचनाओं में जीवन की आन्तरिक वेदना का अंतः स्पंदन है। जीवन की स्नेह तरल वर्तिका, सजग दार्शनिकता को आलोकित कर रही है।

(४) **द्वैताद्वैतवाद**—माध्य सिद्धान्त द्वैताद्वैत कहलाता है। इसके अनुसार परमात्मा अर्थात् विष्णु अनन्तगुण युक्त हैं। उसके गुण निरवधि और निरतिशय हैं। इसमें सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार की अनंतता है। परमात्मा ही सृष्टि, स्थिति,

---

१. शीर्षक ४०—शैशव रागिनी से
२. उन्मुक्ति ५वाँ शीर्षक—शकुन्तलाकुमारी 'रेणु'
३. वेदना ८७ शीर्षक—भँवरमल सिंघी

संहार नियमन ज्ञान आवरण बन्धन और मोक्ष का कर्ता है। ज्ञान-आनन्द कल्याण आदि गुण उसके शरीर हैं। लक्ष्मी परमात्मा की शक्ति है। यह विष्णु के आधीन है। देश तथा काल की दृष्टि से लक्ष्मी विष्णु के समान है, परन्तु गुण में न्यून है। जीव अज्ञान, मोह आदि दोषों से युक्त है। प्रत्येक जीव अन्य जीवों से भिन्न तथा परमात्मा से नितान्त भिन्न होता है। मोक्ष दशा में भी वह भेद बना रहता है। मोक्ष भगवान् के नैसर्गिक अनुग्रह का फल है। विश्व के पदार्थों में गुणादि दृष्टि से एक तारतम्य रहता है। इन सभी गुणों का पर्यवसान परमात्मा में होता है, यही तारतम्य ज्ञान है। निम्बार्काचार्य कुछ परिवर्तन के साथ इसे भेदाभेद के नाम से पुकारते हैं और चैतन्यदेव अचिंत्य-भेदाभेद के नाम से।

हिन्दी गद्य-काव्य में इसके उदाहरण निम्नांकित हैं :—

"मैं तुम्हें क्या कहूँ माधव ! तुम्हीं मिट्टी, तुम्हीं फावड़ा, तुम्हीं चाक, तुम्हीं कुम्हार। पता नहीं चलता तुम क्या हो और कैसे हो मोहन।"[1]

खुरण्ट उखाड़कर, घावों की लाली देखना चाहते हो, टाँका तोड़कर कलेजे की गहराई नापना चाहते हो ? कैसी विकट लालसा है ? कैसा शोक है मोहन ? तुम इतने कोमल, लेकिन इतने कठोर ! ओफ़ !![2]

भक्त भगवान् के साक्षात्कार की लालसा से अधीर रहता है, पर जब वे अज्ञात रूप से आते हैं और वह उन्हें पहचान नहीं पाता तो और भी अधीर हो जाता है। देखिये :

"ऊपर तारे झिलमिल-झिलमिल कर रहे थे, और नीचे मैं गुनगुन करता जा रहा था। किसी स्वर्गीय गीत की अनिर्वचनीय तानें आकर हृदय में एक अनोखी माधुरी भरी भवधारा प्रवाहित कर रही थीं, जिसके कलकल निनाद को श्रवण कर मैं भी रह-रहकर गुनगुना पड़ता था। मेरी चेतना रह-रहकर झपकियाँ ले रही थी। मेरे पैर अज्ञात भाव से अन्य साथियों के साथ चले जा रहे थे।

इसी अवस्था में कुछ मूर्तियाँ हमारे पास से निकलीं। धुँधले प्रकाश में वे धीरे-धीरे आगे बढ़ीं। एक मूर्ति के हाथ उठे और उसने मुझे अपना प्रेमपूर्ण, अभिवादन भेजा। मैं था अपने गुनगुनाने में मस्त। कुछ ध्यान ही न गया। जब वे कुछ आगे निकल गईं, तब सहसा हृदय खिंच पड़ा, समस्त गुनगुनाहट छूट गया और नेत्र बरबस पीछे पलटकर उन मूर्तियों को देखने लगे।

हाय ! इतने दिन बाद तो वे दिखाई दिए। उन्होंने तो अपने श्री करों से मेरा

---

१. धुँधले चित्र—पृ० २२

२. धुंधले चित्र—पृ० ३ : मोहनलाल महतो

अभिवादन तक करने की दया प्रदर्शित की, और मुझ अभागे ने उस ओर ध्यान तक न दिया।[1]"

ईश्वरीय मार्ग पर चलने वाले पथिक को द्वन्द्वों के बीच प्रेरणायें होती हैं। उन्हें मान लेने पर मार्ग सरल हो जाता है। भूलने पर पतन। इसका एक चित्र इस प्रकार है। यथा :—

"आज—मैं इस अँधेरे गार में आ गिरा हूँ तो मुझे होश आया है। तेरी सहायता पाकर मैं उस कँटीली राह पर चलने लगा था। तूने यह समझकर मुझे उस रास्ते तक पहुँचा दिया था कि मैं ठीक रास्ता पर जाने पर सावधानी से चलकर अपने लक्ष्य तक पहुँच जाऊँगा। इसीसे तूने मुझे सावधान भी किया था। कहा था, "रास्ता सरल है, उसके एक ओर का दृश्य भी बड़ा ही मनोरम है। पर यह न भूल जाना कि रास्ता सँकरा है। यदि जरा फिसले तो दूसरी ओर देखो—उसी अँधेरे गार में जा पड़ोगे।" मैंने तुझे विश्वास दिलाया था कि मैं तेरी चेतावनी न भूलूँगा, सदैव उसे ध्यान में रक्खूँगा और कुछ समय तक मैंने ऐसा किया भी। मैं न भूला कि इस सारल्य में पतन अंतर्हित है। पर धीरे-धीरे दृश्य की शोभा ने मुझे आपे से बाहर कर दिया। मैं सौन्दर्यानुभूति में झूम-झूमकर चलने लगा।
आज एकाएक पैर बहक पड़ा और मैं अँधेरे गार में जा पड़ा।
अब उसमें—गिर जाने पर होश आया है।"[2]

(५) एकेश्वरवाद - भारतीय ज्ञान-मार्ग तथा सूफियों के प्रेम-मार्ग के मिश्रण से कबीर ने ब्रह्म को उपासना तथा प्रेम का विषय बनाया। देशाचार तथा उपासना-विधि से मनुष्य-मनुष्य में फैले हुए भेदभाव को दूर करने के लिए यह पद्धति सर्वथा अनुकूल थी। इसके द्वारा सर्वव्यापी ब्रह्म अनेक धर्मों में अनेक नाम से पुकारा जाता है। तत्वतः धर्मों का चोंगा पहनने से ब्रह्म-शक्ति भिन्न नहीं हो सकती। इस प्रकार की मान्यता का प्रभाव गद्य-काव्य पर पड़ा है। देखिये :—

"पगली! मंदिर का यह उत्तुंग स्वर्ण-शिखर, मसजिद का यह धवल गोल गुंबद और गिरजाघर की यह गगन-चुंबी मीनार, सब उसी ओर संकेत कर रहे हैं, जहाँ तेरा कृष्ण बाँसुरी बजाकर ग्वाल-बाल के साथ नृत्य किया करता है—जहाँ तेरा मुहम्मद फटे-चिथड़े लपेटे दुनिया के दरिद्रों को अपनी छाती से लगाया करता है—जहाँ तेरा ईसा काँटों का मुकुट पहने हुए शांति और अहिंसा का उपदेश दिया करता है।

---

१. 'अपने गीत' पृ० २३ : बालकृष्ण बलदुआ
२. 'अपने गीत' पृ० १२ : बालकृष्ण बलदुआ

पगली ! इस श्रमित कृषक की देह से टपकती हुई पसीने की बूँदें, इस भिखा-रिन के सूखे गालों पर ढुलकते हुए आँसू और इस बैल के घावों से टपकते हुए रक्त-बिन्दु उसी ओर संकेत कर रहे हैं—जहाँ तेरा कृष्ण गाएँ चराते-चराते थककर चूर हो गया है—जहाँ तेरे मुहम्मद की आँखों में दुनिया के पीड़ित प्राणियों का दुःख देखकर आँसू छलछला आए हैं—जहाँ तेरा ईसा संसार के कल्याण के लिए क्रास पर लटक रहा है।"[1]

वियोगी हरि भी ऐसा भाव व्यक्त कर रहे हैं। यथा :—

"तुम राम हो तो क्या अल्लाह नहीं हो ? तुम अहुरमज्द हो तो क्या यहोवा नहीं हो ? तुम अर्हत् हो तो क्या बुद्ध नहीं हो ? प्रभो, तुम क्या नहीं हो ? ये सब नाम तुम्हारे ही नाम तो हैं, तुम्हारी प्यारी-प्यारी सूरतें तो हैं।"[2]

एकेश्वरवाद में धर्माचारों के बाह्याडंबरों की भर्त्सना की जाती है। यथा :—

"तुम देवता को जाने से न रोक सके, उनकी महिमा को कुछ देर विलमा न सके, भक्तों को पुकारकर बुला न सके, केवल अपने अस्तित्व की प्रबलता की उपासना करते रहे—तुम्हारी यह मूढ़ उपासना तुम्हारे लिए अभिशाप बन चुकी है। अब इसी घोर अभिशाप को अपनाकर अपने को कायम किये रहो, जिलाये रक्खो। तुम मन्दिर हो, देवता से भिन्न तुम्हारा अपनापन एक विडंबना है।"[3]

वियोगी हरि के 'ठंडे छींटे' इस प्रकार की भावनाओं से पूर्ण हैं। एकेश्वरवाद में अन्तरंग प्रेम पर जोर दिया जाता है। देखिये :—

"मेरे घर में उत्सव था। तोरण-बंदनवार लटक रहे थे। ढोल-मृदंग बज रहे थे। कुसुमों की सुरभि से भवन का कोना-कोना सुरभित हो चला था। शंखोच्चार से दिशायें पूरित हो चली थीं। युवतियाँ मंगलगान गा रही थीं। अतिथि अभ्यागतों की भीड़ द्वार पर लगी हुई थी। मित्र मेरी खोज कर रहे थे। पर मैं घर में नहीं था।"[4]

तथा—

"दिव्य—क्या हुआ यदि मैं तुम पर मन्दार फूल न बरसा सकी, पर आज तो तुम्हें इन सूखे बेल-पत्तों से ही रीझ उठना चाहिये। तुममें और मुझ में बड़ा अन्तर है।

१. 'मदिरा' पृ० ४ : तेजनारायण काक
२. 'प्रार्थना' पृ० २ : वियोगी हरि
३. पृ० ७—'वन्दनवार' : मोहनलाल महतो
४. शीर्षक ३०—'शैशवरागिनी'

तुममें तो भरी प्याली को ठुकराने की क्षमता है, परन्तु मैं तो बूँद-बूँद के लिए तड़पकर बेगानी फिरती हूँ, इसीलिए कहती हूँ क्या हुआ यदि मैंने तुम्हारे मग में बिछे हुए फूलों को बटोरकर काँटे बिछाये। मुझमें और तुममें तो बड़ा अन्तर है।"[1]

प्रभु-विषयक जिज्ञासा से साधक अनेक प्रकार के कष्ट पाता है, इसका एक चित्र देखिये :

"मृग-नाभि में जो कस्तूरी भरी है, जिसकी गंध से सारा कानन मह-मह हो रहा है, जो देवताओं के सिर पर चढ़ती है, सम्राटों का जिससे राजतिलक होता है, सुन्दरियाँ जिससे अंगराग करती हैं पुरस्कारों में जिसका वितरण होता है, रत्नों-जैसा जिसका संचय होता है, वनचरों को समृद्धि दिलाता है, बड़ी-बड़ी निधियों में स्थान पाता है, क्या उसकी उत्पत्ति इसीलिये होती है कि वह मृग को जंगल-जंगल भटकने और अन्त को उसकी जान का गाहक हो ?"[2]

तथा—

"मेरी यह जीर्ण नैया लहरों के थपेड़े खा-खाकर नदी के काले वक्षस्थल पर नाच रही है। आकाश में अँधेरी घटाएँ छा रही हैं। नाव की टूटी छत पर वर्षा की बड़ी-बड़ी बूँदें टपककर हृदय को कँपा देती हैं। उधर बिजलियाँ टूट-टूटकर प्रलय का सन्देश सुना रही हैं। नाविक यह देख। नदी के कगारे बिखर कर नौका के सामने लड़ जाते हैं। नाविक वह देख। आंधी का एक विक्षिप्त झोंका हमें नष्ट करने के लिए इधर ही आ रहा है।
नाविक, नैया को खेनेवाली अपनी इन बल्लियों को रोक दे और नाव को धारा में बह जाने दे।"[3]

कबीर ने इस विश्व को एक हाट[4] माना है और इस हाट से उचित वस्तु खरीदने को कहा है, ठीक वही विचार 'मणिमाला' में भी व्यक्त किया गया है। देखिये :—

"तू इस हाट की सैर करते समय केवल इतना न भूल कि तेरे सौदा लेने के पहले हाट उठ तो नहीं जाती और संध्या के डर से चटपट अपनी-अपनी पोटली

---

१. अक्टूबर १९३६ 'चाँद' : दिनेशनंदिनी

२. 'जिज्ञासा' पृ० १५—छायापथ : राय कृष्णदास

३. चित्रपट पृ० ३५—शांतिप्रसाद वर्मा—शीर्षक 'नाविक'

४. दीपक दीन्हा तेल भरि, वाती करी अघट्ट।
पूरा किया बिसाहना, बहुरि न आई हट्ट॥ —कबीर वचनावली

बांधते हुए लोगों को देखने में तू अपनी चीजें खरीदना तो नहीं भूल रहा है।" [१]

यथार्थ रूप से क्रम करने पर लाभ ही लाभ है। देखिये :

"एक परिवार से नाता टूटने पर समस्त विश्व परिवार बना। स्वार्थी मित्रों से मुँह मोड़ लेने पर जीवमात्र मित्र बन गये। फूटी कौड़ी के बदले हीरा हाथ लगा।

बाहर का दीपक बुझा देने पर अन्तर का प्रकाश चमक उठा। तृष्णा का पीछा छोड़ देने पर संसार के सकल ऐश्वर्य पैरों के दास बन गये। बाहर की आँखें मूँद लेने पर भीतर की आँखें खुल गईं।

मोहान्धकार में जो सोने से चमकते थे, वे अब प्रकाश में मंद पीतल ठहरे जिनमें मणि, माणिक की ज्योति थी, वे लाल हरे पत्थर के टुकड़े निकले। अपने घर की चहारदीवारी से ऊपर आने पर वह लघु प्रेमाकाश विश्व प्रेमाकाश में विलीन हो गया।

सारे संकुचित घेरों के मिट जाने से चित्त को प्रसाद और नैर्मल्य प्राप्त हुआ तथा विश्वात्मा का एक अंश मात्र स्वात्मा अपने पूर्व रूप में अंतर्हित हो जाने पर विश्व रूप में चमक उठा।" [२]

और फिर यही कामना रहती है :—

जहाँ न काम है, न इच्छा, न मोह,
जहाँ न किसी प्रकार की बाधा है, न द्वैत,
जहाँ कामना का धूमिल अन्धकार नहीं किन्तु चिरन्तन सत्य का प्रकाश सर्वत्र फैल रहा है
उसी ज्योतिमय अन्तर्लोक में, ओ मेरे अन्तर्वासी ?
तू मुझे अपने सत्य प्रेम का सम्बल देकर ले चल..." [३]

(१) **विशिष्टाद्वैतवाद**—विशिष्ट का विशिष्ट रूप से अद्वैत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। अद्वितीय ब्रह्म विशिष्ट पदार्थ है। जीव और प्रकृति उसके विशेषण हैं। इस विशिष्ट रूप में ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है। 'एक ही में अनन्त सृष्टि का वास है और अनन्त एक ही परब्रह्म का निवास है। उस एक ही ने इस अनन्त सृष्टि को उत्पन्न किया है। जब आभ्यन्तर में उस एक से परिचय प्राप्त हो जाता है, तब सारी अनन्त

---

१. पृ० ३९—मणिमाला—जीवन के सन्देश : नोखेलाल
२. मणिमाला—पृ० ३१ : वैरागी।
३. ८१ शीर्षक उन्मुक्ति—शकुन्तलाकुमारी 'रेणु'

सृष्टि एक ही में समा जाती है।'[1] विशिष्टाद्वैत व्याप्य और व्यापक की भावना को ग्रहण करता है। जिस प्रकार शरीरों में प्राण व्याप्य है उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्यमान जगत में ब्रह्म व्याप्त है। इस मत के प्रतिष्ठाता भगवान रामानुज हैं। इस प्रकार की भावना को नोखेलालजी अपनी 'मणिमाला' में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

"यह वही है, जो इन कलित कुंजों की कुसुमित कान्त कलियों की ओट से करता है।
यह वही है, जो इन घने काले बादलों के पार झाँकी देकर मुस्कराया करता है।
यह वायु-यान पर विहार करनेवाला वही है, जिसका पवित्र स्पर्श लगते ही हमारे रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं।"[2]

दूसरा चित्र इस प्रकार है—

"कौन ? चिर सुन्दर !
तुम क्या मेरे नेत्रों में बसे हो ?
तुम क्या मेरे शब्दों में मिले हो ?
तुम क्या मेरी अनुभूतियों के आधार हो ?"[3]

(७) **विशुद्धाद्वैतवाद**—वल्लभ सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त इसी नाम से पुकारा जाता है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म माया के सम्बन्ध से रहित विशुद्ध अद्वैत है। यह जगत् ब्रह्म का परिणाम है, अतः ब्रह्म-रूप ही है। पंच पर्वा अविद्या जगत् के कारण है। ज्ञानोदय के पश्चात् जगत् की सत्ता का भान नहीं होता। जगत् के सम्बन्ध में वल्लभ आविर्भाव और तिरोभाव का सिद्धान्त मानते हैं। इनके अनुसार अक्षर ब्रह्म अपने सत्-चित्-आनंद इन तीनों शक्तियों का आविर्भाव और तिरोभाव करता है। सत् का प्रकाश संधिनी शक्ति से, चित् का संवित् से और आनंद का ह्लादिनी से होता है। पुरुषोत्तम ब्रह्म में ये तीनों शक्तियाँ अनावृत रहती हैं। जीव में संधिनी और संवित् अनावृत रहती है और ह्लादिनी आवृत रहती है! जड़ में केवल संधिनी आवृत रहती है। संवित् तथा ह्लादिनी तिरोहित। ब्रह्म के तीन रूपों के अनुसार वल्लभ-मत ने साधना के तीन मार्ग माने हैं। मर्यादामार्ग, ज्ञानमार्ग और पुष्टिमार्ग या भक्ति-मार्ग, प्रवाहमार्ग या कर्ममार्ग। वेद-विहित मर्यादा के अनुसार चलना मर्यादामार्ग है, भगवान् के अनुग्रह-परायण होकर तदनुकूल आत्म-समर्पण पुष्टिमार्ग है, सांसारिक

---

१. एक में अनंत, अनंत में एकै, एकै अनंत उपाया।
अंतरि एक सौं परचा हुआ, तब अनंत एक में समाया॥
—गोरखवानी पद, १४

२. प्रवृति की ओट में ईश्वर—पृ० ५०—मणिमाला

३. शीर्षक १३१, शैशवरागिनी

सुखों के लिए प्रयत्नशील रहना प्रवाहमार्ग या कर्ममार्ग है। मर्यादामार्ग द्वारा ज्ञानी को अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है तथा पुष्टिमार्ग द्वारा भगवान् के सत्-चित्-आनंद रूप की। मर्यादामार्ग की उत्पत्ति भगवान् की वाणी से है। पुष्टिमार्ग उनके आनंद शृंग से उद्भूत हुआ है। मर्यादा से सायुज्य मुक्ति मिलती है और पुष्टि से आनन्दमय स्थिति।

पुष्टिमार्ग भगवान् की माधुर्यमूलक उपासना को लेकर चला। यह सुदृढ़ स्नेह की परम काष्ठा का स्पर्श करता है। इसके अन्तर्गत श्रद्धा आनुषंगिक होती है तथा भोग, राग-विलास आदि के प्रभूत चित्रों की बहुलता रहती है। यद्यपि इसका लक्ष्य ऐहिक नहीं होता, फिर भी बुद्धिभेद से हर व्यक्ति पारमार्थिक अर्थ नहीं ग्रहण कर पाता। देखिए :

"मेरे साकी, ओठों के प्याले में भर-भरकर पिलाए जा अपनी यह चुंबन भरी मदिरा। इस मादक बेहोशी में तेरी वक्षस्थल से लिपटकर, मुझे तुझी में अपने आपको भूल जाने दे।"[1]

माधुर्यमूलक प्रेम में गोपी भाव की प्रधानता रहती है—

**"आज तुमसे मेरा परिणय है।
अपना यह क्षणिक मिलन कैसा होगा यही पहेली है।
मैं और तुम दोनों अमर हैं
मैं इस मिलन-बेला में अपना जीवन तुम्हारे जीवन में मिला दूँगी और तुम मेरे बदले में जीना''''''आज तुमसे मेरा परिणय है।"[2]**

वियोगकालीन वेदना का चित्र इस प्रकार है—

**"न आओ तुम मेरे नाथ
हाँ न आओ, एक बार परीक्षा करके तो देखो, तुम्हारे बिना यह जीवन-प्रदीप कब तक प्रज्वलित रहता है, प्रियतम। एक बार फिर कहती हूँ—न आओ। वसन्त ऋतु के शीतल पवन के सुखस्पर्श के पहले चिरशीतल हो लेने दो मेरे शरीर को। सुगन्धित समीर के साथ पहले सदा के लिए बह चलने दो मेरे श्वास-निश्वास को। बौर से लदे हुए सुरभित सरस रसालों की मंजुल राजियों में पहले बस उलझकर रह जाने दो मेरे दृष्टि को! और मेरी आशाओं-अभिलाषाओं के स्वरूप पर उस नीले अनन्त प्रदेश में विहार और अठखेलियाँ करने के लिए पहले उड़ जाने दो मेरे प्राण-पक्षी को। फिर-फिर मेरे स्वामी!**

१. 'मदिरा' पृ० ३ : काक

२. 'चाँद' अक्तूबर १९३६ : केशवप्रसाद वर्मा

यदि कभी इच्छा हो आया करे तो मेरी समाधि पर मुझे याद करके ! आँसुओं के दो फूल चढ़ा दिया करना।

बस इतना ही पर्याप्त होगा, नाथ !"[1]

(२) **भक्तिपरक**—एक ही अद्वय ज्ञान तत्व को तत्ववेत्तागण 'ब्रह्म' कहते हैं, अष्टांगयोगी परमात्मा तथा भक्त भगवान् कहते हैं। नाम पृथक्-पृथक् है, वस्तु-तत्व एक ही है।[2] एक स्फटिक मणि के चारों ओर यदि अनेक वर्ण के पुष्प पड़े हों तो पृथक-पृथक दिशाओं से देखने पर मणि पृथक-पृथक रंग की दिखाई देगी यद्यपि मणि शुद्ध श्वेत है केवल पुष्पों का ही रंग उसमें प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार साधन प्रणालियों के भेद से स्वरूपतः एक ही परमात्मा को भिन्न-भिन्न प्रकार से साधकगण भजते हैं। भागवतकार ने भक्ति के नौ भेद बताये हैं।[3] भगवान् के गुण-लीला-नाम आदि का श्रवण, उन्हीं का कीर्तन, उनके रूप-नाम आदि का स्मरण, उनके चरणों की सेवा, पूजा, अर्चना, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। देवर्षि नारद के भक्तिसूत्र के अंतिम तीन सूत्रों में भक्ति के ग्यारह भेद किये गये हैं। गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणशक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति तथा विरहासक्ति।

उपर्युक्त भेद-विग्रह उपासना एवं विभूति उपासना के अन्तर्गत आता है। विराटोपासना में सर्वशक्तिमान हरि को समस्त प्राणियों में स्थित देखा जाता है।[4] सब प्राणियों की इच्छा पूर्ण करने से, सब का सम्मान करने से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से इस प्रकार की भक्ति निष्पन्न होती है। गीताकार ने कहा है कि जो सब में वासुदेव की ही भावना करता है वह महात्मा बहुत कठिनाई से मिलता है।[5] ईश्वर में अनन्य भक्ति, अभ्यास,

---

१. 'चाँद' जुलाई १९३६ पृ० २५० : राकेश

२. बदन्ति तत्वत्व विदस्तत्वं च ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते। श्रीमद्भागवत १।२।११।

३. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं बन्दनं दास्यं सख्यामात्मनिवेदनम्॥ ७।५।२३

४. हरिः सर्वेषु भूतेषु भगवानास्त ईश्वरः।
इति भूतानि मनसा कायैस्तैः साधु मानयेत्॥३२॥ ७।७।२२ भागवत

५. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ —श्रीमद्भगवद्गीता ७।१९

उनके ही लिए जगत् का व्यवहार करना, कर्म-फल त्याग आदि सोपान वासुदेवमय भावना को प्राप्त करने के साधन हैं।[1] भगवान् की व्यापक पूजा का एक चित्र 'शैशव रागिनी' में इस प्रकार है :

"फकीर की झोली में, भिखारी के कफन में, राजा के मुकुट में, पुजारी क्या तुमने समान तेज देखा है ?

किसान की झोंपड़ी में, कंचन के महल में, गिरि की कंदरा में योगी क्या तुम्हें समान सुख मिला है ?

जीवन में, मरण में, हास में, रुदन में, स्थिति में, प्रलय में विवेकी क्या तुमने समान आनंद पाया है ?"[2]

व्यापक पूजा का एक दूसरा भी दृष्टिकोण है :

"सुदूर धुँधले प्रान्त से आती हुई ये नदियाँ किसके चरणों पर अत्यन्त अनुराग से लोटती हैं और उसे नित्य पखारती हैं ?

वह कौन राजाधिराज है ?

चाँद-सूर्य जिसके नेत्र हैं ! मेघ जिसकी जुल्फें तथा तारे मुकुट में जड़े हुए हीरे हैं, सारे लोक अपने-अपने स्थान पर ठहरे हुए जिसके वृहद् सभा के सभासद हैं ! जिसका रौब सर्वातिशायी है ! वायु अहर्निश जिसको चँवर डुलाती है ? खगवृन्द साँझ-सबेरे जिसकी विरुदावली गाते हैं ?

और तो भी वहाँ कुछ कहने को शेष रह जाता है ?"[3]

भगवान् के व्यापक स्वरूप का निर्देश इसी प्रकार भागवतकार ने भी किया है।[4] भगवान् का ही निरतिशय सौन्दर्य सारी सृष्टि में है। देखिए :

"हे सर्वाङ्ग सुन्दर ! यह तेरे सौन्दर्य का ही प्रकार है, जो निरानंद आकाश में बाल-मुसक्यान इव बालारुण-रवि-रश्मि सुशोभित प्रभात का जन्म होता है, मधुमयी कंज-कलिका प्रफुल्लित होकर विहरित भ्रमरावली को अलोल-कल कपोल-चुंबन देती है, सुरभित समीर नव वल्लि ललित मंजुलांग परसि-परसि बसन्त-कोकिल-कुंजित निकुंज को मद-विह्वल करती हुई रसिक हृदय में संचार करती है, और पर्वतीय निर्झर द्रुतविलंबित गति से बहते हुए हरित तृण स्वलंकृतभूमि का मुख धो रहे हैं।[5]

---

१. देखिये, गीता अध्याय १२ श्लोक सं० ८, ९, १०, ११, १२

२. शैशवरागिनी शीर्षक १४२

३. मणिमाला पृ० ५३ : व्यापक पूजा

४. देखिये, भागवत : द्वितीय स्कन्ध—अ० प्रथम २३ से ३९ श्लोक तक

५. दृष्टि सौन्दर्य—पृ० ५९ : 'तरंगिणी'

विश्वभावना के पश्चात् एकदेवोपासना की कोटि है। राम, कृष्ण, दुर्गा, काली, सरस्वती, लक्ष्मी, सूर्य, मारुति, गणपति के रूप में भक्त उसी एक को ही देखता है। देखिये :

"कुमुद कलियाँ रंगरलियाँ मचा रही थीं। मैं धीरे से एक कली के गुलाबी वक्षस्थल में जाकर छिप गया।

कई धवलाकृति मेघ न जाने क्यों क्षितिज के उस पार जा रहे थे। पास ही एक हंस अनुरागरंजित आँखों से कुमुदबालाओं की क्रीड़ा निहार रहा था।

उषा अरुण मुस्कुरा रहे थे—थोड़ी दूर कालिन्दी के कूल पर मोहन मुरली का अभ्यास कर रहे थे।

क्यों जी ! यहाँ आकर क्यों नहीं बजाते, उस अधेड़ के पासवाली अध-खिली कली ने कहा।

हाँ ! हाँ ! जरूर यहाँ आकर बजाओ ! वंशीवाले ! उषा और अरुणा ने हँसते हुए-हाँ-में-हाँ मिलाई।

मोहन पहले के समान मुरली को करुणा में डुबोकर आर्द्र स्वरों में बजाने लगे। कलियाँ नाचने लगीं।

मोहन का आह्वान करनेवाली कली थककर मेरी गोद में आ गिरी। और मैंने—मैंने उनके मुँह पर श्रम से आये हुए स्वेद को पोंछकर उनका मुँह चूम लिया।

कलियाँ भाग गईं। मोहन अन्तर्ध्यान हो गये। पर अभी तक मुरली-ध्वनि तथा कलियों के नूपुरों की आवाज आ रही थी।"[1]

तथा—

"कलिन्दजा के कूल पर मोहन बाँसुरी बजा रहे थे। हाय ! मुझे अकेली छोड़ कर ! मैं तो रात से रूठी थी, पर क्या करती ? अधीर-सी हो कर पीछे चली। कुंज में कलकूंज रहा था। मुझे देखते ही वे दौड़ पड़े और चिबुक उठाते हुए बोले, चलो रास रचेंगे।

"मैं क्यों चलूँ ? बिना अधर सम्पुट खोले अपना घड़ा लिए इतरा गई।[2]

हिन्दी गद्य-काव्यों में आत्मनिवेदन, विरहा-सक्ति तथा कान्ता-शक्ति के ही भाव विशेष मिलते हैं।

आत्म-निवेदन के भाव :—

"प्रभो !

पाप परिताप से तप्त, दुःख-दावानल से दग्ध एवं मोहपंक में ग्रस्त यह दासों का दास तेरी शरण में है।

---

१. 'हंस'—मई-अप्रैल १९३४, 'स्वप्न' : दुर्गेशनंदिनी

२. 'हंस' जनवरी-फरवरी १९२६, 'प्रेम' : दिनेशनंदिनी

जो जगत् के जंजाल से व्याकुल, अशान्ति की लहरों से ऊबी हुई और तृष्णा की दावाग्नि में भुनी हुई, महाखिन्न आत्मा है, वह तेरी शरण में है।"[1]

अनुताप, पश्चात्ताप, अभ्यर्थना, कष्ट-वर्णन, कष्ट-मोचन की प्रार्थना, दोष-कथन, असावधानी वर्णन आदि विषय गद्य-काव्यों में आत्मनिवेदन के रूप मिलते हैं।

विरहासक्ति—

"सैंया मुझे तिल-तिल न मारो

भूख की भयंकर यंत्रणा से छटपटाकर मुझे ठठरी बनने दो। अरब के रेणका प्रदेश में अकेली दौड़कर मेरे प्राणों को प्यास के मारे अधरों तक आने दो। ग्रीष्म की चढ़ती दुपहरी के प्रखर आतप में मुझे चिरंतन खड़ी रखकर मेरे सौन्दर्य-कुसुम को मुरझा जाने दो, चिंता की चिता धधकाकर उसकी ज्वाला में मेरे यौवन को भस्तीभूत कर दो,

करवाल को सान पर चढ़ाकर वरदा के सम्मुख मुझे सहर्ष बलि दे दो, किन्तु—

प्यारे विछोह की मृत्यु-मिश्रित हाला में तिरस्कार का विष हीरक कण घोल कर मुझे तिल-तिल न मारो।"[2]

हिन्दी गद्य-काव्यों में विरहासक्ति की वे अनूठी उक्तियाँ दुर्लभ हैं जो सूर की गोपियों ने सूरसागर में व्यक्त की हैं। फिर भी उनका अपना ऐश्वर्य है। यथा:

कान्तासक्ति—

"घनश्याम मेरी गगरी भर दो, और मुझे घर तक पहुँचा दो। गैल डरावनी है, रैन अँधेरी है, और मैं आ रही हूँ अकेली! नंदलाल मेघों की घन गंभीर गर्जना सुनकर मेरा हृदय काँप रहा है, यदि मूसलाधार वर्षा होने लगी, तो मैं तो अपने को विद्युत की कौंध में कहाँ छिपाऊँगी।

मेरी गगरी भर दो, सिर पर धर दो, और घर तक पहुँचा दो नंदलाल मैं तो आई हूँ, गगरी भरन।"[3]

उपर्युक्त रचना इतनी शृंगारिक हो गई है कि भक्ति की कोटि में इसकी गणना संकोच से ही की जा सकती है। कान्तासक्ति में ऐसे ही भाव आते हैं।

(३) **रहस्यवादी—**रहस्यवाद क्या है, इस पर विद्वानों[4] ने कई प्रकार से विचार

---

१. मणिमाला, पृ० ८९

२. 'शारदीया', पृ० ३३ : दिनेशनंदिनी

३. शारदीया, पृ० ३३, शीर्षक ३०

४. रहस्यवाद—पं० रामचंद्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, बाबू श्यामसुन्दर दास, कबीर, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र आदि।

किया है। वस्तुतः अद्वय तत्व का अहं की सीमा से किया गया रचनात्मक रागात्मक अनुभवपूर्ण प्रकाशन रहस्यवाद की कोटि में आता है। अर्थात् गुह्य सत्ता का ज्ञान रहस्यपूर्ण होने से जब भावुक द्वारा अनुभवति होकर व्यक्त होता है तो रहस्यवाद की संज्ञा प्राप्त करता है। ईसाई धर्मावलम्बी[१], इस्लाम धर्मावलम्बी [२] तथा आर्य धर्मावलम्बी[3] सभी प्रकार के भावुकों ने रहस्य को ज्ञात करने की चेष्टा की है।

उपर्युक्त भाषा भारतीय ढंग से की गई है। पाश्चात्य विचारकों की परिभाषा कुछ दूसरे प्रकार की है।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध कोष [४] में ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण को रहस्यवाद कहा गया है। व्यवस्थित बुद्धि से मुमुक्षु अद्वय तत्व का ज्ञान करता है और भाव की प्रबलता से भावुक उसके रहस्य का। एक की उपलब्धि प्रमाणों [५] से होती है, दूसरे की भावना द्वारा। इस तरह यह कहा जा सकता है कि भाव-प्राबल्य तद्रूपशीलता में रहस्यवाद के प्रादुर्भाव का रहस्य है। बोन साहेब ने इसे तीन स्थितियों में अवस्थित किया है—दैवी भाव, दैवी ज्ञान तथा दैवी उपासना। काव्यगृहीत रहस्यवाद पहली स्थिति की आत्म अभिव्यक्ति है। गद्य-काव्य का यह विशिष्ट तत्व है।

आत्मा निरपेक्ष तत्व है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसे अज नित्य शाश्वत एवं पुराण माना है।[६]

---

(1) Mysticisms in English Literature by C. F. E. Spurgeon.
(2) Mysticism by Ketre.
(3) Mysticism by Voungher.

१. प्लोटिनस्, इरीजिना, बरनार्ड सेण्ट विक्टर के ह्यूगो, वाल्टर, बोन, अमलरिच, पियरे, मेस्टरइकहार्ट, जानरुइसब्रोयेक, टालर, फ्रांसिस डी. सेल्स., सेण्टथरसिया, मैडम ग्यावोन, हेनरीमोर, पियरे पोरेट, विलियम ला, मार्टिन, जान शिलर, वर्डसवर्थ, ब्लैक तथा वाल्ट व्हिटमैन।

२. वायज़ीदबुस्तानी, रविय, जुलनून, हल्लाज, मंसूर, गजाली, रुम, हाफिज, शेख मुईनुद्दीन चिस्ती, सरमद, जायसी, उसमान, मुबारक, मंझन, कुतुबन आदि।

३. रैदास, दादू, सुन्दरदास, नानक, तुलसी, सहाब, कबीर आदि।

४. Encyclopaedia Volume XVII, Page 128, Edition Ninth, line 13th.

५. प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शाब्द तर्क संग्रह न्यायबोधिनी, पृ० २६

६. अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

—श्लोक २० अध्याय २

"अखंड, अज, अव्यय, नित्य तथा अविकारी, आत्मा से सीमित, व्यक्तिगत अथवा समूहगत अनुभूति का सम्बन्ध सम्भव नहीं है।"[1] जिस आत्मा का न तो जन्म होता है और न मरण, फिर उसकी अभिव्यक्ति कैसी। अभिव्यक्ति तो नाम रूपधारियों की ही होती है। अतः आत्मा शब्द का तात्पर्य यहाँ अन्तःकरणावच्छिन्न विशिष्ट चेतन ही लेना चाहिये। हमारा कार्य इसी से चल जायगा।

काण्ट ने इंद्रिय-संवेदन तथा बुद्धि-विकल्प दोनों के सम्मिश्रण से ज्ञान का उत्पन्न होना माना जाता है। सत्यत्व इंद्रिय-संवेदनों से और निश्चय बुद्धि-विकल्पों से आता है। बुद्धि अपने सहज नियमों से इंद्रियानुभव को व्यवस्थित और नियमित करके उसे सार्वभौम ज्ञान का रूप देती है। बुद्धि-विकल्प संवेदनों को ज्ञान का रूप देने के सांचे हैं। उनमें स्वयं शक्ति नहीं है। यह शक्ति उनमें आत्मा से आती है। विशुद्ध आत्मा समस्त ज्ञान और अनुभव का अधिष्ठान है। संग्रहण, समन्वय, सम्बंध, नियम, सार्वभौमता, अनिवार्यता सब ज्ञाता के कारण संभव है। इस विशुद्ध ज्ञाता को काण्ट ने अतीन्द्रिय, समन्वयात्मक, अद्वय, विशुद्ध अपरोक्षानुभूति का नाम दिया है। जीव में विषयत्व और अनित्यत्व है। विशुद्ध ज्ञाता 'विषयी' और नित्य है। इसके बिना किसी प्रकार का ज्ञान सम्भव नहीं। काण्ट के ये विचार वेदान्त तथा आत्म-तत्व के विचारों से बड़ी साम्यता रखते हैं। आत्मा के विषय में काण्ट ने निषेध के रूप में विचार किया है। निषेध का अर्थ यह होता है कि हमारे ज्ञान की सीमा उस वस्तु तक जाकर समाप्त हो जाती है। अनिर्वचनीय परमार्थ का सर्वोत्तम निर्वचन 'नेति-नेति' है।

'इंद्रिय-संवेदनों के रूप में ज्ञान की सामग्री उपस्थित करना, देश-काल के द्वार से इस सामग्री का निकलना और बुद्धि-विकल्पों के साँचे में ढलकर सार्वभौम और निश्चित ज्ञान का रूप लेना, बुद्धि-विकल्पों की शक्ति का विशुद्ध ज्ञाता से आना, विशुद्ध ज्ञाता का स्वतः सिद्ध अनिवर्चनीय, अद्वय अपरोक्षानुभूति रूप होना और समस्त ज्ञान या अनुभव का एकमात्र अधिष्ठान्न बनना, जीवों और बाह्य जगत् की केवल व्यवहारिक सत्ता होना, इंद्रिय-संवेदनों और बुद्धि-विकल्पों की अतीन्द्रिय तथा आवा-गमनोगोचर परमार्थ तक गति न होना आदि सिद्धांत काण्ट के तो सत्य हैं किंतु संवेदनों को प्रसूत करनेवाले अनेक अज्ञेय जड़ बाह्य परमार्थों के साथ कोई सम्बंध स्थापित न करना, व्यवहार और पारमार्थ के द्वैत को पारमार्थिक बना देना आदि दोष काण्ट के मत में हैं।'[2]

---

१. साहित्य का प्रयोजन—आत्मानुभूति निबंध, पृ० ४१२
आधुनिक साहित्य—आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, प्र० सं०

२. चन्द्रधर शर्मा—पाश्चात्य दर्शन, पृ० १७६ प्र० सं०

काण्ट ने प्रज्ञा को विशुद्ध ज्ञाता का स्वरूप नहीं माना है। फिस्टे ने जड़ अनात्म रूप प्रतीत्यात्मक जड़ जगत् को आत्मा का ही परिणाम माना है। आत्मा की चित् शक्ति ही अचित् के रूप में भापित होती है। चित् और अचित् में कोई भेद नहीं है क्योंकि दोनों एक ही आत्म-तत्व के दो रूप हैं। सत् से चित् नहीं निकलता, चित् से सत् निकलता है। चित् सदा सत् है। केवल सत् ही नहीं चेतन सत् है। अतः अचेतन की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है। वह चेतन का ही परिणाम है। फिस्टे के अनुसार विज्ञान ही वस्तु के रूप में परिणत होता है, वस्तु विज्ञान के रूप में परिणत नहीं हो सकती। अतः विज्ञानवाद वस्तुवाद से कहीं श्रेष्ठ है, क्योंकि विज्ञान के अंतर्गत वस्तु आ जाती है किंतु वस्तु के अंतर्गत विज्ञान का समावेश नहीं हो सकता। फिस्टे ने काण्ट के द्वैतवाद एवं अज्ञेयवाद के दोषों को दूर किया।

फिस्टे के दर्शन में तीन मुख्य सिद्धांत हैं। प्रथम स्वप्रकाश परमात्व तत्व की एकमात्र सत्यता और चित् शक्ति का इसी का स्वरूप होना; द्वितीय, चित् शक्ति के द्वारा, परमात्व तत्व स्वयं को परिच्छिन्न या सीमित करके एक ओर ज्ञाता या विषयी जीवात्मा के रूप में प्रकट होता है और दूसरी ओर स्वयं को ज्ञेय या विषय या अनात्म जगत् के रूप में प्रकट करता है। तृतीय यह परमात्व तत्व अपने स्व संवेदन रूप में ज्ञाता और ज्ञेय के भेद का अतिक्रमण करके जीव और जगत् के समन्वयात्मक रूप में प्रतीत होता है। परमात्मा की इस संकल्प शक्ति से फिस्टे ने तीन नियम निकाले हैं—तादात्म्य, विरोध और पर्याप्त कारण। इनको ही क्रमशः सत्ता, निषेध और परिच्छेद या सीमा कहा जा सकता है। जीवात्मा शुद्ध अद्वैत रूप है, अनात्म जगत् द्वैत रूप और परमात्मा विशिष्टाद्वैत रूप है। पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय परमात्मा की संकल्प शक्ति के तीन रूप हैं। परमात्मा एकसाथ द्रष्टा और स्रष्टा दोनों है। आगे चलकर फिस्टे ने ईश्वर को विशुद्ध अद्वैत रूप में, उनके संकल्प को विशुद्ध चित् रूप में और चित् को विशुद्ध सत् रूप में स्वीकार किया है।

शेलिंग ने कलात्मक भावुकता को महत्व दिया है। 'इसलिए परम तत्व को वे 'समन्वयात्मक प्रकृति', जीव की 'चेतना प्रकृति' और जगत् को 'अचेतन प्रकृति' माना है। फिस्टे के अनुसार शेलिंग भी आत्मा-अनात्मा, जीव और जगत् का, ज्ञाता और ज्ञेय का, चित् और अचित् का आत्यान्तिक विरोध नहीं मानते। ये दोनों एक परम तत्व की अभिव्यक्ति मात्र हैं। चित् शक्ति संकल्प शक्ति रूप है। संकल्प शक्ति का रूप स्व संवेदन है जिसमें आत्मा-अनात्मा के भेद का समन्वय हो जाता है। इसके लिए अनात्म तत्व की अभिव्यक्ति आवश्यक है।

जीव में आत्म तत्व की विशुद्ध अभिव्यक्ति अन्तःकरण की निर्मलता से ही सम्भव हो सकती है। सत्वोद्रेक काल की अभिव्यक्ति विषयि-प्रधान होती है, रागात्मक

अभिव्यक्ति-प्रधान। हिन्दी गद्य-काव्य में इसके दोनों रूप मिलते हैं। इनका विवेचन कला पक्ष में होगा। यहाँ तो आत्माभिव्यक्ति के विशिष्ट अवयवों तक ही विचार सीमित रक्खा जायगा। गद्य-काव्यों में आत्म तत्व का स्फुरण रहस्यात्मक ढंग से हुआ है। ये रहस्यमय उक्तियां जीवन की नश्वरता से उत्पन्न अवसाद का खण्ड-चित्र बड़ी मार्मिकता से व्यक्त करती हैं, साथ ही साधन पथ की उलझनों की ओर भी संकेत करती हैं। इन अनुभूतियों में किसी अव्यक्त चेतन से वैयक्तिक तादात्म्य की भावना वेगपूर्ण आकुलता से दिखाई पड़ती है। इसमें कवि निष्क्रिय बुद्धिवाद और स्पन्दन-हीन वस्तुवाद की परिधि को लाँघकर चिर संवेदन रूप सक्रिय भावना में जीवन के परमाणु खोजता पाया जाता है। इनमें सौन्दर्य, शील, शक्ति, प्रेम आदि सम्बन्धी सूक्ष्म भावनाएँ, व्यष्टिगत जीवन की गहराई तथा समष्टिगत चेतना का विस्तार देनेवाली अनुभूतियों के सांचे में ढली होती हैं। इस प्रकार के गद्य-काव्यों में भावातिरेक की क्रियाशीलता सम्पूर्ण अन्तर्जगत् को स्पर्श कर बाह्य जगत् में अभिव्यक्ति के लिए अस्थिर हो उठती है।

जगत् का अन्तरंग स्वरूप जैसा रहस्यमय है, वैसा ही बहिरंग भी। मानव जीवन में ऐसे क्षण आते हैं जब हम इन रहस्यों के प्रति जागरूक हो जाते हैं। रहस्य की यह सत्ता मूर्त तथा अमूर्त जगत् के सभी परमाणुओं में व्याप्त है। जब हमारी दृष्टि यथार्थता की खोज में खोई-खोई-सी रहती है तो वही कहीं उसे रहस्यमयी दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यह उस स्थिति में होता है जब कवि अखण्ड तथा व्यापक चित् सत्ता के प्रति आत्मसमर्पण की भावना रखता हो तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के तादात्म सम्बन्ध को जानने के लिए बुद्धि और हृदय की असाधारण एकता रखता है। रहस्यवादी के इस आत्म-समर्पण में बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से उत्पन्न प्रत्यक्ष सौन्दर्य की विविधता रहती है तथा असीम हृदय की असीम अभिव्यक्ति। उसके माधुर्यमूलक प्रेम में आधार और आधेय एक रूप ही होते हैं। वहाँ भिन्नता को स्थान नहीं मिलता। रहस्यवादी के आत्मनिवेदन में किसी स्थूल अभाव की पूर्ति की आकांक्षा नहीं रहती वरन् अन्तर्जगत् की निर्मल साकारता रहती है। वह प्रकृति के बिखरे रूपों में गुण प्रतिष्ठा करता है तथा अस्त-व्यस्त सौन्दर्य में प्रतिष्ठा करके समष्टि में व्यापक चेतन की भावना के साथ विलक्षण रहस्यानुभूति करता है। वेदों की ऋचाएँ इस प्रकार की विलक्षण अनुभूति से, दर्शन एवं काव्य के रूपों में, चेतना का आरोप करती भरी पड़ी हैं। देखिये :

उपो देव्यमर्त्या विभाति चन्द्ररथा सुवृताईरयन्ती।
आत्वा वहन्तु सुयमरसो अश्वा हिरण्य वर्णा पृथुयाजसोये॥[1]

१. ऋ० ३-६१-२

अर्थात्, हे कमनीय कान्तिवाली ! अपने चन्द्ररथ पर सत्य को प्रसारित करती हुई आभासित हो। उत्तम नियंत्रित हिरण्यवर्ण किरणाश्व तुझे दूर-दूर तक पहुँचावे।

ऋषियों ने न केवल व्यापारों की योजनाओं द्वारा और न रूपों की समष्टि की अभिव्यक्ति ही द्वारा रहस्यानुभूति प्रकट की है वरन् इस ढंग से भी भावों को व्यक्त किया है जिसमें जगत् के बंधन से मुक्त होने की आकांक्षा के साथ-साथ बंधन के हेतुओं को ज्ञात करने की जिज्ञासा भी है :—

पच्छेनदेनोवरुण दिदृक्षूपो एमिःचिकितुषो विपृच्छम् ।[1]

(हे वरणीय) मैं दर्शनाभिलाषी होकर तुझसे वह दोष पूछता हूँ जिससे कारण मैं यहाँ बँधा हूँ। मैं दर्शन का अभिलाषी जिज्ञासु तुम्हारे समीप आया हूँ।

इतना ही नहीं, प्रकृति के नाना रूपों पर चेतना का आरोप ही करके वे संतुष्ट नहीं हुए वरन् अपनी हृदयगत आकुलता का आरोप प्रकृति के नाना रूपों में भी करके उसे जानने की उत्कण्ठा उनकी वाणी में है। देखिये:—

प्रेक्षसन्ती युवती विरुपे अहोरात्रे प्रवृतः संविदाने ।
यत्र प्रेप्सन्ती रभियन्त्यायः स्कम्भं तं ब्रूहि कतम स्विदेव सः ॥[2]

अर्थात् विपरीत रूपवाले, गौर और श्याम दिन-रात कहाँ पहुँचने की अभिलाषा करके जा रहे हैं ? वे सरिताएँ जहाँ पहुँचने की आकांक्षा से चली जा रहा हैं उस परम आश्रय को बताओ। वह कौन है ?

इतना ही नहीं और भी :—

क्व प्रेप्सन् दीप्यत उर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा ।
यत्रं प्रेप्सन्तीतृभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।।[3]

यह सूर्य किसकी अभिलाषा में दीप्तिमान है ? यह पवन कहाँ पहुँचने की इच्छा से निरंतर बहता है ? यह सब जहाँ पहुँचने के लिये चले जा रहे हैं उस आश्रय को बताओ। वह कौन-सा पदार्थ है ?

ऋषियों ने अपनी उक्तियों द्वारा आत्मवाद तथा सर्ववाद दोनों प्रकार की भावना व्यक्त की है। सर्ववाद का एक उदाहरण पर्याप्त होगा।

अनादि मध्यान्तमनन्त वीर्यमनन्त बाहुं शशि सूर्यनेत्रम् ।।
पश्यामि त्वां दीप्त हुताशवक्त्रं स्व तेजसा विश्वमिदतपन्तम् ।।[4]

तुम्हारा आदि, मध्य और अवसान नहीं है। तुम अनन्त शक्ति युक्त और

१. ऋ० ७-८६-३
२. अथर्व० १०-७-६
३. अथर्व० १०-७-४
४. गीता अध्याय ११, श्लोक १६

अनन्त भुजावाले हो, सूर्य-चन्द्र तुम्हारे नेत्र हैं, दीप्त अग्नि मुख है। अपने तेज से विश्व को उद्भासित करनेवाले ! मैं तुम्हें देख रहा हूँ।

आत्मवाद की अभिव्यक्ति 'अहमात्मा गुणाकेश सर्वभूतेषु भारते' में हुई है।

इस भाव-प्रधान रहस्यवादिता के विषय में श्री शांतिप्रिय द्विवेदी कवि और कविता में लिखते हैं :

"कविता में विचार-प्रधान दार्शनिकता हिमालय के ग्लेशियर की भाँति पुंजीभूत सी लगती है, किन्तु भाव-प्रधान रहस्यवादिता गीत रूप में आर्द्रता के स्रोत-सी जान पड़ती है, मानों उसमें हृदय ही पिघल गया है, दार्शनिकता में तो वक्तृत्व जान पड़ता है, रहस्यवादिता में कवित्व। वक्तृत्वपूर्ण दार्शनिकता अपनी निगूढ़ता के कारण विवेच्य रूप में जितनी ही ऊँचाई तक पहुँचती है, कवित्वपूर्ण रहस्यवादिता संवेद्यरूप में उतनी ही गहराई तक।"[1]

हिंदी गद्य-काव्य में इस चेतन के साक्षात्कार की आकुलता भरी पड़ी है। देखिये :

"ढूँढ़ने पर भी नहीं पाता। बाग में सरों से जा पूछा तू कहाँ है ? लेकिन तेरा पता न मिला। भयभीत हिरनी की चकित आँखों में भी तेरी निगाहों की तलाश की, लेकिन तू न दिखाई दिया।

पूर्णमासी के चाँद में तेरे नूरानी चेहरे को खोजा, लेकिन तू नज़र न आया।

मलयगिरि के नाग और नागनियों में तेरी लहराती हुई जुल्फों की तलाश की लेकिन तूँ न दिखाई दिया।

दरिया की नन्ही-नन्ही लहरों में तेरी तनी हुई भौहों को ढूँढ़ा

लेकिन तूँ—हाँ—हाँ—तूँ न दिखाई दिया।

बदखशाँ के लालों में तेरे होठों की सुर्खी तलाश की लेकिन आह ! वहाँ भी नाउम्मेदी हाथ आयी।

गुलिस्ताने अरम के बेहतरीन गुलाब से तेरे गुले रुख़सार का पता पूछा लेकिन वह भी न बतला सके। छुई-मुई से तेरी नज़ाकत का पता पूछा—लेकिन वह शरमा के चुप हो गयी।

तोते से पूछा—बता उसकी नाक के बारे में कुछ जानता है—वह भी 'टें' करके रह गया। कोयल से तेरी सुरीली आवाज़ की बात पूछी—आह ! वह भी उड़कर दक्खिन जानिब चल दी—दुनिया से तेरी बेवफ़ाई पूछी—वह मुझे पागल समझकर हँस पड़ी—

सब जगह से हारकर मैंने अपने ही दिल से पूछा—उसने कहा 'मूर्ख ! तू !

१. "कवि और कविता" पृ० २३

जिनसे जिसका पता पूछ रहा था—उन्होंने उसकी सारी अदायें चुरा ली हैं। चोरों से ही मालिक का पता पूछना कहाँ की अक्लमन्दी है।"[1]

आकुलता के वेग में अखिल विश्व वाणीधारी प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः चिन्मय सत्ता को जानने का पागलपन ऐसा ही होता है। सम्पूर्ण विश्व ही एकत्व के सूत्र में बँध जाता है। चर-अचर अभिन्न से मालूम पड़ते हैं। सबके साथ संलाप होता है। विचार-विमर्श होता है।

गद्य-काव्यों की रहस्यवादी उक्तियों में दार्शनिकता के सुन्दर स्वरूप प्राप्त होते हैं। देखिये :—

'मैं पागल हूँ। क्या सच? हाँ दुनिया कहती है मैं पागल हूँ—पर क्यों? यही तो प्रश्न है। अच्छा सुनो—मैं उनके आमोद-प्रमोद पर हँसता हूँ और कहता हूँ—जीवन एक पानी का बबूला है, एक बालू का घरौंदा—सब एक दिन ढह जायगा— और बस यही मेरा पागलपन है।[1]

वसुधा पर दलित, पीड़ित और लांछित रजकण सो रहे हैं और आकाश में प्रकाश की घनी रेखा दौड़ रही है। एक अव्यक्त कोलाहल डोल रहा है, तिमिर के घने आवरण में।"[2]

चिंतन की ओर बढ़नेवाली जिज्ञासा भौतिक जगत् की नश्वरता का ज्ञान कराती है और चेतन सत्ता की एकता तथा व्यापकता का अनुभव रह-रह के होने लगता है।

गद्य-काव्यों में आंतर जगत् में जाग्रत अनुभूति का संतुलित रूप प्रकट होता है। कवि के व्यक्तित्व एवं वैयक्तिकता का प्रक्षेप यहाँ एक कलात्मक ढंग से होता है। कवि का लक्ष्य आत्मप्रकाश के साथ ही साथ संवेदनशीलता भी है। उनकी अंतर्ज्वाला से प्रसूत आकुलता गीति में बँधकर संसार के सामने आती है। रायसाहेब की ज्वाला संयमित है, भँवरमल सिंघी की ज्वाला में तड़प है, रामप्रसाद विद्यार्थी की ज्वाला में घनत्व के साथ ही साथ व्यापकता है। 'वियोगी' की ज्वाला में आर्द्रता तथा चतुरसेन शास्त्री की ज्वाला में तूफान है।

रहस्य के उपासकों ने अपने हृदय में सामंजस्यमूलक परम तत्व की अनुभूति की है, इस अनुभूति का प्रकाश उनके व्यवहार में स्निग्धता भरनेवाला हुआ है। उन्होंने अपनी सीमा को असीम में खो दिया है।

पश्चिम के काव्यों में मिलनेवाली रहस्य-भावना का सम्बन्ध प्रकृतिवाद में ही है, पर प्रकृति के प्रत्येक अंग में सजीवता का आरोप कर लेना ही रहस्यवाद नहीं है

---

१. 'काव्य-कलाधर' मई १९३५—'आजाद'

२. 'काव्य-कलाधर' फरवरी १९३५

क्योंकि प्रकृति की खण्डशः यह सजीवता परम तत्व के अखण्ड सजीवता के आश्रय में है। ब्लैक और वर्डसवर्थ प्रकृतिवादी तथा कल्पनाशील रहस्यवादी हैं। उनकी रहस्य भावना में परम तत्व तथा आत्मा की एकता का विकास स्पष्टतः नहीं मिलता और परम तत्व के प्रति आत्मा के प्रेम भाव की कठिनाई भी दिखलाई पड़ती है।

भारतीय रहस्यचिंतकों की वाणी में वेग एवं सामंजस्य है। उनका आत्मवाद समीर के शीतल सुखद स्पर्श के समान भव की ग्रीष्म ज्वाला में मलय की शीतलता प्रदान करता है। जीवन के कल्याण के प्रति उनमें कोमलता के भाव हैं तथा शाश्वत आनंद के खोज की बलवती स्पृहा।

सब ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है, इसी भावना को रहस्य-वादी कवि अपनी रागात्मक वृत्ति से व्यक्त करता है। परन्तु अद्वैत की पूर्ण भावना की प्रतिष्ठा के लिए द्वैत का परोक्ष रूप में समर्थन होता है। ज्ञाता और ध्याता को ही लेकर वह ज्ञेय तथा ध्येय है। इन उभय पक्षों का ऐक्य रहस्यवाद का लक्ष्य है। पर आरम्भ में उपासक तथा उपास्य उभय पक्षों को माना जाता है। यह उपासना रहस्यमयी भावना के स्फुरण का प्रथम सोपान है। अद्वैत की रागात्मिका प्रतिष्ठा अन्तिम सोपान है। 'भारतीय रहस्य-भावना मूलतः बुद्धि और हृदय की सन्धि में स्थित रहती है।[1]

उपनिषदों की तरह हिन्दी गद्य-काव्य में भी प्रकृति के अस्त-व्यस्त सौन्दर्य में रूप-प्रतिष्ठा, बिखरे रूपों में गुण-प्रतिष्ठा, समष्टि में व्यापक चेतन की प्रतिष्ठा तथा रहस्य-भावना का स्वरूप दिखलाई पड़ता है। उपनिषदों की रहस्य-भावना अधिक प्रभविष्णु, सजग एवं दृढ़ है पर गद्य-काव्यों की रहस्य-भावना युगविशेष के प्रभाव से दबी हुई है। देखिये—

रूप-प्रतिष्ठा

"अरुण ने आने के साथ अपने प्रताप की उष्णता सब पर प्रकट कर दी। लोग इस निरकुंश शासक के भावी स्वेच्छाचार और प्रतापाधिक्य का अनुमान कर सिहर उठे।

सप्तर्षि जो रात्रि पर्यन्त आकाश-गंगा में खड़े हो तपश्चरण कर रहे थे, अब दिन-मणि को रक्तपुष्प और रक्तचंदन अर्पित कर पूर्व दिशा में अपने आश्रम को पधार गये।"[2]

तथा

"रवि-किरणों को आता हुआ देखकर अंधकार बहुत भयभीत हुआ। भागने के

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० १२८—रहस्यवाद प्र० सं०

२. पृ० ७३ 'मणिमाला' नोखेलाल

लिए कोई स्थान न पाकर पास की कंदराओं में जा छिपा और बदला लेने की चिन्ता में बैठा रहा। संध्या होते ही अवसर जान वह शीघ्र निकला। किरणों का पीछा किया। किरणें भागने लगीं। पृथ्वी से पेड़ पर चढ़ीं, पेड़ से शिखर पर, पुनः अंतरिक्ष में पर तिमिर वहाँ भी पहुँचा, वे भागती ही गईं और यह पीछा करता ही गया। समय का यही तो फेर है।"[1]

इनकी तुलना उपनिषद् के रूपविधान से करने पर अंतर स्पष्ट हो जायगा। "स्कंध पर भाले, पैरों में पदत्राण वक्ष पर सुवर्णालंकारयुक्त, और रथशोभी मरुतों के हाथों में अग्नि के समान कांतिमत् विद्युत सुवर्णखचित शिरस्त्राण धारण किये हैं।[2]

यह रचना गद्य-काव्यों से अधिक सप्राण एवं अलंकृत है।

गुण-प्रतिष्ठा—

"हे संसृति के मौन साधक !

न मालूम आज किस युग से तुम एक ही करवट पड़े अपनी अटल तपस्या का संदेश मानव को दे रहे हो ?

उतार-चढ़ाव ही तुम्हारे जीवन का अन्यतम सत्य है।

विषाद और वेदना के धुएँ से घिरे, क्षितिज के निकट तुम मानव के लिए एक रहस्य-से बने हो।

जब

तुम्हारा हृदय व्यथा से पिघल बहता है, तो मानव को उसमें सौंदर्य-दर्शन होता है—उसे उसमें कल-कल राग मधुर संगीत मिलता है। किन्तु वह क्या जाने कि यह तुम्हारी संचित व्यथा है जो तुम्हारे हृदय से [illegible] है।

यही तो जीवन का रहस्य है।

हे भोले तपस्वी ! आज तुम्हारा पत्थर हृदय भी आर्द्र हो उठता है। तुम्हारे विशाल वक्षःस्थल पर पड़ी भाग्य-रेखाएँ-सी, ये पगडंडियाँ विश्व को समय का परिचय देती हैं। तुमने अपने जीवन में कितनी धूमिल संध्याएँ, कितने सुनहले प्रात देखे हैं, यह कौन जाने ?

इन पगडंडियों के अंतर में संसार के उत्थान-पतन का एक विस्तृत इतिहास अंकित है, जो इन पर पड़े मानव के पदचिन्हों द्वारा लिखा गया है।"[3]

---

१. 'शैशव रागिनी' शीर्षक ७५

२. अंसेषुव कृष्टयः पत्सु खादयो वक्षः सु रुक्मा मरुतो रथै शुभः।
अग्नि भ्राजसो विद्युतो गमस्त्यौः शिप्राः शीर्षसु वितताहिरण्यमाः॥ ऋ० ५-५४-११

३. "जीवन-रेखा" में—पृ० ४४ : नरेन्द्र

है लोक की कठोरता उस पर बढ़ती जाती है। भारतीय सन्त-साहित्य के इतिहास में इसके असंख्य प्रमाण हैं। प्रस्तुत निबन्ध का विषय इस सम्बन्ध में निर्णय करना नहीं है, पर चूंकि हिन्दी गद्य-काव्य में रहस्य-भावना का विवेचन करना है, अतः यह बात इस सम्बन्ध में याद रखनी चाहिए कि भगवत् अन्वेषियों ने अपने अनुभवों को भगवत् मार्ग पर चलकर जिस रूप में प्रकाशित किया है वही रहस्यवाद हो गया। हिन्दी गद्य-काव्य में आई हुई रहस्य-भावना साधनात्मक रहस्यवाद की अंगी है।

> "रहस्य का उपासक हृदय में सामंजस्यमूलक परम तत्व की अनुभूति करता है और वह अनुभूति परदे के भीतर रखे हुए दीपक के समान अपने अशान्त आभास से उसके व्यवहार को स्निग्धता देती है।"[1]

यह सामंजस्य बाह्य एवं अंतर की एकता का परिणाम है। अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों स्थितियों में समता का भाव आ जाता है। इसे मन का अमनी भाव कहते हैं। ऐसी ही स्थिति में यह स्वर निकलता है, 'इस मन की हार जीत अब मेरी नहीं है।"[2]

विशुद्ध विज्ञान स्वरूप आत्म तत्व ही अविद्या के कारण युष्मत्-अस्मत् प्रत्यय-गोचर, ग्राह्य-ग्राहक, द्वैत-युक्त तथा विषय-विषयि भेदवान जगत्, प्रपंच रूप में भासित हो रहा है। पर जीव अज्ञान में अपने को ही कर्ता या भोक्ता मानता है। कभी-कभी जीव की सीमित शक्ति अपनी विवशता का परिचय जीव को देती है। देखिये :—

> "पत्तों के छिद्रों से वायु जब चलती थी तो उससे स्वर होता था। ऐसा मधुर स्वर, जिसे सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते थे। पत्तों ने समझा मेरे समान रागिनी निकालने वाला इस विश्व में कौन है। उनको बड़ा गर्व होने लगा। सहसा वायु बंद हो गई। अब उनसे कोई राग नहीं मिलता, उन्हें अपनी भूल ज्ञात हो गई।"[3]

अनंत सत्ता से सम्बन्ध हो जाने पर शक्ति का अभाव नहीं रहता। निम्नांकित गद्य-गीत में यही भाव दर्शाया गया है :

> "मेरा पात्र फूटा था। मैंने उसमें जल भरा। उसमें जल कैसे ठहर सकता था। मेरा भरना बेकार होता था, फिर भी मैं भरता ही गया, एक बार दो बार कहाँ तक कहूँ अनन्त बार। मुझे अपनी दीनावस्था पर तरस आने लगा कि मुझे क्यों इतनी शक्ति नहीं मिली कि मैं अपने फूटे बरतन को बदलकर नवीन बरतन ले लूँ। मैं लाचार था। फिर भी भरता ही गया। सहसा मुझे एक निर्मल जल-स्रोत दिखलाई पड़ा। मैंने उसके नीचे अपना पात्र रख दिया। जल ऊपर से गिर

---

१. पृ० १३२—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—रहस्यवाद

२. पूजा पृ० २७ परिवर्तन : रामप्रसाद विद्यार्थी

३. शीर्षक ६७-शैशव रागिनी

कर पात्र में भरने लगा। अब मेरा पात्र रिक्त नहीं रहता। जल आता है चला भी जाता है पर पात्र में जल की कमी नहीं है।"[1]

सीमित साधना से जागतिक सम्बन्धों में लग्न साधक शक्ति क्षरण की अनुभूति करता है। समाधि की क्रिया जान लेने पर असीम की शक्ति उसे सदा प्राप्त होती रहती है और लोकहित के लिए व्यवहार करते हुए वह शक्ति का अभाव नहीं ज्ञात करता। उपर्युक्त रचना में इसी ओर संकेत है।

"समर्पण और आत्म-निवेदन में साधक जितना ही अग्रसर होगा उतना ही उसे इस बात का अनुभव होगा कि भगवती शक्ति ही साधना कर रही हैं।"[2]

ऐसा भाव होने पर साधक अपनी चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। देखिये:—

"यह जानकर कि सब समय तुझे मेरी चिन्ता रहती है, मैं अबसे अपनी चिन्ताओं से निश्चिन्त होता हूँ।
मैं आज तक अपनी जीवन-यात्रा के लिए परेशान रहा। मुझे मालूम नहीं था कि इसकी खबर लेनेवाला तू कभी निश्चिन्त नहीं बैठता। तो ले, अब से मैंने अपनी चिन्ताओं से छुट्टी पाई।"[3]

हिन्दी गद्य-काव्यों में साधन-पथ की कठिनाइयों के जितने चित्र मिलते हैं उन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है : (१) प्रारम्भिक अवस्था (२) यत्किंचित् निर्मलावस्था (३) पूर्ण निर्मलावस्था। पहली अवस्था की कठिनाइयों में मन की परम व्याकुलता दिखाई पड़ती है क्योंकि मन इस प्रकार की कठिनाइयों के लिये अभ्यस्त नहीं रहता। देखिये :—

"व्यथा के ये अँगार कोयलों पर सुलग रहे हैं या राख पर—
बता सकोगे मेरे मालिक ?
व्यथा का ताप कालिमा को लालिमा बना रहा है या स्वयं सफेद पड़ता जा रहा है—देख सकोगे, मालिक ?
व्यथा—अब मेरी उन्नतिवाहिका न होकर अवनति-प्रवापिका हो रही है। इसीलिए तो क्या मार्ग पर नहीं चल पाता। इसीलिये तो कर्म की उपेक्षा कर रहा हूँ।
मेरा साहस नष्ट हो चुका है। मैं कर्तव्य के निर्देश पर नहीं चल पाता।"[4]

---

१ शीर्षक २६—शैशव रागिनी

२. माता श्री अरविन्द पृ० ११, अनुवादक लक्ष्मीनारायण गर्दे प्र० सं०

३. पूजा पृ० २३ : रामप्रसाद विद्यार्थी

४. पृ० ८७—शीर्षक ५१, अपने गीत

दूसरी अवस्था में कठिनाइयों से अशांतिमूल कभावनाएँ उत्पन्न होती हैं पर उनका कार्यकाल थोड़ा ही होता है। उनमें आवेग भी कम ही प्रतीत होता है। देखिये :—

"अनुभूति ने बताया है कि मेरे जीवन का अर्थ है—व्यथा।

अपने इस नन्हे से जीवन-प्रदेश में जिस ओर देखता हूँ धूल-ही-धूल उड़ती दृष्टि पड़ती है। कभी-कभी भ्रम—हाँ भ्रम कहना ठीक होगा, हो जाता है कि अंधड़ का झोंका कम हुआ और मैं मंद मलय पवन लहरियों के चपल नृत्य की कल्पना में अपने का लगाना चाहता हूँ। उसी समय प्रभंजन पूर्वाधिक वेग से चलकर जैसे मेरे मुख पर थप्पड़ जमाता है, मानो स्मरण दिलाता हो कि मेरे लिए जीवन का अर्थ है—व्यथा।···

मुझ अभागे को उत्तप्त, प्रलयकर किरणों के अतिरिक्त निमिष मात्र के लिए भी कल्पतरु की शीतल छाया का दर्शन न हुआ। सदैव अश्रु और ताप ही मिली।···

मैं कर्तव्यच्युत हुआ अवश्य, परन्तु संग्राम-क्षेत्र में भीषण प्रहार होने पर घबराकर पीठ दिखाने से मैंने इसे अच्छा समझा।"[1]

तीसरी अवस्था में साधक कठिनाइयों का स्वागत करता है, उससे घबराता नहीं। ज्वाला को ही शीतलता प्रदान करता है। देखिये :—

"अग्निकुण्ड ! प्यारे कितनी देर से तप्त हो रहे हो, आओ तुम्हें अपने हृदय की वारि-धारा से शीतल करूँ।

क्या इन्द्र-पद का लोभी कोई मानव तुम्हें सतत जाग्रत कर रक्खा है ? यदि यही बात है तो उस स्वार्थी को बुलाओ मैं अपनी सारी तपस्या का पुण्य उसे देता हूँ, वह अनन्तकाल तक इन्द्रासन का भोग भोगे। क्या जगत् के रुदन विषाद, दीनता को ही चिरकाल तक हवन करने का व्रत लिये हो, तो भी मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। तमोगुण के रहते इन्हें विश्व से तो मिटाया नहीं जा सकता, इनके कारण को मिटाना होगा। इनके अस्तित्व को मिटाकर इनकी समाप्ति तुम नहीं कर सकते बल्कि इनमें अपना तेजपुंज डालकर ही। जीवित रहकर इन्हें नहीं मिटा सकते, मरकर ही मिटा सकते हो।"[2]

इस प्रकार के पुरुष गुणों की विक्रिया से क्षुभित नहीं होते। दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानकर सहर्ष भोगते हैं। सुख-दुःख उनके लिये समान होता है। वे केवल प्रारब्ध-भोग करते हैं। इनकी समाज में उपस्थिति ही अनेकों प्रकार के विघ्नों को दूर कर देती है।

---

१. अपने गीत पृ० ६८—बालकृष्ण बलदुआ

२. शी० २३०—शैशव रागिनी

तीसरी अवस्था के भास्वर गतिमान चित्र हिन्दी गद्य-काव्यों में कम मिलते हैं।

गद्य-काव्यों में व्यक्त रहस्य-भावना एक ओर सूक्ष्म तत्व की व्यापकता नापती है तो दूसरी ओर भावावेग में व्यक्त जगत् की गहराई की थाह लेती है। हृदय और बुद्धि का यह समन्वय जहाँ एक ओर भाव की असीमता के लिए खुले मैदान का उपकरण जुटाता है तो दूसरी ओर भावावेग को बुद्धि की सीमा के अन्तर्गत रखता है। रहस्य की यह अजस्र प्रवाहमयी धारा "अविज्ञात" ब्रह्म को 'तत्वमसि' में रूपान्तरित कर देती है। ये रहस्यमयी उक्तियाँ हृदय को परम व्योम तक पहुँचाने के साथ ही पृथ्वी एवं पाताल की पार्थिवता से भी सम्बन्ध बनाये रहती है। रूपों की विविधता में परम तत्व के समष्टि भाव की स्थापना इनका लक्ष्य होता है और यथार्थ सौन्दर्य के माध्यम से परम तत्व के गूढ़ स्पन्दन की प्रतीति कराना इनका कार्य होता है।

(४) **छायावादी**—छायावाद के स्वरूप-निदर्शन एवं विश्लेशण से साहित्य की पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। इन तथ्यों का सूत्रात्मक विवेचन अप्रासांगिक न होगा।

शुक्लजी का शैलीविशेष[१], प्रसाद का वेदना की स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति[२], महादेवी का सर्वात्मवाद[३], गुलाबराय का एकात्मवाद[४], पं. नन्ददुलारे वाजपेयी का आध्यात्मिक पक्ष[५], डा० नगेन्द्र की भावपद्धति[६], डा० देवराज का वैयक्तिक पक्षी की विवृति[७], गंगाप्रसाद पाण्डेय[८] का अज्ञात सप्राण छाया, पं० सीताराम चतुर्वेदी[९] का प्राकृतिक दृश्यों से रहस्यात्मक प्रेरणा तथा प्रेमनारायण शुक्ल[१०] का आध्यात्मिकता का यत्किंचित् संस्पर्श, छायावाद के स्वरूप-निदर्शन के स्तुत्य प्रयास हैं। इन परिभाषाओं को हम तीन वर्गों में रखकर देखेंगे।

पहला वर्ग शुक्लजी का शैलीविशेष है। दूसरा वर्ग डा० नगेन्द्र का जीवन के प्रति भावात्मक दृष्टिकोण है। तीसरा वर्ग महादेवी वर्मा का है। इन्होंने छायावाद को दर्शन की भित्ति पर खड़ा किया है। इसे सर्वात्मवाद कह सकते हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७४७
२. काव्यकला, पृ० ८९
३. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—छायावाद निबन्ध के आधार से।
४. काव्य के रूप, पृ० १२७
५. आधुनिक साहित्य, पृ० ३१८
६. विचार और अनुभूति, पृ० ५९
७. साहित्य चिन्ता, पृ० १९७
८. छायावाद रहस्यवाद, पृ० २४
९. समीक्षा शास्त्र, पृ० १२३९
१०. हिन्दी साहित्य में विविध वाद, पृ० ४६१

शुक्लजी की व्याख्या पर हम पीछे विचार करेंगे।

डा० नगेन्द्र ने छायावाद की परिभाषा में यह स्वीकार किया है[1] कि छायावादी कवि की वृत्ति, विकट यथार्थ और स्थूल से विमुख होकर सुदूर, रहस्यमय और सूक्ष्म के प्रति आकृष्ट हो रही थी—ठोस वास्तव से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न का संसार रचती थी—कोलाहल के जीवन से भागकर प्रकृति के चित्रित अंचल में शरण लेती थी—स्थूल से सहमकर सूक्ष्म की उपासना करती था। आगे चलकर नगेन्द्रजी ने यह स्पष्ट किया है कि यह वायवी अथवा अतीन्द्रिय रूपविधान की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी तो है पर प्रत्यक्ष में पलायन का रूप नहीं है। ठोस यथार्थ से ठोकर खाकर कल्पना और स्वप्न संसार की सृष्टि को प्रत्यक्ष से पलायन यदि नहीं कहा जाय तो फिर और क्या कहा जायगा। वस्तु को व्यक्तिगत भावनाओं में रँगना, क्या यथार्थ का अंकन कहा जायगा ? कवि का व्यक्ति जब समष्टि की भावना को स्पर्श करता है तभी उसके विचार 'वाद' विशेष की संज्ञा प्राप्त करते हैं। साहित्य में उन्हीं व्यक्तिगत अनुभूतियों की महत्ता है जो मानव जीवन की व्यापक पीठिका को छू कर चलती है। छायावाद रहस्यवाद की सीमा का स्पर्श तक नहीं करता और प्रगतिवादी उसे यथार्थ से पलायन मानते हैं, फिर छायावाद का आध्यात्मिक दर्शन क्या है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। आध्यात्मिक दर्शन का सम्बन्ध साधना से है। छायावादी कवियों में प्रसाद, पंत तथा निराला आध्यात्मिक जगत् के साधक कभी भी नहीं रहे हैं, अतः उनकी अनुभूतियाँ दर्शन का आधार कैसे बन सकती हैं। पंत का प्रगतिवाद की ओर आकर्षण छायावाद के आध्यात्मिक दर्शन के खोखलेपन को और भी व्यक्त कर देता है। फिर छायावादी कविता का आध्यात्मिक दर्शन है क्या ? क्या बौद्धिक विवेचन जो अनुभूत हो, वादविशेष का आधार हुआ करता है और वह वादविशेष भी कुछ तो होना चाहिये। जब हम यह कहते हैं कि जायसी रहस्यवादी कवि हैं तो ऐसा कहने का हमारे पास यह पर्याप्त आधार है कि उनकी समस्त रचना रहस्य की भावना से लबालब भरी है। उनकी वाणी की विदग्धता एवं रचना-कौशल में आवेग उसी का परिणाम है। छायावादी कवियों की सम्पूर्ण कृतियों में अज्ञात अनंत की छाया उपलब्ध नहीं होती। केवल कुण्ठाओं के ही प्रकाशन दृष्टिगत होते हैं।

छायावाद को पाश्चात्य स्वच्छन्दतावाद की सरणी में भी नहीं रक्खा जा सकता क्योंकि साहित्य में कोई भाव-धारा अनुकृति के रूप में नहीं आती वह तो प्रेरणा का प्रतिफल होती है। अपने देश की संस्कृति, वातावरण परिवेश, जागृति आदि का प्रभाव साहित्यकारों पर भी पड़ता है। कुछ तो काल के तात्कालिक आवाहन को मान कर सारी चेतना तत्कालीन परिस्थितियों के समाधान में लगा देते हैं, कुछ आदर्श का चोंगा

---

१. विचार और अनुभूति, पृ० ५३ प्र० सं०

पहनकर बड़े होने का स्वांग तो रचते हैं पर मानवी दुर्बलताओं के शिकार बने रहते हैं। आज हमारे अधिकांश साहित्यकार का जीवन बाहर-भीतर से दो है फिर यह प्रश्न उठाया जाता है कि अनुभूति की प्रेरणा का साहित्य में महत्व है या नहीं।

छायावाद की एक प्रसिद्ध रचना को उदाहरण के लिए लेकर इस पर गंभीरता से विचार किया जाय। रात्रि व्यतीत हो गई तारे छिप गये पक्षी चहचहा रहे हैं। अब कविता देखिये:—"बीती विभावरी जागरी, अम्बर पनघट में डुबो रही, तारागण उषा नागरी। खग कुल, कलकल-सा बोल रहा, किसलय का अंचल डोल रहा। लो यह लतिका भी भर लायी नव मुकुल नवल रस गागरी।" इस रचना से संवेदनीय भाव की उतनी प्रबलता नहीं व्यक्त होती जितनी अभिव्यंजना की। छायावाद की अधिकांश रचनाओं के विश्लेषण से यह बात अच्छी तरह ज्ञात हो जायगी कि छायावाद काव्य-शैली का एक प्रकार मात्र है। भावात्मक दृष्टिकोण का विस्तृत मानव जीवन से अलग प्रकाशन, साहित्य में महत्वपूर्ण नहीं होता।

इस उलझे हुए प्रश्न को यहीं समाप्त किया जाता है। प्रस्तुत निबन्ध का यह विषय भी नहीं है किन्तु छायावाद के विषय-निर्धारण के लिये इतना विवेचन करना आवश्यक था।

छायावाद का आगमन द्विवेदीजी के इतिवृत्यात्मक के विरोध में भी नहीं हुआ है। इसके लिये मिले-जुले कई कारण हैं। गाँधीवाद ने राष्ट्रीय जागरण में एक नैतिक चेतना की शक्ति भरी। इस जागरण में भारत के अतीत आदर्शों के प्रति जागरुकता तथा जातीय अहंकार के भाव थे। इसके विरोध में जाने का साहस बुद्धिजीवी वर्ग के पास न रहा, अतः वह भाषा के कलधौत महल में वैयक्तिक विवृत्ति को सजा कर लाया। हृदय की भावुकता का संयोग पाकर, ऐसे भावुकों की रचनायें ही कालान्तर में छायावाद की संज्ञा से विभूषित हुई।

छायावाद की उपलब्धियाँ कुछ तो अनुभूत रहस्यवाद के तत्व हैं और कुछ अन्तर्मुखी वृत्ति के वायवी तथा अतीन्द्रिय रूप। इन प्रवृत्तियों का प्रकाशन गद्य-काव्य में निम्न रूपों में हुआ है :

(१) वेदना की स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति।
(२) प्रकृति पर चेतना का आरोप।
(३) सौन्दर्य तथा प्रेम की भावना।
(४) व्यक्तिवादी दृष्टिकोण एवं दर्शन।

(१) वेदना की स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति—वेदना की व्यक्तिवादी अभिव्यक्ति का आवेग विषय-वस्तु की विशालता एवं व्यापक क्षेत्र का संस्पर्श नहीं करता, उसकी महत्ता, उसकी स्पष्टता, प्रभावपूर्णता तथा अर्थशालीनता में ही निहित रहती

है। किसी भी रचना की महत्ता व्यक्तिविशेष के दृष्टिकोण में ही निर्धारित नहीं की जा सकती, उसमें मानव-मात्र के मूल तत्व ग्रथित होने चाहिये। छायावादी कवियों की वेदना गहरी तो होती है पर उसमें विस्तार नहीं होता। इसी विस्तार के अभाव में उसमें विस्तृत मानव जीवन की मर्म छवियों का आकलन यथार्थ में नहीं हो पाता। देखिये :—

"असफलता का-स्वप्न जब तक मेरी पलकों से उलझा रहा तब तक शबाबे शमा अपनी सम्पूर्ण शक्ति से जलती रही,

और मैंने उस अमर प्रकाश की छाया में बैठकर प्रेम के कई चित्र बनाये, किन्तु सौन्दर्य के अंतिम चरण का स्पर्श करने सफलता मेरे निकट आई तो उसके रंगीन तूफानी अचल ने चिराग़ गुल कर दिया।"[१]

सुख-दुःख, उल्लास-क्षोभ, आह्लाद-उद्वेग मानव के परिवेश में व्याप्त हैं। उच्चतम प्रतिभा-मनीषी साहित्यकार जैवी—मनोवैज्ञानिक प्रकृति को स्पर्श करनेवाली वास्तविकताओं का अंकन इस प्रकार से करते हैं कि सामाजिक को यह प्रतीति होने लगता है कि वे भावनाएँ उनके ही जीवन से बटोरी गई हैं। वे उनमें आत्मीयता का अनुभव कर आनन्द-विभोर हो उठते हैं, पर जहाँ यह भावना होती है कि साहित्यकार ने किसी विशेष परिस्थिति में ऐसा अनुभव किया होगा वहाँ यह आत्मीयता नहीं पाई जाती और रचना की रमणीयता को ठेस पहुँचती है। छायावादी रचनाओं में नितान्त व्यक्तिमूलक वेदना की विवृत्ति होती है और उस वेदना का आधार उनका अतृप्त मन ही होता है। यह अतृप्ति जीवन की संकीर्णता से ही जन्य होती है। विराट जीवन में व्याप्त अतृप्ति का उद्घाटन वे नहीं कर पाते, क्योंकि उनका अपना जगत् होता है। इसीलिए रससिक्त भावुकता का उनमें दर्शन कम होता है। विषय की विराटता से वोधचेतना में चतुर्दिकी प्रसार होता है और रागचेतना की अभिव्यक्ति उदात्त एवं ओजस्विनी होती है। पर जहाँ साहित्यकार युग-युग में व्याप्त प्रश्नों से नहीं उलझता वहाँ उसकी रचना, कालविशेष की ही निधि होती है। जटिल यथार्थ की सूक्ष्मतम भावनाओं को प्रतिफलित करनेवाला साहित्य शाश्वत होता है। सूर, तुलसी तथा कबीर की रचनायें ऐसी ही हैं।

(२) **प्रकृति पर चेतना का आरोप**—'आधुनिक काल में छायावादी कवियों ने प्रकृति में सचेतन साथी खोजने का प्रयत्न किया और अपनी विविध मानसिक प्रवृत्तियों के साथ प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में प्रवेश किया। अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार ही उन्होंने प्रकृति को अनेक रूपों में मूर्तिमान पाया।'[२] 'मदिरा' में तेजनारायणजी 'काक' 'ऋतुराज' से प्रश्न करते हैं ?

१. शीर्षक ४५ पृ० २५—'दुपहरिया के फूल'

२. डा० श्री कृष्णलाल : आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास—पृ० ८१ तृतीय सं०

"ऋतुराज ! तुम अपने गुलाबी बादलों के महल की खिड़की में बैठे हुए पृथ्वी की ओर प्रेमभरी दृष्टि से निहार रहे हो, किन्तु नीचे क्यों नहीं उतर आते ? क्या अभी तुम्हारे आने का समय नहीं हुआ है ?

पृथ्वी की वाटिका के वृक्ष तुम्हारे विरह में सूखकर काँटा हो रहे हैं, पहाड़ियों का शृंगार उजड़ गया है, कोकिल गीत गाना भूल गई है और स्वयं पृथ्वी अनाथा वियोगिनी की भाँति बाल बिखराए हुए धूल में लोट रही है।

आओ ऋतुराज ! अपने कोमल चरणों के स्पर्श से पृथ्वी के उद्यान को हरा-भरा कर दो। अपनी प्रियतमा को फूलों की रंग-बिरंगी साड़ी पहनाकर और अपने हाथों से उसकी अस्तव्यस्त केश-राशि सँवारकर उसमें ओस-बिन्दुओं के उज्ज्वल मोती गूँथ दो।"[1]

तथा—

"हे सजल जलद, क्षितिज के किसी अदृश्य कोने से उठकर तुम सारे नभो-मण्डल को छा लेते हो, आतप-सन्तप्त मही को छाया प्रदान करते हो और रस की बूँदें बरसकर उसे तृप्त कर देते हो। पर मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ। ये सहस्र-सहस्र शुक्तियाँ अपना हृदय खोले समुद्र पर उतरा रही हैं, तुम इन्हें अपनी दान-वर्षा से वंचित क्यों रखते हो ?

समझा, तुम उनके उज्ज्वल हृदय में अपनी छाया देखकर सुखी होते हो।

मेरा कहना मानो। एक बार उन्हें रस प्रदान करो, जो मोती बनें। और तब उन मोतियों के स्वच्छ हृदय से दर्पण का काम लो। टुक सोचो तो, उस महत्ता से तुम कितने सुखी होगे।"[2]

साधना पृ० १०३ शीर्षक 'पूर्ण चन्द्र' भी इसी प्रकार का है :

छायावादी गद्य-काव्यकार अपनी प्रकृति के अनुसार प्रकृति का सुन्दर मानवीकरण किये हैं। देखिए :—

"वसन्त की पूर्णिमा में पावस की मावस में, निदाघ की दुपहरी में, शरद् के प्रभात में एक ही तान, एक ही गति, एक ही ध्वनि से झरझर किस अनन्त वीणा के तारों को निज पाणि-पल्लव से छेड़ रही हो निर्झरिणी ?

रूप मुग्ध अन्ध मलय मारुत तेरा सुललित मनोहर श्वेत अंचल खींच-खींचकर किस मादकता से क्रीड़ा कर रहा है ? सघन विपिन के विशाल विटप झुककर विनीत भाव से तुम्हारी वन्दना कर रहे हैं। कुंज-निकुंज पुलकित हो फूल उठे हैं और सुगन्धित पुष्पों की वर्षा कर विनम्र भाव से तेरी अर्चना कर रहे हैं

---

१. पृ० ५०—'मदिरा' प्र० सं०—तेजनारायण 'काक'

२. 'साधना' पृ० १०२, अनुरोध तृ० सं०

किस अनंत को ढूँढ़ने में इतनी उछल-कूद मचा रही हो ? कितनी कान्ति, अदम्य साहस और निर्भीकता से अपने जीवन-लक्ष्य पर अग्रसर हो। तभी तो तू अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचेगी। धन्य है तेरे साहस, कार्यपरायणता और दृढ़ प्रतिज्ञा को।"[1]

कहीं-कहीं प्रकृति की सचेतनता में आत्मीयता के भाव भी व्यक्त हुए हैं।

"हरित कगारों के बीच, यमुने ! धीरे-धीरे बह !
तेरी प्रशंसा में पुलकित होकर मैं तेरे माहात्म्य को प्रकट करनेवाला एक नवीन स्तोत्र रच दूँगी,
कलिन्दजे ! धीरे बह !
तेरे कल-कल करनेवाले स्रोत के निकटवर्ती निकुंज में मेरा कृष्ण सोया है।
उसके प्रेम-स्वप्न को अपनी तीव्र धारा से भंग न कर।
कलिन्द-नन्दिनी धीरे-धीरे बह !
पिक, शुक, केकी और अन्य कल गान करनेवाले खगवृन्द, काग और पपीहे, तुमसे भी नम्र निवेदन करती हूँ कि अपनी तानें बन्द कर मध्यान्ह के सन्नाटे को और भी घना कर दो जिससे मेरा रातभर का उनींदा माधव सुख की नींद सो सके।
हरित कगारों के बीच हंसतनया, हौले-हौले बह।"[2]

उपर्युक्त रचना की अतिशय मनोज्ञता, उसकी सुकुमार भावनायें यौवन-सुलभ चापल्य एवं सुरभि से भरी हैं।

(३) **सौन्दर्य तथा प्रेम की भावना**—छायावादी कवि विश्व में बिखरे हुए सौन्दर्य को पी डालना चाहता है। उसके हृदय में प्रकृति के वाह्य सौन्दर्य के प्रति आकर्षण है। एक उदाहरण इस प्रकार है :

"शिशिर के अन्त में गुलाबी बयार के गुदगुदे स्पर्श से रसाल बौरा गया है, और उसकी नीली-पीली शुभ्र मंजरियों पर भ्रमर गुंजार रहे हैं।[3]

छायावादी रचनाओं में प्रेम-भावना का पुट इसी जगत् का है। यथा—

"दिल का लबरेज भरा दरिया आँखों में उतर आया है, जिन्दगी के ज्वार में उम्मीदों की रंगीन दुनिया डूब गई है, मौत की मनुहार में भविष्य का धुंधला सा इशारा है, काल किस्मत का फैसला करने को तत्पर है, यौवन बुझ रहा है,

१. विभावरी पृ० ५६ शीर्षक ४८ प्र० सं०—नारायणदत्त बहुगुना
२. दुपहरिया के फूल—पृ० ६—प्र० सं०
३. पृ० २४—शीर्षक ५१—दुपहरिया के फूल

दूपहरिया के फूल झर रहे हैं, स्मृति मौन है, कल्पना उमड़ रही है, और चिर-विछोह की रंजिश से दिल आँखों में उतर गया है।"[1]

दूसरा चित्र भी देखिये :

"ऐ मेरे प्रेम में बौरानेवाले धीर-वीर मनस्वी ! तेरी मुराद पूरी होने का यही क्षण है—वर माँग !

विदाघ के आरम्भ में कोयल की कूज सुनकर आम्र गदरा गये हैं और कैरियाँ पत्तों के झूमकों की डालियों से लटक रही हैं, तरुण तपस्वी। तेरी साधनापूर्ण होने की घटिका आ गई है, वर माँग !

प्राणोपम प्रणयी ? प्रावृट का प्रारंभ है, दादुर और मोर के रव को सुनकर आकाश मेघाच्छन्न हो गया है। पके आम अवनी पर टपक रहे हैं, और फूलों से मैंने अपना झाबा भर लिया है। मेरी अधरामृत की स्वाति-बूँद के तृषार्त्त चातक !

तेरी तपश्चर्या समाप्त हुई, मुनि-वृत्ति छोड़कर मनोवांछित वर माँग।"[2]

कभी-कभी प्रियतम के आगमन की वेकली असह्य हो उठती है। यथा—

"तुम्हारे आने में विलम्ब क्यों हुआ ? यौवन की संध्या अलसा गई, जीवन के मध्य में रूप का ज्वार स्थिर रहा, कोकिला के मौन ने वसंत के आगमन को बाँध रक्खा, उषा के लोल कपोलों पर प्रतीक्षा का पीयूष ज्यों-का-त्यों ढुलका रहा और—

बासी शृंगार ने बेबसी उगल दी !

यौवन की संध्या अलसा गई, न मालूम सैयाँ मोरे,

तुम्हारे आगमन में क्यों विलम्ब हुआ ?"[3]

'न मालूम सैयाँ मोरे' पदावली प्रेम की प्रवहमान पीड़ा व्यक्त करती है। इसमें अधीरता, आकुलता, क्षोभ आदि भावों का सुन्दर चित्रांकन हुआ है।

उच्छृंखल प्रेम का स्वरूप भी गद्य-काव्यों में मिलता है। यथा :—

"यदि मैं राज मार्ग में तेरे अँगरखे की आस्तीन पकड़कर खड़ी हो जाऊँ तो मेरी भर्त्सना न करना, न प्रेम की परंपरा ही तोड़ना।

यदि जनाकीर्ण पथ पर मैं तेरा हाथ अपने हाथ में ले लूँ तो अपनी निष्कलंकता

---

१. पृ० २६—दुपहरिया के फूल—प्र० सं०

२. पृ० २४—शीर्षक ५१—वही

३. शारदीया पृ० २४ प्र० सं० : दिनेशनंदिनी

जनसमूह के सम्मुख प्रकट करने के लिए धृष्टा, दुश्चरित्रा, दुष्टा, कलंकिनी कहकर अपमानित न करना, क्योंकि मैं तेरे प्रेम के लोभ को संवरण न कर सकूँगी।"[1]

वासना की अतृप्ति का चित्र पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित है। संयोग शृंगार के चित्र भी सुन्दर हैं। यथा :—

"सुधांशु स्वप्निल कुमुद-बाला को बारम्बार चुंबन द्वारा अर्धरात्रि में जगा रहा है, और तुम—मुझे,

किन्तु निशि गंधा की सौरभ पर रमती हुई नींद का उच्छ्वास मेरी पलकों को छू गया है और मैं नयन नहीं उघार पाती।

रजनी की निस्तब्ध गंभीरता को भंगकर विरह-विह्वल चक्रवाक आर्तस्वर से चकवी को बुला रहा है, और तुम मुझे, परन्तु पोस्त के लाल फूलों का भार मेरे अधरों पर ढुलक आया है और उनकी माधुरी ने मुझे मौन बना दिया है! निशीथ की इस नीरव बेला में बुलबुल सोये आब से ढके हुए गुल के कान में अपनी फर्याद डाल रहा है और तुम मेरे कानों में अपना शिकवा। लेकिन मृत्यु की चिर सहचरी निद्रा ने मूर्च्छना से मेरे कान भर दिए हैं, और मैं सुनती हुई भी कुछ नहीं सुनती हूँ!!"[2]

प्रेमी के रूप का वर्णन भी पर्याप्त मोहक है। यथा:—

"गुलशन में तेरी लुनाई का कोई प्रकाश सरों नहीं है।
तेरे बालों की हरी-सौरभ, नैपाल और भूटान के जंगलों में स्वच्छन्द विचरने वाले मन्द मोदांकित मृगों की नाभियों में कहाँ?
गुलाब पंखुड़ियों को गिराकर अपना गरेवा चाक करता है पर उसमें तेरे गुल-वदन की-सी महक नहीं।
सदा मैं तेरे गीत गाती हूँ क्योंकि इस महफिल में तुझसा कोई फानूस नहीं है।"[3]

रूप के प्रति आकर्षण का चित्र अत्यन्त मनोरम है। यथा:—

"मृणाल तन्तुओं से कुरंग को न बाँध रंगिणी!
प्रभात की गोधूलि में झड़ी हुई श्वेत कलियों के हास में मेघ मल्लार को थिरकने दे, इन्द्रवधुओं के पलक पराग से

---

१. 'दुपहरिया के फूल' पृ० ६ शीर्षक १६ द्वि० खण्ड
२. दुपहरिया के फूल—पृ० १८—खण्ड द्वि०—शीर्षक २५—प्र० सं०
३. पृष्ठ १५, वही शीर्षक ७

प्रणय-प्रांगण को तर कर।
स्वप्न की मदिरा पिला प्रतीक्षा की अचेतनता दूर कर, लहरों के तल में आँचल का प्रदीप छिपा अँधेरे में जीवन का नर्तन देख—
यह शर-सन्धान की बेला नहीं है रंगिणी !
मृणाल तन्तुओं से इस अनजाने कुरंग को न बाँध।"[1]

प्रेम की भ्रान्ति-जन्य सुख का एक चित्र इस प्रकार है। यथा—

"मयूरी वर वरणिनी कलिन्द नंदिनी के पुलिनवर्ती एक करील निकुंज की पत्रावली विहीन डाली पर एक क्लान्त भटकती कोकिला भूली संध्या की बेला में निमिष मात्र के लिए उतरी, और फिर कल कण्ठ से गाती हुई नव मंजरियों से लदे हुए आम्र के छतनार पर अपना नीड़ बनाने के लिए उड़ गई। करील का रोम-रोम आनन्दोल्लास से हुलसित हो उठा। उसमें जीवन रस-प्लावित हुआ, और उस मुहूर्त की स्मृति उसके कण्टकाकीर्ण जीवन की एक अनमोल निधि बन गई, परन्तु उसे क्या मालूम कि पक्षिणी तो उस करील टहनी पर भूलकर ही बैठी थी।"[2]

मान का एक चित्र द्रष्टव्य है :—

"अहा ! यह सुख कैसा महान है। प्राणनाथ के मधुर मान का कारण मैंने जान लिया। हृदयेश ने किसी बात पर मान नहीं किया है। भला वे मुझसे कभी वाम हो सकते हैं ? उनके मान का एकमात्र कारण मेरे मनाने के हाव-भावों का आनन्द लेना है।

क्या यह अवसर सोच का है ? अरे मुग्ध, सुख में दुःख की भावना !
यह सुयोग तो परम भाग्य से प्राप्त हुआ है। इस समय तो अपनी मनाने की कला के आनन्द से प्लावित करके उन्हें और भी मोह लेना चाहिए।"[3]

(४) व्यक्तिवादी दृष्टिकोण एवं दर्शन—व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की सीमा-रेखा अतल स्पर्शिनी नहीं होती क्योंकि वहाँ साहित्यकार एक सीमित क्षेत्र तक ही हाथ-पाँव मारता है। उसका सीमित क्षेत्र वही होता है जो उसे रुचिकर हो। भौतिकता की आधुनिक निविड़ निशा में नारी छायावादी कवियों के जीवन में विद्युत-सी दिखलाई पड़ी है। कवियित्रियों के लिए पुरुषवर्ग कम आकर्षण का विषय नहीं रहा है। सामाजिक नियंत्रण तथा नैतिक भावनाओं के आतंक से छायावादी साहित्यकारों की

१. पृ० २७—शीर्षक ४८—वही
२. शीर्षक ४० पृ० १२ 'दुपहरिया के फूल'—खण्ड द्वि० प्र० सं०
३. पृ० ५९—साधना—शीर्षक 'मधुर मान'—चतुर्थ सं० राय कृष्णदास

भावना उस स्वच्छन्द परम्परा का पालन नहीं कर सकी जिसके लिये वे विकल थे अतः वासनायें एक छद्मवेशी लिबास में आयीं। इसे जिन्होंने नहीं पहचाना वे वेदों में इसके दर्शन का आधार ढूँढ़ने लगे। वेदकालीन अनुभूतियाँ आज भी होती हैं पर छायावादी कवियों में इसकी संभावना कम है। महादेवी के विषय में यह निर्णय इतना जल्दी लागू नहीं होता। कुछ चित्रों को देने से बात स्पष्ट हो जायगी। यथा :—

"प्रिये ! अब बादलों का झीना अवगुण्ठन हटाकर चांद बाहर निकल आया तो मुझे ऐसा ज्ञात होने लगा मानों तुम्हारा घूँघट धीरे से सरक गया है और मेरी उत्सुक आँखों को तुम्हारी अनुपम रूप-राशि के चिर अभिलिषित दर्शन प्राप्त हो गये हैं। उस समय संसार मानो हमें अकेला छोड़कर अलग हट गया। विश्व के विस्तृत प्रांगण में केवल हम दोनों दिखाई देने लगे। जीवन का छिपा हुआ रहस्य प्रकट हो गया और मेरी समझ में आ गया कि पृथ्वी पर 'प्रकृति' और पुरुष की सृष्टि करने का क्या अर्थ है ?"[१]

तथा—

"रूपसि ! जब तुम उषा की प्रथम किरण-रश्मि के कोमल रूप में धुँधले अँधेरे से ढकी हुई पहाड़ियों पर धीरे से उतर आती हो तो मेरा हृदय असीम आह्लाद से परिप्लावित हो जाता है और मेरी आत्मा बंधनमुक्त होकर तुम्हारी प्रशंसा के गीत गाती हुई अनन्त आकाश में विहार करने लगती है।

प्रिये ! जब फूलों के खिले हुए अधरों पर तुम्हारी मुस्कान खेलने लगती है, जब सरोवर के वक्षस्थल पर तुम्हारे चंचल चरण लहरियाँ बनकर थिरकने लगते हैं, जब मुक्तावन की प्रत्येक हिल्लोल में तुम्हारे गीतों की तरंगें बहने लगती हैं, जब तुम्हारा सौन्दर्य धीरे-धीरे प्रकृति के कण-कण पर बिखरने लगता है तो संसार के रोम-रोम के गान फूट निकलते हैं और विश्व की विराट आत्मा एक अद्भुत आनन्दातिरेक से सिहर उठती है। प्रेयसि ! जब संध्या के गुलाबी बादलों में तुम्हारी सुनहली साड़ी का अंचल खुलकर गिरने लगता है, जब तुम अपने शयन-कक्ष के प्रदीप की शिखा धीमी करके पृथ्वी की ओर अलसाई हुई आँखों से निहारने लगती हो तो संसार सब कार्य छोड़कर पागलों की तरह तुम्हारी अनुपम सौन्दर्य-छबि को निरखने लगता है और विश्व की विराट आत्मा तुम्हारी सौन्दर्य-सुरा का पान कर कुछ क्षणों के लिए चेतनाविहीन हो जाते हैं।"[२]

कवियित्री दिनेशनंदिनी का एक चित्र इस प्रकार है :

"जरा-जीर्ण हूँ तो क्या ? तुम्हारे स्पर्श मात्र से षोडसी बन जाऊँगी,

---

१. 'मधुमयी' पृ० ६९—'मदिरा'—प्र० सं०—तेजनारायण काक

२. पृ० १७ 'मदिरा' प्र० सं०

मैं कुब्जा कुरूपा हूँ तो क्या ? तुम्हारी अधर-सुधा पीते ही उर्वशी को मात करूँगी, मैं निरक्षरा हूँ तो क्या तुम्हारा सत्संग लाभ करते ही शारदीया बन जाऊँगी
मुझे अधमरी समझकर मेरी अवज्ञा न करो देव ! मैं तो तुम्हारा पदाघात सहते ही जी उठूँगी।"[1]

गद्य-काव्य की छायावादी रचनाओं में ईश्वर, जीव, जगत्, माया आदि के स्वरूप पर विचार हुआ है पर इसे आध्यात्मिक कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। इसके लिये बौद्धिक शब्द ही उपयुक्त होगा। उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जाता है। यथा:

"खुदी की चहारदीवारी से निकलकर देखने पर द्रष्टा और दृश्य का भेद लोप हो जाता है,
पैमाना, सुरा, और साकी को देखकर मैं अपना आपा भूल जाती हूँ
वसन्त की प्याली से सिर्फ एक घूँट मुझे पिला दे कि अनल हक का राज मेरी जबाँ पर उतर आये, और मैं मंसूर की शहादत की सबूत बन जाऊँ।"[2]

तथा—

"जिस सौन्दर्य-सागर के एक कण से रँगे हुए इन फूलों पर, इन रंग-बिरंगे बादलों पर, इन पवित्र मुसुकान से सुशोभित बालकों के भोले-भाले मुख पर, इन मनोहर पक्षियों की एक झनक पर जीव तन, मन, धन से निछावर होता है, अरे मूढ़ उसी पर अरूप होने का सन्देह।"[3]

छायावादी विचारकों की ओर से यह कहा जा सकता है कि महाशय आपके पास ऐसी कौन-सी कसौटी है जिस पर कसकर आप यह कहते हैं कि यह रचना आध्यात्मिक नहीं है, बौद्धिक है। छायावादी रचनाओं में अध्यात्म के सिद्धान्त तो मिलते हैं पर साधना की प्रतिक्रिया का संकेत नहीं मिलता है। साधनाकालीन जीवन के तीव्र आघात-प्रतिघात की झाँकी नहीं मिलती। ऐसे स्थलों पर चलता हाथ मारा गया है। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये रचनाएं बौद्धिक हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि आप कैसे जान गये कि साधना की प्रतिक्रिया छायावादी रचनाओं में नहीं व्यक्त की गई तो यह प्रश्न इस निबन्ध का विषय नहीं है, इसका उत्तर अलग से दिया जा सकता है।

अनुभूति से रहित किसी भाव का साहित्य में महत्व उपेक्षणीय होता है, अतः उसके विश्लेषण से भी कोई महत्व-सिद्धि नहीं होती। छायावादी दर्शन के विषय में

१. शीर्षक ३० 'शारदीया'—पृ० ३५
२. द्वि० खण्ड पृ० ३१, 'दुपहरिया के फूल'
३. 'साधना' पृ० १०१

इतना ही कहा जा सकता है कि वह बौद्धिक है। दर्शन की साधनात्मक धारा से उसका सम्बन्ध नहीं है। अतः इस प्रसंग को यहीं समाप्त किया जाता है।

(५) **गाँधीवादी**—मनुष्यों के पारस्परिक राग-द्वेष, प्रेम, संघर्ष, जीवन की संभावनाओं के आधार पर कल्पित आदर्श, जीवन के चिन्तन एवं मनन से प्रसूत आशा, निराशा, हर्ष तथा विषाद के क्षण भी साहित्य के चिरंतन एवं महत्वपूर्ण विषय हैं। विषय जगत् के बटोरे हुए अनुभव-खण्डों को अपनी कल्पनाओं द्वारा मनोनुकूल रूपों में संगठित करके हम व्यक्त करते हैं। हमारा सांस्कृतिक दृष्टिकोण एवं विवेक जितना ही परिष्कृत होगा उतना ही हमारी अभिव्यक्ति सप्राण होगी। किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन-व्यापारों के सामाजिक सम्बन्धों में मानवता के दृष्टिकोण से प्रेरणा प्रदान करनेवाले उन आदर्शों की समष्टि को ही संस्कृति समझना चाहिये।[1]

गांधी के व्यक्तित्व में भारतीय राष्ट्र को प्रेरणा प्रदान करनेवाले ऐसे ही आदर्शों की समष्टि है। भारतीय जीवन की विभिन्न माँगों को, उसके सहस्र प्रश्नों और शंकाओं को, गहराई में जाकर एक स्पष्ट मिलन-विन्दु पर उन्होंने केन्द्रित किया। तत्कालीन युग के समस्त वोलते प्रश्न उनकी विचारधारा में सन्निहित हैं। राजनीति के ऊपर आध्यात्मिकता की छाप के कारण उन्होंने भारत के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व किया। उनके सर्वोदय के सिद्धान्त ने साहित्य में नई भावभंगी प्रदान की है। त्याग और तपस्या का उनका फलित जीवन कितनों के लिए अनुकरणीय बना। भारतीय दर्शन का पूर्ण परिज्ञान किसी गुरु के आश्रम में बैठकर उन्होंने नहीं किया फिर भी उनके द्वारा किये गए सभी तत्कालीन प्रश्नों के समाधान दार्शनिक सन्दर्भों में प्रतिष्ठित हैं। शुभ और अशुभ, हेय और वरणीय, सुन्दर और असुन्दर की चेतना जगाकर उन्होंने भारतीयों की मूल्य-दृष्टि को परिष्कृत किया है। आततायी के प्रति द्वेष की भावना न रखते हुए उसके हृदय-परिवर्तन के लिए ही उसका संयमित विरोध करना, युगविशेष के लिए एक नवीन दर्शन था। अहिंसा की चेतना से समस्त भारतीय क्षितिज आलोकित हो उठा। राजनीति में प्रयुक्त इस दैवी अमोघ अस्त्र ने अंग्रेजी शिक्षा-स्नात युवकों के मानस में आध्यात्मिकता के बीज वपन किये, जिसका परिणाम साहित्य में स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है। अन्तस ध्वनि के संकेतों पर चलने के गांधी के संकल्प ने, पढ़े लिखे भारतीयों में, जो इहलौकिक वासना-पूर्ति में ही रमनेवाले थे, उचित तथा अनुचित विचारधारा का प्रस्फुटन किया। उनकी बौद्धिकता, युग-सम्मत नैतिकता से आवेष्ठित थी, जिसने उनमें चारित्रिक दृढ़ता का भव्य भवन खड़ा कर दिया था। महान् प्राण साहित्य की सृष्टि के लिए इसी चारित्रिक दृढ़ता की आवश्यकता होती है। गाँधी के व्यक्तित्व ने एक ओर जहाँ राष्ट्र पर मर-मिटनेवाले

---

१. छन्दोग्य—८-४-१

असंख्य वीर सेनानी पैदा किये तो, दूसरी ओर आत्मतृप्त, संयमी, तपोनिष्ठ विचारक भी। उनके विषय में यही कहा जा सकता है :

"महात्मा गाँधी ने भारतीय संस्कृति में इतनी अधिक दिशाओं में प्रकाश डाला है कि उनके समस्त अवदान का सम्यक् मूल्य निर्धारित करना अभी किसी के लिए संभव नहीं दीखता।"[1]

गाँधीजी की कार्यपद्धति में स्वतंत्र विचारों की—आत्मपरीक्षा के लिये पर्याप्त अवकाश रहता है। व्यक्ति अनुभव के आधार पर ऐसे विचारों में आस्था स्वयं रखने लगता है। बुद्धि के द्वारा विचार एवं परिस्थिति का विवेचन अपने आप होता चलता है। किसी की त्रुटि का मार्जन आत्मपरिष्कार एवं नवीन दृष्टि से सत्यान्वेषण के द्वारा होता है। इस तरह आदर्शों का ज्ञान प्रयोगों के द्वारा कराना गाँधी के जीवन की विशेषता है। श्री किशोरलाल मशरूवाला ने गाँधीजी के सिद्धान्तों के तीन भाग किये हैं : (१) वर्णों से सम्बन्धित (२) पूर्ण आत्मविश्वास के साथ लोककल्याण की भावना (३) विकेन्द्रीकरण।

गांधी-दर्शन सत्य, अहिंसा तथा सेवा—इन तीन खंभों पर ही स्थित है। इनके द्वारा समस्त पाशविक क्रूरताओं का उपचार होने पर मानवोचित आचार प्रतिष्ठित हो जाते हैं। गांधी का दर्शन कोई नवीन विचारधारा नहीं प्रस्तुत करता। पर आज के युग में इनका समष्टिगत प्रयोग ही इनकी नवीनता है।

गाँधी की भावना से प्रभावित होकर वियोगी हरि 'प्रार्थना' में कहते हैं :

"दीन दुर्बल की पिसी हुई पसलियों को कुचलते हुए वे अल्हड़ जवानी की मस्ती में इठलाते चले आते हैं। अन्धे, लंगड़े, भूखे, प्यासे, दरिद्रों के रोने पर वे लापरवाही से खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं। उन चीखते, कराहते हुए कंगालों की छाती पर कूद-कूदकर वे मौज में झूमते और मधुर राग-रागिनी अलापा करते हैं। निर्दय वे अवश्य हैं और अनजान में जुल्म करते-करते नास्तिक भी हो गये हैं, तभी तो तुझे, हे परमपिता, उन पर दया करनी होगी। उनकी आँखें खोलनी होंगी। उन्हें राह बतानी होगी। प्रभो दया कर, अपने उन उद्धत पुत्रों पर दया कर।"[2]

गाँधीवाद जनसाधारण की निष्काम सेवा पर अधिक बल देता है। 'विश्व-धर्म' में वियोगीजी इसी भाव को व्यक्त कर रहे हैं—

"जन-साधारण की निष्काम सेवा करते हुए ही हम सृष्टि-निर्माता के सच्चे

---

१. संस्कृति के चार अध्याय—दिनकर, पृ० ५२९ प्र० सं०

२. पृ० २७—'प्रार्थना' प्र० सं०

स्नेह-भाजन बन सकते हैं।"[१]

आगे चलकर गाँधीजी के सभी आदर्शों की स्पष्ट झाँकी वियोगीजी दे रह हैं। यथा—

"हाँ ! विश्वधर्म में स्त्री का वही स्थान होगा, जो पुरुष का। अमीर जहाँ बैठेगा, गरीब भी वहीं बैठेगा। न कोई ऊँचा माना जायगा और न कोई नीचा। मतविद्वेषी, वर्णविद्वेषी धार्मिक एवं सामाजिक कानूनों के बनानेवाले न होंगे। अदालतों में धर्म की दुहाई न दी जायगी। ईमान का सौदा वहाँ तय न किया जायगा। मत-भेद तो होगा पर प्रेम-भाव में कोई अन्तर न आने पायेगा। आत्म-समता के सूत्र में विषमता के विविध मोती गुथे रहेंगे। संदेह और भय का स्थान विश्वास और प्रेम ले लेंगे। कैसा कंचन बरसेगा उस दिन पृथ्वी पर, जिस दिन मनुष्य मनुष्य पर विश्वास करने लग जायगा ? विश्वधर्म ही वह दिन हमारे समीप ला सकेगा।"[२]

वियोगीजी का विश्वधर्म और कुछ नहीं है, गाँधी के दर्शन का निचोड़ है। जैसा कि संकेत से पहले ही कहा गया है, गाँधीजी वर्णव्यवस्था में सुधार के आकांक्षी हैं। वे ऊँच-नीच के भेद को नहीं मानते, कर्तव्य सेवा, त्याग, सत्य, अहिंसा आदि पर बल देते हैं, वे ही सब भाव उपर्युक्त रचना में आये हैं। गाँधी ने स्वतंत्रता का संदेश कुटिया से लेकर महलों तक, मूर्खों से लेकर पण्डितों तक तथा नास्तिकों से लेकर आस्तिकों तक पहुँचाया है। वियोगीजी 'अन्तर्नाद' में इसी भावधारा में बह रहे हैं। यथा—

"माँ वसुन्धरे ! इन कायरों को देख लिया न ? आज इन मूक पाषाण मूर्तियों से तू जैसी कुछ भाराक्रान्त हो रही है, कदाचित् ही वैसी कभी हुई हो। ये वही हैं, जिन्होंने तुझ कपिला को, दानकी बछिया की तरह स्वयं ही विदेशियों और विधर्मियों के हाथ में सौंप दिया। ये वही हैं, जिन्होंने अपने जन्मजात अधिकार-कुसुमों को कुचलकर अपनी छाती पर परतंत्रता की सन्तप्त शिला हँसते-हँसते रखली। ये वही हैं जिन्होंने तेरे उन्नत मस्तक पर से स्वाधीनता का ताज उतार तुझे गुलामी की बेड़ियाँ पहनाकर कैद करवा दिया। ये वही हैं, जो कब्र में बैठे हुए भी बेशर्मी से अपने को जानदार कहने का दम भर रहे हैं। आश्चर्य ! तू इन कायरों को अब भी अपने पुनीत अंक में बिठाये है।"[३]

---

१. विश्वधर्म, पृ० ५०

२. विश्वधर्म, पृ० ५५—प्र० सं०

३. अन्तर्नाद, पृ० ५६—प्र० सं०

भारत की दयनीय दशा का वैषम्य के माध्यम से चित्र देकर वियोगीजी निम्न रचना में पाठकों से क्रान्ति से सहयोग की मार्मिक अपील कर रहे हैं। यथा—

"कैसा चित्रांकरण किया है, चित्रकार! तेरी यह सारी चित्रकारी लोक के लिए असामयिक, अनुपयुक्त और अहितकर सिद्ध होगी। जान पड़ता है तेरे रंगों में चटक ही है, स्थायित्व नहीं, तेरी लेखनी में लचक ही है, बल नहीं। इसी कारण तू अपने प्रयासों में असफल हुआ है। यह कैसा चित्र खींचा है भाई! यह तो किसी रंग-महल का चित्र जान पड़ता है। सजावट तो खूब दिखायी है। गगन-स्पर्शी गुम्बजों और कनक कँगूरों की छटा सचमुच ही निराली और चितार्कषिणी है। छज्जे क्या ही मनमोहक हैं। इन झरोखों से क्या ये मदविह्वला चन्द्र-मुखियाँ झाँक रही हैं? अच्छा! यह दरबार का दृश्य है। स्वर्ण-सिंहासन पर एक सुन्दर राजा विराजमान है। ये कैसे राजा हैं! क्षात्र-तेज तो इनमें लेश-मात्र भी नहीं। अस्तु। पीछे छत्र तना हुआ है। आस-पास चाटुकार सरदार और मंत्री हाथ जोड़े खड़े हैं। सामने एक लावण्यवती वीरांगना नृत्य कर रही है। उसके कुटिल कटाक्ष और ललित हाव-भाव पर दरबारी झूम रहे हैं। राजा साहेब को तो कुछ होश ही नहीं। बेचारे मखमली गद्दे पर लुढ़के पड़े हैं। एक हाथ में शराब का प्याला है, और दूसरे में फूलों की गेंद। एक युवती तांबूल खिला रही है। तलवार पैरों के नीचे दबी पड़ी है। चित्र-कौशल तो वास्तव में प्रशंसनीय है, पर है यह सब घृणित और विषाक्त। इस चित्रांकरण का तुमें क्या पुरस्कार दिया जाय? पारितोषिक पाने के पहले अपनी कलुषित लेखनी तोड़ कर फेंक दें, गन्दे रंग उड़ेल दे, निर्जीव उंगलियाँ काट डाल! तुझे कुछ खींचना ही है तो ऐसा चित्र खींच। एक उजड़ा हुआ ग्राम बना! खेत और बाग झुलसे और उजड़े पड़े हों। एक ओर भीषण अग्नि धाँय-धाँय करती हुई जीभ लपलपा रही हो। जहाँ-तहाँ अत्याचार-पीड़ित पद-दलित अस्थि-कंकाल पड़े हों। भूख के मारे नन्हे-नन्हे बच्चे माताओं की गोद में कलप रहे हों। लूट-खसोट और मार-पीट हो रही हो। सर्वत्र सर्वनाश का साम्राज्य हो। चित्रकार! क्या ऐसा चित्र तू खींच सकेगा? यदि हाँ, तो इसका पुरस्कार भी तुझे शीर्ष स्थानीय दिया जायगा।"[1]

इसी प्रकार ६५वें पृ० पर 'आक्रान्त वसुन्धरा', ६८वें पर 'बेसुरी तान', ७१वें पर 'क्लैव्यं मास्म गमः' तथा ७२वें में 'क्रांति का शंखनाद' गाँधीजी की विचारधारा को यथावत् व्यक्त करते हैं।

स्वाधीनता यज्ञ का चित्र 'वियोगी' जी इस प्रकार दे रहे हैं :—

"उसकी वेदी बड़ी ही भीषण है। उसके ऋत्विज वही हो सकते हैं जो स्वार्थ के

---

१. पृ० ५८—अन्तर्नाद प्र० सं०

शत्रु, इन्द्रियों के शासक, स्वतंत्रता के उपासक और जातीयता के प्रकाश हों। उस हवनकुण्ड में असंख्य वीरमुण्डों की आहुति दी जाती है। सैकड़ों लाल अपनी माँ की गोद सूनी करके आप-से-आप कृतान्त कुण्ड में कूद पड़ते हैं। सहस्रों युवक, अपनी प्राण-बल्लभा का प्रेम-पाश तोड़कर उस ज्वालामाला को हृदय पर धारण करते हैं।

'यह सब किस लिए'

यज्ञ देवता के प्रीत्यर्थम्। सुना है कि इन आहुत वीरों के रक्त के एक-एक बूँद से सहस्र-सहस्र वीरपुंगव उत्पन्न होंगे। वे कृत्रिम सभ्यता को दबोचकर पैर के तले कुचल देंगे। पराधीनता को पापड़ की तरह चबाकर अन्याय को मसल देंगे, अत्याचार को पद-दलितकर स्वाधीनता की बांसुरी बजा देंगे। "तथास्तु"[1]

गाँधीजी के अछूतोद्धार से प्रभावित होकर वियोगीजी 'अछूत' शीर्षक में कहते हैं। यथा—

"अछूत ! अछूत !!"

"हैं ! अछूत यह है या तुम ?"

"यही काला-कलूटा जो सामने खड़ा है"

हम लोगों को कौन अछूत कह सकता है ?

इसे ? पददलित गरीब को अछूत मान लेने का आदेश तुम्हें किस न्यायाधीश के इजलास से प्राप्त हुआ है ?

इस अछूत-आईन की प्रसविनी किस व्यवस्थापक की लेखनी है ? किस निर्णायक ने तुम्हें यह निर्णय दे रखा है ?"[2]

(६) **यथार्थवादी**—मानव जीवन में घटित व्यापारों का यथावत अंकन यथार्थ कहलाता है। देश-विशेष की संस्कृति, नैतिकता, आचार-विचार, सभ्यता तथा आदर्श आदि से यथार्थ का रूप बनता है। जीवन की उच्छृंखलता से यथार्थ पशुता में परिवर्तित हो जाता है। जहाँ हम जगत् में परोपकार पर मिटनेवाले देखते हैं वहीं अकारण परपीड़न करनेवालों को भी देखते हैं। सच्चा कलाकार अपनी रचनाओं में दोनों का चित्र उतारता है। इस प्रकार के चित्र समाज के नव-निर्माण को ध्यान में रखकर उतारे जाते हैं, उसमें विद्रोह तथा ईर्षा की भावना नहीं होती। इनका संबन्ध समाज के सभी अंगों से होता है। धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक सभी प्रकार की भावनाएँ यथार्थवादी कलाकार व्यक्त करता है। कहीं तो वह यथार्थ के

---

१. पृ० ७६, अन्तर्नाद

२. पृ० ६६, वही

चित्रण से कोई विशेष तथ्य निकालता है। यथा—

"मलवे के लिए—खँडहर के लिए उसकी विशालता ही गौरव है। जितना बड़ा सौभाग्य जलकर खाक होगा, राख का ढेर उतना ही बड़ा होगा। ऐसे ढेर को हवा उड़ा न सकेगी। वर्षा धोकर साफ न कर सकेगी।"[1]

कहीं वह व्यंग्य-रूप से सत्य का उद्घाटन करके विहित सुधारवादी दृष्टिकोण रखता है। यथा—

"पुजारी ! सुना है तुम्हारे मन्दिर के भगवान पत्थर के हैं।
क्या यह बात सही है ?'[2]

कहीं तात्कालिक समस्याओं का चित्र उपस्थित करता है :

"स्वामी यह महल मैंने ही तुम्हारे लिए बनाया। यश की तरह उज्ज्वल, गीत की तरह मनोहर, कल्पना की तरह सुन्दर और तुम्हारे बड़प्पन की तरह महान है यह। यह तुम्हारा महल जिसे मैंने ही बनाया है।
मैं जीवन-भर ईंट-पत्थरों को पहचानता रहा, इस महल को मैं पहचान न सका कि इसकी एक-एक ईंट मेरे परिश्रम के पसीने से भीगी है। यह मैंने जाना कि इसकी नींव मेरी गरीबी की छाती पर रक्खी गई है। स्वामी ! ओ मेरे दयालु !! क्या मेरी तरह तुम भी भूल गये कि तुम्हारा यह विश्व-विश्रुत महल इन्हीं कमजोर हाथों की निशानी है जिन हाथों को पसारकर आज मैं इस महल के सिंह-पौर पर भीख माँगने के लिए खड़ा हूँ।"[3]

कहीं केवल यथार्थ का चित्रण इस प्रकार से किया जाता है, कि करुणा के भाव स्वतः जागृत हो जायें। यथा :—

"जर्जरित जीर्ण कलेवर और कमर झुकी हुई लकड़ी के सहारे चली जा रही है वह भिखारिन। हाथ-पैर काँप रहे हैं, बदन पर फटे-पुराने वस्त्र वे भी पर्याप्त नहीं। माघ मास के प्रातःकाल की असह्य शीत में जाने कहाँ से चलकर आई है।"[4]

वर्तमान सामाजिक अव्यवस्था का चित्रण साहित्यकार मार्मिकता से दो प्रकार से करता है। या तो पाठकों में करुणा का उद्रेक करके या व्यंग के माध्यम से। वैज्ञानिक सभ्यता के विकास के समानान्तर आर्थिक विषमता ज्यों बढ़ती गई व्यक्ति

---

१. खँडहर पृ० ४७, बन्दनवार प्र० सं० मोहनलाल महतो

२. बन्दनवार, पृ० १५६

३. बंदनवार, पृ० १८१ 'मजदूर की पूजा'

४. भिखारिन शीर्षक पृ० ३६ 'विभावरी से' प्र० सं० नारायणदत्त बहुगुना

(श्रमिक वर्ग विशेषतः) का संघर्ष बढ़ता गया। पाश्चात्य वादों के प्रभाव ने जन-जीवन में पर्याप्त असंतोष भर दिया। साहित्य भी इन प्रभावों से आक्रान्त हो गया है।

(७) **प्रगतिवादी**—स्वच्छन्दतावाद के विरोध में यथार्थवादी कलाकारों ने प्रकृतिवाद तथा यथातथ्यवाद ऐसे नवीन वादों की सृष्टि की। जीवन के विकृत एवं असंतुलित चरित्रों का प्रकाशन फिर तो खुलकर होने लगा। पर इस तरह के अस्वस्थकर साहित्य की सृष्टि अस्वस्थ अभिरुचि की द्योतक है। मानव पूर्णकाम नहीं है, उसमें बहुत से गर्हित दोष हैं पर इसका मतलब यह नहीं है कि ऐसे दोषों की नुमाइश खड़ी की जाय और स्वस्थ प्रवृत्तिवालों को भी उधर ही मोड़ा जाय। बुराइयों के प्रकाशन से ही समाज का नवनिर्माण नहीं हो सकता। समाज के निर्माण के दो मार्ग हैं। एक तो शंकर की तरह विष-पान से, दूसरे राम की तरह संहार द्वारा नवीन विकासशील विचारधारा के प्रसार से। प्रथम में व्यक्ति का व्यक्तित्व इतना महान होता है कि दोषी तथा विकृत भावनावाले व्यक्तियों की दूषित मनोवृत्तियाँ स्वयं समाप्त हो जाती हैं और वे सन्मार्ग पर स्वयं लग जाते हैं, दूसरे में शक्तिप्रयोग द्वारा उन्हें सन्मार्ग पर लगाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि यथार्थ का भोंड़ा चित्रण निरा पशुता का द्योतक है, उद्देश्य-शून्य है। उसमें मानव-विकास के बीज निहित होने चाहिये, तभी वह अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है। जीवन के अस्वस्थ तथा असंतुलित चित्र उपस्थित करनेवाले हिन्दी कलाकारों पर पाश्चात्य दो विचारधाराओं का प्रभाव है। पहली विचारधारा, फ्रायड युंग तथा एडलर की है, दूसरी साम्यवाद की।

फ्रायड के अनुसार कला दमित तथा असामाजिक कुण्ठाओं का श्रेष्ठीकरण है। सामाजिक मान्यताओं के कारण हमारा चेतन मन हमारे मन की अविवेकशील काम-भावनाओं को दबाता रहता है। यही काम-दमित वासना, मानसिक ग्रंथियों का रूप धारणकर अवचेतन में जम जाती है और वहाँ से अपने विकास का अहर्निश प्रयत्न करती रहती है। इस प्रयत्न में समष्टिगत नैतिक अहं से समझौता करना होता है।

फ्रायड की तरह एलडर भी अवचेतन के महत्व को स्वीकार करते हैं, परन्तु वे अभुक्त कामवासना के बदले हीन भावना की ग्रन्थि को जीवन-व्यापार की मूल प्रेरक-शक्ति मानते हैं।

हीन भावना से आक्रान्त व्यक्ति का मानसिक संतुलन बनाये रखने के लिए उतना ही प्रयत्नशील होना उचित है जितना आवश्यक हो, अन्यथा उसके विक्षेपपूर्ण होने की सम्भावना बहुत अधिक होती है। एडलर के अनुसार कलाहीन भावना की ग्रन्थि का क्षतिपूरक प्रयास है।

युंग फ्रायड की तरह मस्तिष्क का प्रधान भाग अवचेतन मानते हैं। व्यक्तित्व का युंग के लिए विशिष्ट अर्थ है। समाज व्यक्ति के चरित्र से जिस रूप में परिचित

होता है, वही उसका व्यक्तित्व है। यदि व्यक्ति का अहं जो चेतना का केन्द्र-बिन्दु है उसके व्यक्तित्व के अनुरूप है तो उसे स्वयं अपने अन्तर्मन का भी परिचय नहीं रहता। उसकी दमित इच्छाएँ, अनजाने व्यक्तिगत अनुभव और साधारण भूलें उसके व्यक्तिगत अवचेतन में संचित रहते हैं। इसके अतिरिक्त युग जातीय अवचेतन की कल्पना करते हैं। जिस तरह व्यक्तिगत अवचेतन हमारे चेतन मन में प्रकट होने के लिए प्रयत्नशील रहता है, उसी तरह जातीय अवचेतन के तत्व भी हमारे चेतन मन में प्रकट होने के लिए प्रयत्नवान होते हैं। परन्तु उनके प्रयत्नों में साधारणतया सफलता नहीं मिलती। पागलपन, या विक्षेप अवस्था में अथवा किसी असम्भावित परिस्थिति में, यथा भूकंप के अवसर पर, अथवा किन्हीं अटपटे स्वप्नों में या कलाकार के कुछ असाधारण क्षणों में जातीय अवचेतन अभिव्यक्त होता है।

युंग काम-शक्ति को यौन-सम्बन्धों से मुक्त समझते हैं। वे उसे बर्गसां की जीवनी शक्ति (Elan Vital) या आधुनिक विज्ञान की शक्ति (Energy) की तरह मानते हैं। काम-शक्ति का प्रयोग भिन्न-भिन्न रूपों में किया जा सकता है। इनके मत से कुछ लोगों की जीवन-प्रेरणा का स्रोत यौन-भावना होती है, और कुछ का हीन भावना की ग्रन्थि से प्रेरित अहं भाव। युंग मानते हैं कि नैतिकता मनुष्य की आत्मा की प्रक्रिया है जो उतनी ही प्राचीन है जितनी स्वयं मानव जाति। निश्चय ही यह फ्रायड के विचारों के बिल्कुल विपरीत धारणा है।

साहित्य व्यष्टि का समष्टि से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। वासना-जनित मानसिक रुग्णता का उपचार साहित्य में सभव नहीं है। उपचेतन की स्वतंत्र अभिव्यक्ति प्रगतिवादियों की वैज्ञानिक खोज है, जिसमें ऐन्द्रिक सुख की अभिव्यक्ति तथा अन्तःसाधना द्वारा भौतिक सत्य की खोज को प्रधानता दी जाती है।

व्यक्ति जीवन के सत्य का साधारणीकरण उसी स्थिति में होगा जब उसके सत्य प्रयोग समष्टिनिष्ठ हों। फिर उसमें व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। शक्ति शाश्वत है और परिवर्तन नश्वर। परिवर्तन शाश्वत शक्ति की गत्यात्मक व्यंजना है। काव्य का स्वरूप इसी प्रकार शाश्वत है। युंग के अनुकूल तथा प्रतिकूल अभिव्यक्ति होती ही रहती है। इनका दृष्टिकोण कभी व्यापक होता है तो कभी संकुचित। संकुचित दृष्टिकोण में सामूहिक चेतना का अभाव रहता है। अतः किसी वादविशेष के आग्रह से आक्रान्त कवि की अभिव्यक्ति अनुभूति की सच्चाई से दूर हो जाती है। साम्यवादी विचारधारा के प्रणेता, पाश्चात्य विचारक कार्लमार्क्स हैं। उनके सिद्धान्तों का आधार हीगेल का द्वन्दवाद है। हीगेल के दर्शन का सार संक्षेप में इस प्रकार है।

निरपेक्ष विज्ञान पहले अमूर्त विज्ञान के रूप में प्रतीत होता है। अमूर्त विज्ञान ज्ञाता-जीव का समष्टि रूप है। यह अपूर्ण और ज्ञेय विषय की ओर इंगित करता है।

तब यह वाह्य प्रकृति का रूप लेता है जो विषय-जगत् का समष्टि रूप है। पहले इसकी प्रतीति जड़ के रूप में होती है फिर वनस्पति जगत् के रूप में इसमें प्राण-शक्ति का स्फुरण होता है, और पशु जगत् में प्राण-शक्ति संवेदन का रूप लेती है तथा विज्ञान के किनारे तक पहुँच जाती है। तब अमूर्त विज्ञान और वाह्य विज्ञान का समन्वय स्वचेतन या मूर्त विज्ञान या आत्म तत्व के रूप में प्रारम्भ होता है। इस समय चेतना और स्वतन्त्रता का विकास होता है। यह विकास मानव-सभ्यता और संस्कृति में प्रतिफलित होता है। विज्ञान का द्वन्दमूलक समन्वय इतिहास में लागू होता है। विज्ञान का प्रति मास अधिकार रक्षा, नैतिक चेतना और सामाजिक संस्थाओं के रूप में होता है। सामाजिक संस्थायें, परिवार, समाज और राष्ट्र के रूप में विकसित होती हैं। फिर कला, धर्म और दर्शन का विकास होता है। दर्शन इसलिए निरपेक्ष विज्ञान की पूर्ण अभिव्यक्ति है। दर्शन आत्मविज्ञान है और आत्मा जीव तथा प्रकृति का समन्वय है। प्रकृति में इतनी शक्ति नहीं कि वह विज्ञान के विकास को रोक सके, उसे विज्ञान के आगे आत्मसमर्पण करना पड़ता है और विज्ञान योग्या बनकर वह कृतार्थ हो जाती है। जब विज्ञान प्रकृति का आलिगन करके अपने समन्वयात्मक स्वरूप की ओर लौटता है तो वह मूर्त विज्ञान वन जाता है। यह वह अमूर्त विज्ञान नहीं रहता जिसने इस विकास-यात्रा के लिए प्रस्थान किया था। यह अब समन्वयात्मक स्वचेतन विज्ञान है। इसने आत्म-लाभ कर लिया है। यह निरपेक्षपूर्ण विज्ञान है। अमूर्त विज्ञान वालक के समान था, मूर्त विज्ञान, वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरुष के समान है। यदि बालक और वृद्ध एक ही सत्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन कर तो भी उस प्रतिपादन में अन्तर है। बालक उस सत्य का उच्चारण मात्र करता है। उसने उस सत्य के वास्तविक अर्थ को अनुभूति नहीं किया है। किन्तु जब वृद्ध उस सत्य का प्रतिपादन करता है तो उसके पीछे उसके जीवन-भर का अनुभव अन्तर्निहित है। इसी प्रकार समस्त विज्ञान इस निरपेक्ष विज्ञान की अपने तुतले शब्दों में अभिव्यक्ति करते हैं और यह निरपेक्ष विज्ञान समस्त विज्ञानों की पूर्ण अभिव्यक्ति है।

प्रत्येक प्रकार का विकास परस्पर विरोधी तत्वों के संघर्ष से निष्पन्न होता है। यही हीगेल का द्वन्दवाद है। हीगेल के द्वन्दवाद का प्रयोग मार्क्स ने समाज एवं इतिहास की व्याख्या में बड़ी योग्यता से किया है। व्याख्या इस प्रकार है।

इतिहास, कानून, नीति-नियम, धर्म-नियम, राजनियम, विविध सांस्कृतिक संस्थायें एवं प्रवृत्तियाँ नित्य नहीं अपितु युगानुसारी होती हैं। विभिन्न आर्थिक युगों में वे भिन्न हो जाया करती हैं। मानव समाज का प्रत्येक युग, पिछले युग की अपेक्षा प्रायः प्रगतिशील हुआ करता है। मानव समाज की प्रगति आवश्यकता, परवशता, अथवा परतन्त्रता से निरपेक्षता, आत्मवशता, स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता की ओर होती

है। मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति के विभिन्न विभाग एवं संस्थायें सर्वतंत्र स्वतंत्र नहीं, अपितु एक विशाल सम्बन्ध सूत्र में पिरोई हुई हैं। सभ्यता इन संस्थाओं का संकलन मात्र न होकर एक एकात्मक सृष्टि है। अतः समाजविशेष की धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षिक, साहित्यिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि प्रवृत्तियों को समझने के लिए इन सब की अन्तर क्रिया, प्रभाव-विनिमय प्रक्रिया से परिचित होना परमावश्यक है। केवल मात्र एक की जानकारी पर्याप्त नहीं है।

मार्क्स के तीन सिद्धान्त विशेष महत्वपूर्ण हैं :—

(१) सभ्यता एक समष्टि है जिसकी अंगभूत आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक साहित्यिक, धार्मिक, आदि प्रवृत्तियों को भेद-दृष्टि से समझना असम्भव है। ये सारी प्रवृत्तियाँ एक सूत्र में आबद्ध होती हैं, इसे हम सभ्यता का सर्वात्मक या समष्टिमूलक दृष्टिकोण कह सकते हैं। (२) अर्थ-व्यवस्था इस समष्टि की आधारशिला अथवा नींव है। संस्कृति, राजनीति, नीति, कला-साहित्य ऊपरी ढाँचा है। (३) वर्गवाद-इतिहास का अर्थ है एक अविच्छिन्न सामाजिक प्रवाह—जिसमें सदा ही वर्गविशेष का प्रभुत्व होता है, समाज में आर्थिक शक्ति तथा राजनीतिक शक्ति भी कभी इस वर्ग के तो कभी उस वर्ग के हाथ में रहती है। इन शासक एवं शासित वर्गों में सदा प्रत्यक्ष या परोक्ष संग्राम चलता रहता है।

हर्डर और काण्ट के अनुसार विकास की गति, हिंसा से अहिंसा की ओर, हीगेल के अनुसार परतन्त्रता से स्वतन्त्रता की ओर, हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार सरलता से जटिलता की ओर तथा बर्कले के अनुसार भौतिकता से मानसिकता की ओर होती है। कार्ल मार्क्स भी तत्वतः रेखाकार प्रगतिवादी है। उसके अनुसार मानव जातिमात्र का विकास, आदिम साम्यवाद से वर्गविहीन एवं राज्यविहीन वैज्ञानिक साम्यवाद की ओर होता है। आन्द्र वेतन को मार्क्सीय साम्यवाद का सुथरा एवं निखरा रूप ही मान्य है।

मार्क्स और एंगेलस की यह मान्यता कि आर्थिक कारण ही इतिहास में निर्णायक होते है, भ्रामक हैं; वस्तुतः निर्णायक तत्व जीवनी शक्ति होती है।

"प्रगतिवाद पर मार्क्स के विचारों का प्रभाव है। यह नहीं, 'वह काव्य में उसका अक्षरशः अनुवार चाहता है।"[1]

प्रगति का साधारण अर्थ आगे बढ़ना होता है, पर जिस दृष्टि को ध्यान में रखकर इसका प्रयोग हुआ है वह एक विशेपता रखती है। उसकी प्रगति की अपनी परिभाषा है और उसका आधार साहित्य के बाहर द्वन्दात्मक भौतिकवाद में है। भौतिकवाद पदार्थ की शक्ति में विश्वास करता है उसकी दृष्टि में पदार्थ स्वभाव से

---

१. पृ० २३१ सामाजिक समस्या—महादेवी का विवेचनात्मक गद्य—प्र० सं०

ही गतिशील है उसे ब्रह्म या ईश्वर के रक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह तो पदार्थ के भीतर वर्तमान विरोधी तत्वों के नैरन्तर संघर्ष का सहज परिणाम है। वह जगत् के उद्भव, संरक्षण और विनाश—तीनों के लिए किसी आधिभौतिक सत्ता को नहीं मानता। उसमें ये तीनों क्रियायें अपने आप ही होती रहती हैं, वह आध्यात्मिक एवं आधिदैविक को भ्रम-जाल मानता है, उसकी दृष्टि में संसार किसी ईश्वर या मनुष्य की सृष्टि नहीं, वह गतिशील पदार्थ की एक ऐसी जीवित अग्निशिखा है जो अंशतः उर्ध्व विकास और अंशतः पतन की ओर उन्मुख है।[1]

मार्क्स के अनुसार भौतिकवाद होने का अर्थ उस वस्तुगत सत्य को स्वीकार करना है जिसे हमारी इन्द्रियाँ प्रकट करती हैं। वस्तुगत सत्य (यानी ऐसा सत्य जो मनुष्य या मानव जाति पर निर्भर नहीं है) स्वीकार करने का मतलब किसी-न-किसी तरह से निरपेक्ष सत्य को ही स्वीकार करना है।[2]

किसी तरह मारिनेत्ति[3] ने प्रगतिशील साहित्य का सृजन एवं प्रचार किया, रूस की राज्यक्रान्ति के बाद मार्क्सवादी विचारधारा कैसे योरोपीय साहित्य में प्रधान हो गई और भारत में प्रेमचन्द आदि ने उसे कैसे अपनाया, आदि विषयों का ऐतिहासिक विवेचन पिष्टपेषण मात्र होगा और प्रस्तुत निबन्ध से उसका सीधा सम्बन्ध भी नहीं है। यहाँ तो हमें प्रगतिवाद की मान्यताओं एवं उसके प्रभावों का ही विशेष उल्लेख करना है।

समाजवाद तथा साम्यवाद की विचारधारा से पूर्णतया आक्रान्त प्रगतिवाद साहित्य को वैयक्तिक नहीं मानता। वह 'समाजवाद की साहित्यिक अभिव्यक्ति' है।[4] वह अर्थ की पशुता मिटाकर सम्पूर्ण मानव के लिए आवश्यक ऐहिक भोग की उपलब्धि पर वल देता है। संक्षेप में उसकी निम्नलिखित भावनाएँ हैं :

(१) **परंपरागत विचारों का विरोध**
(२) **शोषकों के प्रति आक्रोश**
(३) **शोषितों के प्रति सहानुभूति**
(४) **क्रान्ति का स्वर**
(५) **साम्यवादी विचारकों एवं विचारों का मण्डन**

हिन्दी गद्य-काव्य पर इन्हीं भावनाओं का प्रभाव देखना है।

---

१. पृ० ६२ विचार और अनुभूति—डा० नगेन्द्र—प्र० सं०
२. भापा साहित्य और संस्कृति—डा० रामविलास शर्मा—पृ० १३१
३. इटली निवासी मारिनेत्ति सन् १६०७ में प्रगतिशील विचारधारा को जन्म दिया था।
४. डा० नगेन्द्र : विचार और अनुभूति—द्वि० सं०, पृ० ६३ प्र० सं०

(१) **परम्परागत विचारों का विरोध**—प्रगतिवादी साहित्यकार परम्परागत आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रतीतियों में विश्वास नहीं करता। उसकी दृष्टि में सृष्टि का मूलाधार कोई दूसरी सत्ता नहीं है, केवल पदार्थ ही है। वह मानव को ही समस्त शक्तियों का शासक मानता है। रामवृक्ष बेनीपुरी 'गेहूँ और गुलाब' में यही भाव व्यक्त कर रहे हैं। यथा :—

"मानव कल्पना का ही रहस्यवादी प्रतीक है भगवान की कल्पना।
विशुद्ध भगवान का अर्थ है, विशुद्ध-मानव।
स्वप्न भगवान का अर्थ है, स्वप्न-मानव।
सर्व सत्ताधारी भगवान वह निरंकुश राजा है जो प्रजा का उत्पीड़न या शोषण करता है।
सर्वज्ञ भगवान वह पुरोहित है जो जनता के अज्ञान पर अपना व्यापार चलाता है।
राजनीति में भगवान का नाम षड्यन्त्र करना, संपत्ति में भगवान का काम अधिकाधिक को दरिद्र बनाना है।
मान्व ने भगवान को अपने से महान कभी नहीं बनाया।"[१]

प्रगतिवादी की दृष्टि में भगवान् प्रजा के उत्पीड़क एवं शोषक हैं। वे अधर्म का नाश करनेवाले तथा धर्म की स्थापना करनेवाले, अनाथों के नाथ तथा अशरण को शरण देनेवाले भगवान नहीं हैं। जिस भगवान् के स्वरूप का ज्ञान सब प्रकार के अभावों को स्वेच्छा से स्वीकार करके ऋषियों ने अनन्त काल के सतत पुरुषार्थ से किया, वही आज अल्प श्रमसाध्य हो गया है? किसी भी विषय का ज्ञान विशेष परिस्थितियों में उस विषय के विशेषज्ञ के सहायता की विशेषता रखता है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय के ज्ञान के लिए सूक्ष्मतम बुद्धि की अपेक्षा होती है। लौकिक दृष्टिकोण से इस प्रकार की बुद्धि नहीं बन पाती। बाह्य प्रलोभनों से हटकर, अन्तर्मुख होने पर ही ईश्वर की सत्ता का भान होता है। जो ईश्वर अणु से भी अणु है, महान से भी महान है, उसके ज्ञान के लिए बुद्धि को इतना महान बनाना होगा कि वह बड़ी-से-बड़ी शक्ति से एकाकार तथा छोटी-से-छोटी शक्ति से तादात्म्य का भाव स्थापित कर सके। भोगों के सम्पर्क, चिन्तन एवं मनन से शक्ति क्षीण होती है इनसे विरत होने पर ही बुद्धि में शक्ति-सम्पन्नता आती है। तुलसी-सूर ने इसी प्रकार उस स्वरूप का ज्ञान किया है।

प्रगतिवादी कलाकार अपनी शक्ति तथा पुरुषार्थ में अधिक विश्वास करता है। निम्नलिखित उद्धरण इस बात को स्पष्ट कर देगा। यथा :

"मानव की शक्ति के तीन सपने हैं—
काम करने का सपना,

१. डा० नगेन्द्र 'विचार और अनुभूति' द्वि० सं० पृ० ६३

रात का सपना,
छलना का सपना,
इन सपनों में एक ही अमर सपना है—काम करने का सपना।
सृजनात्मक शक्ति का यहीं सच्चा सपना है।
इस सपने का ही नाम जीवन है।
चाहिए ऐसा सरल स्वभाव—
मानव, जिसमें सरल साहस हो,
मानव, जिसमें सरल धुन हो,
मानव, जिसमें मानवोचित अनुभूति हो,
मानव, जो सीधा देखे,
मानव जो सीधा सोचे
मानव—जो सीधा काम करे।
चाहिए जीवित मानव—जो हमें मृत्यु से बचाये। परमात्मा की ओर हमने बहुत देखा, अब अपने पुरुषार्थ की ओर देखें।"[1]

(२) शोषकों के प्रति आक्रोश—वर्तमान समाज अधिकांशतः आज दो वर्गों में विभक्त हो गया है। पहला वर्ग शोषण करता है, दूसरा शोषित होता है। शोषक-वर्ग, पूँजी से अधिकाधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है, और इस लाभ का कुछ भी अंश श्रमिक को देने के लिए तैयार नहीं है। शोषकवर्ग के वैभव का आधार है सर्व-हारा वर्ग। पर उसकी ओर वह ध्यान नहीं देता। इसीलिए प्रगतिवादी कहता है :

"वह जो चमकीली, सुन्दर, सुघड़ इमारत है, वह किस पर टिकी है? इसके कंगूरों को आप देखा करते हैं, क्या कभी आपने इसकी नींव की ओर भी ध्यान दिया है?......
सुन्दर इमारत बने, इसलिए कुछ पक्की-पक्की लाल ईंटों को चुपचाप नींव में जाना है।"[2]

कहीं इस आक्रोश का स्वर अधिक स्पष्ट तथा तीखा है—

"दुनिया जाग रही है, मजदूर सो रहा है, उसे सोने दो, उसे न जगाओ। तुम खाओ-पियो, ऐश-आराम करो, सैर करो, सिनेमाओं और थियेटरों में नाच और गानों का आनंद लूटो।
तुम जागो क्योंकि तुम्हारा भाग्य जाग रहा है।

---

१. पृ० ४४—'गेहूँ और गुलाब' प्र० सं० रामवृक्ष बेनीपुरी
२. पृ० २२—'गेहूँ और गुलाब'—रामवृक्ष बेनीपुरी

किन्तु यह श्रमजीवी दिन के कठिन परिश्रम से परिश्रान्त होकर कंटकीली भूमि में सो गया है।
उसके लिए धरती का बिछौना और आकाश का चँदोवा तना हुआ है। उसके पास खाने, पीने और पहनने के लिए पैसा कहाँ? उसके पास खेल-तमाशे और नाच-गान के लिए समय कहाँ? सैर-सपाटे के लिए उसके पैरों में शक्ति कहाँ? उसे जगाने का प्रयत्न न करो क्योंकि उसका दीपक अब बुझना ही चाहता है। उसे चिर-निद्रा में सोने दो क्योंकि उसका भाग्य भी सो चुका है मजदूर।"[1]

(३) शोषित के प्रति सहानुभूति—शोषितवर्ग जीवन की आवश्यकताएँ नहीं जुटा पाता। उसका जीवन दुःख के गुरुतर भार से पिसा जा रहा है। उसकी दयनीयता का एक चित्र इस प्रकार है—

"अरे! यह क्या? वह देखो। वह कौन गरीब किसान सामने इस निर्दयता से पीटा जा रहा है? बेचारा कोड़े की मार से तड़प रहा है। पास की झोपड़ी में उसकी वृद्धा माता, पत्नी और दो छोटे बच्चों के अस्थिपिंजर अपने क्षीण स्वरों से रो रहे हैं। यही है धनकुबेरों की वीभत्स स्वेच्छाचारिता और मूर्तिमान दारिद्रय की दुर्दशा। क्यों जी क्या गरीब किसान पूँजीपतियों की गुलामी करने को ही पृथ्वी पर आते हैं? जोतते हैं, बोते हैं, कड़े-से-कड़ा परिश्रम करते हैं और खाने के वक्त ठीक उसी समय, उनके मुँह से आगे का कौर उनसे और उनके बिलखते हुए बच्चों और रोते-चिल्लाते बूढ़े माँ-बाप से छीन लिया जाता है। किसके लिए? धनिकों की उदर-पूर्ति के लिए—रहने दो, उदर-पूर्ति नहीं, नीच वासनाओं की तृप्ति के लिए।"[2]

(४) क्रान्ति का स्वर—समाज में फैले हुए अर्थगत वैषम्य को मिटाने के लिए प्रगतिवादी क्रान्ति का आवाहन करता है। इसीलिए उसकी रचनाओं में इसके स्वर गूँजते रहते हैं—वह ऐसी क्रान्ति चाहता है जिसमें गतानुगत समस्त विषमताएँ ध्वस्त हो जायँ क्योंकि इन्हीं की ध्वंस आधारशिला पर वह नवनिर्माण का भवन खड़ा करेगा। इसीलिए वह क्रांति का आवाहन करता है—

"वीरों के हुंकार से नभस्थल बहरा हो जाय—भावनाएँ तलवारों पर नाचने लगें, चारों ओर धुआँधार समर मच जाय—ओले पड़ें—बिजलियाँ गिरें—बादल कड़क-कड़ककर आपस में लड़ जायें ··
मेरा हृदय तभी शान्त होगा वीरो।"[3]

१. 'पृ० ३९'—विभावरी, प्र० सं०—नारायणदत्त बहुगुना
२. पृ० ६२—'मदिरा'—तेजनारायण 'काक'
३. 'अनुभूति और विचार' पृ० १०४—'नरेन्द्र' प्र० सं०

(५) **साम्यवादी विचारकों एवं विचारों का मण्डन**—प्रगतिवादी कलाकार साम्यवादी विचारधाराओं से अपनी रचनाओं को मण्डित करता है। उसके साहित्य में साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रचार की छाप रहती है। यथा—

"रोना मैं बहुत रो चुका अब नहीं रोऊँगा। करुणा भी स्यात् मेरे क्रन्दन को सुनकर रो देती, पर तुम्हारा हृदय न पसीजा—न पसीजा, आज मेरे रोदन ने विप्लव का रोष-भरा गायन बनकर तुम्हारे सौदागरी सिंहासन को हिला दिया है।

प्यार मैंने जी-भर किया, अब नहीं कर सकूँगा। तुम्हारी पैशाची प्रीति में मैं अपने को सुरक्षित समझता था, पर तुमने अपने वचनों को दो दिन भी न निभाया—न निभाया। मेरे प्यार का आँखों में अंगार बरसाता देखकर आज तुम्हारा दिल दहल उठा है। शान्ति को मैंने सदा अपनाया, अब धैर्य नहीं धरूँगा। दूध की नदियाँ वाली शस्य-श्यामला में ही मैं बूँद-बूँद और दाने-दाने के लिए धक्के खाता फिरा हूँ पर मेरी पुकार तुम्हारे कानों तक न पहुँची—न पहुँची, आज मेरी गुहार क्रान्ति की क्रुद्ध-हुंकार बनकर तुम्हें बिस्तर बाँधने के लिए व्यग्र कर रही है।

धोखा मैंने खूब खाया, अब नहीं ठगा जाऊँगा। आज तो हमारा यही सम्मिलित राग है 'कमाने वाला खायेगा'"[1]

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि हिन्दी गद्य-काव्यों में प्रगतिवाद की निम्न भावनाएँ वर्तमान हैं:—

(१) प्रगतिवादी ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करता।

(२) प्रगतिवादी भौतिकता की ओर ही उन्मुख है, गांधी, अरविन्द आदि के विचार उसके लिए वरणीय नहीं हैं।

(३) प्रगतिवादी साहित्य समाज का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है इसीलिये कहीं-कहीं उसमें अश्लीलता के भी दर्शन होते हैं।

(४) प्रगतिवादी साहित्य सिद्धान्त-विशेष से ही प्रेरित होकर स्वरूप-सृष्टि करता है।

(५) प्रगतिवादी साहित्य का जीवन-विषयक अपना साम्यवादी दृष्टिकोण है। अतः उसमें साहित्यकार की मौलिकता के यथार्थ चित्र नहीं मिल पाते। साहित्यकार को बँधे-बँधाये नियमों को ध्यान में रखकर चलना होता है।

(६) प्रगतिवादी साहित्य शाश्वत साहित्य नहीं है, परिस्थितियाँ बदल जाने पर इनका कुछ भी मूल्य न रहेगा।

---

१. 'हंस' मार्च १९४७ : हरिमोहनलाल श्रीवास्तव

(७) प्रगतिवादी साहित्य में भारत की जातीय सांस्कृतिक चेतना का अभाव है।

(८) प्रगतिवादी साहित्य भौतिक साधनों के समान वितरण पर तो बल देता है पर नारी-समस्या के समाधान का उसके पास कोई हल नहीं है। जिसका हल न करने से पुरुषों का जीवन सदा अशान्त रहेगा।

(९) प्रगतिवादी साहित्य विश्व में केवल मानव को ही सुखी बनाना चाहता है, मानवेतर प्राणियों की उसे चिन्ता नहीं है। क्या वायु, जल, प्रकाश, पृथ्वी आदि मानवों के ही लिये बनाये गये हैं?

(८) प्रयोगवादी—सैद्धान्तिक कट्टरता का प्रतिपादन जब साहित्य में होने लगता है तो भावानुभूतियों के प्रकाशन में नवीनता का ह्रास होने लगता है। यह कट्टरता युग-सम्बन्धी अवगति के प्रसार को बाधित एवं सीमित कर देती है। श्रेष्ठ साहित्यकार उन्मुक्त भाव से जीवन-जगत् की संवेदनाओं को ग्रहण और व्यक्त करता है। प्रगतिवाद पर यही आरोप है। अतः साहित्य में नूतन प्रयोग हुए। इन प्रयोगवादी साहित्यकारों ने शैलीगत भिन्नता तो उपस्थित किया पर उनमें स्वतंत्र व्यक्तित्व का अभाव है। युगविशेष की परिवर्तित बोधवृत्ति उस काल के प्रतिनिधि कलाकारों के रागतत्व को प्रभावित कर उनके व्यक्तित्व का ग्रथन नवीन ढंग से करती है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्रखर प्रतिभावाला कलाकार अतीत की सांस्कृतिक विरासत, सर्वमान्य एवं स्वयं-सिद्ध मौलिक सत्वों को अस्वीकार कर बैठता है। वस्तुतः उसका वर्तमान अतीत से शृंखलाबद्ध होता है। उसकी उपलब्धियों में अतीत का ज्ञान तथा वर्तमान की देन मिली रहती है। चाहे वह गला फाड़-फाड़कर चिल्लाए कि अतीत के वस्तुबोध एवं भावचेतनाएँ वर्तमानकालिक जीवन-प्रयोगों के लिए साध्य एवं अनावश्यक हैं, पर उसके समूचे व्यक्तित्व पर यदि तटस्थता से विचार किया जाय तो यह बात निर्विवाद सिद्ध होगी कि उसने वर्तमान के भवन को अतीत की नींव पर ही खड़ा किया है। हाँ, यह दूसरी बात है कि नींव पृथ्वी की गहरी तलेटी में रहती है, स्थूल-बुद्धि से शायद देखी न जाय।

'तार सप्तक', 'प्रतीक'[१], 'पाटल'[२] तथा 'दृष्टिकोण' प्रकाशित प्रयोगवादी रचनाओं के ऐतिहासिक विवेचन एवं मान्यताओं में न उलझकर हम यहाँ प्रमुख गद्य-काव्य सम्बन्धी प्रयोगवादी साहित्यकारों के मतों का उल्लेख करके यह देखेंगे कि उनका व्यक्त मत कहाँ तक समीचीन है।

"प्रयोगशील कविता में नये सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध भी और उनको पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।"

१. 'तार-सप्तक' का प्रकाशन सन् १९४३ में हुआ था।

२. 'प्रतीक' जून १९५१

उपर्युक्त मत में तीन बातें द्रष्टव्य हैं : (१) नये सत्य या नई यथार्थता का जीवित बोध। (२) नया रागात्मक सम्बन्ध। (३) साधारणीकरण करने की शक्ति।

'भी' शब्द पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हुए बिना नहीं रहती कि अब तक के पूर्व साहित्यकारों को नये सत्य या नई यथार्थता का जीवित बोध नहीं था, यदि था तो नूतन रागात्मक सम्बन्ध का अभाव था, यदि यह भी उनमें वर्तमान था तो इन भावों के साधारणीकरण की उनमें शक्ति नहीं थी।

व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक शब्द की शास्त्रीय व्याख्या करने से यहाँ काम नहीं चलनेवाला है, क्योंकि ये तो पुरानी व्याख्याएँ हैं, नूतन सत्य की व्याख्या भी नूतन होनी चाहिये !

प्रश्न यह उठता है कि यह नया सत्य क्या सन् ४३२ के बाद ही दृष्टिगत हुआ है या इसके भी पूर्व रहा। यदि इसके पूर्व रहा और अब भी वह नया ही है। क्योंकि प्रयोगवादी रचनाओं की बाढ़ हो रही है। तो वह आनेवाले सुदूर भविष्य में नया ही रहेगा और दूरवर्ती अतीत में भी उस काल के कलाकारों के लिए नया ही रहा होगा। वस्तुतः सत्य की नूतनता या नवीनता यथार्थगत अनुभवों से ही सम्बन्धित रहती है और प्रत्येक काल के कलाकारों के लिए उसका अनुभूत यथार्थ नया ही हुआ करता है। इतना ही नहीं, कलाकार द्वारा अनुभूत यथार्थ विस्तृत जीवन के चित्रपट का जितना सही चित्रांकन कर सकेगा उतना ही वह प्रत्येक युग में नया ही रहेगा और परिवर्तित परिवेश के कारण वह पाठकों में नवीन रागात्मक सम्बन्ध की योजना स्वतः करा लेगा। रह गई साधारणीकरण की बात, तो इसका सम्बन्ध भावानुभूतियों के तद्रूपशीलता से है। भावों की सफल अभिव्यक्ति प्रत्येक काल में साधारणीकरण की शक्ति रखती है। यह दूसरी बात है कि अपनी बोधवृत्ति की संकीर्णता के कारण हम उसका परिज्ञान न कर सकें। अपनी अनुभूतियों के आधार पर सत्य का नवीन ढंग से प्रकाशन हिन्दी साहित्य के किस युग में नहीं हुआ है, यह कहना कठिन है। हाँ, यह कहना सरल है कि किस युग में विशेष हुआ है। सत्य की यथार्थ अनुभूति जितनी ही गहरी श्रमसाध्य तथा श्रेय एवं प्रेय से मिश्रित होगी, रागात्मक सम्बन्ध उतना ही दृढ़ तथा सुलभ-सुखद होगा।

इसी सम्बन्ध में यहाँ गिरिजाकुमार माथुर का 'व्यक्ति सत्य' एवं 'व्यापक सत्य' भी उल्लेखनीय है। इनके अनुसार व्यापक सामाजिक सत्य के खण्ड अनुभवों का साधारणीकरण प्रयोगवादी रचना के माध्यम से होता है और व्यक्ति 'व्यापक सत्य' को रचना की प्रेषणीयता से बोधगम्य करता है।

आज के जीवन का व्यापक सामाजिक सत्य यदि रचनाकार की दृष्टि से लिया

जाय, तो जीवन में भौतिक सुखों का अभाव, वर्गसंघर्ष, पीड़ा, चिन्ता, दैन्य, क्रूरता, कामुकता तथा उच्छृंखलता आदि हैं। इन परिस्थितियों का पूर्ण परिज्ञान साहित्यकार को तभी होता है जब वह युग-जीवन से सम्बद्ध गहरी संवेदनशीलता रखता हो। कमरे में बैठकर कुर्सी तोड़ने से, सैर-सपाटे में मस्त होने से इनका परिज्ञान नहीं हो सकता। किसी भी राष्ट्र के जातीय जीवन की समग्र यथार्थता पर पैनी दृष्टि रक्खे बिना साहित्यकार की बोधचेतना एकांगी होगी। अतः जहाँ आज वर्तमान में हम वर्गवाद, भोगवाद, प्रकृतिवाद, यथातथ्यवाद, हालावाद, प्रयोगवाद आदि पर दृष्टि रखते हैं वहाँ ही हमें गाँधीवाद तथा अरविन्दवाद का भी चिन्तन एवं मनन करना होगा। एक को सत्य और दूसरे को स्वप्न कहकर हम टाल नहीं सकते क्योंकि दोनों के आधार जीवनगत प्रयोग हैं। दोनों के तुलनात्मक चिंतन एवं मनन से सारभूत अंश को निकालना होगा फिर हम कहीं व्यापक सत्य का सन्देश व्यक्ति तक पहुँचाएँ तो कोई हानि नहीं है।

प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य प्रयोगवाद का खण्डन[१] तथा मण्डन[२] करना नहीं है। इसमें तो हमें हिन्दी गद्य-काव्य पर पड़े प्रभावों का ही उल्लेख करना है।

प्रयोगवादी साहित्यकार नवीन अनुषंगों, ध्वनियों एवं प्रयोगों के माध्यम से भाषा को बलीवर्द बनाने का हिमायती है, क्योंकि उसकी दृष्टि में प्राचीन उपमाएँ, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अब पुराने हो गये हैं और उनमें नवीन परिवेशजन्य भावों को वहन करने की शक्ति नहीं है। पर गंगा तथा हिमालय में यह शक्ति कैसे भरी जा सकती है।

शैलीगत दृष्टिकोण को यहीं समाप्त करके अब हमें प्रयोगवाद के वर्ण्य-विषय पर विचार करना है। प्रयोगवाद के वर्ण्य-विषय निम्नलिखित हैं :—

(१) लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात।

(२) दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति।

(३) व्यक्तिगत जीवन के दुःखों और अभावों का विस्तृत उल्लेख।

(४) दैवीशक्ति तथा महत्व से हटकर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता के विकास का चित्र प्रकट करना।

(५) नारी-भावना।

---

१. खण्डन के लिए देखिये, आधुनिक साहित्य प्रयोगवादी रचनाएँ—
आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

२. मण्डन के लिए तार सप्तक तथा डा० देवराज साहित्य-चिन्ता प्रयोगशील साहित्य 'प्रतीक', 'पारस' 'दृष्टि-रेखा' आदि।

उपर्युक्त आधार पर ही हम गद्य-काव्य की प्रयोगवादी रचनाओं पर विचार करेंगे।

(१) **लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात**—प्रयोगवादी साहित्यकार जगत् की सामान्य वस्तुओं का मार्मिक चित्रण करता है। "जीवन-रेखाएँ" के अधिकांश पृष्ठ इस प्रकार के भाव से भरे हैं। देखिये—

रोड़ा

"जी हाँ आपको बुरा लगा न, इसका मार्ग में होना—तब ?
यह अपना 'अपनत्व' कैसे छोड़े, यह मुलायम कैसे बन जाय ?
और यहाँ से हटे भी कैसे—और हटे भी तो जाय कहाँ ? ··
गिर पड़ा है—न मालूम कहां से छूटकर—थका था।
आपको इसकी शांति क्यों दुखद प्रतीत होती है ?
पड़ा ही तो है—एक किनारे। —जीवन-रेखाएँ, नरेन्द्र पृ० ३५

(२) **दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति**—प्रयोगवादी रचनाओं में दुःख की प्रधानता तथा वेदना की गहरी अनुभूति होती है। इसका आधार वर्गगत संघर्ष होता है। कहीं इन विचारों का प्रकाशन स्पष्ट होता है और कहीं प्रतीकों के द्वारा। एक भाव इस प्रकार है—

बेला और घास

"एक मोटा ताज़ा बैल एक हरे-भरे मैदान में घास चर रहा था। जब वह अपने मुँह के सामने की घास खा रहा था, तो उसके पैरों के नीचे दबी हुई घास करुण स्वर में कहने लगी—

"तुम भी कैसे निर्दयी हो कि अपने मुँह के आगे, आनेवाले मेरे बन्धु-बान्धवों को तो खा ही जाते हो, किन्तु मुझे व्यर्थ ही, अपने पैरों-तले कुचल रहे हो।"

बैल ने धीरे-धीरे अपनी गर्दन उठाई और उसकी पुकार बिलकुल अनसुनी करते हुए सगर्व उत्तर दिया—

"आखिर मुझे खड़ा होने को भी तो कहीं स्थान चाहिए। तुझे अपने पैरों के नीचे रौंदे बिना मैं अपना पेट कैसे भर सकता हूँ।" [१]

(३) **व्यक्तिगत जीवन के अभावों तथा दुःखों का विस्तृत उल्लेख**—पूँजी के केन्द्रीकरण ने आज श्रमिकवर्ग की स्थिति को नितान्त अभावग्रस्त बना दिया है। जीवनयापन का मापदण्ड भी आज ऊँचा हो गया। इसलिये जीविका के संघर्ष में रत होकर श्रमिक अपनी सारी शक्ति लगाकर भी सर्वदा नितान्त आवश्यकीय दैनिक पदार्थों को जुटा नहीं पाता, इसी बीच में यदि कोई दैवी आपत्ति आ गई तो फिर उसके दुःखों का क्या ठिकाना। उपन्यास, नाटक, कहानी आदि सभी कृतियों में

---

१. पृ० ३६—'निर्झर और पाषाण'—प्र० सं० तेजनारायण 'काक'

इनका मार्मिक चित्रण भरा पड़ा है। गद्य-काव्य में भी ये यत्र-तत्र बिखरे हैं। यथा—

"प्रिय बालक ! इतना भयंकर ज्वर, इतनी प्रचण्ड शीत और इन फटे कपड़ों में यहाँ तू क्यों बैठा है।

क्या कहा ? पिताजी को समाचार देने जा रहे हो—तुम्हारी माता प्रसव की पीड़ा से कराह रही है, मरने ही वाली है और वह मिल में काम करने गये हैं। गरीब होना पाप है ! वैभव की लिप्सा गरीब को ही पीसती है बेटा—रो मत।"[1]

(४) **दैवी शक्ति तथा महत्व से हटकर अपनी क्षुद्रता तथा मानवता के विकास का चित्र प्रकट करना**—प्रयोगवादी कलाकार दैवी शक्तियों की महत्ता स्वीकार नहीं करता है। वह अपनी रचनाओं में अपनी क्षुद्रता का चित्र प्रस्तुत करता है। साथ ही मानवता के विकास का भी चित्र उपस्थित करता जाता है। यथा—

"लाज से भरे, अपने मुख-मण्डल पर अरुण अंचल डाले, नव वधू उषा प्रकृति प्रांगण में आकर विहँसी ही थी कि रश्मि थिरकती-सी, नाचती हुई, उसका प्रेम-सन्देश विश्व को देने चल दी। वह अपने जीवन के विस्तृत क्षेत्र को तय कर निराश-सी, पृथ्वी पर गिरना ही चाहती थी कि नीचे सरिता जीवन का एक करुण राग अलापती, मंद-मंद चाल से जा रही थी··· । उसने बड़े प्रेम से, अपने वक्षःस्थल से लगा लिया। अपनी कोमल लहरों से उसे सांत्वना देती बोली—

"कहो बहन, थक गई होगी ?"

"नहीं तो, मेरे जीवन का अर्थ यह है बहन ! यह उत्थान, पतन ही तो मेरे जीवन की सीमाएँ हैं, फिर क्या थकना ?

"रश्मि। जब तुम ऊपर से नाचती हुई, पृथ्वी पर उतरती हो, तो क्या तुम्हें इसका ज्ञान होता है कि मैं कहाँ गिर रही हूँ, वास्तव में तुम्हारा जीवन एक अद्भुत पहेली है। जि समय जीवन का विकास होता है, उस समय तुम नीचे गिरती हो, और जीवन के अंतिम क्षणों में ऊँचा चढ़ती हो··· ।"

तुम तो बड़ी भोली हो सरिते ! यह तो जीवन का एक कड़वा घूँट है, जिसे विश्व न मालूम, संसृति के किस युग से अन्यतम सत्य मानकर पीता चला आ रहा है। वह इस पहेली को अब तक सुलझा थोड़े ही पाया है बहन ? गिरना शोभा नहीं देता—यह क्षोभ की बात है। किन्तु अपने जीवन की बेबसी के सम्मुख विवश हूँ। गिरकर ही मेरे जीवन का विकास होता है सरिते ! यह कोई क्या जाने ? यही तो मेरे जीवन का भीषण असंतोष है।"[2]

---

१. 'पाटल' जुलाई १९५२ : 'किङ्कर'

२. जीवन-समस्या—जीवन-रेखाएँ : नरेन्द्र प्र० सं०

(५) **नारी-भावना**—पुरुष और स्त्री का सम्बन्ध पति और पत्नी का नहीं, चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन स्त्री का सम्बन्ध—अनिवार्यतः एक गतिशील सम्बन्ध है। गति उसके किसी एक क्षण में हो या न हो, गतिशीलता—गति पा सकने की आन्तरिक सामर्थ्य उसके स्वभाव में निहित है। पुरुष और स्त्री की परस्पर अवस्थिति, एक कर्षण की अवस्था है।[१]

प्रयोगवादी कलाकार नारी चरित्र के अङ्कन में प्राचीन भारतीय मर्यादाओं तथा नैतिक नियमों की अवहेलना कर जाता है। जिस रीतिकालीन अश्लीलता को हम भुला चुके थे उसका चित्र पुनः वह खड़ा करता है। यथा :—

"मैं तुम्हें जानता नहीं
तम किसी पूर्व परिचय की याद दिलाती हो, पर मैं बहुत प्रयत्न करने पर भी तुम्हें नहीं पहचान पाता।
मुझे नया जीवन प्राप्त हुआ है। कभी-कभी मन में एक अत्यन्त क्षीण भावना उठती है कि जिस पंक से निकलकर मैंने यह नवीन जीवन प्राप्त किया है, तुम उसी पंक की कोई जन्तु हो। जो केंचुल मैंने उतार फेंकी है, तुम उसी का कोई टूटा हुआ अवशेष हो।
इसके अतिरिक्त भी हमारा कोई परिचय या सम्बन्ध है, यह मैं किसी प्रकार भी अनुभव नहीं कर पाता !"[२]

प्रयोगवादी कृतियों में स्वच्छन्द तथा मुक्त प्रेम का स्वर गूँजता है। इसे पाश्चात्य सभ्यता की देन कहा जा सकता है। पति-पत्नी का पुनीत सम्बन्ध आर्यों ने इस दृष्टि से प्रस्थापित किया था जिससे कामवासना नियंत्रित होकर, लोक परलोक के कार्यों में बाधा न डाले। जीवन के वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने परलोक की सत्ता को तो हँसकर उड़ा दिया है और लोक की उसे अब चिंता नहीं रह गई है, क्योंकि जीवन आज पूर्ण स्वच्छंन्द है। इसलिए प्रयोगवादी 'अज्ञेय' कहते हैं :

"प्रेम आकाश की तरह स्वच्छ और सरल है। हम और तुम उसमें उड़नेवाले पक्षी हैं—चाहे किधर भी उड़ें, उसका विस्तार हमें घेरे रहता है और हमें धारण करता है। और उसके समीप ऐक्य में लीन होकर भी हम एक-दूसरे के अधीन नहीं होते, अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं नष्ट करते। 'बन्धन में स्वातन्त्र्य' नामक शब्दजाल को प्रेम समझनेवाली अवस्था से हम बहुत परे हैं।"[३]

---

१. पृ० ५—चिन्ता की भूमिका से : 'अज्ञेय'
२. शी० पृ० ७०—चिन्ता : 'अज्ञेय'
३. पृ० ६३—चिन्ता

विशुद्ध प्रेम की परीक्षा एवं पहचान, पूर्ण आत्मसमर्पण तथा व्यक्तित्व की समाप्ति से होती है, तभी वह आकाश की तरह स्वच्छ तथा सरल होता है। विश्व के विस्तृत वासना-नभोमण्डल में उड़कर उसकी स्वच्छता अक्षुण्ण कैसे रह सकती है? सच्चा प्रेम वस्तुतः बाँधनेवाला होता ही है पर अज्ञेयजी का मत इसके विपरीत है।

"प्रेम में बन्धन नहीं है। हमें जो प्रिय वस्तु को स्वायत्त करने की इच्छा होती है—वह इच्छा जिसे हम प्रेम का आकर्षण कहते हैं—वह केवल हमारी सामाजिक अधोगति का एक गुबार है।"[1]

आधुनिक युग की नारी में अधिकार का दावा है। वह प्रतिशोध की भावना से भरी है। परतन्त्र वातावरण के प्रति उसके हृदय में आक्रोश है और उन्मुक्त विचरण की ऐसी लालसा जिसमें विगत जीवन की दुखद अनुभूतियों के स्मरण मात्र से ही तेजी आ गई है। अतः वह कह उठती है—

"पुरुष! जो मैं दीखती हूँ, वह मैं हूँ नहीं, किन्तु जो मैं हूँ, उसे मत ललकारो! तुम्हें क्या यह विश्वास ही हो गया है कि मुझमें अनुभूति-क्षमता नहीं है? तुम क्या सचमुच ही मानते हो कि मैं केवल मोम की पुतलिका हूँ, कोमल, चिकनी, वाह्य उत्ताप से पिघल सकनेवाली, किन्तु स्वयं तपाने को, भस्म करने को, सर्वथा असमर्थ? मुझमें भी उत्ताप है, मुझमें भी दीप्ति है, मैं भी एक प्रखर ज्वाला हूँ। पर मैं स्त्री भी हूँ, इसलिए नियमित हूँ, तुम्हारी सहचरी हूँ, इसलिए तुम्हारी मुखापेक्षी हूँ, तुम्हारी प्रणयिनी हूँ, इसलिए तुम्हारे स्पर्श के आगे विनम्र और कोमल हूँ। पुरुष, जो मैं दीखती हूँ वह मैं हूँ नहीं, किन्तु जो मैं हूँ उसे मत ललकारो!"[2]

उद्दाम वासना की प्यास से आज की नारी का अन्तस आकुल है। सामाजिक नियंत्रण का भार उसे आत्मदमन की शरण लेने को बाध्य करता है। कभी-कभी वह अपने को खुलकर व्यक्त कर देती है। यथा:—

"मैं तुझसे अनेक बार जान-बूझकर झूठ कहती आई हूँ। किन्तु उनके लिए मेरे हृदय में अनुताप नहीं है क्योंकि मैं नित्य ही आत्म-दमन की घोर यातना में उसका प्रायश्चित्त कर लेती हूँ।

मैं अपने को एक बार तुम्हें समर्पित कर चुकी हूँ। मैंने अपना अस्तित्व मिटा दिया है। अब जो मैं हूँ वह है केवल तुम्हारी रुचियों, तुम्हारी इच्छाओं, तुम्हारी कामनाओं, तुम्हारी भूख-प्यास, तुम्हारी आदर्श-पूर्ति में निरत होकर अपने को मटियामेट कर देनेवाली मेरी शक्ति, जिसे तुमने वरण किया है।

---

१. पृ० ९२—चिन्ता

२. पृ० १६०—चिन्ता : 'अज्ञेय'

इस प्रकार अपने में केवल मात्र तुम्हें प्रतिविम्बित करने की उत्सर्गपूर्ण चेष्टा में मैं तुमसे अनेक बार जान-बूझकर झूठ कहती आई हूँ, किन्तु उसके लिए मेरे हृदय में अनुताप नहीं है, क्योंकि मैं नित्य ही आत्म-दमन की घोर यातना में उसका प्रायश्चित्त कर लेती हूँ।"[1]

(६) **उपदेशपरक**—प्रगाढ़ पाण्डित्य के बल से साहित्यकार महान विचारकों की विचारधाराओं को अपनी रचना में उतारता है। इस तरह ग्रहीत विचार यद्यपि मौलिक विचारों के समान प्रभविष्णु होते हैं पर रचनाकार की प्रतिभा का प्रदर्शन अवश्य करते हैं। व्यापक सत्य का उद्घाटन करनेवाले सूक्ष्मतम विचार जब कभी अपने प्राकृतिक रूप में व्यक्त किये जाते हैं तो उनकी नूतनता में एक अपूर्व चारुत्व तथा मोहकता रहती है। जीवन-क्षेत्र में स्वल्प अनुभव रखनेवाले व्यक्तियों के लिए वे बहुत काम के होते हैं इसीलिए उन्हें उपदेशपरक कहा जाता है। इनकी दो कोटियाँ हैं : (१) सचेतक तथा (२) यथार्थ प्रकाशक। हिन्दी गद्य-काव्य में इन दोनों प्रकार के उपदेशों का बाहुल्य है।

(१) **सचेतक**—जीवन-पथ में आगे बढ़े हुए मनीषी अपनी अनुभूतियों से पीछे आनेवाले पथिकों को सदा से सचेत करते आये हैं। इस तरह की चेतावनी के दो उद्देश्य होते हैं। पहला आँख मूँदकर अपने मार्ग में धुन से चलना, दूसरा प्रलोभन में पड़कर शक्ति क्षय करके मार्ग-च्युत न होना। सारांश यह कि पहले प्रकार के उपदेश-प्राप्त गुणों की रक्षा के लिए सतर्कता बर्तने की रीतियों पर जोर देते हुए अधिकाधिक गुण संचय-व्यापार में संलग्न होने को कहते हैं। दूसरे प्रकार के उपदेशों में उन दोषों का स्पष्ट चित्र रहता है जो मार्ग-भ्रष्ट करनेवाले होते हैं। प्रथम प्रकार के उपदेशों का गद्य-काव्य में विविध रूप मिलता है। एक उदाहरण निम्नांकित है :—

"बीहड़ कण्टकाकीर्ण पथरीला सँकरा मार्ग
कितना स्तुत्य साहस एवं प्रयास
शान्त-पथिक बढ़ता ही जा रहा है।
पथ के दोनों ओर की हरित सुषमा को आँख उठाकर भी नहीं देखता
चहुँ ओर के मधुर गान से वह उदासीन-सा लगता है
चेहरे पर असीम उल्लास विराज रहा है
यद्यपि, पद कंकड़ों की ठोकर से चलनी हो गया है
देह की सुधि भी नहीं है।
पैर में छाले पड़ गये हैं।
कंटकों के आघात से पैरों से रुधिर भी टपक रहा है।"[2]

---

१. पृ० १६०—चिन्ता : 'अज्ञेय'
२. शैशवरागिनी, शीर्षक २१५

उपर्युक्त गद्य-काव्य में यह दर्शाया गया है कि साधना के मार्ग में बढ़नेवाला पथिक अपने मार्ग पर निरन्तर वढ़ता ही जा रहा है। इंद्रिय-निग्रह, साहस, शांति तथा धैर्य उसका साथ नहीं छोड़ रहे हैं। प्रलोभनों में वह नहीं पड़ रहा है। साधना के मार्ग में अग्रसर होने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है उसकी ओर गीत में मौन संकेत है। उपदेशक का कार्य यद्यपि इसमें नहीं संपादित किया गया है, पर उपदेश की भावना का तात्पर्य यहाँ इतने ही में है कि पथ के जिज्ञासु इनसे लाभ उठायें।

गद्य-काव्यों में उपदेश की भावना पृष्ठभूमि में ही रहती है, इसी से उनमें पर्याप्त आकर्षण रहता है। दूसरा चित्र इस प्रकार है :

"देखा, हाँ देखा, तेरी सृष्टि जालहीन ? उसे अच्छी तरह देख लिया। क्या तूने इसे देखने के लिये ही मुझे यहाँ भेजा था ?
क्या कहा ? वह मधुर है ? मीठा है ? हाँ है, पर उसमें विष भी घुला हुआ है।
सुन्दर है ? हाँ, पर केवल आधा।
सत्य है ? हाँ, पर स्वप्न के ऐसा।
क्या कहा ? वहाँ प्रेम के लुभावने फूल खिले हैं ? पर उनके तीक्ष्ण काँटे ? और उनकी स्पर्श म्लानता ?
तेरा सृष्टिजाल, अरे उसमें आशा और निराशा के तन्तुओं के संयोग से ऐसी-ऐसी जटिल ग्रन्थियाँ पड़ गयी हैं, जिन्हें काट डालना जीवों को साध्य नहीं।
देखा, तुझ खिलाड़ी के जाल को देखा, इसे अब और नहीं देखना चाहता।"[1]

साधना के मार्ग में सावधान करनेवाले दूसरे प्रकार के उपदेश अधिक स्पष्ट तथा उपदेशात्मकता से युक्त होते हैं। यथा :—

"आधी रात में जब समर्पण के जागरण में पानी-पर-पानी की माँग होगी, तब अधजल गगरी का तो तुम दोनों दिवाला ही काढ़ बैठोगे ? क्या आराध्य को पानी के लिए तड़पाने का अपराध इस अधजल गगरी ही का होगा। क्या नहीं मानते कि गगरी छलक-छलककर तुम्हें भिगो रही है, तुम्हें थरथरा रही है और तुम्हारे प्रणय-संवाद में विघ्न डालकर चीख रही है कि, मजबूत गुन से गहरे कुएँ में फिर डुबोकर मुझ अधजल को पूरी भर ले, सुवरन-सा क्रूर नहीं, हृदय-सी नाजुक हूँ। संभालकर पथरीले कूप के तरल अन्तःकरण से भर ले।"[2]

इस रूप का पूर्व क्रम प्रश्न के रूप में इस प्रकार है :—

"क्या जिस कुएँ से इसे भर कर लाये थे, गहरा था ?
क्या तुम्हारे गुन कमजोर न थे ? उनमें बल था कि वे जल का बोझ, सम्हालकर

१. पृ० ३० मणिमाला—नोखेलाल शर्मा
२. शीर्षक 'छलकत गगरी' पृ० २९—साहित्य देवता : माखनलाल चतुर्वेदी प्र० सं०

कुएँ का तरल, अन्तःकरण खींच लाते ?
क्या खींचते समय तुम हाँफ नहीं गये ?
तब गगरी अपने आप कैसे भर आती ?
और जब तुम्हारे गुन भरी गगरी खींच न सके, तब गगरी अधजल न रहती तो क्या करती ?
क्या तुम्हारी यह चाह है कि वह अधजल भले ही रहे, पर छलके नहीं ?"[1]

मन की उद्दण्डता से सावधान होने का संकेत भी इस प्रकार की कोटि में आता है :—

"देख घोड़े की बाग मोड़, नहीं तो आगे धड़ाम ! इस घोड़े पर चढ़ने का तुझे क्या घमण्ड है ? जानता नहीं, यह अश्व कितने कुशल आरोहियों को गिरा चुका ? माना कि इसकी गति कल्पनातीत है, इसकी पहुंच तीनों लोक में है, इसकी दौड़ चौदहों भुवन तक है, पर अश्वारोही ! तूने इस पर चढ़कर क्या देखा ! वही तीन कौड़ी की दुनिया, दस इंची का क्षेत्रफल ! तिस पर जरा चूक हुई कि रसातल गया ! यह अड़ीला भी बड़ा है। कहीं उड़ गया तो होश ठिकाने कर देगा।

देख, बाग मोड़ ले, इस मार्ग पर और आगे न बढ़। इसके दोनों ओर खाई-खन्दक है। तू उस तंग गली से जा। रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा अवश्य है, कंकरीला भी है। काँटे भी बिछे मिलेंगे। पर डरना मत, साहस न छोड़ना, चले ही जाना। बहादुर सवार ! जब तेरा यह मस्त सैलानी हाँफने लगे, पसीने से तर हो जाय, अपनी सारी कूद-फाँद भूल जाय, तब उतर पड़ना। बस, वहीं सफर पूरा हुआ समझना। तू अपना लक्ष्य-स्थान पा लेगा। उसी स्थान पर तुझे स्थैर्य प्राप्त होगा। सुन उस स्थैर्य को ! स्थित प्रज्ञों ने 'ब्राह्मी स्थिति' का नाम दिया है।"[2]

(२) यथार्थ प्रकाशक—उपदेशात्मक गद्य-गीतों को चार कोटियों में रक्खा जा सकता है। आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक।

उपदेशपरक आध्यात्मिक गीतों में जीवन की आन्तरिक पवित्रता पर बल दिया जाता है। यथा :—

"तुम्हें अपना सौन्दर्य ही देखना है तो उसे आत्मा के निर्मल दर्पण में क्यों नहीं देखते ? चले जाओ आत्मा के नीरव अन्तस्तल में ! वहीं तुम अपने लावण्य और माधुर्य का यथेष्ट चित्रांकरण कर सकोगे। वहाँ तुम नित्य ज्योति के प्रकाश में अपनी दिव्य कान्ति पाओगे। आनन्दोदय में तुम अपने कलित कपोलों की लालिमा देखोगे। आत्म-सन्तुष्टि और सौम्यता में तुम्हें अपनी बड़ी-बड़ी सुन्दर और रसीली आखे देखने को मिलेंगी। प्रेम परता में तुम्हें अपने अरुण और सरस

---

१. पृ० २८, साहित्य देवता
२. शीर्षक 'सवार' पृ० ५२ अन्तर्नाद : वियोगी हरि

ओंठ दिखा भी देंगे। अनिवर्चनीय सुखानुभूति में उलझकर तुम अपनी घुँघराली अलकें सुलझाने लगोगे। उस दर्पण में तुम अपने को नित्य किशोर और नित्य सुन्दर पाओगे।"[१]

तथा—

दूसरों की आलोचना करने के पहले स्वयं अपनी भी तो आलोचना कर लिया कर। दिल की सफाई करके दुनिया का कूटा-करकट साफ कर। खुदी को खो कर बेखुदी में मस्त हो। आँख पर से एक तरफी चश्मा हटाकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर। आलोचक! जब तेरा प्रत्येक शब्द विवेक के गहरे रंग में डूबा निकलेगा, तभी तूँ सच्ची आलोचना करने का अधिकारी हो सकेगा।"[२]

धार्मिक विचारों से युक्त उपदेशों में व्यंग के माध्यम से सुधारवादी दृष्टिकोण व्यक्त किया जाता है। यथा :—

"मजहब कैसा बढ़िया हाजमा है। इस पावन की एक गोली से भारी-से-भारी अजीर्ण भस्म हो जाता है। केवल 'गंगा-गंगा' कहने से ही जन्म-जन्मान्तर का मैल कट जाता है। भगवन्! असल में तुझे हम दीदार मुकदमेबाज एक घूस-खोर जज समझ बैठे हैं। धर्म की अदालत में हम पवित्र पापी तुझसे अपने मत-लब का मनचाहा फैसला लिखा लेना चाहते हैं।
कैसी विलक्षण भक्ति है हम भक्तराजों की!
अब तूँ ही बता दे मेरे हृदयनाथ कि तेरे गहरे भाव-भेद का मस्त मरहम मजहबी बस्ती में मुझे कहाँ मिलेगा।[३]

सामाजिक विकृतियों का यथार्थ चित्र जब कभी साहित्य में व्यक्त होता है, तो सहृदय पाठक यह अनुभव करने लगता है कि ऐसा नहीं होना चाहिये। तात्पर्य यह कि साहित्यकार के विचार को सहृदय पाठक अंगीकृत कर लेता है भले ही कालान्तर में यह भूल जाय। इस तरह के साहित्य में उपदेश की भावना निहित होती है। 'ज्ञानोदय' के जून १९५७ अंक में रतन 'पहाड़ी' की रचना 'दो अंतर' इसी प्रकार की है। यथा :—

"वैभव से परिपूर्ण आभा, शोभा से परिव्याप्त अट्टालिका तथा प्रासादों में आवास करनेवाला मानव जिसने आजीवन अस्त-व्यस्त जीर्ण-शीर्ण झोंपड़ी को मात ही दी, उसे सर्वदा सदा ही हेय माना। आज निर्धूम जलती धू-धू शिखा में प्रविष्ट

१. अन्तर्नाद—प्र० सं० पृ० ५२ : वियोगी हरि 'दर्पण'

२. अन्तर्नाद—पृ० १०६ : वियोगी हरि

३. विश्वधर्म—प्र० सं० पृ० १२ : वियोगी हरि

होने निर्जीव बनकर जीवन की चरम सीमा प्रदर्शित करने जा रहा था। गति निस्पन्द थी। वातावरण शान्त ! क्रिया मौन और जीवन पार बिन्दु पर अवस्थित।

पथ पर एक अर्ध नग्न तत्सम अर्थी उसी ओर श्मशान की ओर कृश-कंधी पर वैभवपूर्ण अर्थी के पास चल पड़ी—दोनों अर्थी दोनों को समक्ष पाकर थिरक गई। वैभव और जीवन, मानव और यौवन, आभा और शोभा, धन और रोटी एक पलक में भीग गये और दोनों शान्त टकटकी लगाये निर्निमेष निरभ्रशून्य महाशून्याकाश में देखते रहे, देखते रहे। ये अपना अभिप्राय जगती तल पर समाप्त कर चुके थे। जीवन की समस्त भौतिक अभिलाषाएँ गर्व, मान, दंभ और माया बह चुकी थी। निःशेष अब वे समत्व में समाए जा रहे थे।

चिता धू-धू कर जल उठी।

वैभव मानव चिता में अशेष हो रहा था।

दीन मानव चिता में समाप्त।

कल-कल छल-छल करती सरिता दोनों के भस्मावशेष अपने अंक में छिपाये बोल उठी, "मिटती बनती काया में दोनों-दोनों की हार हुई।"

अर्थगत विरूपता से उत्पन्न विषमता का चित्र कहीं-कहीं गद्य-काव्यों में इस प्रकार भी व्यक्त किया गया है कि उसका मार्मिक प्रभाव, ऐसे वर्ग पर भी पड़े बिना नहीं रहता जो इस प्रकार के साहित्य को स्वार्थ-भावना से प्रेरित हो, तिरस्कृत करते हैं। 'शैशवरागिनी' का एक चित्र इस प्रकार है :

"एक दिन शिशिर की रात्रि में कुछ आवश्यक कार्य से मुझे श्मशान जाना पड़ा। वहाँ पहुँचकर जो देखा उससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। श्मशान डाढ़ें मारकर रो रहा था। बहुतेरा समझाया कि आज संसार का कैसा मोह मुझे लग गया है, जिसका घर लाखों से पटा हो वह किसके-किसके लिए रोये और जब नित्य यही क्रम है तो रोने से भी तो काम नहीं चलनेवाला है।

श्मशान कुछ शांत हुआ बोला, 'मित्र भले आये, अपनी वेदना कहकर कुछ राहत तो मिलेगी, वैसे तो मेरा हृदय बहुत कठोर है, मैंने कितने होनहार बाप के एकलौते बेटों को अपने ही गोद में सुलाया है, कितनी नवविवाहिता वधुओं के पतियों को शरण देकर उनकी चीखें सुनी हैं, कितने असहायों को मुक्ति दी है पर आज का दृश्य बहुत ही दारुण रहा। सोचते ही कलेजा बाहर निकलने लगता है। पर बिना कहे रहा भी नहीं जाता। आज प्रातः ११ बजे एक अधेड़ स्त्री फटे-पुराने कपड़े पहने रोती-विलखती अपने मृत पुत्र को लेकर आई। शव को कफन भी नहीं मिल पाया था। वह उसे अपने आँचल में लपेटे थी। उसके साथ भी कोई नहीं था। उसके अंतिम वचन को दिल थामकर सुन लो, 'पापी

रामदास तूँ नगर में सेठ के नाम से पुकारा जाता है। कितने दिनों से मैं अपनी मजदूरी माँग रही थी पर तूँ टाल-मटोल करता गया। कहाँ से मैं अपने मुन्ने के लिए कपड़ा लाती, दूध लाती और दवा लाती। मुझे पूछनेवाला भी तो कोई नहीं है, तेरी क्रूरता को धिक्कार है। शव के लिए कफन भी मैं न खरीद सकी। मैंने इसके लिए भी कहलाया था। अब संसार को भी मुँह दिखाकर क्या करूंगी। इस नारकी संसार में मेरे लिए अब स्थान भी तो कोई नहीं दिखाई देता। मकान-मालिक घर से निकालने पर अलग तुला हुआ है। क्यों न निकाले ? आखिर उसे भी तो किराया चाहिए। पाँच माह से कुछ दे न पाई। जिसके सहारे जीती थी, कष्ट को कष्ट नहीं मानती थी वह बेटा भी चला गया। काल तुझे दया न आई। क्रूर मुझे भी ले चल। कैसे नहीं ले चलेगा। मैं चलती हूँ। यह कहकर बच्चे को लिए वह गंगा में कूद पड़ी।"[1]

(१०) **मानवतावादी—"साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति का विकास है। और व्यक्ति का असली विकास उसके समस्त वातावरण का विकास है। इसी को जन-कल्याण की भावना कहते हैं। इसी दृष्टिकोण की व्याख्या करने पर हमें 'मानवीयतावाद' ही साहित्य का मूल प्राण दिखाई देता है।"**[2]

आधुनिक भारतीय साहित्य में मानवतावाद के प्रबल पोषक हैं श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर। ठाकुर के दर्शन की पहली विशेषता है संसार की, मानव समाज की गत्यात्मक उद्‌भावना—संसार की स्थिर शाश्वत परिवर्तन-हीन परिकामना का खंडन। आदर्शवादी दार्शनिक, गति तथा परिवर्तन की यथार्थता को किसी-न किसी रूप में अस्वीकार करते हैं और सत्य को निरपेक्ष, कालातीत तथा परिवर्तनहीन मानते हैं। गति एवं परिवर्तन संकुचित दृष्टि से विचार करने पर ही यथार्थ जान पड़ते हैं।

परिवर्तन ठाकुर के आग्रह का विशेष महत्व है। यद्यपि इसके लिए उनकी कविता में आध्यात्मिक समर्थन नहीं मिलता पर यह विश्वास उनमें प्राणभूत है कि प्रकृति और मानव जीवन, निरन्तर गतिशील और परिवर्तनशील है। सृष्टि के लिए काँचा कच्चा) सवुज (सब्ज), नवीन आधापका, नूतन, आदि, भावपूर्ण विशेषण प्रयुक्त हुए हैं जिनके मूल में यह भावना निहित है कि जो कुछ यथार्थ और जीवित है उसमें परिवर्तन और विकास अवश्यम्भावी है। स्थितिशील वह नहीं हो सकता। 'वलाका' की एक प्रसिद्ध कविता 'चंचल' में उन्होंने सृष्टि के स्रोत का वर्णन किया है जो युग-युगान्तर से प्रवाहित होता आया है।

---

१. शैशवरागिनी शीर्षक २१८

२. पृ० ११६—काव्य यथार्थ और प्रगति : डा० रांगेयराघव, प्र० सं०

संसार की गत्यात्मकता पर जोर देने के लिए ही उन्होंने परमात्मा को चिर नूतन, चिर चंचल, चंचलेर सहचर आदि नामों से सम्बोधित किया है। उनके विचार से काल के आघात से वही मरते हैं जो अचल होकर रहना चाहते हैं, जो गति की धारा को मान लेते हैं, वे नित्य नूतन होकर बने रहते हैं।

'शाश्वत सत्य की प्राप्ति के लिए दैनंदिन जीवन और कर्म के जगत् को छोड़ना होगा, यह तर्क कर्म-प्रवृत संघर्षशील जीवन से निष्क्रिय निवृत्ति को श्रेष्ठ घोषित करता है और क्षणिक नश्वर जीवनानंद के त्याग में ही शांति का साधन देखता है। ठाकुर इस दृष्टिकोण को नहीं मानते थे।

ठाकुर मानवतावादी हैं। मानव व्यक्तित्व के गौरव पर कवि का आग्रह है और मानव प्रगति पर अगाध विश्वास है।

सामाजिक क्षेत्र में कवि का मानववाद वर्ण-व्यवस्था के तीव्र विरोध और नारी जाति की हीनावस्था के प्रति आक्रोश में प्रकट होता है। कवि रूसो का यह सिद्धान्त कि 'प्रकृति पुनीत और शुद्ध है, एवं मानव भ्रष्ट तथा पापात्मा है', कवि को मान्य नहीं है। उनकी दृष्टि में मानव का अवतरण प्राकृतिक विकास की गति में एक गौरवपूर्ण घटना है। प्रकृति का सचेतन विरोध मानव की अनन्य विशेषता है। अन्य सब प्राणियों के लिए प्रकृति ही नियति है। जन्म प्रजनन, मरण इसी में उनके जीवन का अंत है। जीवन की सीमाओं से मुक्त होने की प्रेरणा उनमें नहीं होती। किन्तु क्षत्र मानव प्रकृति की मर्यादा उलांघता है और प्रकृति का विधान तोड़ देता है। अतः गद्य-काव्यकार कह उठता है :—

"मेरी शक्ति के आगे झंझा रुक जाता है।
जलधि की उत्ताल तरंगें थम जाती हैं।
तुंग गगन-स्पर्शी भूधर धराशायी हो जाते हैं।
तुमुल कोलाहल नीरवता में परिणत हो जाता है।
संध्या की काली रजनी भाग जाती है।
काली घटाओं से आलोक रश्मियाँ फूट पड़ती हैं।
मेरा आदेश कौन नहीं मानता ?
मेरी शक्ति महान है !"[1]

पूर्ण विकसित मानव नियति के दारुण वज्राघातों से क्षुब्ध नहीं होता क्योंकि उसमें असीम धैर्य, अगाध सहिष्णुता तथा अतुल शांति है। देखिये :—

"प्रभाकर की प्रखर किरणों की ज्वाला से जलाकर शान्त नहीं हुए तो दावानल का भी प्रकोप कर दिया। कुछ बात नहीं यदि उन्हें मेरे पास आने की लालसा

---

1. शैशवरागिनी, शीर्षक २३

हैं तो आवें और मेरी तुषार-मंडित शीतलता पाकर शीतल हों। हार तथा जीत ही मेरे वश में है। मैं नियति का सृष्टा हूँ।"[१]

मानवतावादी कवि विश्वनिर्माण में नारी को विशेष महत्व देता है। जीवन रंगमंच पर विविध चढ़ाव-उतार के लिए, नारी को अग्रसर होने को बढ़ावा देता है। जीवन का प्रश्नचिन्ह स्त्री शीर्षक में श्री माखनलाल चतुर्वेदी अपने भाव इस प्रकार व्यक्त कर रहे हैं—

"पुत्रि! ओ स्त्री के अभिनव संस्करण, ओ प्रेम के मधुरतर और कटुतम स्वाद, तुम अनुभव करो और जानो, कि तुम्हारी हस्तरेखाओं पर आकर्षणशील भूमि का स्वभाव, उसकी शक्ति, उसका स्नेह, उसका हरियाना, और सहनशक्ति और सबसे अधिक उसका प्रजनन ठहरा हुआ है। यह जानो क्योंकि इसे जानकर ही तुम जान पाओगी कि तुम्हारे स्वयं के अस्तित्व का वरदान क्या है?—वह है कल का जगत्, फिर नया कल, फिर नया कल—और समय का बिना छोर वाला अमर होना।"[२]

(११) **परात्परतावादी**—अरविन्द के अनुसार इस विश्व ब्रह्माण्ड के आपात दृष्ट रूप से हरे एक सद्वस्तु है, एक सत्ता और चेतना है जो भूत मात्र का एक शाश्वत आत्मा है, इस एक आत्मा में समस्त सत्ताएँ अविभक्त हैं किन्तु चेतना के एक प्रकार के विच्छेद के कारण अपने सत्य स्वरूप और सद्वस्तु के अज्ञान के कारण मन, प्राण और शरीर में ये एक-दूसरे से पृथक मालूम होते हैं। एक प्रकार की आंतरिक साधना के द्वारा भेदात्मक चेतना के इस परदे को हटाया जा सकता है और हम लोगों के अंदर तथा सबके अन्दर बसनेवाले भगवान् को जाना और पाया जा सकता है। अरविन्द के मत में ब्रह्म सत्य है, जगत् भी सत्य है। उनके अनुसार जड़ तत्व और आत्मा दोनों एक ही है और शाश्वत रूप से है। यह सृष्टि एक निवर्तन विवर्तनशील सृष्टि या यों कहें कि अवरोहण आरोहणात्मक सृष्टि है। एक अद्वितीय परब्रह्म पहले संकल्प करता है 'मैं एक से अनेक हो जाऊँ' और वह त्रिक सच्चिदानन्द रूप में सत, चित्, आनन्द लोकों में प्रकट होता है। तब विश्व-सृष्टि के लिए इस सच्चिदानन्द का एक और लोक में अवतरण होता है, जिसे विज्ञानमय लोक का अति मानस लोक कहते हैं, यहाँ एक सच्चिदानन्द बहु हो जाता है पर यहाँ बहुत्व में पूर्ण एकत्व रहता है। यहाँ अभी विद्या अर्थात् एक चेतना की ही क्रीड़ा रहती है। अवरोहण क्रम में इसके बाद का स्तर है अधिमानस। यहाँ विद्या और अविद्या दोनों का खेल आरम्भ हो जाता है और एक आत्मा अनेक पृथक्-पृथक् पुरुषों के रूप में प्रतिभासित होता है। अवरोहण

१. शैशवरागिनी शीर्षक ५०

२. 'साहित्य देवता' प्र० सं० जीवन का प्रश्नचिन्ह स्त्री

का तीसरा रास्ता है अन्तः स्फुरणात्मक मानस—जहाँ जीव को अपने सत्य स्वरूप की आन्तरिक झलक मिलती रहती है। फिर है सम्बुद्ध मानस, जहाँ जीव परमात्मा से पृथक् होते हुए भी सत्य का प्रकाश पाता रहता है, इसके बाद है, प्राण—वहाँ चेतना का रूप हो जाता है केवल संवेदन मात्र और अन्त में जड़त्व की सृष्टि होती है। यहाँ आत्मा जीव, अन्तरात्मा या हृत्पुरुष सर्वथा चैतन्य में प्रवेश कर अपने निवर्तन या यों कहें कि अवरोहण की लीला को समाप्त करता है, जिनका हेतु है स्थूल के अन्दर अपने विशुद्ध आनन्द की अभिव्यक्ति।

अरविन्द के दर्शन के सम्बन्ध में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कल्पना' अगस्त १९५१ के छठवें पृष्ठ पर अपने विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं :

> **"चित् तत्व निरन्तर अचित तत्व की ओर अवक्रान्त हो रहा है और अचित तत्व भी उसी प्रकार नित्य चित् तत्व की ओर उत्क्रान्त हो रहा है। यह उत्क्रान्ति और अवक्रान्ति का सिद्धान्त अरविन्द के दर्शन की विशेषता है।**
>
> **उत्क्रान्ति का क्रम सर्वत्र एकसा नहीं है, किसी में जड़ तत्व अधिक प्रबल है, किसी में चित् तत्व कुछ अधिक विकसित है—इनमें भी स्तर-भेद है। बड़ी साधना के बाद आध्यात्मिक जिज्ञासा उद्बुद्ध होती है।"[1]**

श्री अरविन्द मनुष्य की मन बुद्धि की वर्तमान अर्धविकसित अवस्था को अविद्याच्छन्न होने के कारण परम तत्व की उपलब्धि में बाधक मानते हैं।

अरविन्द के अनुसार सम्पूर्ण सत्ता के तीन प्रधान भाव हैं, व्यष्टि, समष्टि और परात्परता। समष्टि, व्यष्टियों की आधारभूमि है, परन्तु समष्टि व्यष्टियों द्वारा ही विकास-पथ पर अग्रसर होती है। परात्परतापूर्ण सत्ता का वह भाग है जो अभी विश्व-विकास में अचरितार्थ है। इसके लिए विश्व में एक ही अद्वय तत्व की अनुभूति अपेक्षित है।

अन्तः चक्षु प्राप्त होने पर परात्परता के दर्शन होते हैं। इसीलिए रंगनाथ दिवाकर कहते हैं :—

> **"अन्ध मति हूँ मैं, सत्य ज्ञान-शून्य हूँ मैं प्रभु! हमेशा अहम् की पीठ पर आरूढ़ होकर अवलोकन करनेवाला अज्ञानी हूँ मैं। प्रभु, 'अहम्' भाव के दुर्दम, दुःख से मेरा, अपना कहते हुए दिन-रात हैरान हो रहा हूँ। मेरी बाहरी आँखों पर आक्रमण किया था माया ने और उसीने सता-सताकर मेरा अपमान किया था। बस करो अब मेरी यह नादानी, यह मूर्खता स्वामी! अन्तश्चक्षु खोलकर**

१. 'कल्पना' अगस्त १९५१, पृ० ८ : पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रकाश दिखाओ और सत्योपदेश देकर अपने दर्शन की कृपा करो अन्तरात्मा।"[1]

(१२) **दुःखवादी** :—शताब्दियों पूर्व बुद्ध की वाणी बोल उठी थी 'जिघच्छा परमा रोगा संखारा परमा दुखो' अर्थात् क्षुधा से बढ़कर कोई महान् रोग नहीं और जीव का जीवत्व ही महान दुःख है। जीवत्व का कारण है अज्ञान, माया या अविद्या या दूसरे शब्दों में काम, क्रोध, मद, लोभ, मत्सर, हिंसा तथा असत् के प्रति प्रीति है। इससे मुक्त होना, परम स्वरूप का ज्ञान करना ही निर्वाण है। संसार के समीप में जब जीव आकुल हो उठता है, तब पुकार उठता है :—

"प्रभो

पाप परिताप से तप्त, दुःखदावानल से दग्ध एवं मोह-पंक में ग्रस्त दासों का दास तेरी शरण में है।

जो जगत् के जंजाल से व्याकुल, अशान्ति की लहरों से ऊबी हुई और तृष्णा को दावाग्नि में भुनी हुई, महा खिन्न आत्मा है, वह तेरी शरण में है।'[2]

संसार में पड़े जीव का रुदन वन्द नहीं होता क्योंकि रो लेने से उसे कुछ राहत मिल जाती है। यथा :—

"रोना, रोना, जीवनभर रोने से फुरसत कहाँ? दिल की आग पर जब तक दो बूँद गरमागरम आँसू न ढुलके, तब तक वह शान्त नहीं हो सकती। रो देना क्या है, अपनी दारुण पीड़ाओं को पानी बनाकर बहा डालना है, घोर ज्वर-ग्रस्त हृदय को पानी से नहला देना है।"[3]

इस संसार में वही नहीं रोता जिसने अविद्या के मल को दूर कर दिया है। इसीलिए भगवान् बुद्ध इसे दूर करने की बात करते हैं।[4] और निर्वाण प्राप्ति के लिए सत्य श्रद्धा, सत्य संकल्प, सत्य वाणी, सत्य कार्य, सत्य जीवन, सत्य प्रयत्न, सत्य विचार तथा सत्य ध्यान पर जोर देते हैं।

(१३) **अमूर्त चित्रण** :—अमूर्त भावों को मूर्त के रूप में चित्रण, साहित्यकार इसलिए करते हैं कि भाव-प्रकाशन में सरलता एवं स्पष्टता आ जाय। हिन्दी गद्य-काव्य में इस प्रकार के भाव-प्रकाशनों में भावना का कार्यक्षेत्र विस्तार से दिखाया गया है :

---

१. अंतरात्मा से पृ० ३० शीर्षक ३१—रंगनाथ दिवाकर प्र० सं०

२. पृ० ८९—मणिमाला—नोखेलाल शर्मा

धम्मपदं सुखवग्गो पृ० १०७ श्लोक संख्या २०२

३. धुँधले चित्र, पृ० ५४ : मोहनलाल महतो

४. धम्मपदं, पृ० १२८, श्लोक सं० २४३

ततो मलामल तरं। अविज्जा परम मलं।

एतं मलं दहत्वान। निम्मला होथ भिक्खवो ॥ मलवग्गो अ० ।

'आशा' का चित्र तीन साहित्यकारों ने तीन प्रकार से व्यक्त किया है :—

"आशा ! तेरी ही अटल भित्ति पर सृष्टि-कर्त्ता विधाता ने सृष्टि का सूत्रपात किया है। तेरे अलौकिक गुण विरले ही किसी में पाये जाते हैं। तू अजर, अमर है, जीवन-समर में कमर कसकर जुटी रहती है। अपने सुभट सैनिकों को सदा सामने बढ़ाये रहती है। उनको पाँव फिसलने पर भी सँभाल लेती है। यदि गिर भी गये तो तत्काल ही दूना साहस प्रदान कर अग्रसर करती है। तेरे भक्तों को विफलता कभी रुला नहीं सकती। तेरे ही विशाल आँगन को लोकनाथ ने अपना लीला-निकेतन बनाया है, तू दिन-मणि दिवाकर की किरण-कड़ियों में, शील-रश्मि सुधाकर की सुखद ज्योति-लड़ियों में और व्योम-विहारी वारिद की अविराम झड़ियों में झूमती नजर आती हो। संसार की भलाई का बीड़ा तूने ही अपने सबल कन्धों पर उठाया है।"[1]

आशे ! तेरा रूप ऐसी विडम्बना क्यों है ? क्यों तूने इतना प्रपंच फैला रक्खा है ? तूँने यह दम-दिलासा देना कहाँ से सीखा ? हे मायाविनी ! तूने जगत् में यह माया का जाल क्यों फैला रक्खा है ? क्योंकि तेरे लुभावने स्वप्न में कोई फँस जाय और फिर तूँ उसके चारों ओर चक्कर लगाना शुरू कर दे।[2]

तुम्हारी खोज में युगों, पहले, इस अनन्त यात्रा पर मैं चला था।
आज वे युग भूत के गर्भ में अनादि काल के लिए खो गये।
पर मैं तुम्हारी झलक न पा सका।

मृग-तृष्णा की माया में बँधकर—अनादि मानव ने—तुम्हें कहाँ नहीं ढूँढ़ा—उस विशाल जनाकीर्ण नगरों में गगन-विचुम्बित अट्टालिकाओं में तृणाच्छादित शान्त-ज्ञान-मन्दिरों में तुम्हारी टोह में मैं अनन्त काल के बंधन में आया पर तुम कहीं नहीं थी।
मैं बढ़ता गया।
सुदूर हिंसक जन्तु पूर्ण निविड़ कानन के बीच, लगातार कल-कल कर रही कल्लोलिनी के टेढ़े-मेढ़े तटों पर, हिम छाये हुए ऊँचे-ऊँचे पर्वतों की चोटियों पर इस आकाश के अन्तहीन फैलाव के नीचे मैं बढ़ता चला गया हूँ, बढ़ता चला गया हूँ।

आधी रात हो या प्रातःकाल या प्राणशोषक भानु की प्रखर किरण राशि में कभी रुका नहीं।

---

१. तरंगिणी, पृ० २९-३० प्र० सं० : जगदीश झा विमल
२. उद्गार, पृ० २५ प्र० सं०

पर निष्ठुर ! तुमने दर्शन नहीं दिये। सचमुच निष्ठुर !!
मेरे प्राण कहने लगे—कैसी है यह अस्पष्ट धुँधली छाया !!"[1]

पहले गद्य-गीत का स्वर उल्लास एवं आह्लाद से भरा है। दूसरे एवं तीसरे में विषाद की छाया है। गद्य-काव्यकारों ने अपनी मनःस्थिति के अनुसार विभिन्न चित्र उतारे हैं। इसी प्रकार 'क्रोध', 'चिन्ता', 'शोक', 'दुख', 'गर्व', 'स्वार्थ', 'लोभ', धर्म आदि भावों के चित्र भी गद्य-काव्यों में मिलते हैं।[2]

अमूर्त चित्रों का दूसरे प्रकार का भाव-प्रकाशन विश्लेषणात्मक होता है। रचनाकार अपनी ओर से इन भावों की व्याख्या करता है। यथा :—

"प्रेम क्या है ?
आत्म-अभिव्यक्ति व्यक्तित्व की पूर्णता
जीवन का निस्पन्द, आत्मोत्सर्ग।
काम क्या है ?
सृष्टि के अस्तित्व का नियम, जीवन-पुष्प का पराग,
रचनात्मक शक्ति-प्रेम की आदिम अवस्था।"[3]

अमूर्त चित्रण द्वारा हिन्दी गद्य-काव्यकारों ने भावों के सुखात्मक एवं दुखात्मक दोनों रूपों का चित्र उतारा है। कहीं वर्णन की प्ररोचना द्वारा कहीं स्वरूप निर्देश एवं कार्य-व्यापार द्वारा इस प्रकार के भाव-कथन में विशेपता आगई है।

(१४) **प्रकृति चित्रण**—भावुक कलाकार जिस दृष्टिकोण से प्रकृति का चित्रण करता है वह वैज्ञानिक के दृष्टिकोण से पर्याप्त भिन्न होता है। कहीं प्रकृति अपने साहचर्य से उसके हृदय में आह्लाद का संचार करती है। कभी विषाद के क्षणों में वह प्रकृति के समीप शांति पाता है और कभी अत्यधिक अशांति। किसी-किसी काल में प्रकृति की रम्य सुषमा उसे आकर्षित नहीं कर पाती क्योंकि उस समय वह अपने ही भावों में तल्लीन रहता है। कलाकार की मनःस्थिति की भिन्नता के कारण प्रकृति चित्रण के विभिन्न रूप गद्य-काव्यों में मिलते हैं। भावांकन की विशेषता को ध्यान में रखते हुए इन्हें छः वर्गों में रख सकते हैं : (१) विशुद्ध यथार्थवादी (२) आह्लाद-मूलक (३) विषादमूलक (४) मिश्र (५) व्यक्तिवादी (६) भावोत्कर्ष स्थापक।

(१) **विशुद्ध यथार्थवादी**—चन्द्रिका की ज्योत्स्ना, निर्झर के कल-कल गान, दृश्यों की हरीतिमा, वनों की रम्यता तथा प्रकृति के सहचरों के भुक्त आनंद के यथार्थ

१. 'हंस' नवम्बर १९३८ : विष्णु प्रभाकर
२. देखिये, अन्तस्तल पृ० १०५, पृ० ३१, पृ० २८, पृ० १८, पृ० ५० तथा तरंगिणी पृ० ६१, पृ० २३, पृ० ८६, पृ० १०५, पृ० ११३
३. पृ० ४५, 'तूणीर' : देवदूत—प्र० सं०

चित्र के साथ ही साथ प्रभंजन का प्रवेग, समुद्र की भीषणता, ग्रीष्म की उद्दण्डता, पावस की प्रचण्डता तथा शिशिर की करालता के भी चित्र प्रकृति प्रस्तुत करती है। यथार्थवादी कलाकार तटस्थता के साथ इनका चित्र उतार देता है। उसकी तटस्थता इसी में रहती है कि वह अपनी तरफ से कुछ नहीं कहता। पर इसका मतलब यह नहीं है कि उसकी कृति उसके व्यक्तित्व के ढाँचे में न ढली हो। शुभ्र ज्योत्स्ना में मुस्कराती विभावरी जितनी आकर्षक है अमा की घटामंडित भादों की निशा भी उतनी ही मोहक है क्योंकि ये दोनों किसी एक महान कलाकार की सृष्टि हैं। अतः जीवन्त कलाकार जहाँ एक ओर रम्य विटपावली से घिरे पयस्विनी के तीर वन्य सहचरों का चित्र उतारता है वहीं शून्य नीलिमा की ओर देखनेवाले ग्रीष्म ताप से शापित ठूँठ को भी कम सुन्दर स्वरूप नहीं प्रदान करता। दोनों चित्रों की आभरण-प्रियता अपने-अपने स्थान में निराली तथा मोहक होती है। हिन्दी गद्य-काव्य के इन दोनों चित्रों को हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं :—

प्रथम चित्र—

"चाँदनी खिलखिलाकर हँस रही है ! हँस रही है हरित साड़ी पहिने हुए ललित-सरिताओं के कूलों के असंख्य सिकता-कणों में। निस्तब्धता का साम्राज्य छाया हुआ है। रजनी अपने प्रियतम के निगूढ़ आलिंगन से परिश्रान्त होकर उसी की शीतल गोद-शय्या में विश्राम ले रही है। अगनित फुव्वारों की तरह चाँदनी की रश्मियाँ छहरा रही हैं। कुमुदिनी अपना हृदय खोलकर प्रसन्नता से खिली हुई है। चन्द्रकान्त-मणि हर्ष से पिघल ही गया, लोलुप मधुकर को नलिनी ने अपने हृदय में बंद कर लिया। सुधा के प्याले-पर-प्याले उडेले जा रहे हैं। अलस तारिकाएँ, अपने-अपने झरोखों से कौमुदी की छटा झाँक रही हैं। चन्द्रमा का कैसा मधुर रस ! मानों उसका रूप रस-कौमुदी के रूप में खूब छनकर बाहर निकला हो।"[1]

दूसरा चित्र—

"जेठ गरज रहा है और नदी भय से सिकुड़ती हुई पड़ी है—दोनों कगारों के बीच में किसी राक्षस की दहाड़ से सहमी हुई किसी भोली-भाली सलौनी की तरह।"[2]

एक दूसरा अधिक मार्मिक चित्र और दिया जाता है। इसमें वृक्ष अपनी स्थिति स्वयं बताता है :

"मैं एक वृद्ध वृक्ष हूँ। मेरी नसों का रक्त सूख गया है, जड़ें ढीली पड़ गई हैं और पत्तियाँ मुरझाकर पृथ्वी पर झड़ चुकी हैं। मेरी टहनियाँ अब फूलों के भार

१. कौमुदी शीर्षक पृ० १२ विभावरी—नारायणदत्त बहुगुणा

२. पृ० १०—बंदनवार प्र० सं० : मोहनलाल महतो

से नीचे नहीं झुकतीं, इनमें अब वायु को सौरभ प्रदान करनेवाले फूल भी नहीं खिलते। मेरी पल्लव-विहीन गोद में कोई पक्षी भूलकर भी बसेरा नहीं लेता और न कोई श्रान्त पथिक ही अब मेरी विरल छाया में क्षणभर विश्राम लेने के लिए ठहरता है।"[१]

(२) **आह्लादमूलक:**—कर्मसंकुल जगत् अशान्त है, क्योंकि वह जगत् से सदा कुछ चाहता ही रहता है। अभाव की पूर्ति नहीं हो पाती क्योंकि वासनाओं का तार बढ़ता ही जाता है। प्रकृति मानव के विषण्ण मन को इसलिए शांति दे पाई है कि उसका अस्तित्व अपने लिए नहीं है। कुसुम का सौरभ केवल वायु में प्रसरित होने ही के लिए है। उसकी सुरभि से जगत् उल्लसित हो, यही उसका लक्ष्य है, यही उसका जीवन है। वह अपने जीवन के सफलता की माप परतृप्ति की गहराई से ही करता है। प्रकृति-जन्य यह परितृप्ति जब कभी भी अनुभूत होती है, मानव-मन उल्लास से नाच उठता है। 'सावन की साँझ' के मनोरम दृश्य कुछ ऐसे ही हैं:—

"सावन की साँझ थी।

पूर्व दिशा से बादल उठे, उमड़े-घुमड़े और आकाश को गदराकर छा गये। लताएँ झूमीं, पत्तियों ने तालियाँ बजायीं और रिमझिम बूँदों की अमृत वर्षा में स्नान करनेवाले, वन-विजन में उल्लास बरस गया। कुंजों की अलस छाया में सोनेवाला मोर जागा। जामुनी बादल देख उसके भाव जागे और बन का सुख-सुहाग देख उसके पैरों में नृत्य ने यौवन बाँध दिया, वह नाँच उठा······ वह पंख फैलाकर नाचा—चमचमाते पाँवों ने फैलकर दूर तक फैले श्याम बादलों को बुलाया। आसमान की जल-बालाओं को निमंत्रित कर चारों लोक के सुख-वैभव को ललकार दिया उसने!

अपनी अपूर्व शोभा एवं अनुपम रूप पर वह मोहित हो गया और····· और न जाने किन भावों की लाज से दबकर उसकी आँखें आर्द्र हो गईं।"[२]

भावुकों के हृदयगत उल्लास को दीप्त करने के लिए प्रकृति का आश्रय लिया है। प्रकृति के असीम आनंद के साहचर्य में मानवी आनंद शतशत गुना बढ़ जाता है साथ ही भावुक अपने आह्लाद के क्षणों में प्रकृति को आनंद के रंग में भी रंगा हुआ देखता है। प्रकृति कहीं आह्लाद के आलम्बन रूप में आती है, कहीं इसे उद्दीप्त करती है, कहीं प्रकृति के संश्लिष्ट विधानों द्वारा मानवी आनन्दात्मक स्थिति का विस्तृत विवेचन किया जाता है। इस तरह प्रकृति के माध्यम से आह्लाद की पाँच कोटियाँ हो जाती हैं। इनके क्रमबद्ध चित्र निम्नांकित हैं।

---

१. शीर्षक वृक्ष 'हंस' सितम्बर १९३८ : तेजनारायण 'काक'

२. इन्द्र बहादुर खरे—'ज्योत्स्ना' सितम्बर १९४८

(१) प्रकृति साहचर्य से आनंद की भावना—

उषा प्रकृति की सर्वोत्तम पूतप्रतिभा है। उषा सोकर उठी हुई तरुणी है। उसके वदन में उल्लास की लालिमा है और अंग-अंग में शक्ति, प्राण और संचार।[1]

(२) मानव सम्पर्क से प्रकृति आनंद-भावना में दीप्ति—

ज्योंही वह फूलों के समीप पहुँची, सारी प्रकृति ही बदल चुकी थी। चारों तरफ हरियाली ही उसके वक्षस्थल पर विराजमान थी। प्रभात की अनुपम लालिमा उसके मुख पर छा गई और समीर में नये प्राण आगये।[2]

(३) प्रकृति आनंद के आलम्बन के रूप में—

भगवान् मरीचिमाली वर्षाकाल के जल को अपनी किरणों से चूम रहे थे। मैंने देखा, शैशव, विकसित कुसुमकालिन्दी के कूल कुंज में तितलियों के पीछे दौड़ रहा था। वह प्रसन्न था, परन्तु स्वयं न जानता था कि वह क्यों प्रसन्न है।[3]

(४) प्रकृति आह्लादवर्द्धन के रूप में—

सुधांशु स्वप्निल कुमुदवाला को बारम्बार चुम्बन द्वारा अर्द्धरात्रि में जगा रहा है, और तुम—मुझे।[4]

(५) संश्लिष्ट आह्लादमूलक प्रकृति चित्रण—

पंचवटी की स्निग्ध छाया में यौवन निद्राभिभूत पड़ा था। वसंत के सूखे पत्ते उस पर टपक रहे थे। चैत की ईषत् गरम और शीतल कतार शरीर में राजकीय आलस्य उत्पन्न कर रही थी। पतझड़ ने सारे वन को दिगम्बर बना डाला था। लाल कोपलों के आने की सूचना भौंरे दे रहे थे। कोयल की कूक से यौवन ने एक करवट बदली, उसे भौंरों ने घेर लिया। लालसा अमरु हाथों से उसके अलकों को सुलझाने लगी, उसने दूसरी करवट बदली।[5]

(३) **विषादमूलक**—हर्ष-शोक, आशा-निराशा, सुख-दुःख आदि की संख्यातीत विविधता को मूर्तिमान करने के लिए ही कवि लेखनी उठाता है। जीवन के सरल-कठिन तथा सम-विषम परिस्थितियों में उसका व्यापक दृष्टिकोण अंधकार में प्रकाश के समान पैठ जाता है तथा स्थूल एवं सूक्ष्म जगत् में व्याप्त चेतन के अन्तर्हित सौंदर्य को प्रत्यक्ष करता है। कवि की दृष्टि पावस के मेघों की प्रतिध्वनि से हरित

---

१. पृ० ७ मणिमाला, नोखेलाल शर्मा

२. गुरूदेव पृ० ४१—महावीरशरण अग्रवाल

३. 'हंस' मार्च १९३३—धर्मेन्द्र विद्यालंकार

४. पृ० २५ शीर्षक १२ 'दुपहरिया के फूल'—दिनेशनंदिनी

५. पृ० ५८ 'धुँधले चित्र'—मोहनलाल महतो 'वियोगी'

कुंजों में नृत्य करते हुए मयूरों की ओर जहाँ जाती है वहीं वह प्रावृट के जल से उमड़ी हुई पार्श्ववर्ती दीन किसानों की झोंपड़ियों को जलमग्न करती हुई सरिता की ओर भी दृष्टिपात करता है।

एक तो प्रकृति का अशांतिमूलक प्राकृतिक विषादपूर्ण चित्र होता है, दूसरा आरोपित। इन दोनों में प्रकृति कहीं आलम्बन के रूप में जाती है, कहीं उद्दीपन के रूप में। इन दोनों रूपों के चित्र इस प्रकार हैं।

(१) **प्रकृति का अशांतिमूलक प्राकृतिक विषादपूर्ण चित्र**—खेतों की क्यारियों में जल-पादपों का प्रक्षालन कर रहा था। किसान उन्हें देखकर फूला न समाता। दिनभर रखवाली करता। शाम को घर लौटता। विभावरी की एकान्तता में उन्हें दुर्बल जान तुहिन-कणों ने उनका काम तमाम कर दिया। उषा काल में किसान खेत पर आया। उन्हें मृत देखकर वह रोने लगा।[1]

(२) अरुणाभ की साड़ी पहने प्राची प्रियतम के आगमन के लिए कुंकुम थाल में लिए खड़ी थी। विहग गण स्वाति पाठ कर रहे थे। उद्यान के पुष्प भी उषा के दर्शन लिए निशा की आलसता त्याग, दर्शन के लिए आकुल हो रहे थे। माली को इतनी सहृदयता कहाँ थी। वह तो प्रसूनों से अपनी झोली भरने आया था। उसने जम्हाते हुए कुसुमों का गला उतार लिया। उद्यान के पुष्प काष्ठवत् देखते ही रह गये।[2]

(३) **मिश्र**—हर्ष और विषाद कभी-कभी जीवन में युगपद आते हैं। नियति के इस चक्र का प्रहार प्रकृति पर भी पड़ता है। प्रकृति का ऐसा ही चित्र सुश्री कमलिनी मेहता व्यक्त करती हैं :—

> **"जीवन के प्रथम प्रभात में मैंने उसे देखा था—इठलाती हुई बयार थी। खिलती हुई कली थी—और—और था मधुलोलुप भौंरा—और शान्त थी प्रकृति।**
> **पर यह क्या ?**
> **बड़े वेग का झोंका आया। चिहुँक उठी प्रकृति—झूम-झूमकर चूमने लगी अवनि को—और—और भूमि पर आ पड़ा भौंरा—चारों ओर कोलाहल।**
> **और फिर ?**
> **शान्त थी प्रकृति। मन्द-मन्द पवन था। हँसते हुए फूल से भरी अवनि थी—और—और— निर्जीव पड़ा था भौंरा—?**
> **बस यही था उसका जीवन।"[3]**

१. शीर्षक ९५, शैशवरागिनी
२. वही, ९४ शीर्षक
३. जीवन शीर्षक 'प्रतिभा' अक्तूबर १९४६

(४) **व्यक्तिवादी**—अपने रागतत्व एवं बोधतत्व के माध्यम से कलाकार जगत् को विभिन्न दृष्टियों से देखता है। इसीलिए कभी-कभी मतविशेष के आग्रह से तथा कभी व्यक्तिगत अनुभूतियों के कारण प्रकृति-चित्रण के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। इन्हें हम सात वर्गों में रखकर देखेंगे :

(१) दार्शनिक (२) अलंकृत (३) मतवादी (४) शिक्षाप्रद (५) प्रतीकवादी (६) रूपक-प्रधान (७) आध्यान्तरिल।

(१) **दार्शनिक**—प्रकृति चित्रण के माध्यम से कभी-कभी साहित्यकार किसी सर्वकालिक तथ्य का सीधे ढंग से उद्घाटन करता है :

"अंधकार भीषण अंधकार, पाँव-तले अँधेरा। फिर भी जुगनू चमक रहा है। उसकी ज्योति छिप नहीं सकती। पर दिन के प्रकाश में वह नही ठहरता। अंधकार तुम कितने महान हो। तुम्हारे यहाँ थोड़ी शक्तिवाला जुगनू भी महत्व पा जाता है। पर यह तो भूल है। प्रकाश की एक रेखा अनन्ततम पुंज का भेदनकर स्पष्ट ही रहती है। उसे अंधकार मिटा नहीं सकता। अंधकार की हार होने पर ही जुगनू चमकता है। नहीं तो अंधकार क्या सूर्य को छिपाने का प्रयत्न नहीं करता। पर वह उसे छिपा नहीं सकता।"[1]

(२) **अलंकृत**—शब्दों के विशिष्ट प्रयोगों द्वारा छायावादी कवियों का प्रकृति-चित्रण अधिक प्राणवान एवं मनोज्ञ होता है। निम्नांकित उदाहरण से इस कथन की स्पष्टता ज्ञात हो जाती है :—

"निर्जन बन में कोयल कूक उठी और कलियाँ अँगड़ाई लेने लगीं। पतझड़े वृक्षो में अलसानी बयार डोलने लगी और दोपहरी आलस्य से भर गई। आम के वृक्षो में बौर चहकने लगे, पलास के बन में ललाई की मानों बाढ़ आ गई। मैं अपने निर्जन दरवाजे पर बैठा देखने लगा सामने के खेतों की ओर। धूल उड़ रही थी और धूल के पर्दे के भीतर दूर पर दो ताड़ के वृक्ष खड़े दिखलाई पड़ रहे थे।"[2]

(३) **मतवादी**—प्रकृति-चित्रण का उदात्त स्वरूप हमें ऐसे गद्य-गीतों में भी दिखलाई पड़ता है जिनमें मत-विशेष का आग्रह होता है। रामवृक्ष बेनीपुरी का प्रकृति-चित्रण इसी प्रकार का है :—

"दूर पर कई खेतों में हल चलाये जा रहे हैं और ढोरों का एक बड़ा झुण्ड ऊप की परती में चर रहा है, नदी कछार झौआ के वन में, हिलोर है, हहास है

---

१. १०४ शीर्षक शैशवरागिनी

२. बंदनवार, पृ० १७३ : मोहनलाल महतो

अभी एक बटेर फुर से उड़ गयी है, हवा को तेज पंखों की आरी से चीरती-सी, गाँव की धुँधली छाया की पृष्ठभूमि में दो ताड़ के पेड़ गर्वोन्नत मस्तक उठाये झूम रहे हैं, और वह बड़े जतन से कण्डे की आगी में कोई चीज़ भून रहा है।"[1]

(४) **शिक्षाप्रद**—प्रकृति के नाना व्यापारों को देखकर उपदेशपरक विचार प्रत्येक युग के कवियों ने व्यक्त किया है। गोस्वामी तुलसीदास के साहित्य पर तो इसे दोष के रूप में लादा जाता है। पर मानवी जीवन का दृष्टिकोण जगत् से कुछ ग्रहण करना ही होता है। हिन्दी गद्य-गीतों में इनके विविध चित्र भी हैं। यथा :—

"लहरें उछालते समुद्र ने पहाड़ पर आक्रमण करते हुए कहा—मैं महान हूँ। पहाड़ ने उपेक्षा से उसके आक्रमण को निस्सार करते हुए कहा—मैं महान हूँ। और तभी आसमान से कड़कड़ाते वज्र ने गिरकर समुद्र को सुखा दिया और पहाड़ को धँसा दिया। दोनों को बेपता कर दिया।"[2]

(५) **प्रतीकवादी**—प्रकृति चित्रण की प्रतीकवादी धारा में अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की अखण्ड प्रक्रिया सम्बन्धी मान्यताओं पर अधिक ध्यान दिया जाता है। अलौकिक सृष्टि की अनुभूतियों का प्रकाशन रहस्यमय होता है। गोचर जगत् से अनुप्रेरित रचनाओं में नैराश्यपूर्ण विभ्रमों, दुर्बलताओं आदि का चित्र होता है। प्रतीकवाद का विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा। यहाँ केवल प्रकृति चित्रण के प्रतीकवादी रूप का ही विचार करना है। आध्यात्मिक तथा वस्तुवादी प्रतीक-प्रधान प्रकृति चित्रण के रूप नीचे दिए जाते हैं।

(१)

आध्यात्मिक—

"इतनी भयंकर उत्ताल तरंगें और इतनी छोटी-सी नाव !
साहसी नाविक फिर भी बढ़ते ही जाते हो।"[3]

(२)

"चींटे चाशनी के बर्तन की ओर भागे जा रहे थे। बर्तन में उतरने का प्रयत्न करते। चाशनी में मुँह मारते और डुबकी मारकर मर जाते। एक जत्था आता, फिर दूसरा, फिर तीसरा, एक के पीछे एक लगा हुआ था।
एक पतिंगा जो आश्चर्य से उनका यों करना देख रहा था पूछ बैठा—अरे ! जान-बूझकर मौत के मुँह में क्यों जा रहे हो ?

---

१. 'गेहूँ और गुलाब' पृ० २० प्र० सं०—रामवृक्ष बेनीपुरी
२. 'कोयलें' हंस फरवरी १९३९ : श्यामू संन्यासी
३. शीर्षक ११, शैशवरागिनी

चींटों ने अकड़कर कहा—हम एक नई संस्कृति का निर्माण कर रहे हैं।
पतिंगा उपेक्षा से हँसा और बोला—मूर्ख दीपक की लौ में घुसने के सिवा संस्कृति के निर्माण का और कोई तरीका हो सकता है और जलते दीपक में गिरकर ठण्ढा हो गया !"[1]

प्रथम गीत में नाव तन के लिए, नाविक साधक के लिए तथा तरंगें साधना के विघ्नों के लिए आयी है।

दूसरे पद में अल्प शक्तिवालों की तुलना चींटों से की गई है, जगत् के प्रलोभन ही चाशनी के बर्तन हैं। पतिंगा प्रेमी है, और दीपक प्रेमाधार है।

(६) **रूपक-प्रधान**—भावों में उत्कर्षता लाने के लिए साहित्यकार रूपकों के माध्यम से अनुभूतियों का प्रकाशन करता है। इस स्थल में प्रकृति वर्णन का स्थान गौण इस माने में होता है कि ये रूपक-प्रधान भाव नहीं होते, ये केवल भावों के आवेग को तीव्र-भर कर देते हैं। यथा :—

"घनी झाड़ियों के झुरमुट में छिपे हुए मौज के मरुद्यान कभी-कभी खोये हुए शिशु के सदन प्रभंजन की बाँसुरी से प्रकम्पित होते हैं।"[2]

(७) **आध्यान्तरित**—इस प्रकार के रूपों में प्रकृति पर चेतना का आरोप किया जाता है। यथा—

"कौन ? इन सुकोमल, श्वेत कमल दलों के बिछौने पर अपने धवल पंख पसार कर नृत्य करनेवाली अप्सरे ! तुम कौन हो ?
क्या यह धूल में सनी हुई पृथ्वी तुम्हारे ही ओठों से प्रवाहित होनेवाली उज्ज्वल मुस्कान में नहा रही है ? क्या रात्रि की इन एकान्त, नीरव घड़ियों में तुम्हारे ही कोकिलकंठ से निकलनेवाली सुरीली बातें सुनकर कुमुदिनी का हृदय खिल उठा है, लतिकाएं स्तब्ध हो गई हैं और वृक्षों के पल्लव मूक ?
क्या तुम्हारे ही किरणकरों के कोमल स्पर्श से तलैया के वृक्षस्थल पर सोई हुई लहर सिहर उठी है ? क्या तुम्हारा यह मनोरम नृत्य देखकर ही सुदूर आकाश में विहार करनेवाले तारे भी रह-रहकर तड़प उठते हैं ?'[3]

(८) **भावोत्कर्ष स्थापक**—इस कोटि के रूपों में भावों को दीप्त करने के लिए प्रकृति चित्रण पृष्ठभूमि का कार्य करता है। यह पृष्ठभूमि कहीं साम्य का आधार लिए रहती है तो कहीं वैषम्य का। इन दोनों के रूप इस प्रकार हैं :

---

१. 'कोयलें', पृ० ५६ : श्यामू संन्यासी
२. उन्मन, पृ० ४६ : दिनेशनन्दिनी
३. चाँदनी शीर्षक चित्रपट पृ० ३६

(१)

"समुद्र और धरणी का परिधान पहन विश्व-सुन्दरी गगन की मुग्ध शैय्या पर तारों का तकिया लगाकर सोती है। मराली के कोमल बच्चों के समय बादल उसकी स्वप्निल अलकों से अठखेलियाँ करता है और प्यार के चुम्बन शांति के श्वेत कपोतों में परिणत हो किसी हरित प्रदेश के प्रशान्त प्रांगण में उड़ विश्रांति लेते हैं और सुरसरी ओज भरी बहाते हैं! कवीश्वर, आज अग्नि वीणा के तार छेड़ और क्रान्ति के अनल शिखा में लिपट रक्तिम गीत उचार।"[1]

(२)

"संध्या होने लगती है। धीरे-धीरे रात्रि का अंधकार फैल जाता है। क्षितिज पर पानी से भरे हुए बादलों की काली घटा उठती है। तारों के धुँले दीपक एक-एक करके बुझने लगते हैं। अँधेरा घना हो जाता है। किन्तु मैं ठहर नहीं सकता। अपने स्वामी की धरोहर उन्हें वापस लौटाने जा रहा हूँ। नियत समय समाप्त होनेवाला है। थोड़ी देर बाद ही उनकी चीज उन्हें वापस सौंप देनी पड़ेगी।"[2]

(१५) **विविध**—हिन्दी गद्य-काव्य में व्यक्त किये गए भाव इतना विषय का विस्तार लिये हुए हैं, कि पूर्वकथित भावों के अतिरिक्त इन्हें अब हम स्वतंत्र रूप से व्यक्त करेंगे। कुछ को तो वर्गों में रखकर देखा जायगा और कुछ का विवेचन अलग से होगा। वर्गों का विभाजत निम्नांकित है:

(१) वस्तुवादी (२) पार्थिव (३) सामान्य चित्रण (४) मनोवैज्ञानिक विश्लेपण (५) राष्ट्रीय (६) प्रभाववादी (७) सिद्धान्तवादी (८) कामनापरक (९) महामानव (१०) प्रशस्तियाँ (११) इतरेतर।

(१) **वस्तुवादी**—वस्तुओं का चित्रांकन कलाकार कई प्रकार से करता है। गद्य-काव्य में इनका विवेचन निम्नांकित ढंग से हुआ है।

(१) **वस्तु का आत्मगत वर्णन**—इस प्रकार के वर्णन में वस्तु की सत्ता पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता बल्कि साहित्यकार अपने ही आत्मगत भावों का वस्तु पर आरोप करता है। यथा :—

"भीख के दो मुट्ठी चावल से ही अपनी पूर्णता का दावा करनेवाली तू किस भिखारी की झोली है?
दाता की दयालुता के भरोसे अपने अस्तित्व को सार्थक समझनेवाली तू किस अभागे की किस्मत है?
कुछ चिथड़ों को जोड़कर तुम्हारा निर्माण किया गया है, चीथड़े भी ऐसे कि

१. शीर्षक ११ 'उन्मन' पृ० १०—दिनेशनन्दिनी
२. चित्रपट प्र० सं०, शान्तिप्रसाद वर्मा

जिन्हें उपयोग ने स्वीकार करने से आना-कानी की थी। यही है तुम्हारा रूप और एक कमजोर कंधा है तुम्हारा सहारा ! जो हो, किन्तु एक मानव के जीवन की धरोहर तुम धारण करती हो।"[1]

(२) **वस्तु का वस्तुगत वर्णन**—इस प्रकार के वर्णन को अति प्रकृतिवाद कहा जा सकता है। इसमें वस्तु की वस्तुवत्ता का यथावत् चित्र होता है तथा कलाकार का व्यक्तित्व गौण होता है। यथा—

"इस हरे-भरे वृक्ष पर
प्रतिदिन
कहीं से आकर
बैठ जाया करता है
एक कठफोड़ा।
इस वृक्ष के
मीठे-मीठे फलों को
वह कभी छूता ही नहीं,
न कभी तृप्त ही होता है
इसके फूलों की
मृदु मधुर गन्ध से,
ढेर-के-ढेर
हरित कोमल पत्तों की ओर भी
वह कभी देखता तक नहीं।
किन्तु रह-रहकर
अपनी पैनी चोंच से,
इस वृक्ष के काठ में
वह छिद्र किया करता है
और उनके भीतर से
कुरेद-कुरेदकर
खाया करता है
काले-काले घिनौने कीड़े।"

जगत् के प्रत्येक कार्य उद्देश्यपूर्ण होते हैं। साहित्य का भी कुछ-न-कुछ उद्देश्य अवश्य होता है। कोई भी रचना रचनाकार की शक्ति एवं समय का परिणाम है। साहित्यकार बौद्धिक चेतना का प्राणी है, वह इसे इनकार नहीं कर सकता कि उसने

---

१. फकीर की झोली, पृ. १३ बन्दनवार—मोहनलाल महतो

यों ही लिख मारा। किसी वस्तु को जानकर ही वह व्यक्त करता है। अति प्रकृतिवादी आत्मतृप्ति की बात तो मानता नहीं, अतः परतृप्ति ही उसका उसका उद्देश्य हो सकता है। परतृप्ति के लिए कलाकार को अधिक सचेत होना पड़ता है। मानव मनोवृत्तियों का जितना ही व्यापक अध्ययन होगा, उतनी ही उसकी रचना प्रिय होगी। उपर्युक्त रचना का दृष्टिकोण व्यापक नहीं है। प्रकृति का अस्तित्व स्वयं अपने लिए नहीं है, अतः इस प्रकार के चित्रण साहित्य के नवीन प्रयोग तो हो सकते हैं, उत्तम साहित्य के अंग नहीं। यथा—

"कई युग बीते
एक बड़े से हाल में मोमबत्तियों की क्षीण रोशनी।
दीवारों पर भाँति-भाँति के हथियार और कवच टँगे हुए थे।
मेज पर एक बड़े-से बर्तन में कच्चा-पक्का मांस रखा था।
और एक बड़े देग में जौ की शराब।
मेज़ की चारों ओर एक युवती और दो युवक बैठे थे।
दोनों युवक तेज रंगों के सूट पहने थे। लाल और हरे।
दोनों की कमरों में छुरे बँधे हुए थे।
और दोनों ही उस युवती का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने में निमग्न थे।"[१]

(३) **वस्तुस्थिति का वर्णन**—इस प्रकार की रचना में कालविशेष की मार्मिक स्थिति का वर्णन होता है। यथा :—

"तरिणी, इतना साहस क्यों करती है? तुझे पता नहीं, इस सरिता को पार करने के लिए न मालूम कितने अपने प्राणों की बलि दे चुके हैं। उनके साथ में अगणित उपकरण थे। रक्षा की सामग्री थी। फिर भी वे अपने को न बचा सके। तेरे साथ में तो केवल यह जर्जर डाँड़ और यह बूढ़ा नाविक ही है। फिर भला तू कैसे पार उतरेगी?"[२]

(२) **पार्थिव**—क्षणभंगुर संसार की सभी स्मृतियाँ काल की क्षुधा-शान्ति के सामने अपने अस्तित्व को तिरोहित कर देती हैं। चाहे इन स्मृतियों का सम्बन्ध वस्तु से हो चाहे व्यक्ति से। हिन्दी गद्य-काव्य में भंगुर वस्तुओं तथा व्यक्तियों पर भी रचनाएँ हुई हैं। इन दोनों रूप-चित्रणों में रचनाकार का समग्र व्यक्तित्व बोलता-सा दिखाई पड़ता है। यथा :—

---

१. 'हंस'—मई १९३९—नारी पुरुष के तीन युग—रामसरन शर्मा
२. चन्द्रशेखर शास्त्री—विप्लव इच्छा—शीर्षक नौका

पार्थिव वस्तु—

"स्वप्न ही तो था। बढ़ते हुए वैभव के साथ कमल की नाईं यह नगरी बढ़ी थी। किन्तु लुप्त हो गया उसका वह वैभव, अकबर लौट गया भूतों की ओर। परन्तु आज भी उन सूखे पंकजों के अवशेष कीचड़ में धँसे हुए वहीं पड़े हैं। पंकपूर्ण पृथ्वी का हृदय भी पंकजों के इस पतन को देखकर मग्न हो गया. आँसुओं का प्रवाह उमड़ पड़ा, परन्तु वे आँसू भी शीघ्र ही सूख गए, उस जीवनपूर्ण सर की सतह सूखकर खण्ड-खण्ड हो गई है।"[1]

पार्थिव व्यक्ति—मानवों का अस्तित्व जगत् में वस्तुओं से भी अधिक अस्थिर है। मानव की यही अस्थिरता पश्चात्पद दुःख का हेतु बन जाती है। दुःख का संबंध रागात्मक सम्बन्ध से है। जिसका राग जिससे जितना ही अधिक होगा उसका उससे सम्बन्ध विच्छेद उतना ही दुःखद होगा। ताजबीवी तथा शाहजहाँ का प्रेम कुछ ऐसा ही था। ताज की मृत्यु शाहजहाँ के जीवन की एक सामान्य घटना न थी। बहुत-से उसके अरमान अपूर्ण ही रह गये थे, क्योंकि वह ज्योंही सुख-मदिरा का प्याला ओठों को लगाया कि वह प्याला अनजाने गिर पड़ा, चूर-चूर हो गया और वह सुख-मदिरा मिट्टी में मिल गई, पृथ्वी तल में समा गई, सर्वदा के लिए अदृश्य हो गई।[2]

उपर्युक्त गद्य-काव्य में पार्थिव प्रेम की वेदनापूर्ण विवृति है।

(३) **सामान्य चित्रण**—कलाकार की दृष्टि जीवन के विशिष्ट एवं सामान्य क्षणों तक जाती है। जीवन के सामान्य अनुभूतियों के तथ्यों का प्रकाशन कलाकार इस ढंग से करता है कि उसमें निहित सत्य स्पष्ट हो जाय। कलाकार की तथ्य-संग्रही प्रवृत्ति विवरणात्मक न होकर रसात्मक होती है। एक उदाहरण देकर इसे स्पष्ट किया जायगा। यथा :—

"और एक दिन उसकी पत्नी के साथ उसका झगड़ा हुआ।
बहुत संतप्त अवस्था में वह घर से बाहर निकला।
वह बहुत उदास मालूम होता था।
उसके दिल को गहरी चोट लगी थी।
अपने विवाह के पहले उसने कितने मनोमीनार बाँधे थे।
उसके आगे बड़े-से-बड़ा कुतुबमीनार भी बिल्कुल छोटा दीखता था।
परन्तु आज वह बिल्कुल चकनाचूर हो गया था।
उसका मस्तिष्क शून्य हो गया था।
आँखों में आँसू चमकते थे।
इस अवस्था में उसका भ्रमण शुरू था।

१. शेष स्मृतियाँ—पृ० ७४—रघुबीरसिंह डी० लिट्०
२. शेष स्मृतियाँ—ताज, पृ० ५०—रघुवीरसिंह

वह अपने मित्र के घर के पास आया था।
अब मित्र का संसार वह बहुत 'आदर्श' समझता था।
वहाँ जाकर हमेशा की तरह अपनी दशा वहाँ सुनानेवाला था।
पर उसी घर में कुछ चमत्कारिक ध्वनि उसे सुनाई दी, वह रुक गया मानों दो बिल्ली आपस में बड़ी जोर से लड़ रही हों।
जरा देर में ही उसको मालूम हुआ कि कोई ख़ास बात नहीं है,
वह है केवल गृहदंपति का प्रेम-कलह।
उसके मन में एक सुभाषित बिजली की तरह चमक गया।
घर घर चूल्हे मिट्टी के......।
उसको एक विचित्र समाधान हुआ।"[१]

मानव जीवन का अधिक व्यापक सामान्य चित्र नीचे की रचना में प्रस्तुत किया गया है।

"मिट्टी के ढेर पर ठीकरी हँड़िया,
आखिर मिट्टी के ढेर ने पूछा—क्यों ?
हड़िया बोली—आश्रय लेने घर लौट आई हूँ—वहाँ अब मेरी आवश्यकता नहीं रही।
'आओ-आओ'—मिट्टी का ढेर बोला—सभ्यता की तरह इस घर के द्वार खुल कर बंद नहीं होते, निकालना नहीं जानते, ये द्वार सदा खुले हैं। आओ।
और ठीकरियाँ उस ढेर में लुक-छिप गईं।"[२]

आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से प्रत्येक वस्तु के संचय का विचार उपयोगिता का आधार लिये हुए होता है। व्यक्तियों से भी आपसी सम्बन्ध का, आज यही आधार है। जो हमारे काम का नहीं, भले ही दीन-हीन असहाय स्थिति में हो, हमारी कृपा का भाजन नहीं बन सकता। आर्थिक लाभ, हानि, आज उपयोगिता का माप कर रही है। उपर्युक्त रचना में इसी भाव को व्यक्त किया गया है।

संसार में कोई दुःखी है तो कोई सुखी। नियति का चक्र सबको एक स्थिति में नहीं रहने देता। श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' इसी प्रकार का भाव व्यक्त कर रहे हैं।

'उस बन में एक फूल हँस उठा—खिलखिलाकर हँस उठा और दूसरा फूल रो उठा, उसकी पंखुरियाँ बिखर पड़ीं। बन ने एक का स्वागत किया और दूसरे को विदाई दी।"[३]

---

१. 'मिट्टी के चूल्हे'—कमलाकर शुक्ल—'हंस' १९३८
२. खुले द्वार—श्यामू संन्यासी—'हंस', दिसम्बर १९३८
३. 'हँसी-रुदन'—मोहनलाल महतो

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—मनोविज्ञान अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए निम्न-लिखित पद्धतियाँ अपनाता है —

(१) अन्तर्निरीक्षणात्मक पद्धति (२) वाह्य निरीक्षणात्मक पद्धति (३) प्रयोगात्मक पद्धति (४) तुलनात्मक पद्धति (५) जनन पद्धति (६) व्यक्ति इतिहास पद्धति (७) मनोविकृत्यात्मक पद्धति तथा (८) मनोविश्लेष्णात्मक पद्धति।

साहित्यकार मनोवैज्ञानिक की तरह व्यक्तिगत चेतना तथा सामाजिक चेतना का विश्लेषण नहीं करता। मानव जीवन सम्बन्धी उसके मूल्यांकन अधिक संवेदनशील, निष्पक्ष तथा विशेषोन्मुख होते हैं। उसकी रचना में जीवन सम्बन्धी मूल्यों का अनुचिन्तन, अभिज्ञान तथा आदर्श की उपलब्धि वास्तविकता के चित्रण के माध्यम से होती है। हमारे सम्पूर्ण आवेष्ठन तथा सम्पूर्ण जीवन के मूल सत्वों का मार्मिक चित्र उसकी कृतियों में इसीलिए उपलब्ध होता है, क्योंकि उसने जीवन को एक इकाई या तंग कोठरी के रूप में नहीं अनुभूत किया है। उसकी दृष्टि में हम सबों का जीवन उसके ही व्यक्तित्व में सन्निहित होता है। जिस साहित्यकार के व्यक्तित्व की परिधि जितनी ही विशाल होगी, उतने ही विविध प्रकार के स्वभावगत भावों का चित्र वह उतार पायेगा। हिन्दी गद्य-काव्यों में धारावाहिक मनोवैज्ञानिक चित्रण के लिए न तो वातावरण ही होता है और न अवसर ही, फिर भी सामाजिक तथा व्यक्तिगत मनःस्थिति के विश्लेषणात्मक बहुत-से चित्र मिलते हैं। यथाः—

सामाजिक—

"एक नदी पहाड़ के चरणों को धोती हुई बह रही थी और पहाड़ की चोटी पर एक लाल-लाल फलों का वृक्ष था। मछलियाँ सोचा करती थीं, यदि नदी का पानी पहाड़ की चोटी तक पहुँचता तो वे उस वृक्ष के फल आराम से खातीं। नदी में अपनी झिलमिलानेवाली छाया को देखकर ताराओं ने सोचा, यदि आकाश झुककर नदी की सतह से सट जाता तो उसमें स्नान करके सुखी होते। अपने घोंसलों में बैठी हुई चिड़ियों ने सोचा, यदि वृक्ष की डाल इन ताराओं को छू लेती तो चार तारे तोड़कर हम अपने घोंसलों में रख लेते।"[1]

व्यक्तिगत—

"कुशल शिल्पी ने असंख्य पद-तलों से रौंदी हुई धूलि को उठाकर कहा, 'जिन पदों ने तुझे दलित किया है, उन्हीं करों द्वारा पूजित आराधना-गृह की ज्योति बना दूँगा।' इतना कहकर उस मृत्तिका को दीप-रूप दिया। स्नेह ने मधुरता दी, वर्त्तिका ने शृंगार किया। चिनगारी ने उसे यौवन भेंट किया। दीपक जल उठा। उस जलते दीप ने कितने ही पड़ोसी दीपों में प्राण फूँक दिये, क्षण-भर

१. पृ० १६५ साध वंदनवार 'साध' शीर्षक मोहनलाल महतो वियोगी

में ही सर्वत्र दीपावलियाँ जल उठीं, जगती जगमगा उठी। दीपक को अपने रूप पर गर्व हुआ, अपने यौवन पर गुमान। वह उल्लास की मंजुल लहरियों से उद्वेलित प्रसन्न होकर बार-बार कहता, 'आज मैंने अमा के दुर्भेद्य अंधकार को मिटा दिया है, उसकी अँधियारी कुटिया को आलोकित कर दिया है।' वह मस्ती की मदिरा पीकर खो गया, अपनी क्षणिकता को भूल गया और मुस्कान-भरे स्वर में पूछा, 'क्यों विभा, अब तो प्रसन्न हो न ? तेरा विधु तुझे भूल गया किन्तु मैंने तो तेरा घर आलोकित कर दिया ?' अमा ने अट्टहास-भरे स्वर में कहा, 'पगले दीप, तू भूल गया, तेरा क्षणिक प्रकाश मेरे अँधियारे जीवन का कितनी देर का सहारा है, तू क्षण-भर में ही बुझ जायेगा, मुझे मेरे चन्द्र के लिए आँसू बहाने दे। तू लौट जा ऐसा न हो कि तू मेरे श्याम आँचल की छोर में छिपकर मिट जाये।' दीप हठीला था, हठ पर अड़ा रहा, किन्तु उसने देखा, उसकी ज्योति क्षीण होती जा रही है, वह डरा, दीप-शिखा फड़फड़ाई। तत्क्षण ही उसने देखा, उसके प्राण खिंच रहे हैं, शिखा ने ऊँच उठकर देखा और फिर पलकें नीचे झुका लीं। दीपक ने रात्रि से कहा, 'विदा' और साँस तोड़ते हुए कहा, शिल्पी तुमने मुझे उस पथ से उठाया ही क्यों, यदि फिर उस धूलि में मिला देना था ? मैं अमा के अँधियारे को न चीर सका, शिल्पी ! मुझे बनाया ही क्यों ?' वर्तिका बिल्कुल झुक गई और पलकें मूँद लीं। दीप चिर-निद्रा को प्राप्त हुआ। प्रभात हुआ, जगती ने देखे उस दीपक पर ढलके दो आँसू।"[1]

(५) **राष्ट्रीय**—हमें अपने से, अपने वातावरण से, ग्राम से, नगर से, देश से तथा सम्पूर्ण जगत् से एक गहरा राग होता है। यह अपनापन उन अनन्त का ही अंश है जिसका प्रसार विश्व में हो रहा है। जिसे हमने अपना मान लिया है, उसे हम अपनी मनःस्थिति के अनुसार ही देखना चाहते हैं, इसमें कुछ भी वैषम्य हमें रुचिकर नहीं होता। हमारी यह मनःस्थिति देश, काल, संस्कृति तथा सभ्यता आदि की समवेत सृष्टि होती है। युगविशेष की एक विशिष्ट भावना होती है। अधिकांश मानव इसी से पोषित होते हैं। आज व्यक्ति अपने को देशविशेष के सम्बन्ध से जितना देखना है उतना वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से कम। देशविशेष की सर्वांगीण उन्नति उसके निवासियों की पहली चाह होती है। राष्ट्रीयता का जन्म यहीं से होता है। जब देशविशेष की सर्वांगीण उन्नति, किसी कारण से अवरुद्ध हो जाती है तो वहाँ के जागरूक नर-नारी उन बाधक तत्वों के उन्मूलन का पहले स्वर निनादित करते हैं फिर उसे उखाड़ फेंकने का पुरुषार्थ। पुरुषार्थ का सम्बन्ध क्रिया से होता है। राष्ट्रों की क्रिया व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होती है क्योंकि व्यक्तिगत क्रिया में बलाधिक्य न्यून

१. शीर्षक प्रदीप 'ज्योत्स्ना' फरवरी १९४९—सुश्री शान्ति, एम० ए०

ही रहता है। व्यक्ति से यहाँ तात्पर्य, स्थूल जागतिक जीव का ही है। आज शक्ति जन-जन में बिखरी है। इसीलिए माखनलाल चतुर्वेदी 'साहित्य देवता' के 'जनता' शीर्षक में सुप्त शक्तियों के जागरण का आवाहन करते हैं :—

"तुम्हारी ठंढक में कोई आग नहीं लगाना चाहता, किन्तु क्या यह कोई बड़ी माँग है कि जब तुम्हारा तरलतम अन्तःकरण ठुकराने के लिए भी और तुम्हारे अन्तरतम में निवास करनेवाली रत्नों की राशि लूट ले जाने के लिए भी तुम पर चढ़ाई हो, तब जहाँ तुम समस्त भू-मण्डल को निगलने की सामर्थ्य रखती हो, तहाँ तुम्हारी छाती को छेदने और तुम्हारी तरंगों की मर्जी पर जीनेवाला शत्रु का जहाजी बेड़ा तुझसे निगला न जा सके।"[1]

राष्ट्रीय जागरण के लिए देशवासियों की दुर्बलतायें व्यक्त करके, उन्हें स्वतन्त्रता संग्राम में जूझने के लिए उत्साहित किया जाता है तथा वर्तमान के विषाद्-पूर्ण जीवन की ओर संकेत किया जाता है। यथा :—

"मदान्ध ! जरा आँख तो खोल ! देख, यह क्या हो रहा है ? तेरा यह सुसज्जित प्रासाद जलकर भस्म होना ही चाहता है। आग लग गयी—अब बुझने की नहीं। आश्चर्य, तू अब भी मखमली गद्दियों पर करवटें बदल रहा है। मुलायम तकियों को छाती से लगाये मस्त पड़ा है। तुझे अपने सर्वनाश का तनिक भी खयाल नही।"[2]

राष्ट्रीय कविताओं में आततायी के प्रति विद्रोह की भावना रहती है। यथा :—

"धोखा मैंने खूब खाया, अब नहीं ठगा जाऊँगा, सन्धि का चक्र चलाते हुए भी तुम चोटी-दाढ़ी की फूट फैलाने की अपनी घातों से बाज नहीं आते—नहीं आते। किन्तु पेट से परेशान चोटी और दाढ़ी नें एक होकर तुम्हें बौखला देने के लिए आज एक सम्मिलित राग गुंजरित किया है—
'अपनी रोटी अपना राज।"[3]

अतीतकालीन सुख-समृद्धि का चित्र प्रस्तुत करना राष्ट्रीय साहित्य का एक और पहलू है। यथा :—

"दूध की नदियाँ वाली शस्य-श्यामला, में-ही मैं दाने-दाने और बूँद-बूँद के लिए ठोकर खाता फिरा हूँ।"[4]

---

१. पृ० १५—जनता शीर्षक 'साहित्य देवता' से
२. अन्तर्नाद पृ० ८६—'मदान्ध' वियोगी हरि
३. 'हंस' मार्च १९४७ हरिमोहन 'रोटी'
४. वही

(६) **प्रभाववादी**—प्रभाववादी गद्य-गीतों में भावों की अनेकानेक लड़ियाँ पिरोयी रहती हैं पर अन्तिम भाव को इतना प्रभविष्णु बनाया जाता है कि वह अन्य भावों से अधिक सशक्त हो उठता है। यथा :—

"संधि वय की नित-नूतन नेह नवल वसन्तश्री—अर्थना के लिए आम्रमंजरी, रक्ताशोक मुकुल, कलिकाएँ और मकरंद-भरे अरविन्द।
भरे जवानी की रंगीनी के लिए हिना, रतनारे गुलाब, और गुल्देदाउदी!
किन्तु पीत जरा की असामयिक मूर्च्छना के लिए तो अमर-बल्ली की टहनी ही उपयुक्त होगी।
किशोरी की समाधि के लिए मन्दार और मधुमालती की चदरिया
और—
जीवन के निदाघ में मरनेवाले के लिए ढलती दुपहरिया के फूल, नागरबेल के पान और तुलसी दल,
मगर
मेरी वैकुण्ठी पर तो अबीर, गुलाल और अरगजा के साथ सिर्फ उन सूखे बेल-पत्तों को ही बिखेरना जिन्हें विगत दिवसों की स्मृति ताजा रखने के लिए ही मैंने चुने थे!!"[1]

(७) **सिद्धान्तवादी**—इस प्रकार के गद्य-गीतों में किसी निश्चित सिद्धान्त का कथन होता है। इन सिद्धान्तों का सम्बन्ध जीवन के विभिन्न क्षेत्र से होता है। यथा :—

(१) **"वास्तविक सुख और शांति उसके लिए है जो अपने को एक साथ वज्र के समान कठोर और पुष्प के समान सुकोमल बनाने में समर्थ होता है।"**[2]

(२) **पंछी, आँसुओं को छींटकर, राह के गर्दो-गुबार को बिठा दे, क्योंकि जब धूल उड़ती रहेगी अपनी मंजिले-मकसूद की झाँकी न कर सकेगा।**[3]

(३) **"दूसरों की आलोचना करने के पहले स्वयं अपनी भी आलोचना कर लिया कर।"**[4]

(८) **कामनापरक**—इस कोटि के गद्य-काव्यों में या तो प्रश्न के रूप में अपनी कामनायें व्यक्त की जाती हैं या केवल निवेदन के रूप में प्रश्नमूलक कामनाएँ अपने समाधान का आधार किसी बाह्य शक्ति से सम्बन्धित रखती है। यथा :—

---

१. शीर्षक ४ 'दुपहरिया के फूल'—पृ० ३, द्वितीय खण्ड दिनेशनंदिनी
२. 'तूणीर' देवदूत पृ० ३४
३. द्वि० ख० 'दुपहरिया के फूल' पृ० १८, दिनेशनंदिनी
४. पृ० १०६, 'अन्तर्नाद' वियोगी हरि

"मौन और मृत्यु के सन्धिकाल में प्राचीन भूलों का प्रायश्चित्त करूँ या अवज्ञा के प्रदेश में खिलनेवाले बादली फूलों की चादर से उन्हें ढक, तेरे प्यार के चिर आश्वासन की उजली धूप मूर्च्छित यौवन को जगाने का सरल प्रयत्न ?"[1]

कामनाओं का प्रकाशन, बालकृष्ण बलदुआ अपने गीत में इस प्रकार करते हैं :—

"ऐ अनन्त शक्ति के संचय ! मुझे एक कण मात्र प्रदान कर दे अपने असीम भंडार से जिससे मैं मन के उत्पात को टोक सकूँ, उसकी नादान माँगें अस्वीकृत कर सकूँ और उसके रोने पर उसे सांत्वना न देकर रोता ही रहने दूँ।"[2]

(९) महामानव—इस युग के महामानव महात्मा गांधी हैं। श्री वियोगी हरि ने इनके महाप्रयाण के पश्चात् 'श्रद्धाकण' में अपनी भावांजलियाँ व्यक्त की हैं। गांधी के समग्र-जीवन की विशेषताओं का इसमें उल्लेख है। एक उदाहरण इस प्रकार है :—

"चारों ओर दूर-दूर तक अँधेरा-ही-अँधेरा था, ऐसे में वह चुपचाप सुनहरी सीढ़ी से उतरा, और उसने अपने शीतल दीपक का उजेला आँगन में चारों ओर बिखेर दिया !
अँधेरे में टटोलते फिरते थे जो,
उन भूले-भटकों ने एक-दूसरे को पहचाना ही,
अपने-आपको भी पहचाना।
महात्मा ने उन्हें प्रकाश दिखाया और उदय दिखायी।"[3]

(१०) प्रशस्तियाँ—विशिष्ट पुरुषों के जीवन के विशेष अवसरों से सम्बन्धित प्रशस्तियाँ भी गद्य-काव्य में स्थान ग्रहण किये हुए हैं। इन प्रशस्तियों का उद्देश्य श्रद्धा की सृष्टि और सम्मान प्रदर्शन करना ही है। यथा :—

"जाओ—
उन मनहूस दिवारों की एक बाँकी झाँकी करने।
इस्पाती पिंजरे में कुछ दिन बद्ध बसेरा बनाने।
तपी अग्नि में इस कुन्दन को खरी कसौटी कसने।
परहित पीड़ित होकर दुर्लभ आत्मतुष्टि रस चखने।
जाओ ए ! रण बंके छैला ! खूब अकड़कर जाओ।"[4]

---

१. पृ० २४ शीर्षक ४३ 'दुपहरिया के फूल' द्वि० खं० दिनेशनंदिनी

२. शीर्षक ३४ पृ० ५७ 'अपने गीत'

३. पृ० १, श्रद्धाकण

४. गणेशशंकर विद्यार्थी के प्रति 'बनाम स्वदेश' पृ० २९—वियोगी हरि

(११) इतरेतर—मानव जीवन में कुछ ऐसे भाव भी उठते हैं जिनका संबंध जीवन की तात्कालिकता से ही होता है। साहित्यकार की ये कृतियाँ कालविशेष की ही निधि होती हैं। इनमें भावों का आलोड़न-विलोड़न नहीं होता। 'उद्गार' में कनक अग्रवाल 'विद्यार्थियों को सन्देश' शीर्षक में ऐसा ही भाव व्यक्त कर रहे हैं। यथा :—

"तुम किस नींद सो रहे हो ? तुम्हें अपने देश का कुछ भी ध्यान है या नहीं ? उठो सचेत होओ, देश तुम्हारी ओर एक टक होकर निहार रहा है। उठकर अपने विद्यार्थी नाम को चरितार्थ करो।"[1]

बाल्य-स्वभाव का भी चित्रण गद्य-काव्यों में हुआ है :—

"मोहन, उठो-उठो—देखो, तुम्हारी बुधिया 'हम्माँ-हम्माँ' करती अपनी माँ का दूध पीने को कैसी उतावली हो रही है !"

"कहाँ है अनाली बुधिया ! आज अभी उसे घास चलायेंगे।"

'लला ! पहले उठो तो'

मोहन बुधिया की आवाज सुनकर चट उठ बैठा। और जाकर अधीर बुधिया के गले से लिपट गया। बुधिया भी बड़े चाव से उसकी बिखरी हुई अलकें चाटने लगी।"[2]

गद्य-काव्यों में आये हुए सभी प्रमुख कोटि के भावों का उल्लेख यद्यपि हो चुका है, फिर भी विस्तार के भय से बहुत-से भावों को स्थान नहीं मिल पाया है।

भाव-व्यंजना

प्रथम अध्याय में यह कहा गया है कि श्री विश्वनाथ महापात्र रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानते हैं। प्रश्न यह उठता है कि यह रस क्या है। साहित्य-दर्पणकार के मत से 'सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित, वासना-रूप, रति आदि स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर रस के स्वरूप को प्राप्त होते हैं।'[3]

काव्यादि के सुनने से अथवा नाटकादि के देखने से आलम्बन-उद्दीपन विभावों, भ्रूविक्षेप, कटाक्षादि अनुभावों और निर्वेद ग्लानि आदि संचारी भावों के द्वारा अभिव्यक्त होकर सहृदय पुरुषों के हृदय में स्थित, वासना-रूप रति, हास, शोक आदि

---

१. 'उद्गार' पृ० १५

२. "मेरे लाल" शीर्षक 'अन्तर्नाद' पृ० ३०, वियोगी हरि

३. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेतिरत्यादिः स्थायि भावः सचेतसाम्—३।१। साहित्य-दर्पण

स्थायी भाव, शृंगार हास्य और करुणा आदि रसों के स्वरूप में परिणत होते हैं। प्रतीति के पूर्व रस की स्थिति नहीं होती, और रस साक्षात्कार काल में अन्य विषय का संस्पर्शन ही रहता।

भट्ट लोल्लट रस के विषय में उत्पत्तिवादी हैं। आपके मत से रस का संबंध मुख्यतया नाटक के नायक से है। सीता के प्रति राम का उत्पन्न प्रेम उनकी अवस्थाओं का अनुकरण करनेवाले नट में उत्पन्न होता है, पश्चात् दर्शक इसका आस्वादन करते हैं। शंकुक के मत से राम में उत्पन्न रस अनुमान द्वारा नट में आरोपित होता है। दर्शकमण्डली भी इसे अनुमान के बल पर ग्रहण करती है। अतः रस अनुकरण-रूप हुआ। भट्ट नायक ने काव्य-व्यापार के तीन रूप माने हैं—(१) अभिधा (२) भावकत्व (३) भोजकत्व। अभिधा से शब्द अर्थ की प्रतीति होती है। भावकत्व से साधारणीकरण और भोजकत्व व्यापार से दर्शक रस का भोग करता है। अभिनव गुप्त ने रस को व्यंग्य माना है।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल काव्य का अधिवास वाच्यार्थ में मानते हैं। डा० नगेन्द्र के अनुसार रस व्यंजित ही होता है, कथित नहीं। पं० रामदहिन मिश्र भी व्यंग्यार्थ में ही काव्यत्व मानते हैं। दृष्टान्तों के माध्यम से हम इसे स्पष्ट करेंगे।

(१) **"तुम्हारी आँखें बड़ी-बड़ी होने से सुन्दर हैं, नासिका सुन्दर उन्नत और सुडौल है, वृहद्भाल लावण्य परिपूर्ण है। तुम्हारी केश राशि काली नागिन के समान सुन्दर है, अधर की ललाई मनोमोहक है। तुम्हारे उन्नत उरुस्थल तो कमाल करते हैं! मेरे हृदय पर जादू डालते हैं। मन को अपनी ओर खींच लेते हैं। तुम्हारी कटि की क्षीणता क्या कहूँ प्यारी आनन्दोद्यान है। और तुम्हारी मराल गति हमें धैर्यच्युत कर देती है। कितना कहूँ तू सब प्रकार स्वर्गीय अप्सरा के समान लावण्यमयी है। इसीसे हाँ इसी से तुझे प्यार करता हूँ। तुमसे प्रेम करता हूँ।"**[1]

(२) **"सुख एक तो मेरे पास है ही नहीं—दूसरे जो है भी—वह जूठा, ठण्ढा और किरकिरा है—आपके योग्य नहीं है। आप उधर से ध्यान हटा लें, वह मोरी में फेंकने योग्य है। क्या वह मैं आपको दे सकती हूँ ? उससे तो अच्छा है कि आप उसके बिना दुःखी रहें।**

उस दिन जब उसने आत्म-समर्पण किया था— वह मदमाती थी—पर उसकी आँखों में आँसू थे। वह पाप से डर रही थी, थर-थर काँपती थी। प्रलोभन बहुत भारी था। वह जीत न सकी, हार गई। उसको चाह में ग्लानि मिली थी। हर्ष में भय था—रस में विष था। कलेजा धड़कता था और बदन

१. 'प्रलाप'—शीर्षक प्रेमपिपासा, पृ० ५८

काँप था। मैंने इसकी परवाह न की। मेरी प्यास भड़क रही थी। रस निकट ही था। मैंने उसे भुलाने की बहुत-सी बातें कही थीं—वे सब झूठी थीं पर उसने उन पर विश्वास कर लिया था। वह अन्त में एक क्षण को मुस्कराई भी थी।"[१]

प्रथम उद्धरण में शृंगार का रसात्मक बोध अभिधा के माध्यम से होता है दूसरे में करुणा तथा क्रोध का, व्यंग्य मुख से। अतः विचारणीय प्रश्न हो जाता है कि रस की स्थिति अभिधा में होती है या व्यंजना में। अभिधा के विरोध में कहा जा सकता है कि यहाँ वह योग्य तथा उपपन्न है, अतः रसात्मक बोध हो गया पर अयोग्य तथा अनुपपन्न स्थिति में रसात्मक बोध नहीं होगा। अतः एक दूसरा दृष्टान्त लिया जाता है।

"मेरा जीना ही मरना है, धैर्य अधैर्य है
अहंकार विनम्रता है।"[२]

जीने मरने में, धैर्य अधैर्य में, अहंकार विनम्रता में विरोध है। यहाँ अर्थगत चमत्कार का सम्बन्ध वाच्यार्थ के विरोधाभास में है। अब देखना है कि अर्थ की रमणीयता कहाँ है।

'मरना' की ध्वनि अशांति की सूचना दे रही है। अतः कहा जा सकता है कि 'मरना' में अशान्ति व्यंग्य है। 'मरना' का वाच्यार्थ मृत्यु से है। मृत्यु काल में महान् अशांति होती है। मृत्यु-जन्य अशांति का ज्ञान यहाँ अनुमेय है। अतः 'मरना' शब्द के रमणीय अर्थ का सम्यक् बोध न व्यंग्य ही करा सकता है न वाच्यार्थ ही। फिर रस की स्थिति कहाँ होगी ? अर्थज्ञान की सम्यक् प्रतीति के बिना पूर्ण रसात्मक बोध फिर कैसे उत्पन्न होगा ? इसलिए यही मानना होगा कि रस की स्थिति, अर्थज्ञान की सम्यक् प्रतीति पर निर्भर करती है, यह चाहे जिस विधा से हो। जो हो, प्रस्तुत निबन्ध का विषय इसके निर्धारण से सम्बन्धित नहीं है, अतः यहाँ हमें गद्य-काव्यों में प्रदर्शित विभिन्न रसों के विवेचन तक ही विषय को सीमित रखना है।

गद्य-काव्यों में शान्त, शृंगार एवं करुण रस के ही बहुल स्वरूप प्राप्त होते हैं—

"शान्त-रस का स्थायी भाव शम है। आश्रय उत्तम पात्र, वर्ण कुन्द पुष्प तथा चन्द्रमा आदि के समान सुन्दर शुक्ल और देवता भगवान् लक्ष्मीनारायण है। अनित्यत्व दुःखमयत्व आदि रूप से सम्पूर्ण संसार की असारता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप इस रस में आलम्बन होता है, तथा ऋषियों के पवित्र आश्रम, हरिद्वार आदि पवित्र तीर्थ, रमणीय एकान्त वन एवं महात्माओं का संग आदि

१. अंतस्तल पृ० १८, 'दुःख' चतुरसेन शास्त्री।
२. शैशवरागिनी शीर्षक ५

उद्दीपन विभाव होते हैं रोमांच आदि इसके अनुभाव होते हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति, प्राणियों पर दया, आदि इसके संचारी भाव होते हैं।"[1]

इनके विरोध में कुछ प्रबल उक्तियाँ उपस्थित की गई हैं। एक तो तत्वज्ञान, तपचिन्तन आदि शांत रस की उद्‌बुद्धि उस रूप में नहीं करते जिस रूप में वसंत, पुष्प आदि श्रृंगार को उद्‌बुद्ध करते हैं। दूसरे काम, क्रोध आदि के अभाव को अनुभाव कैसे कह सकते हैं ? तीसरा प्रश्न स्थायी भाव का है—क्या शम कोई स्वतन्त्र भाव है ? यदि है तो उसका क्या स्वरूप अथवा धर्म है ? विरोधी आचार्यों का मत है कि शम कोई स्वतन्त्र भाव नहीं है—तभी तो भरत ने ४९ भावों में उसकी गणना नहीं की। उसमें यदि आत्मा के प्रेम की प्रधानता है तो वह रति से भिन्न नहीं है, यदि संसार के प्रति तिरस्कार भाव की प्रधानता है तो वह जुगुप्सा से भिन्न नहीं है—कुछ लोगों ने निर्वेद को शांत रस का स्थायी भाव माना है पर निर्वेद से तत्वज्ञान की उद्‌बुद्धि होती है, शांत रस की नहीं। अंत में शम को अभावात्मक मान कर ही उसका विरोध किया गया है।

इसके विपरीत आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों का मत है कि जिस प्रकार शेष आदि रस, धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों से सम्बद्ध हैं, इसी प्रकार शांत रस भी जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष से सम्बद्ध है। इसीलिए अभिनव गुप्त ने उसे प्रधानतम माना है और मम्मट आदि आचार्यों ने भी उसकी सत्ता को निर्विवाद स्वीकार किया है। बाद में इस विषय में तो कोई विवाद नहीं रह गया कि शांत रस आस्वादन की सक्रिय स्थिति है, शांति की निष्क्रिय अवस्था नहीं है परन्तु उसके स्थायी भाव के विषय में थोड़ा मतभेद रहा।

अभिनवगुप्त ने तत्वज्ञान को शांत रस का स्थायी भाव स्वीकार किया है। तत्व ज्ञान से उनका तात्पर्य आत्मज्ञान से है। इस प्रकार शांत रस का स्थायी भाव अहंकार एवं राग-द्वेष से हीन, शुद्ध ज्ञान और आनंद से ओत-प्रोत आत्मस्थिति है। यह स्थिति चिरस्थायी है—रति-उत्साह आदि अन्य मनोदशाओं का आविर्भाव इसी

---

१. शान्तः शमस्थायिभाव उत्तम प्रकृतिर्मतः ।३।२४५
कुन्देन्दु सुन्दरच्छायः श्रीनारायण देवतः ।
अनित्यत्वादिना शेषवस्तुनिः सारतातु या ।।३।२४६
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।
पुण्याश्रम हरिक्षेत्रतीर्थरम्य बनादयः ।।३।२४७
महापुरुष संगाद्यास्तस्योद्दीपन रूपिणः ।
रोमांचाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ।।३।२४८
निर्वेदहर्ष स्मरण मतिभूत दयादयः ।। —साहित्य-दर्पण

में होता है। मम्मट ने निर्वेद को ही शांत रस का स्थायी भाव माना है। निर्वेद दो प्रकार का हो सकता है—एक तत्वज्ञान-जन्य—दूसरा इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न। इसमें पहला स्थायी है, दूसरा संचारी। इस प्रकार मम्मट के अनुसार तत्वज्ञान-जन्य निर्वेद ही शांत रस का स्थायी भाव है।[1] विश्वनाथ के अनुसार शांत रस का स्थायी भाव शम है। उनकी व्याख्या इस प्रकार है :—

"जिसमें न दुःख हो, न सुख, न चिन्ता, न राग-द्वेष और न कोई इच्छा शेष हो उसे मुनिजन शान्त रस कहते हैं।"[2]

विश्वनाथ के अनुसार युक्त[3] वियुक्त[4] और युक्तवियुक्त[5] दशा में अवस्थित 'शम' स्थायी ही शान्त रस के स्वरूप में परिणत होता है।

सुख के अभाव से यहाँ तात्पर्य विषयजन्य सुख से है। वस्तुतः शांत रस में सुख होता है परन्तु उसका सम्बन्ध आत्मानन्द से होता है।

भारतीय शास्त्रों में शम एक आध्यात्मिक अनुभव-विशेष माना गया है। आत्मज्ञान तथा निर्वेद दोनों उसके पर्याय हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान आत्मा के सहज सत्य स्वरूप से बहुत दूर है। मनोविकारों के मूलाधार रूप में एक चेतना का अस्तित्व वह भी स्वीकार करता है, परंतु मनोविकारों से निर्लिप्त उसकी सहज परन्तु सक्रिय आत्मसुखरूपिणी स्थिति क्या हो सकती है, वह यह नहीं कह सकता। मनोविज्ञान के अनुसार इस मनःस्थिति के केवल दो ही रूप हो सकते हैं। साधारण रूप में तो वह राग की क्लान्ति ही है अर्थात् राग ही अपनी तीव्रता में थककर वैराग्य में परिणत हो जाता है। विशेष रूप में वह

---

१. 'देव और उनकी कविता' पृ० १०८-१०९, डा० नगेन्द्र

२. न यत्र दुःखं न सुखं न, चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः सशान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शम प्रधानः॥
—साहित्य दर्पण पृ० १२२ तृतीय परिच्छेद
शालिग्राम शास्त्री की व्याख्या सहित।

३. रूपादि विषयों से मन को हटा के किसी ध्यान में एकाग्र हुए योगी को मुक्त कहते हैं।

४. जिसे अणिमादि सिद्धियां योगबल से प्राप्त हैं और समाधि भावना करते ही सब जिज्ञासित वस्तुओं का ज्ञान जिसके अन्तःकरण में भासित होने लगता है उसे वियुक्त कहते हैं।

५. जिसको यहाँ तक सिद्धि प्राप्त है कि उसके चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियगण, महत्व एवं सद्भूत रूप आदि प्रत्यक्ष ज्ञान के कारणों की अपेक्षा न करके सब अतीन्द्रिय विषयों का साक्षात्कार कर सकते हैं वह योगी 'युक्तवियुक्त' कहाता है।

अहं के ही आस्वादन का एक प्रकार है। जब हमारी वृत्तियां किसी सूक्ष्म एवं महत्तर अथवा अलौकिक लक्ष्य परमात्म चिंतन या तत्वान्वेषण पर केन्द्रित हो जाती हैं तो भौतिक सुखों के प्रति स्वभावतः ही हमारे हृदय में उदासीनता एवं तिरस्कार की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह उदासीनता और तिरस्कार का मिश्र भाव यहां अहं के संवर्धन में योग देने के कारण दुःखमय न होकर सुखमय ही होता है। इस भावना का सीधा-सम्बन्ध आत्म-विस्तार के सुख से है। भारतीय दर्शन में इसे 'भूमा' का सुख कहा गया है। मनोविज्ञान इसे आत्मरति का एक परिष्कृत रूप कहेगा।[1]

शांत रस का सैद्धान्तिक विवेचन यहीं समाप्त कर अब हमें इसका स्वरूप गद्य-काव्यों में देखना है। शांत रस की पूर्ण एवं सफल अभिव्यक्ति तभी होती है जब साहित्यकार आध्यात्मिक अनुभूतियों को उपलब्ध करता है। तमसाच्छन्न आज के युग में आध्यात्मिक उपलब्धियाँ विरल ही होती हैं। फिर भी गद्य-काव्यों में इनके कुछ परिष्कृत स्वरूप मिलते हैं। शिवचन्द्र नागर के 'प्रणय-गीत' से शांत रस का एक उदाहरण दिया जाता है। यथा :

"अज्ञानाकाश के नीलिमांचल से तारिकाएँ खिसक गई हैं। फूल खिल रहे हैं। नीरवता का सुखद साम्राज्य है। ज्योति का मौन मुखर है। ज्ञानोदय की प्रथम रश्मि का आवाहन पा आज प्राण विहग आनन्दोन्मत्त होकर नाच रहा है। गा रहा है।"

आज मेरे जीवन का स्वर्ण प्रभात है, स्वर्ण विहान है।"[2]

उपर्युक्त रचना में शम स्थायीभाव है, परमात्मानुभूति आलम्बन है, नीरवता उद्दीपन, आनंदमग्न होना, नाचना-गाना अनुभाव है। हर्ष संचारी है।

शृंगार—'कामदेव के उद्भेद (अंकुरित होने) को 'शृंग' कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस 'शृंगार' कहाता है। पर स्त्री तथा अनुरागशून्य वेश्या को छोड़कर अन्य नायिकायें तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के 'आलम्बन' विभाव माने जाते हैं। चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर आदि इसके 'उद्दीपन' विभाव होते हैं। उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके संचारी भाव होते हैं। इसका स्थायी भाव 'रति' है, वर्ण श्याम है, तथा इसके देवता विष्णु भगवान हैं।[3] सम्भोग तथा विप्रलम्भ इसके दो भेद हैं।

---

१. 'देव और उनकी कविता'-पृ० १०९—डा० नगेन्द्र

२. 'प्रभात' पृ० ११, प्रणयगीत : शिवचन्द्र नागर प्र० सं०

३. शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदा गमन हेतुकः
उत्तम प्रकृति प्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥१८३॥ तृतीय परिच्छेद

श्रृंगाररस पूर्ण उक्तियाँ गद्य-काव्य में अधिकता से नहीं मिलतीं। 'प्रलाप', सौन्दर्योपासक', 'आराधना' तथा 'चिंता' में श्रृंगार रस के स्वरूप दृष्टिगत होते हैं, अन्यत्र खोजने से मिलेंगे।

सम्भोग श्रृंगार के उदाहरण—

"तू पलंग पर हो न, हाँ, हो तो जरा खिसक आओ, जरा और खिसक आओ, अरे ? खिसकने में कृपणता क्यों ?[1]

मेरी ओर देखकर तुम अपने अधरों पर मीठी मुस्कान और आँखों में रस ले आती हो, मेरा रोम-रोम इससे पुलक उठता है। तुम मुझसे दो बातें कर लेती हो तो मेरा मन फूल उठता है और कभी-कभी तो मैं मर्यादा तक का उल्लंघन कर जाता हूँ।"[2]

विप्रलम्भ के उदाहरण—

"जीवन के सुख ! अब विदा !

तुम जा रही हो ? अच्छा जाओ ? मेरे सुखों को भी संग लेती जाना। मुझसे दूर रहकर सुखी हो सकना तो होने की कोशिश करना।"[3]

करुण रस—इष्ट के नाश और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण रस आविर्भूत होता है। इसका स्थायी भाव शोक है। विनष्ट बन्धु आदि शोचनीय व्यक्ति आलम्बन विभाव होते हैं एवं उसका दाह-कर्म आदिक उद्दीपन होता है। प्रारब्ध की निंदा, भूमिपतन, रोदन, विवर्णता, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तम्भ और प्रलाप इस रस में अनुभाव होते हैं निर्वेद, मोह, अपस्कार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जड़ता, उन्माद और चिंता आदि इसके व्यभिचारी हैं।"[4]

परोढ़ा वर्जयित्वातु वेश्यां चाननुरागिणीम्।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ।।१८४।।
चन्द्र चंदनरोलम्वसताद्युद्दीपनं मतम्।
भ्रू विक्षेप कटाक्षादिनुभावः प्रकीर्तितः ।।१८५।।
त्यवत्तौग्रप मरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिणः।
स्थायिभावोरतिः श्याम वर्णोयं विष्णु देवतः।

—साहित्य-दर्पण तृतीय परिच्छेद

१. 'प्रेम पिपासा' प्रलाप पृ० ६५—केशवलाल झा
२. 'आराधना' पृ० १०—रजनीश
३. 'आराधना'—पृ० २०
४. देखिए : साहित्य-दर्पण तृतीय परिच्छेद २२२ से २२५

—"वह फूल की तरह हलका था। आसमान का इतना ऊँचा जीना वह कैसी सरलता से चढ़ गया ? याद से दिल की धड़कन बढ़ती है। जिगर में दर्द उठता है—गई। वह चाँद-सी सूरत गई—वह आँख का नूर गया—वह हृदय की तरावट गई—वह गई—वह होंठों का लाल रंगत, वह मुस्कुराहट—वह—वह, वह—वह, सब चली गई !! चली गई !! जैसे फूल से सुगन्ध उड़ जाती है, जैसे नदी का पानी सूख जाता है, जैसे चन्द्रग्रहण पड़ जाता है, जैसे ?—ठहरो सोचता हूँ—जैसे ? नहीं, कुछ याद नहीं आता। जैसे।···हां ! जैसे दीये का तेल जल जाता है—वैसे ही उसकी नन्ही-सी जान निकल गई थी।
मेरी स्त्री ने कहा—कहाँ रख आये ? इतनी सर्दी में ? उस गीली मिट्टी में ? अक्ल तो नहीं मारी गई। जो बचुआ को सर्दी लग जाय ? ये गद्दे और रजाई तो यहाँ पड़ी हैं। जो बचुआ की हड्डियों में ठण्ढ बैठ जाय तो क्या खाँसी दम लेने देगी ? इसीलिये तुम्हें दिया था ? ठहरो, मैं लिये आती हूँ। वह पागल की तरह दौड़ी। मेरे सिर में कई गोली-सी लग रही थी। भतीजी ने कहा—कहाँ है भैया—चाची ! ठहर मैं लाती हूँ—चलो बताओ कहाँ है ? बूढ़ी माँ बोली नहीं ! रो रही थी, रो रही थी, रो रही थी, चुप-मौन रो रही थी। चुपचाप ही उसने बेटी को छाती से लगा लिया। मैं स्त्री को कुछ कह न सका। वह मेरे पैरों पर पड़ी थी—मैं मानो आसमान की ओर उड़ रहा था—आँखें निकल पड़ी थीं—दम घुट रहा था—मैंने कमीज का बटन जोर से तोड़ डाला। मैं खम्भे का सहारा लिये खड़ा रहा।"[1]

कथित रसों के अतिरिक्त कहीं-कहीं वात्सल्य, वीभत्स आदि के भी चित्र मिलते हैं।

वात्सल्य—

"शिशो, बाबा मेरे कलेजे के टुकड़े, मेरे लाड़ले तुम मुझे इतने दुलारे क्यों हो ? तुम्हारे लिए मेरे हृदय में इतनी ममता क्यों भरी है ? कहाँ का प्यार मेरे हृदय में उमड़ पड़ता है ?

शिशो, अब मेरा मन और किसी में क्यों नहीं लगता ?
शिशो, तुमने कहाँ से यह सौन्दर्य की पिटारी चुराई ?
कहाँ से मन छीन लेने की कला सीखी ?
आ, मेरे लाल ? छाती से लग जा
आः कितनी शीतलता है !"[2]

---

१. 'शोक' अन्तस्तल पृ० २८ : चतुरसेन शास्त्री
२. 'प्रवाल' पृ० २२, शीर्षक ३१ : राय कृष्णदास

वीभत्स—

"यह लाश भँसी जा रही है। स्त्री की है। बड़े-बड़े बाल पानी पर लहरा रहे हैं। पेट के बल पड़ी है, पीठ और कमर के नीचे के कुछ भाग रह रहकर नीचे-ऊपर हो रहे हैं। सफेद-सफेद चमड़ी। एक कौआ उस पर बैठने के लिए हवा में पर तोल रहा है। वह लपका, वह बैठा, वह चोंच चलाई।"[1]

मार्मिक उक्तियाँ—गद्य-काव्यों में अनुभूति की गहराई के कारण कहीं-कहीं भावों में मार्मिकता का सन्निवेश प्रचुर मात्रा में हुआ है। इनके निर्देश के बिना भाव-पक्ष के विश्लेषण का कार्य अपूर्ण ही रहेगा, अतः कुछ मार्मिक स्थलों का विवेचन अप्रासांगिक न होगा। यथा :—

दैन्य तथा क्षोभ के भाव—

"माघ की भोर है—पछवा हवा पुरानी कुर्त्ती को छेदकर छाती की हड्डी तक हिला रही है, अंग-अंग सिकुड़े जा रहे हैं, किन्तु मुझे गागर ढोनी पड़ेगी, क्योंकि किसी को सुबह-सुबह कूआ का गरमागरम पानी चाहिए।"[2]

गर्व के भाव—

"वह ? उसकी यह मजाल ! अच्छी बात है देख लूँगा ! मेढ़की को जुकाम हुआ ? मेरी बराबरी करेगा ? बराबरी कहाँ ? आगे बढ़ेगा ? वह भुनगा ? कल तक जो मेरे द्वार पर जूतियाँ चटखाता फिरता था। जिसकी माँ के हाथों में चक्की पीसते-पीसते छाले पड़ गये हैं, आज वह यों चलेगा ? अकड़कर इस ठाठ से ? कुचल डालूँगा ? दूध से मक्खी की तरह निकाल फेंकूँगा। वह अपने हिमायतियों को लेकर आवे, एक-एक से सुलझ लूँगा।"[3]

दीनता, चिन्ता, खिन्नता के भाव—

"नाविक ने नौका बाँध दी है, और मुझे उस पार जाना है। विश्व की कटु उपेक्षाओं से ऊबकर यौवन की सुधाभरी क्षमा के नीले नकाब से अपने को नख-शिख तक ढक लिया है,

समुद्र उर्मियों का मौन संगीत पहाड़ों से प्रतिध्वनित होकर चिर-निद्रा के सुखद स्वप्नों में समा रहा है,

केवट शराब की प्याली में अपनी सुध-बुध गवाँकर सोया पड़ा है, और मुझे उस पार जाना है।"[4]

---

१. 'गेहूँ और गुलाब'—पृ० १७—रामवृक्ष बेनीपुरी

२. 'गेहूँ और गुलाब'—पृ० १०४ रामवृक्ष बेनीपुरी

३. 'अन्तस्तल' पृ० ५०—चतुरसेन शास्त्री

४. 'शारदीया' पृ० ६५—दिनेशनन्दिनी

दर्प एवं उल्लास-मिश्रित गर्व के भाव—

"मैं अप्सराओं की राजरानी हूँ और स्वर्ग के सभी वृन्दारक मेरे संकेतों पर यौवन के शासन की योजना करते हैं,

मेरे आवास के रोम-रोम पर उन मन्दार-पुष्पों का ढेर है, जिनका चयन केवल शैशव-कुमारियों ने किया है, और जिन्हें ओस की आहें तक छू न पाई हैं।"[१]

स्मृति तथा ग्लानि के भाव—

"मौन और मृत्यु के सन्धिकाल में प्राचीन भूलों का प्रायश्चित्त करूँ या अवज्ञा के प्रदेश में खिलनेवाले बादली फूलों की चादर से उन्हें ढक, तेरे प्यार के चिर आश्वासन की उजली धूप में मूर्च्छित यौवन को जगाने का सरल प्रयत्न ?"[२]

उपेक्षा के भाव—

"भूलते हो युवक ! मैं मदान्ध नहीं हूँ और न मैंने तुम्हें अपनी तलछटतम रिक्त मधु प्याली को दिखलाकर ललचाया है। मैंने तुम्हें ठगने का प्रयास नहीं किया है—तुम स्वयं अपने आपसे ठगे गये हो !!!"[३]

निष्कर्ष

गद्य-काव्यों में जीवन के धारावाहिक चित्रों को उपस्थित करने का सुलभ अवसर नहीं रहता, अतः जीवन-सन्दर्भ से विरहित भावचित्रों में स्थानीय प्रभविष्णुता एवं आवेग के ही स्वरूप दृष्टिगत होते हैं। परिस्थितिजन्य आरोह-अवरोह के अभाव में गद्य-काव्यकार भावोत्कर्ष स्थापन की क्रिया गहरी अनुभूति के माध्यम से सम्पन्न करता है। ये गहरी अनुभूतियाँ जीवन की व्यापक पीठिका का आधार लिए होती हैं इसीलिए इनकी मार्मिकता प्रसंग-योजना के बिना ही अपनी रमणीयता से हृदय को प्लावित एवं उल्लसित कर देती हैं।

गद्य-काव्य का अपना निजी क्षेत्र साधनात्मक रहस्यवाद का क्षेत्र है। अतः इसी क्षेत्र में इसके सौन्दर्य को ढूँढना उचित होगा, यद्यपि भूले-भटके गद्य-काव्यकार अन्य क्षेत्रों में भी दौड़े हैं और भावों के मार्मिक चित्र उपस्थित किए हैं पर इन कृतियों में बहिर्मुखी मन का बिम्ब ही दिखलाई पड़ता है। इन कृतियों के द्वारा जीवन में वह उच्छलित आनन्द नहीं आ सकता जो मनुष्य को संयत, संतुष्ट तथा वदान्य बना सके। इसीलिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि उस वस्तु की खोज होनी चाहिए जो मनुष्य को छोटे प्रयोजनों में बाँधने के बदले उसे प्रयोजनातीत सत्य की ओर उन्मुख करें।[१]

---

१. 'दुपहरिया के फूल' शीर्षक ३७ : दिनेशनंदिनी

२. 'दुपहरिया के फूल', शीर्षक ४३ : दिनेशनंदिनी

३. 'चाँद' अगस्त १९३७ : दिनेशनँदिनी

१. निबन्ध संग्रह—साहित्य का मर्म—पृ० १५३ (एक भाषण)

आज के अधिकांश जीवन में ताप-ही-ताप है, पर उसमें उस ऐश्वर्य का प्रकाश नहीं जो जीवन के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को बखेरने के लिए आवश्यक होता है। आज के मानव की चित्त-वृत्ति व्यस्त वागीश की चित्तवृत्ति हो गई है।[1] व्यक्ति-अभाव ने आज समष्टि-चेतना को उद्बुद्ध किया है। आज की समष्टि-चेतना अन्तःप्रकाश का परिणाम न होकर तमस का युगानिसारी प्रभाव है, जो लक्ष्य को पाकर निविड़ अंधकार में प्रवेश करता है। 'मैं' हूँ यह ज्ञान जितना ही विराट चेतना से सम्बद्ध होता जाता है, उपलब्धि का आनंद बढ़ता जाता है। इस उपलब्धि का ऐश्वर्य उसके बहुलत्व में है। 'मैं' हूँ के सीमित बोध में एकरसता रहती है। 'मैं' बहु हूँ इस ज्ञान में प्रकाश एवं आनन्द की स्पष्ट झलक है। हमारे प्रयोजन का संकीर्ण क्षेत्र हमें वैयक्तिक संकीर्णता में घेरे रहता है। बाह्य जगत् से हमारा एकात्मबोध जितना ही गहरा होता जाता है उतने ही परिमाण में जीवन में आनन्द की उपलब्धियाँ बहुल होती जाती हैं। इस प्रकार के अनुभूतियों की निविड़ आनंदमयी सत्ता की अभिव्यक्ति चित्रवत् भाषा के माध्यम से कथमपि शक्य नहीं होती। अतः अनुभावित नित्य नवीन प्रणालियों का इसलिए अन्वेषण करता है जिससे कथंचित् उन अनुभूतियों की कुछ भी झलक पर संवेद्यहो सके। विशुद्ध कोटि के गद्य-काव्य कुछ ऐसी ही स्थिति के हैं।

जिस कलाकार ने घड़े के रूप का सर्वप्रथम अन्वेषण किया होगा, वह अपनी सफलता पर अवश्य नाच उठा होगा और नाच उठा होगा उसका सम्पूर्ण वातावरण। ऐसा क्यों हुआ होगा? इसलिए कि उसने प्रयोजन-पूर्ति का एक नवीन साधन निकाला था। वह इतने से ही तृप्त नहीं हुआ होगा। घड़े के रूप-विन्यास में उसने पर्याप्त काँट-छाँट, आभरणीयता एवं कलात्मकता का संचार किया होगा। दण्डचक्र, चीवर से कुलाल आज भी घट का निर्माण करता है, पर उसकी क्रिया में आह्लाद है? क्या आज के कुलाल की कला उसी रूप में महिमामंडित होने की अधिकारिणी है, जिस रूप में प्रथम घटकारक की थी? पाश्चात्य विचारकों के अनुकृति का सिद्धान्त यहीं लचड़ तथा प्राणहीन हो जाता है। कलाकृतियों को महत्तम स्वरूप देने के लिए उपकरण उतना प्रधान नहीं होता जितना कि कलाकार का व्यक्तित्व। कला को महान बनाना ही कलाकार का लक्ष्य होता है और वह ऐसा कभी पूर्व-निर्धारित उपकरणों से करता है, कभी स्वतन्त्र चुने हुए उपकरणों से। उसके उपकरण अव्यवहृत गति से हृदय में प्रवेश करके रूप-सृष्टि करते हैं। इसीलिए कला के स्वरूप में वैविध्य दिखलाई पड़ता है। अतः अगले अध्याय में गद्य-काव्य के रूप तथा शैली का विचार होगा।

---

१. आधुनिक काव्य निवन्ध पृ० ८१ : रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पाँचवाँ अध्याय

रूप तथा शैली

रूप-प्रकार

गद्य-काव्यों के रूपविधान में वस्तु-वैचित्र्य, वर्ण-वैचित्र्य, विषय तथा विन्यास-वैचित्र्य का आयोजन देखने को मिलता है। नवीनता, आधुनिकता तथा विपुलता के साथ ही इस उपवन में रंग-विरंगी क्यारियाँ, सामयिक रुचि के कटे-छटे विविध स्वरूप वाले पुष्प, नव-नव आकार-प्रकार में विकसित कुंज, लता-भवन और बेलि-वितान हैं। नवीन कलाकारों के प्रयत्न से इसमें जीवित साँसों का स्पन्दन, आधुनिक इच्छाओं के अंकुर, वर्तमान के पदचिन्ह, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, किंबहुना नवीन युग की नवीन सृष्टि का समावेश एवं अतीत काल में अनुभावित अध्यात्म चेतनाओं के चित्र भी मिलते हैं। नवीन हास, नवीन रुदन, नये रोमांच, नवीन वसंत, नवीन पतझड़, प्राचीन वेदना, प्राचीन अज्ञान तथा संस्कार के कारण गद्य-काव्य के राशि-राशि पुष्प विविध वर्णी हो गये हैं, जहाँ इनका सौन्दर्य, इनके भाव-सौरभों के कारण बढ़ा है वहीं इनके रूप-प्रकारों की सघन हरीतिमा एवं अनिंद्य लावण्यता कहीं त्रिकोणात्मक कहीं आयताकार, कहीं मीनाकार तथा कहीं वर्गाकार हो गई है। यथा :—

"मैं तेरे द्वार
की देहली की
कदमबोसी के लिये चल
कर गई थी किन्तु जब लौटी
तो दूसरों के कन्धों पर विरह की
रात को ही मेरी रूह तन से जुदा हो गई थी,
पर वस्ल के दिन खुदा जाने वह
फिर कौन-सी राह से मेरे दिल में समा गई।"[1]

आयाम तथा आकार की दृष्टि से निर्मित इस प्रकार की रूप-सृष्टि नितान्त कृत्रिम होती है और इसके चरणों को बदलकर भी लिखा जा सकता है क्योंकि ऐसा

१. 'उन्मन' प्र० सं० २६ शीर्षक दिनेशनंदिनी

करने पर भाव-योजना में किसी प्रकार की विक्रिया नहीं आ पावेगी। अतः इसके विस्तार में न जाकर भाव-प्रकाशन को ही आधार मानकर रूप-सृष्टि पर विचार करना समीचीन होगा।

रागात्मक अनुभूतियों की विभिन्नता के कारण प्रकाशन के माध्यम में विभिन्नता अपने आप आ जाती है। कुछ अनुभूतियाँ सरलतम ढंग से प्रकाशित होती हैं, कुछ का ढंग प्रभावपूर्ण होता है तथा कोई-कोई शांत, सुस्थिर एवं गतिशील होती हैं। गद्य-काव्यों के रूप-विभाजन में इसी मानदण्ड को ध्यान में रखकर निम्न प्रकार किया जा सकता है :—(१) ध्रुवक (२) आवृत्तिसूचक (३) करुण (४) वर्ग (५) रूपक (६) सम्बोध (७) आख्यान (८) संलाप (९) व्यंग्य तथा (१०) उपालंभ।

ध्रुवक—गद्य-काव्यों में ध्रुवक दो प्रकार दिखाई पड़ते हैं।

(१) इसमें प्रथम वाक्य की अन्त में आवृत्ति होती है। यथा—

"मैं तुम्हारे हर्म्य तक आऊँगी
जब संध्या के स्वर्ण-मेघ काले पड़ जायेंगे
यौवन के प्रणय-घाव सूख जायेंगे
भरे महासागर का पानी स्थिर हो जायगा,
आँखों का आब धुँधला हो जायगा, पथ सोया होगा और जीवन का भाव अलसित जब तुम्हारी बाट जोहते-जोहते मेरी धमनियों का रक्त उष्ण हो जायगा और तुम प्रस्थान करके भी गैल भूल जाओगे तब मैं तुम्हारे सिंहद्वार तक आऊँगी—
केवल अपने कुंकुम पद्म पद चिन्ह छोड़कर वापस लौट जाने के लिए ?
मैं तुम्हारे हर्म्य तक आऊँगी !!"[१]

(२) इसमें प्रथम वाक्य के अधिकांश पदों की आवृत्ति अन्त में न होकर बीच या अन्तिम लाइन के पहले होती है। यथा :

"ठहर ! फलक को न छू फफोले फूट जायेंगे !
रस-भरी आँख में रूहे मोहब्बत को पनाह दे !
बाल-रश्मियों की रजत जंजीरें पकड़ ऊपर चढ़ जा, आकांक्षा के स्वप्नों को बिछा और फूल की तरणी में बैठ स्वर्ग-गंगा पार कर—
शान्ति के कछार में मदहोश सोये उसके शर को निरख, अभाव में ही लहरों के कोमल ओठों पर दिल के जरों को जोड़ सुन्दर नीड़ बना, स्मित के सहज जाल में उसे बाँध ले पर—फलक को न छू, फफोले फूट जायेंगे और शिशिर के शौर्य से तू सर्द हो जायगा।"[२]

---

१. 'शारदीया' पृ० ७ प्र० सं० दिनेशनंदिनी
२. 'दुपहरिया के फूल' पृ० ३८ प्र० सं०

ध्रुवक का प्रयोग दिनेशनंदिनी, भँवरमल सिंधी तथा शकुन्तलाकुमारी 'रेणु' के गद्य-काव्यों में बहुलता से मिलता है। ध्रुवक के प्रयोग से भावानुभूतियों की बोध-गम्यता में तीखापन तथा वेग आ जाता है।

(२) आवृति-सूचक गद्य-काव्यों में संज्ञा या क्रियापदों की आवृत्ति बार-बार होती है। इससे भाव-योजना में प्रभविष्णुता आ जाती है। यथा :

"मिलन चुम्बन-सा मधुर है विरह अश्रु-सा खारा है। फिर भी विरह मिलन से कहीं अधिक मीठा है।
मिलन प्रकाश-सा स्पष्ट है किन्तु विरह कुहरे-सा अन्धा है। फिर भी विरह मिलन से कहीं अधिक प्रकाशमय है;
मिलन संगीत-सा सुखकर है, किन्तु विरह क्रन्दन-सा वेधक। फिर भी विरह मिलन से कहीं अधिक राग-भरा है।
मिलन स्वप्न-सा कोमल है, किन्तु विरह सत्य-सा परुष—दुस्सह। फिर भी विरह मिलन से कहीं अधिक कोमल है।
मिलन निद्रा है : विरह जागरण है।
मिलन लक्ष्य है : विरह साधना है।
मिलन मन्दिर है : विरह परिक्रमा है।
मिलन देवता है : विरह उसकी अर्च्चा।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में 'मिलन' की आवृत्ति से भावों को दीप्ति दी गई है। क्रियापदों की आवृत्ति से भावों में स्फूर्ति, गति एवं प्रवाह का संचार निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। यथाः

"तुम गतिशील हो, अगतिशील हो, मैदान में चलती हो, एक्के में चलती हो, टाँगे में चलती हो, बग्घी में चलती हो, मोटर में चलती हो, रिक्शे में चलती हो, परदे में चलती हो, छज्जे पर चलती हो, खुले आम चलती हो, सब तरफ चलती हो।"[2]

क्रियापद की अत्यन्त प्रभविष्णु आवृत्ति हमें 'वियोगी हरि' के 'अन्तर्नाद' में देखने को मिलती है। यथा :

"कड़ी धूप में मजदूर के पसीने से टपकती हुई बूँदों में देख दीन-दुखियों की आँसू भरी आँख में देख।
धूप में मिले हुए हीरे की कनी में देख।

---

१. 'उदीची' ब्रह्मदेव शी०, द प्र० सं०
२. 'आँख' शीर्षक से 'त्रिकोटी' प्र० सं० इन्द्रशंकर मिश्र

पतित पददलित और तिरस्कृत कुटीर पुष्प के अक्षत पराग में देख।
कमल-कोश मे कैद भौंरे की प्रेमपरता में देख।
कवि की भावनास्थली पर इठलाती हुई लहरों में देख।
गगन-पटल पर अंकित चित्रों की कला में देख।
निर्जन बन के आराधक विहग-समूह में देख।
बासती वायु की प्रकंपित और अस्पष्ट स्वर-लहरी में देख।
कल निनादिनी तरंगिणी की एकान्त-साधना म देख।
पत्तों पर धीरे-धीरे ढलकते हुए ओस-विन्दुओं में देख।
भावुकता के कोमल और सरल हृदय-स्पन्दन में देख।
टिमटिमाते हुए दीपक की सकरुण दृष्टि में देख।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में रहस्यमय सत्ता का दर्शन 'वियोगी हरि' ने विविध रूपों में करने का संकेत किया है।

आवृत्ति-सूचक गद्य-गीतों के विविध चित्र ब्रह्मदेव की 'उदीची' तथा 'वियोगी हरि' के 'अन्तर्नाद' में भरे पड़े हैं।

(३) **करुण**—गद्य-काव्यों में पाये जाने वाले करुण गीत कुछ वस्तुवादी हैं, कुछ साधना सम्बन्धी तथा कुछ मानवीय भावनाओं के उद्गार के रूप में हैं। यथा :

वस्तुवादी—

"जिन वस्त्रों को पहनकर दुलहिन बनती है—जिन वस्त्रों को पहनकर कोमल बच्चे माँ के चुम्बन लूट लेते हैं, जिन वस्त्रों को पहनकर नागरिक अपने नगर की सम्पन्नता की मूक घोषणा करते फिरते हैं उन्हीं वस्त्रों की तुम अंतिम परिणति तो हो। सौन्दर्य का यह दयनीय रूप भी कुछ कम सुन्दर तो नहीं है।"[2]

साधना सम्बन्धी करुण गीतों में पथ की कठिनाइयों का संकेत रहता है। यथा :

"द्वार खोलो!
द्वार खोलो, वह बाहर अतिथि आकर खड़ा है। तुम सो गये क्या?
उठो और द्वार खोलो!
अँधेरी रात है, और वर्षा हो रही है, भींगता हुआ अतिथि लौटा जा रहा है, तुमने द्वार नहीं खोला और न उसका स्वागत ही किया।"[3]

---

१. शी० दर्शन 'अन्तर्नाद' पृ० १७—प्र० सं०—'वियोगी हरि'
२. पृ० १४ 'बंदनवार' मोहनलाल महतो
३. पृ० १८१ 'बंदनवार' मोहनलाल महतो 'वियोगी'

कहीं संकेत और अधिक स्पष्ट दिखलाई पड़ता है—

"आज मेरे संकट की नाव जीवन की उलझनों में काँप रही है। प्रिय तेरी करुण दृष्टि ही मुझे अब फिर से जीवन प्रदान कर देगी।"[1]

तथा—

"मेरे मालिक ! ज्वाला आँसू आह और कसक के उस एकांत अँधियारे राज्य में रहने की इच्छा तो दूर—साहस भी कोई नहीं करता।
पर मैंनें अपने आप स्वेच्छा से, उसी निर्जन प्रदेश के एक सूने कोने में डेरा डाला।"[2]

पथ की भीषणता जितना ही भयंकर होगी करुणा के भाव उतने ही मार्मिक होंगे। यथा :

"अपनी हथेली पर इस दीपक को लेकर मैं बारंबार बाहर आती हूँ किन्तु इसकी ज्योति को पवन चुरा लेता है और मैं अंधकार में रह जाती हूँ।
आह, मुझको बड़ी दूर जाना है और मार्ग नया है, बे-पहचाना है। यह निगोड़ा पवन केवल प्रभा चुराकर नहीं रह जाता, ऊपर से थपेड़े लगा-लगाकर मुझे खिझाता भी है। और, यह कल-कल बहती हुई सरिता भी मेरी हँसी तो नहीं उड़ा रही है।"[3]

करुण गीतों के विविध रूप नोखेलाल शर्मा के 'मणिमाला', बालकृष्ण बलदुआ के 'अपने गीत', रामप्रसाद विद्यार्थी की 'पूजा', रायकृष्ण दास के 'छायापथ' आदि में अधिकता से देखे जा सकते हैं।

मानवीय सम्बन्धों के उद्गार के रूप में शोक का भावमय प्रकाशन किसी प्रिय जन की मृत्यु या दुःखद स्थिति से सम्बन्धित हुआ करते हैं। करुण रस के वर्णन में इसका उदाहरण दिया जा चुका है।

(४) **वर्ग गीतों** में किसी विशेष सामाजिक वर्ग के व्यक्तियों का आर्थिक, सामाजिक तथा नैतिक चित्र उपस्थित किया जाता है। यथा :

"हैं, यह क्या ? यह कैसी आवाज़ है ? किसी कोमल अवरुद्ध कण्ठ का अस्फुट क्रन्दन ! इस समय ? इतनी रात गए ? यह कौन समाज से प्रताड़िता पगली एक नवजात शिशु को लिए बड़बड़ा रही है ? कुछ सुना, उसने क्या कहा ? नहीं, तुम तो सुन ही नहीं सकते। वह कह रही है—"लाल ! सो जा, सदा के लिए, इस पाखण्डी समाज की बलि-वेदी पर। कितना घोर अन्याय है ! तू मेरा

---

१. 'गुरुदेव' प्र० सं० पृ० २१ महावीरशरण अग्रवाल
२. पृ० ६४ 'अपने गीत' प्र० सं० बालकृष्ण बलदुआ
३. 'छायपथ' पृ० १ प्र० सं० राय कृष्णदास

है पर मैं तुझे अपना नहीं सकती, मानो मेरी चीज पर मुझे कुछ अधिकार ही नहीं। रोओ मत, प्यारे बच्चे ! एक बार अपनी अभागी माँ की ओर देखकर तनिक मुस्कुरा तो दो। नहीं हँसेगा ? अच्छा सो जा, स्वर्ग को जा, पर वहाँ तुझे कौन दूध पिलाएगा ? कैसे अपने कलेजे से चिपकाए-चिपकाए फिरेगा ? हे परमेश्वर ! गुड़म !—गुड़म !!"[१]

आर्थिक तथा सामाजिक रूपों के चित्र भावपक्ष में दिये जा चुके हैं। 'नरेन्द्र', 'काक', मोहनलाल महतो, रामवृक्ष वेनीपुरी तथा श्याम संन्यासी की रचनाओं में वर्ग-गीतों के विविध रूप द्रष्टव्य हैं :

(५) रूपक गद्य-गीतों में भावों की उत्कृष्ट व्यंजना होती है। यथा—

"मेरे बाग के सब पेड़ सूख गये। मैंने उनमें कभी जल देने का कष्ट नहीं किया। जब मैं दूसरों को फल खाते देखता हूं तो तरसता हूँ और पश्चात्ताप करता हूँ। पर अब क्या हो सकता है। इस समय तो नया बाग तैयार भी नहीं हो सकता। जिससे फल माँगता हूँ वह मुख फेर लेता है। रहने पर सब पूछते थे।"[२]

उपर्युक्त गद्य-गीति आध्यात्मिक अनुभवों का प्रकाशन रूपकों के आश्रय में कर रही है। राय कृष्णदास की 'साधना', वियोगी हरि का 'अन्तर्नाद', 'तरंगिणी', 'रामप्रसाद विद्यार्थी का 'पूजा' तथा 'शुभ्रा' रूपकों का भाववर्द्धक स्वरूप निर्मित करने में सफल हुई है।

(६) सम्बोध गद्य-गीतों में किसी वस्तु को देखकर हृदय-गत भावों की व्यंजना की जाती है। मोहनलाल महतो 'वियोगी' अपने 'वन्दनवार' में 'कफन का टुकड़ा' नामक शीर्षक में पूछते हैं :

"आखिर तुमने किस लिए अपने को बचा लिया ?
दुनिया के किस उपयोग में आने की लालसा ने तुम्हें बच जाने को उकसाया—
यह बतला सकोगे बन्धु ?" इत्यादि

इसी प्रकार प्रो० रामनारायण सिंह 'कोकिला' को सम्बोधित करते हुए कहते हैं —

"प्रिये ! —
तुम कितनी सरल, सीधी और बाह्यालंकार-विहीना हो। आडम्बर-शून्या एवं चमकीले चकाचौंध करनेवाले भूषण तथा अम्बर से कितनी दूर हो। तुम्हें लोग कालिया कृष्ण से भी सम्बोधित करते हैं।
तो फिर क्या तुम सुन्दरी नहीं हो ? नहीं, नहीं; तुम्हीं ने उस दिन सर्वप्रथम अपने

---

१. आदर्श प्र० स० पृ० ६३ गी० 'संसार'—तेजनारायण 'काक'
२. शैशवरागिनी, शीर्षक ६२

राग-सौन्दर्य से मेरे मन-चकोर को चमत्कृत किया था। प्रिये, तुम कितनी मीठी बोली बोलती हो, तुम मधुरभाषिणी एवं संगीत-सरित-प्रवाहिता हो। तुम्हीं बताओ, क्या तुमने अपने सुरीली तान से मेरी हृत्तंत्री को झंकृत नहीं किया था? मैं सच कहता हूँ तुम्हारे कृष्ण वदन पयोद का अवलोकन कर मेरा मन-मयूर नाच उठता था। तुम्हारी 'कूक' में कितनी हूक है और है कितनी उन्मत्तता तथा पागलपन!

क्या तुम्हारा हृदय किसी एक के लिए तड़पता नहीं? क्या तुम्हारा गान और रुदन किसी एक के लिए नहीं होता?

इस प्रकार जब मैं विचार-मग्न हो जाता हूँ, तो अचानक मुझे ऋतुराज स्मरण हो आते हैं, और तब मेरा भ्रम दूर हो जाता है। अब मैं समझता हूँ कि तुम हृदय-हीना नहीं हो। तुम भी किसी पर न्योछावर होती हो। अहा! कितना अच्छा होता मैं ऋतुराज बन जाता! क्या तुम्हें न पाकर भी इस तुच्छ जीव को शांति मिल सकती है? यह तो तुम्हारे मधुरालाप तथा करुण-कटाक्ष का भिखारी है। तुम्हारी सार्वभौमिक उदारता एवं अनन्त प्रसार में एक बिन्दु बनना इसे स्वीकार है।"[1]

इसके सन्मुख जब हम पथ-सम्बोध गीतियों को रखकर देखते हैं तो सौंदर्य-विधान में कुछ कमी मालूम पड़ती है। यथा—

"यमुने तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक प्रिया-सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान।"[2]

सम्बोध गद्य-गीतियों के माध्यम से 'चकोरी', 'तितली', 'मयूरी', 'मीन', 'मृगी', 'दामिनी', 'बूँद', 'उषा', 'रजनी', 'लतिका', 'चन्द्रिका', 'सन्ध्या' आदि पर भी भाव व्यक्त किये गये हैं।

केशवलाल झा 'अमल' का 'मधुप', माखनलाल चतुर्वेदी का 'मृदंग', नरेन्द्र का 'गिरि' तथा मोहनलाल महतो 'वियोगी' का 'भग्नदेवालय' इसी कोटि की रचनाएँ हैं।

सम्बोध गद्य-गीतियों में कल्पना के आश्रय में गीतिकार एक विलक्षण सृष्टि करता है। विभिन्न प्रकार के आरोपों द्वारा इस प्रकार के गद्य-गीति अत्यन्त सजीव तथा रमणीय हो जाते हैं। माखनलाल चतुर्वेदी के 'साहित्य-देवता' में इसी शैली पर बहुत ही हृदय-द्रावक भाव व्यक्त किये गये हैं।

---

१. 'मिलन पथ पर' प्र० सं० शीर्षक १, रामनारायण सिंह

२. 'यमुना के प्रति' परिमल पृ० १९ प्र० सं० 'निराला'

(७) आख्यान गद्य-गीतियों में कथा-भाग गौण हुआ करता है, और एक अन्य अर्थ की उत्कृष्ट व्यंजना की जाती है।

दिनेशनन्दिनी 'उन्मन' के १०५वें शीर्षक में आख्यान के द्वारा रमणीय भावों की सृष्टि कर रही हैं—

"उस निर्जन वन में वह क्या कर रही है?" मेरे प्रेमी ने उस स्वच्छन्द शुक से पूछा, जो डाली-डाली उड़ रहा था। एक मृदुल टहनी पर ठहरकर उसने पढ़ा—"श्वेत वस्त्र पहनकर वह सरिता के पार खड़ी रहती है। उसके केश-कलाप से ज्योति की बूँदें झरने के रूप में फूटती और सरिता का आलिंगन करती हैं और वह उस शुभ्र और नीले शीशे में तुम्हारा प्रतिबिम्ब निरख हँसती भी है और रोती भी। कलकल निनाद उसी के साथ अट्टहास कर उठता है। और कमल-तरणी मोतियों से भर जाती है।"

मैंने इसे सुना और बार-बार सुना।

इसी प्रकार 'जागरण' अप्रैल १९३२ में राधाकृष्ण 'शलभ' के विषय में कह रहे हैं—

"वह शलभ था

प्रदीप का प्रकाश देखकर उसकी आत्मा तृप्त हो उठी।

वह पागल की तरह गुनगुनाता हुआ दीपक की ओर उड़ चला।

उसने दीपक को देखा, जल रहा था। वह मौन होकर सोचने लगा—क्या प्रकाश फैलने के लिए जलना भी पड़ता है? शलभ ने कहा—चाहे जो हो, जलना भी पड़े तो भी मैं प्रकाश बिखेरने के लिए जलूँगा।

वह जला किन्तु राख हो गया।

बेचारा अभागा था।"

आख्यान गद्य-गीति एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा दार्शनिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, नैतिक तथा आर्थिक भावों की पुष्ट एवं उत्कृष्ट व्यंजना मनोज्ञता से की जाती है। इसी प्रकार तेजनारायण 'काक', 'नरेन्द्र', नारायणदत्त बहुगुना, नोखेलाल शर्मा, श्यामू संन्यासी, रघुवीरसिंह तथा शैशवरागिनीकार की रचनाओं में आख्यान गीतियों के अनेक रूप व्यक्त किये गए हैं।

(८) संलाप गद्य-गीतियों में प्रश्न तथा उत्तर के रूप में विचार-क्रम को बढ़ाय जाता है। यथा—

"तुम हो कौन, और जाते कहाँ हो?"

मैं—जाता हूँ प्रियतम की खोज में। फिर आप कौन?

शब्दाकार—संन्यासी

मैं—प्रियतम रहते हैं कहाँ ?
संन्यासी—प्रेमनगर में
मैं—यहाँ से कितनी दूर पर ?
संन्यासी—सरिता के उस पार।
प्रेमनगर में पहुँचने पर द्वारपाल ने पूछा—"किससे मिलने आये हो ?"
मैं—अपने प्रियतम से।
द्वारपाल—क्या लेकर
मैं—साधना और आराधना
द्वारपाल—किन्तु उपासना की कमी है।"[1]

इसी प्रकार राय कृष्णदास के संलाप, इंद्रशंकर मिश्र की 'चिकोटी', श्यामू संन्यासी के 'कोयले' तथा रघुवीरसिंह के 'जीवन-धूलि' संग्रह में कई उच्च कोटि के संलाप गद्य-गीतियों के दर्शन होते हैं।

(६) व्यंग्य गद्य-गीतियों में रचनाकार समाज का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है। श्यामू संन्यासी का एक चित्र देखिये—

"गधे ने धोबी के पत्थर से पूछा—आदमी मुझे मूर्ख क्यों कहता है ?
पत्थर ने कहा—क्योंकि वह समझदार है।
थोड़े दिन बाद गाँववाले उस पत्थर को उठाकर ले गये।
एक मंदिर में सिन्दूर चुपड़कर रख दिया, और झगड़ने लगे कि यह तो यहाँ चार सौ बरस से देवता बैठे हैं।
गधा उधर से निकला तो उसे आश्चर्य हुआ।
उसने मन-ही-मन कहा—पत्थर तो कहता था आदमी समझदार है। फिर ओंठ चबाकर सिर नीचा डाल एक ओर को चला गया।"[2]

इसी प्रकार 'तरुणाई के बोल' में देशराज 'तरुण कवि' पर व्यंग्य कर रहे हैं। यथा—

"शायद तू तरुण कवि है तभी तो शृंगार-रस की कविता करता है, ठीक है वीररस के लिए बुढ़ऊ कवि क्या थोड़े हैं।

× × ×

यह कोई नहीं कह सकता कि वीर-रस पर तुम कविता नहीं करते तो वीर नहीं हो। कोई कहेगा भी कैसे जब कि 'नैनबाण' से बिंधे पड़े हो।

---

१. श्री० 'प्रियतम हैं प्रेमनगर में', "चाँद" अगस्त १९३७ : रामप्रसाद सिंह 'आनंद'
२. 'कोयलें', पृ० ३७

वीर-रस की कविता से भला तुम्हारे जैसे तरुण को मिलेगा भी क्या। शृंगार-रस में और कुछ नहीं तो खुद तो मजनूँ बन लोगे।

× × ×

वे सचमुच गलती करते हैं जो तुमसे वीर-रस की कविता करने को कहते हैं, भला जो आनन्द लैला के अधरामृत को चाटने के वर्णन में तरुण कवि को आ सकता है वह भीम के द्वारा दुःशासन के रक्तपान की चर्चा में कहां धरा है !

× × ×

तरुण कवि शृंगार-रस में तेरा यह आविष्कार तो सोने में सुगन्ध है कि अब तूने नायिका के स्थान पर किसी चहकते लौंडे को अपना माशूक बना लिया है। यह धर्म-का-धर्म और कर्म-का-कर्म अवश्य ही तेरा नाम अमर कर देगा।

× × ×

'ये जवानी चन्दरोजे' यह सिद्धान्त गलत थोड़े ही है और शृंगारी कवि तेरे लिये तो और भीरु ही है क्योंकि तेरे कलेजे पर चौबीसों घंटे कटारी चलती रहती है। तरुण कवि कोई तुझे केवल इसीलिये बेहया कहे कि तू युद्ध के समय भी शृंगारी कवितायें करता रहता है तो उससे कह दे कि मैं तो पहिले ही मर चुका हूँ। हाँ, अपने दुश्मन (माशूक) को मारने की निष्ठुरता मुझसे नहीं हो सकती।

× × ×

तुम शृंगारी जीव होने से तरुणों की निगाह में पागल जंचो तो जंचने दो। तरुणी तो ऐसा नहीं समझती।"[1]

व्यंग्य गद्य-गीतियों के बहुल प्रयोग गद्य-काव्यों में देखने को कम मिलते हैं। देशराज के 'तरुणाई के बोल', श्यामू संन्यासी के 'कोयले', काक के 'निर्झर पाषाण' एवं नरेन्द्र की 'जीवन-रेखायें' में व्यंग्य चित्र दिखाई पड़ते हैं।

(१०) किसी व्यक्ति या समाज की न्यूनताओं, दुर्बलताओं, प्रतिज्ञा भंग, मनःस्थिति आदि को व्यक्त करने के लिए उपालम्भात्मक गद्य-गीतियों का प्रयोग होता है। 'शारदीया' में दिनेशनन्दिनी 'प्रियतम' के प्रति अपना भाव इस प्रकार व्यक्त कर रही हैं —

"रजनी के प्रथम पहर में क्यों नहीं आए, जब यौवन की प्याली प्रतीक्षा की मदिरा से लबालब भरी थी ?
अमूल्य घड़ियों को अँधेरे में गँवाकर अब आए हो, जब निद्रा की भारी पलकों पर झींगुर की रागिनी रमी है !"[2]

१. 'तरुणाई के बोल' पृ० १६
२. 'शारदीया' पृ० ८५

माखनलाल चतुर्वेदी तथा वियोगी हरि के गद्य-काव्यों में कहीं-कहीं इसके रूप उपलब्ध होते हैं।

शैली—शब्द-योजना, वाक्य-योजना, भाव-योजना और वस्तु-योजना के विलक्षण संयोग को शैली कहते हैं।[१]

वाल्टर पेटर ने शैली को किसी वस्तु का समग्र अन्तरंगता तथा रंगीनता के साथ अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट कथा परिपूर्ण प्रकार माना है।[२]

वाल्टर लेले ने 'स्टाइल' शब्द की व्युत्पत्ति का विश्लेषण करके लैटिन भाषा के स्टाइलस शब्द से इसकी उत्पत्ति मानी है। स्टाइलस का अर्थ होता है 'लौह-लेखनी'। इसी सम्बन्ध में वे और भी विचार करते हैं, 'लेखनी चाहे मोम पर चाहे कागज पर रूप-निर्माण करे, वह मानव प्रकृति के भावाभिव्यंजक तथा अत्यंत रागात्मक चेतनाओं की प्रतीक होती है।'[3] हरबर्ट रीड ने अपनी पुस्तक 'प्रोज स्टाइल' में शैली को व्यक्ति की संज्ञा दी है।

शैली की विशेषता को ध्यान में रखकर दाते ने शब्दों की श्रेणियाँ निर्धारित की हैं। उनके अनुसार शब्द-प्रयोग के अनुसार, शैशव, स्त्रैण, पौरुषयुक्त, अलंकृत तथा अश्लील होते हैं।

लौंगिनस ने कल्पना अलंकार रूपक तथा शक्तिशाली विचारों और भावों को ही शैली का तत्व माना है।

राजेश्वर अपनी काव्य-मीमांसा में सरल प्रेषणीयता को शैली का प्रधान अंग मानते हैं।

अरस्तू ने शैली-निर्माण के लिए भव्य शब्दावली पर जोर दिया है।

शब्द-प्रयोगों के अनुसार शैली के चार रूप हो जाते हैं :

(१) ठेठ तद्भवात्मिका (२) मुहावरेदार
(३) संस्कृतनिष्ठ (४) मिश्र

पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के निम्न गुण माने हैं :

सरलता, स्पष्टता, स्वच्छता, प्रभावोत्ह्लादकता, शिष्टता तथा लयात्मकता।

भारतीय आचार्यों ने प्रसाद, माधुर्य तथा ओज पर जोर दिया है। भामह, मम्मट, हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ कविराज इसी मत के हैं। भरत मुनि ने श्लेष, प्रसाद,

---

१. शैली और कौशल पृ० १३—पं० सीताराम चतुर्वेदी

२. Style—a certain absolute and unique manner of expressing a thing in all its intensity and colours.
—W. Pater—Appreciation, Style page 37.

३. The pen scratching on wax or paper, has become the symbol of all that is expressive all that is intimate in human nature.
—Walter Raleigh—Style page 2.

समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति आदि दस गुणों को काव्य का अंग माना है।[1]

प्राचीन आर्यों की रीति की व्याख्या शैली की ही व्याख्या है। पदों की विशिष्ट रचना को ही रीति कहते हैं। इसका प्राचीन नाम मार्ग या पन्था है। वामन ने रीति को इतना महत्व दिया कि काव्य की आत्मा रीति ही उन्हें मान्य हुई।[2] ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के साथ इसका सामंजस्य दिखलाया। कुन्तक ने वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीति के स्थान पर सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यम मार्ग की उद्भावना की।

शब्द-योजना तथा वाक्य-योजना की दृष्टि से शैली के पाँच भेद किये जा सकते हैं: (१) सरल (२) समास (३) मुहावरेदार (४) अलंकृत तथा (५) गूढ़। इसी क्रम से हिन्दी गद्य-काव्य में पाई जाने वाली शैलियों का विवेचन होगा। यथाः

सरल शैली में शब्दों का प्रयोग अतीव बोधागम्य है।

"अणु-अणु में तेरी प्रभुता देखूँ—
कण-कण में तेरी सत्ता विलोकूँ
जन-जन में तेरी ज्योति निहारूँ
अमल करुणा का वह निर्मल वरदान मुझे दे।"[3]

इसी प्रकार 'गेहूँ और गुलाब' में रामवृक्ष बेनीपुरी सरल शैली का उपयोग करते दिखाई पड़ते हैं।

"जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का समतुलन रहा, वह सुखी रहा, आनन्दित रहा।
वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।"[4]

सरल शैली का प्रयोग हिन्दी गद्य-काव्यकारों में प्रायः सभी ने किया है। इससे भावों में स्पष्टता तथा सहज बोधगम्यता आती है जो गद्य-काव्य का विशिष्ट तत्व है।

---

१. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः,
माधुर्य ओजः पद सौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च,
कान्तिश्च काव्यार्थगुणादर्शते॥ —नाट्यशास्त्र १६-९२

२. वामन—काव्यालङ्कार—१।२।६

३. 'उन्मुक्ति'—पृ० ६५—शकुन्तलाकुमारी 'रेणु'

४. 'गेहूँ और गुलाब'—पृ० ६

समास शैली में शब्द-योजना संक्षिप्त होती है पर अर्थ-योजना विस्तृत :

"रजत कान्ति सम जल तरंगिणी, सुमन्द मृदु कल्लोलिलनी, चन्द्रप्रभा नामक सरिता के कलित कूल पर विविध वर्णमय सुरभित सुमनों से सुशोभित, कुसुमांकित लतिकाओं से आच्छन्न सांसारिक कोलाहल-शून्य एक सघन हरा-भरा निकुंज है।"[1]

इसी प्रकार दिनेशनंदिनीजी 'शारदीया' में कहती हैं :

"नव वात्सल्य स्निग्ध स्वर्ण फूल खिलाकर ही मैंने गीत-पक्षी पाले हैं।"[2]

'तरंगिणी' में हरिप्रसादजी समास शैली का एक मनोहर चित्र प्रस्तुत करते हैं :

"प्यारे तू नित्य ही द्वार पर सघन घनतमाच्छन्न कृष्ण वसनलसित निशिमय सुजन मनमोहिनी रसिक रससोहिनी वेणु बजाता है, माधवी मल्लिकामकरंद लोलुप मलिन्द गुंजारसमुल्लसित नवरसपूरित, सप्रेमप्रतिमा समुदितकारी, हृदयहारा स्वच्छन्द आनंदकन्द संदेश भेजता है।"[3]

समास शैली का प्रयोग वियोगी हरि, देवदूत तथा ब्रजनंदनसहायजी की रचनाओं में हुआ है।

अलंकृत शैली के द्वारा गद्य-काव्यकारों ने भावों की रम्यता को पर्याप्त दीप्त किया है :

"मेरे सनील नयन अंबर में मृत्यु की घनी अँधियारी छाए, उसके पूर्व ही, प्रिय मेरे बंद प्रणय-आवास का वातायन क्षण-भर के लिये खोल उन स्मृति-खगों को उड़ा देना जिससे मैं जीवन-सूर्य को अज्ञात अंधकार के कृष्णांचल में शांति से छिपा सकूँ!"[4]

इसी प्रकार हरिप्रसादजी 'तरंगिणी' में कहते हैं :

'तिमिर के साम्राज्य में अन्याय-जनित पापपुंज का निवास स्थिरता को प्राप्त हो गया। निराशा के श्याम मेघों ने तमाच्छादित अत्याचार को योग देने में कुछ रख न छोड़ा।"[5]

अलंकृत शैली का प्रयोग प्रायः सभी गद्य-काव्यकारों की कृतियों में हुआ है।

गूढ़ शैली में गहन भावों का समावेशन होता है। शब्दगत वक्रता तथा अर्थगत

१. 'कल्याण' ज्येष्ठ कृष्ण ११ सं० १९७९—ब्रह्मदत्त शर्मा

२. पृ० १०५, 'शारदीया'

३. पृ० ५४, तेरा संदेश शीर्षक 'तरंगिणी'

४. 'शारदीया' शीर्षक ९०

५. परम प्रकाश शीर्षक 'तरंगिणी' ० ५

गत वैशिष्ट के कारण इन भावों तक पहुँचना एक दुष्कर कार्य होता है :

"झंझा के झकोरे से क्षुब्ध ह्रद के सरसिज पर बैठा अलि कैसे शान्त रह सकता है।"[1]

इसी प्रकार दिनेशनंदिनीजी कहती हैं :

"निविड़ अंधकार की मूर्छना रजनी को मदहोश कर दे तब भी तुम सिंह-द्वार पर पोरी न बिठाना, न अपने आशा के सितारे को ही अस्त होने देना क्योंकि मोह के संघर्ष को शांति के आँचल से ढककर मैं आऊँगी और मेरे पायल की रुन-झुन तुम्हारे स्वप्न को सजीव कर देगी ?"[2]

गूढ़ शैली का प्रयोग, माखनलाल चतुर्वेदी, रघुवीरसिंह, रामप्रसाद विद्यार्थी, बालकृष्ण बलदुआ, भँवरमल सिंधी आदि ने किया है।

भाव-योजना तथा अर्थ-योजना की दृष्टि से गद्य-काव्यों में पाई जानेवाली शैली के निम्नलिखित भेद किए जा सकते हैं :

संवाद शैली, विचारात्मक शैली, प्रलाप शैली, विच्छेप शैली, भावात्मक शैली, उद्बोधन शैली, आत्मचिन्तन शैली, सूचनात्मक शैली, आत्मोद्गारपरक शैली, नाट्य शैली।

संवाद शैली का प्रयोग गद्य-काव्यों में या तो मनोवैज्ञानिक भावचित्र प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है या किसी दार्शनिक सिद्धांन्त के निरूपण के लिए। 'प्यार' नामक शीर्षक में चतुरसेन शास्त्री स्पष्ट, भावपूर्ण, सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित करते हैं :

उसने कहा—'नहीं'
मैंने कहा—'वाह'
उसने कहा—'वाह'
मैंने कहा—'हूँ ऊँ'
उसने कहा—'उँहुँक'
मैंने हँस दिया। उसने भी हँस दिया।

अँधेरा था, पर बाइसकोप के तमाशे की तरह सब दीखता था। मैं उसी को देख रहा था। जो दीखता था उसे बताना असम्भव है। रक्त की एक-एक बूँद नाच रही थी और प्रत्येक क्षण में सौ-सौ चक्कर खाती थी। हृदय में पूर्ण चन्द्र का ज्वार आ रहा था। वह हिलोरों में डूब रहा था, प्रत्येक क्षण में उसकी प्रत्येक तरंग पत्थर की चट्टान बनती थी, और किसी अज्ञात बल से पानी हो जाती थी।

---

१. 'शैशवरागिनी' शी० २१

२. 'दुपहरिया के फूल' पृ० १७ द्वि० सं०

आत्मा की तन्त्री के सारे तार मिले थे, उँगली छुआते ही सब झनझना उठते थे। वायुमण्डल विहाग की मस्ती में झूम रहा था। रात का अंचल खिसककर अस्त-व्यस्त हो गया था। पर्वत नंगे खड़े थे और वृक्ष इशारे कर रहे थे। तारिकायें हँस रही थीं। चन्द्रमा बादलों में मुँह छिपाकर कहता था, 'भई! हम तो कुछ देखते-भालते नहीं।'

चमेली के वृक्ष पर चमेली के फूल अँधेरे में मुँह नीचे झुकाये गुपचुप हँस रहे थे। उन्होंने कहा, "जरा इधर तो आओ!" मैंने कहा, "अभी ठहरो!" वायु ने कहा, "हैं! हैं! यह क्या करते हो?" मैंने कहा, "दूर हो, भीतर किसके हुक्म से घुस आये तुम!" खट से द्वार बन्द कर लिया। अब कोई न था। मैंने अघाकर साँस ली! वह साँस छाती में छिप रही। छाती फूल गई। हृदय धड़कने लगा। अब क्या होगा? मैंने हिम्मत की। पसीना आ गया था। मैंने उसकी पर्वा न की।

आगे बढ़कर मैंने कहा—"जरा इधर आना।"

उसने कहा—"नहीं"

मैंने कहा—'वाह'

उसने कहा—'वाह'

मैंने कहा—'हूँ ऊँ'

उसने कहा—'उँहुँक'

मैंने हँस दिया,

उसने भी हँस दिया।"[1]

प्यार का यह चित्र अत्यन्त व्यंजनापूर्ण, भावप्रधान तथा स्पष्ट है। चतुरसेन शास्त्री की संवाद शैली अत्यन्त कलात्मक है। यथा :

"आशा! आशा! अरी भलीमानस! जरा ठहर तो सही, सुन तो सही, कितनी दूर है! मंजिल कहाँ है? ओर-छोर किधर है? कहीं कुछ भी तो नहीं दीखता। क्या अँधेर है! छोड़, मुझे छोड़! इस उच्चाकांक्षा से मैं बाज आया। पड़ा रहने-मरने दे, अब और दौड़ा नहीं जाता। ना—ना—अब दम नहीं रहा—यह देखो, यह हड्डी टूट गई, पैर चूर-चूर हो गए, सांस रुक गया, दम फूल गया। क्या मार ही डालेगी सत्यानाशिनी? किस सब्ज बाग का झाँसा दिया था? किस मृग-तृष्णा में ला डाला मायाविनी? छोड़-छोड़ मेरी जान छोड़! मैं यहीं पड़ा रहूँगा।"[2]

---

१. प्यार अंतस्तल पृ० ४-५

२. आशा—अन्तस्तल—पृ० ४२

चतुरसेन शास्त्री के गद्य-काव्यों में लय तथा संगीत का पर्याप्त सम्मिश्रण रहता है। 'प्यार', 'लालसा', 'आशा' आदि शीर्षकों में वर्णनात्मक तथा संवाद शैली का सुन्दर सामंजस्य किया गया है।

विचारात्मक शैली में विचारों की प्रधानता रहती है। गद्य-गीति में इन विचारों का सम्बन्ध जीवन के यथार्थ तत्वों से है। 'सोने से पहले' रचना के 'भाग्य विधाता' शीर्षक में 'मानव'जी इसी शैली का प्रयोग कर रहे हैं। यथा :—

"जीवन की सबसे करुण विडम्बना यह है कि उपयुक्त पात्र को उपयुक्त वस्तु नहीं मिलती।
जो बूंद सीपी में आकर मोती बनती वह ऊसर में गिरकर मलिन हो जाती है, निर्झर का जो जल भूमि के कोमल अंतर में अंकुर उठाता है वह पाषाण की कठोर खाइयों में सूख जाता है।
जो गंध प्राणों को पुलकित करती वह लू में झुलस जाती है।
सृष्टि के शासक के ये कैसे अनुदार निर्णय हैं इस पर कभी-कभी सामान्य बुद्धि को भी तरस आता है, हँसी आती है।"[१]

इसी प्रकार 'छायापथ' में राय कृष्णदास 'कल्पवृक्ष' शीर्षक में संसार के प्रति विचार कर रहे हैं :

"संसार तू ही कल्पवृक्ष है। जो तुझसे जिस दान की याँचा करता है, उसे तू वही देता है" इत्यादि।[२]

रामप्रसाद विद्यार्थी, बालकृष्ण बलदुआ, राय कृष्णदास, 'नरेन्द्र' तथा विश्वम्भरनाथ मानव' के गद्य-गीतों में विचारात्मक शैली के स्वरूप बिखरे पड़े हैं।

प्रलाप शैली में मन की अशान्तिमूलक दशाओं का चित्र बड़ी मार्मिकता से व्यक्त किया जाता है। इसके कुछ भाव आरोपित होते हैं और कुछ यथार्थ। यथा :

"किंतु वह कौन-सी रागिनी है माँ? जिसे सीधी तौर से तुम गाती हो—उसमें शांति नहीं, विराम नहीं, गाये चली जाती हो—दिन-रात जो गाया करती हो—वह कौन-सी रागिनी है? वह क्या दिव्य संगीत है? क्या स्वर्ग में ऐसा ही संगीत होता है? क्या वह ऐसा ही कानों में—अमृत टपकानेवाला होता है? वह भी इसी तरह हृदय को मारे मधुरता के भर देता है? तब तो मैं, मैं एक बार स्वर्ग देखूँगा। क्या दिखलाओगी? तुम पतितपावनी हो—क्या अपनी इस अधम सन्तान को स्वर्ग में ले चलोगी? बोलो माँ, ले चलोगी कि नहीं?"[३]

प्रलाप शैली में वेदनाओं की ऊहापोह अभिव्यक्त होती है। हिन्दी गद्य-काव्यों

१. 'छायापथ' पृ० १८
२. 'छायापथ', पृ० १८
३. 'गंगा के तीर पर उद्‌भ्रान्त प्रेम' प्र० सं० पृ० १९

में पहले तो इसके लिए स्थान ही नहीं है, यदि किसी ने अपनाया है तो कुछ इने-गिने लोग। महाराजकुमार रघुवीरसिंह की कृतियों में कहीं-कहीं इस शैली का उपयोग हुआ है।

विच्छेप शैली में भाव उखड़े-पुखड़े रहते हैं। मानसिक उन्माद के चित्रों का बिम्ब इसके द्वारा अच्छी प्रकार व्यक्त किया जाता है। भावों की तीव्रता को कहीं-कहीं केवल विन्दुओं के आश्रय में व्यक्त किया जाता है। वाणी में पर्याप्त विदग्धता रहती है। 'जीवनधूलि' में रघुवीरसिंह कहते हैं :

"अरे तू शताब्दियों से उसके द्वार पर आवाज़ दे रहा है तेरी कौन सुनता है? उन कठोर किनारों पर—उन नुकीले कगारों पर—तू अपना सिर टकरा-टकरा कर रह जाता है, किन्तु किसे इसकी परवाह है? उस चमकनेवाले चाँद को देखकर तू दौड़ पड़ता है, उस तपानेवाले सूर्य की ओर अनजाने आकृष्ट हो जाता है किंतु उन तक पहुँचना······? अरे! यह सूरज और चाँद तो तुझे छोड़ने के लिये ही है। उनकी ओर ताकता हुआ तू पागल की नाँई दौड़ रहा है, किंतु पृथ्वी के उस कठोर भूमि-तल से लिपटने में जब उन, उन्नत चट्टानों से टकरा कर तेरा सिर छिन्न-भिन्न हो जाता है और सैकड़ों कणों में चूर-चूर होकर छितरा जाता है, तब कहीं तुझे पता लगता है अपनी विवशता का····· और फिर बेहोश-विह्वल धीरे-धीरे पुनः उस अगाध गह्वर में ढुलक पड़ता है, और उस पाषाण-हृदया को लुभाने का प्रयत्न··· वह भयंकर दुराशा····अरे! उसने तेरी आहों को चुराया, तेरे आँसुओं को सुखाया, तेरे वाष्प-विन्दु तुझसे छीन लिये और तेरे दिल के लहू को निचोड़कर अपने पर को रंग डाला······ किंतु ···· फिर भी·······। अरे! उसने तेरी ओर दृष्टि तक न डाली, तेरी आशाओं को चूर-चूर कर डाला, तेरे नतमस्तक को ठुकराया और तेरे सारे प्रयत्नों का वह उत्तर····· वह तो मुँह फेरकर खाती ही जाती है।

परंतु ····

वह दुराशा······उस चिर प्रेमी सागर ने इस बड़वानल को, चिन्ता की इस दुर्दमनीय अग्नि को प्रेम-रस से पूर्ण अपने अगाध हृदय में डुबो दिया······और ····· आज भी निराशा की काली घनघटा में आशा की झलक देखने को वह एकटक दृष्टि लगाये बैठा ताक रहा है।"

भावात्मक शैली में भावों की प्रचुरता रहती है। दैन्य, अधीरता, उल्लास, क्षोभ, अमर्ष आदि भावों का वर्णना बहुल-चित्र मिलता है। यथा :

"उलझा हुआ आँचल

कंटकमय झाड़ियों में मेरा आँचल कब से उलझ रहा है!

---

१. 'जीवन धूलि' शीर्षक १३

असंख्य काँटों से वह अब तक विदीर्ण हो चुका है !!
आह ! यह फटा हुआ छिद्रोंवाला आँचल लेकर मैं उनके सम्मुख भला क्योंकर जाऊँ !
काँटों में खिले हुए वन-पुष्पों के सौन्दर्य-जाल में ही मेरा आत्मा एकाएक फँसा। उनकी भीनी-भीनी सुगन्धि अब भी अपनी लपटों में मेरे मन-मधुकर को अटकाये हुए है। हाय ! मैंने फूल लेने के प्रयास में अपना आँचल अनायास ही कँटीली झाड़ियों में उलझा दिया।
जीवन के धवल आँचल को काँटों से छुड़ाने में मेरे विधाता !
अब तो सहायता करो, नहीं तो यह रहा-सहा भी चीथड़े-चीथड़े होकर मेरी लज्जा तक निवारण करने में असमर्थ हो जायगा !"[1]

भावों के स्पष्ट चित्र खींचने में चतुरसेन शास्त्री बड़े ही पटु हैं। 'क्रोध', 'गर्व', 'चिन्ता' आदि भावों का चित्रांकन बड़ी कुशलता से किया गया है। भावात्मक शैली का प्रयोग, हमें वियोगी हरि, चतुरसेन, रंगनाथ दिवाकर, बालकृष्ण बलदुआ तथा रामप्रसाद विद्यार्थी की कृतियों में उपलब्ध होता है।

उद्बोधन शैली—इस शैली में ऐसे भाव भरे रहते है जो सुप्त भावों को उद्दीप्त करते हैं। 'क्लैव्यं मा स्म गमः' शीर्षक में वियोगी हरि इसी शैली में भोग-लिप्सा में लिप्त भारतीयों को जगाने का कार्य कर रहे हैं :

"अरे पहचाना नहीं। धोखा खा गया। मैं समझ बैठा था कि तू भी एक स्वत्व-प्रिय मनुष्य है, तू भी एक समाज का अंग है। आकृति में तो तू निःसंदेह मनुष्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु तेरी आत्मा उन उदात्त उपादानों से बिल्कुल पृथक देख पड़ी, जिनका समाहार 'मनुष्य' कहा गया है। फिर तेरा व्यक्तित्व समाज के किस काम का ?
तेरी सजीवता मानव-जाति के किस अर्थ की ?
भारी भूल हुई। व्यर्थ ही मैंने इस घण्टे में तुझे जगा दिया। तेरी फूलों की मुलायम सुगन्धित सेज व्यर्थ ही बिखेर दी ! तेरे गुलाब के गजरे यों ही पैरों से कुचल डाले ! तेरे काँपते हुए कमजोर हाथ में इसलिए इस शक्ति की प्रतिष्ठा की थी कि तू मदिरा का प्याला फेंककर गरम-गरम लाल शरबत से अपने फीके ओंठ रंगे। पर कुछ न हुआ ! तेरा नाजुक हाथ फिर उस प्याले पर पहुँच गया। अपनी समालिंगित प्रेयसी के कटाक्ष-बाणों से बिंधता हुआ तू फिर उसी फूल-माला को उछालने लगा। थोड़ी देर में जब तेरी मतवाली रंगीली आँख उस महाशक्ति पर गयी, तू मारे भय के थर-थर काँपने लगा। रमणी के अचल में

१. 'अधखिले फूल'—केदार, पृ० ५३

मुँह छिपा लिया और लगा पल-पल पर चौंकने ! मुझे हँसी आ गयी। साथ ही दो बूँद आँसू भी गिर पड़े। धिक्कारते हुए तुमसे कहा, अरे क्लीव ! क्या पृथिवी पर और भी एक-आध घड़ी जीना चाहता है ?"[१]

इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी 'जनता' शीर्षक में उद्‌बोधन शैली का प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं। प्रगतिवादी गद्य-काव्यों में वर्गसंघर्ष को प्रोत्साहित करने के लिए यह शैली अपनाई गई है। रामवृक्ष बेनीपुरी, नरेन्द्र, तेजनारायण 'काक' आदि के गद्य-काव्यों में इस शैली के रूप दिखाई पड़ते हैं। प्रगतिवाद के विवेचन में इन्हें देखना चाहिए।

आत्मचिन्तन शैली का प्रयोग जगत् की नश्वरता, मन के अन्तर्द्वन्द, माया का मृगजाल आदि को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। 'मृग-मरीचिका' शीर्षक में राय कृष्णदास के भाव इस प्रकार हैं :

"अरे, तू धैर्य्य क्यों नहीं धरता, चिन्तित होने की क्या बात है ? जिस तृष्णा के कारण तू भटकता फिरता है वह यद्यपि बुझी नहीं है, परन्तु उसके लिए भटकने में तुझे क्या सुख नहीं मिलता ?

जिस समय पखेरू अपने अधजले तरु-कोटरों में प्रचण्ड पिपासा को किसी प्रकार दबाकर पुट पाक की तरह पक-से रहे हैं, उस समय भी तू जीवन के लिए इतनी दौड़-धूप कर रहा है, क्या यह थोड़ा है ? जो तुझे इस मरु-भूमि में लाया है, जिसने तेरे मृगनयनों के तारों में अपनी विमल ज्योति से समाकर तुझे यह मरीचिका दिखाई है, इस मरीचिका का कारण भी जिसका प्रकाश ही है, वही तेरी दारुण तृषा बुझाकर तुझे पार लगावेगा।"[२]

इसी प्रकार 'दर्पण शीर्षक' में वियोगी हरि इसी शैली में अपने भाव व्यक्त कर रहे हैं :

"तुम्हें अपना सौन्दर्य ही देखना है तो उसे आत्मा के निर्मल दर्पण में क्यों नहीं देखते ? चले जाओ आत्मा के नीरव अन्तस्तल में।

वहीं तुम अपने लावण्य और माधुर्य का यथेष्ट चित्रांकण कर सकोगे। वहाँ तुम नित्य ज्योति के प्रकाश में अपनी दिव्य कान्ति पाओगे"[3] इत्यादि।

अपनी कृति 'अन्तरात्मा से' में रंगनाथ दिवाकर भगयान के पास जाने के लिए साधनों पर विचार करते हैं :—

तुम्हारे पास आने के लिए शरीर शुद्ध होना चाहिये, परधन, परस्त्री, परपीड़ा

१: 'अन्तर्नाद' पृ० ७१

२. 'साधना' पृ० १००

३. 'अन्तर्नाद' पृ० ४४

से दूर रहकर, दुखियों की सेवा करके लगातार स्वकर्म में निरत होना चाहिये, तुम्हारा नाम लेने के लिए वाणी पर निंदा तज कर परगुण परमाणुओं का पर्वत बनकर शुद्ध होना चाहिये, कुकल्पना को छोड़कर, सुकल्पना प्राप्त करके मन को निर्मल होना चाहिये, तुम्हारे ध्यान के लिए सत-साक्षी प्रेमपूर्ण और विश्व दयापूर्ण होकर शुद्ध होना चाहिये।" इत्यादि।[1]

इस शैली का प्रयोग रहस्यवादी गद्य-काव्यकारों ने प्रायः अपनी कृतियों में किया है।

'जनता' शीर्षक में माखनलाल चतुर्वेदी इस शैली का प्रयोग कहीं-कहीं किए हैं। वियोगी हरि ने भी अपनी रचनाओं में इस शैली का प्रयोग किया है।

सूचनात्मक शैली का प्रयोग गद्य-काव्यों में ऐसे स्थलों पर होता है जब पाठक की जानकारी के लिए कुछ ज्ञातव्य बातें कहनी होती हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी 'गेहूँ और गुलाब' के चौथे पृष्ठ पर इस शैली में अपने भाव इस प्रकार व्यक्त कर रहे हैं :

'जब मानव पृथ्वी पर आया—भूख लेकर ! क्षुधा ! क्षुधा ! पिपासा ! पिपासा !! क्या खाये ? क्या पीये ? माँ के स्तनों को निचोड़ा, वृक्षों को झकझोरा, कीट-पतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाये उससे। गेहूँ—उसकी भूख का काफला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है ! गेहूँ उपजाओ, गेहू उपजाओ !" इत्यादि।

उपर्युक्त रचना में सूचनात्मक शैली के साथ आवेगात्मक शैली का भी मिश्रण है। इस शैली का प्रयोग चतुरसेन शास्त्री, वियोगी हरि तथा नरेन्द्र ने किया है।

आत्मोद्गारपरक शैली में गद्य-काव्यकार अपने ही स्वर का प्रकाशन कई प्रकार से करता है। वियोगीजी 'अन्तर्नाद' के 'प्रतीक्षा' शीर्षक में इसी शैली में भाव व्यक्त कर रहे हैं :

"कब की खड़ी हूँ, प्रियतम ! पुकारते-पुकारते थक गयी, जीभ में छाले पड़ गये, पर तुम न आये।

इस विजन बन में अकेली मैं ही हूँ। चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा छा रहा है। तरंगिणी का कलकल रव भी मन्द पड़ता जाता है। जान पड़ता है, हवा भी अपनी अठखेलियाँ बन्द कर सोने जा रही है। सामने के काले भयावने गिरि-शिखरों की ओर तो आँख खोलकर देखा भी नहीं जाता। बड़ी सनसनाहट है। पेड़ों पर बसेरा लेनेवाली चिड़ियों के परों की भड़फड़ाहट ही, रुक-रुककर, इस घोर सन्नाटे को चीरती है। इसीसे थोड़ा-बहुत धीरज बँधा है। नाथ ! अंचल से ढका हुआ यह निस्नेह दीपक कब तक टिमटिमायेगा ? पैर काँप रहे

१. 'अन्तरात्मा' से, पृ० ३४

हैं। हृदय धक-धक कर रहा है। पलकें भी भारी होती जाती हैं। शरीर पसीज उठा है। गला रुँध आया है। बड़ी घबड़ाहट मालूम होती है। क्या करूँ, क्या न करूँ ? न खड़ा ही रहा जाता है, न लौटते ही बनता है। लौटूँ भी तो कहाँ किस ओर ? अब न मेरा कहीं घर है, न द्वार। न सखी है न सहेली। न सजन है न परिजन। कुल है न कानि। फिर किधर जाऊँ ? कहाँ रहूँ ? पूरब-पश्चिम का भी तो ज्ञान नहीं। नाथ ! तुम्हारे मन में आखिर है क्या ? यह देखो, दीपक भी बुझा चाहता है।
क्या यह शिला, जिस पर मैं खड़ी तुम्हारी बाट जोह रही हूँ, मोम की तो नहीं है ? यदि नहीं, तो पिघलती क्यों जाती है ? तारे क्यों रो रहे हैं ? कौन कहता है कि पत्तियों पर ओस की बूँदें झिलमिला रही हैं। यह तो इन्हीं तड़पते तारों के आँसू हैं।"[१]

इसी प्रकार दिनेशनंदिनी 'शारदीया' के ९४वें शीर्षक में कहती हैं :
"हम सब को छोड़ तुम कहाँ रहते हो ?
क्या वहाँ—जहाँ रत्नों के दीपक जलते हैं, मखमली धरणी पर तारिका-जटित कालीन बिछे हैं, प्राणी मंदार के इत्र में नहाते हैं, दिव्य वस्त्रों से शृंगार करते हैं, मधु खाते हैं और सुधा पीते हैं, प्रकाश यानों में विचरते हैं, और परियों के प्रणय में यौवन को पनपाकर अक्षत रखते हैं—
क्या वहाँ, जहाँ सुख-ही-सुख है, न मृत्यु, न भय है और न जरा की विभीषिका, जहाँ न मिलन का उन्माद है और न विछोह की विषम पीड़ा ?
कहो भी, तुम कहाँ रहते हो ?"[२]

इसी शैली का प्रयोग प्रायः सभी गद्य-काव्यकारों की रचनाओं में पाया जाता है।

नाट्य-शैली में स्वगत, आकाशभाषित तथा संवाद आदि के द्वारा अभिनेयात्मकता लाई जाती है।

स्वागत के उदाहरण—

"प्रियतमे ! कुछ ऐसे जतन बता दो कि मैं तुम्हारे ऊपर गर्व कर सकूँ, सारे बन्धु-बान्धवों की ममता त्यागकर मैंने तुम्हीं को अपना सबसे सगा माना है, मुझे अवसर दो कि दुनिया को दिखादूँ कि ऐसा करके मैंने कोई धोखा नहीं खाया है। मैंने अपनी इच्छाओं के ऊपर तुम्हारी इच्छाओं को सर्वोपरि स्थान दिया है। मुझे अवसर दो कि संसार को बता दूँ कि तुम्हारी आज्ञाओं का पालन कर मैंने

१. शी० 'प्रतिक्षा'—अन्तर्नाद पृ० ५—वियोगी हरि
२. 'शारदीया' पृ० १००

अपने को गलत मार्ग पर चलने से रोका है। जीवन के सुखों से मुँह मोड़ और दुःखों को अपनाकर मैंने अपना सर्वस्व तुम्हारे चरणों में रख दिया है, इसलिये मुझे अवसर दो कि सबकी आँखों के सम्मुख प्रमाणित कर सकूँ कि ऐसा करके मैंने जुआ नहीं खेला है, वरन उस साधना के बदले में जो पुरस्कार मुझे मिलेगा वह वास्तव में सर्वस्व की योग्य कमाई के रूप में होगा।

प्राणाधिके कुछ ऐसे विचार बताओ जिससे मैं तुम्हारे ऊपर गर्व कर सकूँ।"[१]

जिस प्रकार नाटकों में आकाशभाषित के द्वारा भावों को दीप्तिमान किया जाता है उसी प्रकार गद्य-काव्यों में भी इसका प्रयोग मिलता है। यथा :

"द्वार खोलो, अन्तर्यामिन ! यह बेचारा हाय ! कब से तुम्हारा द्वार खटखटा रहा है !

यह कोई पथिक है, और काले कोसों से दौड़ा आ रहा है। चलते-चलते पैर सूज गये हैं, तलुओं में छाले पड़ गये हैं। न जाने यहाँ तक कैसे पहुँचा। देखते नहीं, बिल्कुल शिथिल पड़ गया है ? बोलने तक की शक्ति नहीं ! ओठों पर पपड़ी पड़ गयी है ! प्यास के मारे जीभ तालू से लग गयी है। अरे कितना कृश है ! कंकाल-मात्र शेष है।

किसी प्रणय-आशा ने ही इसे अब तक सप्राण रखा है। नाथ ! द्वार खोलो और इसकी सँभाल करो।

क्या कहा, किस काम से आया है ? केवल तुम्हारी झलक लेने और कोई काम नहीं। बड़ा भोला है। कहता है, मैं अपने पैरों थोड़े ही आया। न जाने, कौन यहाँ तक खींच लाया। सुना है कि एक रात इसने तुम्हारी सूरत सपने में देखी थी। जागते ही बावला हो गया। एक फटा-पुराना कंबल लपेटे तुम्हारी टोह में चल पड़ा। लापता तो रहते ही हो। इससे बेचारा न जाने कहाँ-कहाँ खाक छानता मारा-मारा फिरा। इतने दिनों बाद आज कहीं इस भूले-भटके योगी को तुम्हारा पता चला है। सो द्वार खोलकर बाहर पधारो, प्राणाधार ! निष्ठुर न बनो, भक्तवत्सल !"[२]

संवाद शैली के उदाहरण संलाप-गीति के कथन के स्थल पर दिये गये हैं।

नाट्य शैली प्राय: सभी गद्य-काव्यकारों की कृतियों में मिलती है।

निष्कर्ष

स्वयंभू की सृष्टि में प्रत्येक रूप अपनी अलग सत्ता रखता है, भले ही प्रत्येक यौनियों में कुछ समानता दिखाई पड़े। इसी प्रकार प्रत्येक कवि-कृति अपने रूपविधान

---

१. पृ० २३ 'आराधना'—रजनीश

१. 'अन्तर्नाद'—शी० अतिथि, पृ० १३

में नई होती है। क्योंकि कवि-मनीषी पर भू तथा स्वयंभू है। भावाधार तथा कलागत अलंकृति के कारण रूपाकृतियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं। व्यक्तित्व तथा परिवेश इस परिवर्तन के मूल कारणों में से हैं। गद्य-काव्यों में जहाँ हमें शान्त, सुस्थिर एवं प्रसन्न रूपों का चित्र उपलब्ध होता है, वहीं गतिमान, भव्य तथा ऊर्जस्वित आकार-प्रकार के रूप भी दिखाई पड़ते हैं। गद्य-काव्य चूँकि गद्य की भाषा में व्यक्त होता है, अतः इसके सभी रूपों का विशिष्ट नामकरण संभव नहीं हो सकता।

व्यक्तित्व की विशेषता से शैली के बहुत-से भेद हो जाते हैं। आवेगमूलक, तथ्यप्रधान, जुगुप्सासूचक, मत्सरसूचक, गुंफित, आश्चर्यसूचक, उत्कण्ठापूर्ण आदि शैलियों के भी रूप गद्य-काव्यों में मिलते हैं। परन्तु इनके निर्देश से अनावश्यक विस्तार ही होता।

गद्य-काव्यों की रंगीनी इतनी कलात्मक है कि उसके विचार के बिना सौन्दर्य-ज्ञान संभव नहीं। अतः अगले अध्याय में कलागत महत्ता पर विचार होगा।

छठा अध्याय

कला-पक्ष

व्याख्या—श्रेष्ठ कलाकार की कृतिजन्य तन्मयी भवन-योग्यता पाठकों को इतना तल्लीन कर देती है कि कलारूप के अतिरिक्त वह अन्य किसी भी वस्तु से बाधित नहीं होता। इस तल्लीनता की अवस्था को इलियट ने आग्रह-मुक्त निलम्बन की दशा कहा है। श्रेष्ठ कला-कृतियों में पाठक इसलिए तल्लीन होता है कि उसमें विश्व की अपरिमित विभिन्नताओं एवं अगणित वाह्य रूपों में निहित एक महान भाव की अभिव्यक्ति होती है। साथ ही सत्य की आशु अवधारणाओं का एक चित्रात्मक अनुचिन्तन भी वह उपस्थित करती है। आई० ए० रिचर्ड की दृष्टि में कलात्मक संघटन उदप्रेरक वस्तु में नहीं वरन् वह उस वस्तु के प्रति कवि की भावात्मक प्रतिक्रिया में होता है।[१]

कला-सृजन की अवस्था एक विशेष महत्व रखती है जिसमें रचनाकार के संवेग अभिभूत व्यक्तित्व के आत्मसमर्पण की अनिवार्य अपेक्षा होती है। कलाकार की प्राप्ति उसके निरन्तर आत्म-त्याग तथा व्यक्तितत्व-निलय में अन्तर्हित होती है।[२]

निरन्तर आत्म त्याग तथा व्यक्तितत्व-निलय से व्यक्ति में अपनेपन के तार नहीं रहते। इसी प्रकार का मानव यथार्थ जीवन रखता है। और महात्मा गांधी की दृष्टि में यही व्यक्ति सच्चा कलाकार है। ऐसा व्यक्ति विश्व को जो भी कुछ देता है उसमें पूर्ण का खण्ड बोध होता है। अरस्तू इसे अनुकृति भले ही माने, पर स्वनैसे

---

१. The balance is not in the stimulating object, it is in the response.

—Principle of Literary criticism, p. 248.

२. What happens is a continuous surrender of himself as he is at the moment to something which is more valuable. The progress of an artist is continual self-sacrifice, a continual extinction of personality.

—P. 17 (Selected Essays).

आदि विद्वान इसे पूर्ण तथा अस्वीकार करते हैं और वस्तुतः कला प्रकृति की अनुकृति है भी नहीं।

'कला' शब्द से किसी निर्मित पूर्णखण्ड का ही बोध होता है और कोई भी निर्माण अपनी अन्तिम स्थिति में जितना सीमित है आरम्भ में उतना ही फैला हुआ मिलेगा।"[१] फ्रायड का यह कथन कि कला किसी अभाव की पूर्ति है, कुछ विचित्र-सा लगता है। वस्तुतः कला आत्मा के ऐश्वर्य का बाहरी प्रतिष्ठापन है। चूंकि आत्मा में किसी प्रकार का अभाव नहीं है, अतः उससे प्राप्त ऐश्वर्य किसी भी अभाव का पूरक कैसे कहा जा सकता है ?

कला-विषयक युंग की मान्यताएँ अधिक प्राणवान हैं। युंग की धारणा है कि व्यक्तिगत अवचेतन तथा जातीय अवचेतन के प्रत्यक्ष होने पर, उसके चेतन मन में अभिव्यक्त होने और उसकी अंश-शक्तियों का विश्लेषण किये जाने पर जीवन का विकास संभव है। कला प्राणचेतना की ऐसी ही सूक्ष्म अभिव्यक्ति है।

फ्रायड व्यक्तिगत जीवन की मानसिक ग्रन्थियों से कला-सृजन का सम्बन्ध जोड़ते हैं, युंग को यह मान्य नहीं है। इनके मत से कलाकार निरपेक्ष और निर्वैयक्तिक होता है। कलाकार के वैयक्तिक जीवन की अभिव्यक्ति के बारे में उनका मत है—

"कला-कृतियों में जिन व्यक्तिगत बेहूदगियों का समावेश होता है वे आवश्यक नहीं हैं। जितना ही व्यक्ति-विशेषताओं का प्रदर्शन किया जाता है, कला का रूप उतना ही भोंड़ा बन जाता है। कलासृष्टि के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठकर कलाकार विश्व-मानव के रूप में कवि की आत्मा और हृदय का संवेश मानवता की आत्मा तथा हृदय को सुनावे। कला के क्षेत्र में व्यक्तिगत पहलू बन्धन है, यहाँ तक पाप भी।"[२]

---

१. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य-काव्य-कला, पृ० ६

2. The personal idosyncrasies that creep into a work of art are not essential, in fact, the more we have to cope with these peculiarities the less it is a question of art. What is essential in a work of art is that it should raise far above the realm of personal life and speak from the spirit and the heart of poet as man to the spirit and the heart of mankind. The personal aspect is a limitation—and even a sin in the realm of art.

—Modern Man in the search of Soul, p. 194.

'नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेखशालिनी संवित् वस्तुओं में या प्रमाता में स्व को आत्मा के परिमिति रूप में प्रकट करती है, इसी क्रम का नाम कला है।'[१]

'स्व' को कलन करने का उपयोग, आत्म-अनुभूति की व्यंजना में प्रतिभा के द्वारा तीन प्रकार से किया गया है—अनुकूल, प्रतिकूल और अद्भुत। ये तीन प्रकार के प्रतीक-विधान काव्य-जगत् में दिखाई पड़ते हैं। अनुकूल, अर्थात् ऐसा हो। यह आत्मा के विज्ञात अंश का गुणनफल है। प्रतिकूल, अर्थात् ऐसा नहीं। यह आत्मा के अविज्ञात अंश की सत्ता का ज्ञान न होने के कारण हृदय के समीप नहीं है। अद्भुत—आत्मा का विजिज्ञास्य रूप, जिसे हम पूरी तरह समझ नहीं सके हैं, कि वह अनुकूल है या प्रतिकूल।

कला-विषयक जितनी भी परिभाषाएँ—अनुकृति,[२] आत्माभिव्यक्ति[३] भावनाओं का प्रतिष्ठापन, सौन्दर्य-साधना तथा अन्य[४] की गई हैं, अंशतः कला के स्वरूप को व्यक्त करती हैं। वस्तुतः कला का स्वरूप-निदर्शन वैसे ही अनिर्वचनीय है जैसे विराट पुरुष की सृष्टि। इसका स्वरूप सहृदय जन संवेद्य है। अतः कला के स्वरूप-विश्लेषण के चक्कर में न उलझकर हमें गद्य-काव्य की कलागत विशेषताओं के उल्लेख तक ही विषय को सीमित करना है।

इलियट के अनुसार कलाकार के सौष्ठव तथा शिल्प-सम्बन्धी कौशल का निर्धारण इसी आधार पर होगा कि वह कहाँ तक वाह्य जगत् से वंचित कल्पना-चित्रों और अपने अन्तस् के संवेगों में संगति ला पाता है। इलियट के इस सिद्धान्त के पीछे तीन आवश्यकताएँ निहित हैं—

(१)

आत्मगत संवेगों का अधिक से अधिक निस्संग, निर्लिप्त और वस्तु-मुखी चित्रण हो सके? संवेगों का विवरण देकर उनका चित्रण किया जाय जिससे पाठक

---

१. काव्य और कला—पृ० १५-१६ : जयशंकर प्रसाद।

२. अरस्तू, स्टाइल क्रिसिप्पस, वामगार्टन, लीवनिज, पगानों आदि इस मत के पोषक हैं।

३. क्रोचे, टाल्सटाय, टकवेल, पार्कर, गांधी, प्रसाद, महादेवी आदि इस सिद्धान्त के पक्ष में है।

भावनाओं का प्रतिष्ठापन : फागुए, क्लाइववेल, चार्ल्स विलियम, अभिनवगुप्त आदि इस विचार को मानते हैं।

सौन्दर्य साधना : रवीन्द्रनाथ, वरमोन, ब्लेक, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल इस मत के हैं।

४. हैज़लिट, हीगेल, बायरन, पंत तथा अज्ञेय आदि का विविध मत है।

की रसानुभूति पर कोई अकलात्मक प्रभाव न पड़े। इलियट काव्य में अनुभूतियों के वर्णन की जगह उनके अभिनयात्मक चित्रांकन पर जोर देता है।

(२)

अनुभूतियों का सीधा कथन न करके उन्हें सुनिश्चित घटना-प्रसंगों और कार्य-व्यापारों में लपेटकर रक्खा जाय।

(३)

इस माध्यम से कवि अपने वैयक्तिक पूर्वाग्रहों के दोषों से बच जाता है। कृति की कलात्मक एकता में यह आयोजन तथा असर्वमान्य विचार-सम्बन्धी कोई अंतर्विरोध नहीं उठता। कृतिकार की अपनी दृष्टि सर्वोपरि न होकर कृति की 'सम्पूर्णता' में घुल-मिलकर व्यंजित होगी।

गद्य-काव्य विशेषतः आत्म-धर्मी होता है। उसकी आत्मधर्मिता का सम्बन्ध वस्तु-जगत् से निजत्व के साथ होता है। उसके विचार वस्तुवादी होते हैं और कभी वस्तुवादिता से ऊपर उठे हुए। वह सर्वथा अनुभूतियों का अभिनयात्मक चित्रण नहीं करता। क्योंकि उसका उद्देश्य सर्वदा हृदयगत भावों का प्रदर्शन ही नहीं होता, बल्कि विचार-रत्नों का प्रकाशन भी होता है। घटना-प्रसंग तथा व्यापार-योजना को गद्य-काव्य में खुला मैदान नहीं मिल पाता। अतः रचनाओं में अनुभूतियों के कथन के विभिन्न मार्ग ग्रहीत होते हैं और इनसे ही गद्य-काव्य की कलागत महत्ता मानी जा सकती है। अतः गद्य-काव्य के कलागत सौन्दर्य का विवेचन निम्न वर्गों में किया जायगा—

(१) भावतत्व एवं लयतत्व का सामंजस्य एवं समत्व
(२) अनुभूतियों की सप्राणता, यथार्थता एवं नवीनता
(३) समाहित प्रभाव, स्पष्टता एवं ऋजुता
(४) प्रतीकात्मकता, सांकेतिकता, सौन्दर्य तथा कल्पना
(५) अभिव्यंजना, भाषा तथा अलंकार।

बोधचेतना का विषय विराट् है सूक्ष्म है, तथा स्थूल है, अहं की परिधि भी इसी प्रकार है। साहित्यकार की चेतना यदि यथार्थ के प्रमुख एवं विपुल चित्रों से ग्रथित, समृद्ध एवं परिपूर्ण हो तो उसकी रचना प्रभावकारी होती है। अनुभूति के अल्प भण्डार के कारण साहित्याकार, चेतनागत तत्वों के निपुण ग्रथन की ओर अधिक ध्यान देता है। इससे रचियता की प्रतिभा-चातुरी व्यक्त होती है। उदाहरण के लिए राय कृष्णदास की 'साधना' का एक गीत पर्याप्त होगा। 'तुम्हारा पीछा' शीर्षक :

"जिस प्रकार प्राची के कुंकुमाभ का पीछा पार्वण चन्द्र, जिस प्रकार सुखद घटना का पीछा स्मृति, जिस प्रकार मेघ-ध्वनि का पीछा मोर की कूक, जिस

प्रकार प्रथम वर्षा का पीछा पृथ्वी का सुरभित उच्छ्वास और जिस प्रकार पर्वत-स्थली के सिंहनाद का पीछा प्रतिध्वनि करती है, उसी प्रकार व्यर्थ मैंने तुम्हारा पीछा किया। क्योंकि मेरे देखते-ही-देखते तुम अदृश्य हो गए।"[1]

व्यक्तित्व की विशिष्टता का साहित्य की मौलिकता में महत मूल्य है। आत्म-परक अनुभूति नितान्त व्यक्तिमूलक नहीं होती। निर्विशेष होकर ही वह सर्वजन संवेद्य बनती है। इसी निर्विशेष व्यंजना को कला-सृष्टि की विशेपता बताते हुए होल ने कहा है कि विश्व-रचना में प्रत्येक वस्तु विशेष होती है, दूसरी से भिन्न, कोई दो वस्तु एक-जैसी नहीं होतीं। गद्य-काव्यों में पाई जानेवाली भिन्नता भावतत्व एवं लयतत्व के सामंजस्य एवं समत्व का परिणाम है।

योरीपीय दर्शन-साहित्य की प्रथम कृति 'प्रकृति पर निबन्ध' है। इसके रचयिता एवेक्जिमेण्डर हैं। इन्होंने परम तत्व को अनन्त माना है। स्वयं अपरिणामी और अगतिशील होने पर भी यह परम तत्व संसार की गति, परिणाम, विरोध और संघर्ष का स्रष्टा है। सांसारिक पदार्थों में विरोध अनिवार्यतः होता है क्योंकि इसके द्वारा ही उनका विकास होता है पर इस विरोध में भी एक लय, एक सामंजस्य होता है। इस विरोध का अभाव अहं के निषेध या नकारात्मक स्वीकृति में है। अहं का ज्यों-ज्यों निषेध होता जायगा, समता की भावना बढ़ती जायगी। सारांश यह कि विश्व के प्रति एकात्मता की भावना के विस्तार से समत्व की प्राप्ति हो जाती है। जिस प्रकार एक अच्छे विचारक के विचार संगति रखते हैं उसी प्रकार श्रेष्ठ साहित्यकार की संवेदनाएँ सामंजस अनुभूति अथवा अनुभव समष्टि का रूप धारण कर लेती है।[2] भावों की व्यापकता में स्वयं एक निजी संगीत एवं लय होता है। यह कृत्रिमता की सीमा में नहीं आता। इस प्रकार के संगीत एवं लय की नूतनता सदा बनी रहती है और कृत्रिम संगीत के अभ्यस्त पाठक तथा श्रोता इसका रसास्वादन करने में वंचित हो जाते हैं। आत्मपूर्णता एवं जागतिक तटस्थता के गुणों से संवलित होकर एकान्तवासी चिन्तन जीवन की निर्मात्री कृतियों में अन्तः-प्रविष्ट होकर इस प्रकार की शक्ति प्राप्त करता है जिससे विश्व के नानात्व का मौन मुखर संगीत उसे इन्द्रियगोचर हो उठता है। भावनाओं में समत्व, लयत्व, सामंजस्य, संगीतात्मकता आदि का सन्निवेश अनुभूति की तीव्रता, गहराई एवं व्यापकता पर निर्भर है। उदाहरण के लिये निम्नांकित रचना प्रस्तुत की जाती है :

"वासन्ती पट पहने वसन्त स्मित भरा-सा आया।
सुमनों में मधुर पराग भर गया।

---

१. 'साधना' से

२. 'साहित्य चिन्ता' पृ० ४५—डा० देवराज प्र० सं०

शीतल पवन अठखेलियाँ कर उठा झूमती हुई लहराती लतिकाओं से।
तितली रानी ताल दे, नाच उठी।
मधुप गण गुन-गुन गाते हुए आये।
कोकिला कूज उठी पंचम स्वर में।
हरियाली में जड़ा था कुन्दन।
जीवन विजय-गर्व से मुसकरा उठा।
निदाघ के आतप को तब किसने जाना ?
हा !
जीवन केवल राख का ढेर था।"[1]

विश्वव्यापी चेतना के गर्भ से प्रसूत सरलतम अमूल्य भावनायें अपनी सरलता, समग्रता, श्लाघ्य, व्यापक दृष्टिकोण एवं रसग्राहिता से हृदयस्पर्शी इसलिये होती हैं कि उनमें जैसी मनोवैज्ञानिक प्रकृति की विवृति के साथ अपने समाज की जटिल वास्तविकताओं का सूक्ष्म निदर्शन होता है। बोधतत्व की यही विरल विशेषता किसी भी युग के महत्तम कला-उन्नायकों की सृष्टि कर सकी है।

अनुभूतियों की सप्राणता, यथार्थता एवं नवीनता—'महाप्राण साहित्य के विधायक तत्व युग-जीवन के यथार्थ से संचय किये जाते हैं। इन तत्वों का किस-किस प्रकार का संगठन, युगशक्तियों का कैसा उपयोग, नर जीवन को विपुल एवं मनोज्ञ बना सकता है, यह संकेत करना ही कलाकार का आदर्शवाद है। इस आदर्श साधना का एक निषेध-मूलक पहलू भी है—अर्थात् उन परम्पराओं एवं युगीन शक्तियों का भंडाफोड़ करना जो जीवन-धारा को रुद्ध या कलुषित करनेवाली है।'[2]

काव्य-साहित्य की शक्ति एवं श्रेष्ठता की झाँकी तभी उपलब्ध होती है जब उसमें जगत् की मार्मिक छवियों का प्रकाशन होता है। जीवन एवं जगत् के सम्बन्ध-चित्र जब भी किसी श्रेष्ठ कलाकार द्वारा व्यक्त हुए हैं, उसमें भावों की सशक्त संप्रेषणीयता एवं प्रभावकारी आकर्षण अपने आप इसलिये आ गये हैं कि उसके भाव जीवन की गंभीरता एवं समग्रता को समेटे रहते हैं। वस्तुतः विश्व-सागर के अनन्त वृक्ष पर कवि अपनी मानस-तरी में बैठकर भावलोक के अन्तरिक्ष में परिभ्रमण करता किसी प्रदेश में पहुँचता है जहाँ से जीवन के यथार्थ प्राणवान तत्वों का लाना उसके लिए सुलभ होता है। चूंकि सामान्य जीवन के लिये ये विचार-रत्न दुर्लभ हैं, अतः इनकी नवीनता का आकर्षण आह्लादकारी और उपस्थिति उपादेय होती है। ऐसे भावों की विपुल आवेगमयी रमणीयता, जीवन्त एवं शाश्वत इसलिये होती है कि

१. 'उन्मुक्ति' पृ०, ३६ शी० ३०
२. 'साहित्य-चिन्ता' पृ० ५, डा० देवराज प्र० सं०

उनमें द्वन्दज जीवन के तीव्रतर संघर्षों की रूप-रेखा के साथ ही जटिल समस्याओं के समाधान, जीवन के बोलते प्रश्नों के उत्तर तथा मार्ग-निर्देश की क्रिया रहती है। उदाहरण-स्वरूप इस प्रकार देखा जा सकता है। यथा :—

"प्रलयकारी तूफान से प्रताड़ित सरोवर की उर्मियाँ कूल का आश्रय लेने जाती हैं, पर वहां भी उन्हें टकराना ही होता है। वहाँ से निराश हो वे पुनः दूसरे छोर को चल पड़ती हैं। विश्रामस्थल की अज्ञानावस्था ही उन्हें सुखदायी होती है। यदि उन्हें ज्ञात हो जाय कि इस मरु-मरीचिका में वह स्थान ही नहीं जहाँ विश्राम एवं शान्ति मिले तो शायद उनका वेग शिथिल तथा प्रयास मंद पड़ जाय। क्या ही प्रवंचना तथा प्रतारणा है ?"[1]

उपर्युक्त काव्यखण्ड में कवि ने सरोवर की उर्मियों के मनोरम साम्य को आधार मानकर, मानव के अन्तःकरण के द्वन्द का अनूठा स्वरूप अंकित किया है। अनेकानेक जीवन के संघर्षों से विक्षुब्ध मन, शान्ति की उत्कण्ठा में विभिन्न उपायों का अवलम्बन करता हुआ, जीवन ही समाप्त कर देता है और अन्त तक उपाय ढूँढता रहता है। जीवन-पथ पर चलते-चलते, शक्ति क्षीण, मृत्यु-मुख के समीप शायद उसे यदि ज्ञात हो गया कि शान्ति प्राप्त करनेवाले उसके साधन भ्रामक थे तो फिर उसकी वेदना का फिर क्या पूछना।

विश्व के बाह्य सौन्दर्य से विसंज्ञित मानव मन, जीवन के अनन्त भीषण घात-प्रतिघात, केवल इसलिए वरणीय करता है कि शायद इसी आश्रय से असीम सुख की प्राप्ति हो जाय, पर ऐसा होता नहीं है क्योंकि चिर सुख की प्राप्ति का मार्ग एक तो वह जानता नहीं, यदि जानता भी है तो या तो वह उस पर चलता ही नहीं या चलकर पुन पथभ्रष्ट हो जाता है, फिर चिर सुख प्राप्त कैसे हो। सत काव्य के द्वारा हीं श्रेय और प्रेय का ज्ञान होता है। प्रसादजी ने इस पर इस प्रकार विचार किया है :

"काव्य में जो आत्मा की मौलिक अनुभूति की प्रेरणा है वही सौन्दर्यमयी और संकल्पात्मक होने के कारण अपनी श्रेय स्थिति में रमणीय आकार में प्रकट होती है। वह आकार वर्णनात्मक रचना-विन्यास में कौशलपूर्ण होने के कारण प्रेय भी होता है।"[2]

काव्यकार जीवन से सम्बन्धित जिन सत्यों का उद्घाटन करता है, ऐसा नहीं है कि उन सत्यों की विवेचना पहले नहीं हुई है, पर अपने व्यक्तित्व के संस्पर्श से पूर्वानुभूत चित्रों को वह इस तरह सँवारता है कि वे सेकेण्ड हैण्ड खरीदी हुई स्कूली पुस्तकों-जैसे न लगकर भव्य सुन्दर नव प्रकाशित 'वाणी' के नव संस्करण होते हैं।

---

१. अप्रकाशित रचना 'शैशवरागिनी से' प्रवंचना तथा प्रतारणा

२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध 'प्रसाद' पृ० १६ प्र० सं०

गद्य-काव्य की प्राणवत्ता सार्वभौमिक एवं चिरकालिक इसलिए होती है कि इसके द्वारा मनोरम सत्य बहुकाल व्यापी जैवी प्रकृति के अन्तर से निकाले हुए होते हैं। मानवों की मूल प्रवृत्तियों से सम्बन्धित प्रश्न चिरकालिक हैं। परिवर्तित परिवेश से इतना ही अन्तर होता है कि संवेगों की क्रिया कभी तीव्र, कभी क्षीण और आशुतर विनाशी होती है, पर इतना तो निश्चित ही है कि मूल प्रवृत्तियों के आघातजन्य परिणाम किसी-न-किसी रूप में होते ही हैं। मानव के ऐसे रागात्मक सम्बन्धों का विश्लेषण एवं आकलन साहित्यकार की कारयत्री प्रतिभा का बल पाकर यथार्थ के विपुल चित्रों से समृद्ध एवं दीप्त हो उठता है क्योंकि उसके चित्र बाह्य जगत् की परिवर्तनशील नश्वरता की अभिव्यक्ति करने के साथ-ही-साथ दीर्घकाल व्यापी अखण्ड जीवन अन्तरिक्ष को भी आलोकित करते रहते हैं। देखिये :—

> **"तमाहृत भीषण काल रात्रि में जब पथिक सागर की अनंत लहरियों में पड़ा आर्त्त स्वर से तुम्हें पुकार रहा था तो तुम उसके ही हृदतंत्री के तारों को सुलझाने में व्यस्त थे। अर्द्ध अलसित नेत्रों की घूमाई से वह तुम्हें समीप रहते हुए भी न देख पाता था। पर ज्योंही तुमने मलय पवन की मादकता से वेष्टित अपने कर-किसलयों को उसके नेत्रों में लगाया, उसके चक्षु आलोकमय हो गये। तुमको अपने ही कार्य में व्यस्त देख वह कृतज्ञता के भार से नत हो रहा था और सोच रहा था कि उसने अनजान में तुम पर प्रभु तुम पर बक-झककर कितनी भूलें कीं। उसने क्षमा-याचना की पर प्रभु तुम इसके इस लड़कपन पर हँस रहे थे।"[1]**

जीवन की विषम परिस्थितियों से अलोड़ित मन की व्यथापूर्ण परिस्थितियों में, जब जागतिक जीव एक ऐसी असहायावस्था का अनुभव करने लगता है जिससे उसकी पूर्ण अशक्तता ज्ञात हो जाती है तो वह एक ऐसी शक्ति को आह्वान करता है जिसे दर्शन-शास्त्रों ने ईश्वर की संज्ञा प्रदान की है। आह्वान के पूर्व यही धारणा रहती है कि वह ईश्वर मेरी परिस्थिति से या तो पूर्ण अपरिचित है या पूर्ण उदासीन। उसकी सर्वज्ञता एवं न्यायपरायणता का तब भान ही नहीं रहता। जीव अपनी अज्ञानजन्य परिस्थितियों का हेतु ईश्वर को मानने लगता है पर वह सर्वज्ञ सब के श्रेय-साधन में ही जुटा है। निर्माण से—पोषण से वह यही तो कर रहा है। जब उसकी ही कृपा से प्रज्ञा आलोकित हो जाती है और जीव अपने पूर्वकालिक जीवन-घटनाओं के तारतम्य एवं आरोह-अवरोह को ध्यान में रखते हुए, वर्तमान की परिस्थितियों को सामने रखकर देखता है तो उसे ज्ञात हो जाता है कि जीवन की कठिनाइयाँ जो उसे धराशायी करने आई थीं वस्तुतः वैसी नहीं थीं, बल्कि उन्हीं के ध्वंसों पर वह अपना

१. 'शैशवरागिनी' शीर्षक १२३

निर्माण कार्य कर पाया है। वे उसकी ही भेजी हुई सहेतुक परिस्थितियाँ थीं और वह उसके ही आश्रय में आगे बढ़ा है। ऐसा ज्ञान होने पर जीव को महान पश्चात्ताप होता है क्योंकि भूत में वह उन्हें दोषी ठहरा चुका है। पश्चातपद के इन अनुभवों का चित्र अतिशय मनोज्ञतापूर्ण है।

अखण्ड तीव्र भावानुभूति—

"चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथी बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करं ॥"[1]

अर्जुन ने यही प्रश्न भगवान् से किया था। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मत्सर आदि से युक्त मन चंचल क्यों न हो। हाँ, तीव्र मनोयोग से यदि नियंत्रण में कुछ देर तक आया तो बुद्धि के नेत्र खुल जाते हैं—कुछ हीरक कणों की प्राप्ति हो जाती है। पर प्राप्तियाँ तो होती हैं बुद्धि को, मन बेचारा तो बँधा ही रहता है, अतः जहां छूटा कि फिर वही व्यापार। प्राप्त धन को बुद्धि जल्द-से-जल्द स्मृति में या वर्णों के माध्यम से सुरक्षित रखने की चेष्टा करती है। सुरक्षा की आतुरता से चेष्टा में तीव्रतर गति उत्पन्न हो जाती है और सद्यः अनुभूत भाव भाषा के परिधान में साकार हो उठते हैं। शाश्वत विचारधारा से सम्बन्धित होने के कारण अनुभूति में घनत्व एवं तीव्रता आ जाती है। चूँकि एक काल की अनुभूति स्वतः अपने में पूर्ण होती है, अतः उसकी अखण्डता अक्षुण्ण रहती है।

अन्तःक्षोभ के प्रेरक उपादानों से रागात्मिका वृत्ति पूर्णतया जग जाती है और बोधचेतना कुछ शिथिल-सी हो जाती है। अनुभूति के चरमोत्कर्ष काल के पश्चात् बोधचेतना भी जागरूक हो जाती है। इस प्रकार प्रारम्भ से अन्त तक भावना में एक ही प्रकार की तारताम्यिक स्थिति दर्शित होती है। इसीको अनुभूति की अन्विति कहते हैं।

"अनुभूति की इकाई में तीव्रता लाने के लिए अन्य अनुभूति का आक्षेप संभव है किन्तु उस अंगभूत का चित्र सापेक्ष्यमूलक होना अनिवार्य है।"[2]

'अन्य अनुभूति' से तात्पर्य यहाँ उन संवेगों के चित्रण से है जो प्रधान भावना की अनुभूति में उत्कर्ष-विधायक होते हैं। एक दृष्टान्त से यह स्पष्ट हो जायगा :

"मेरी नौका सागर की लहरियों में डूब रही थी और तुम तीर पर खड़े हँस रहे थे एक अबोध बालक की तरह। सहायता! सहायता!! चिल्लाने पर भी तुमने मेरी भुजाओं की ओर ही इशारा मात्र किया। जरा भी ध्यान न आया कि डूबते को तिनके का सहारा भी बहुत होता है। कठोरता का स्वरूप सचमुच ही आज

---

१. गीता ६।३४

२. 'गीतिकाव्य' पृ० ६१—डा० रामखेलावन पाण्डे

देखने में आया। 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्तिः'। काठ की जीर्ण असंख्य छिद्रों वाली नाव। झंझा से क्षुब्ध सागर और उसकी उत्ताल तरंगें। डूब गई नाव। और मैं था अतल जल-राशि की चंचल उर्मियों के ऊपर हाथ-पाँव मारता और तुम देखते ही जा रहे थे। सहसा उत्ताल तरंगें उठीं चतुर्दिक् से। और होगई चेतना विमूच्छित। पर यह क्या, क्या मैं तीर पा गया हूँ और तुम मेरे अंगों को सहला रहे हो।"[1]

'मेरी नौका सागर की लहरियों में डूब रही थी' इस कथन के चित्र से बेबसी, व्यथा, अशक्तता आदि भाव प्राप्त होते हैं 'और तुम तीर पर खड़े हँस रहे थे' इससे अन्तःक्षोभ प्रकट होता है। अन्तःक्षोभ की स्थिति में चित्त की आकुलता और बढ़ जाती है। डूबनेवाले को सहायता चाहिए। एक व्यक्ति दिखाई पड़ता है संवेदना प्रकट करना तो दूर वह हँसता है। क्षोभ-मिश्रित व्यथा की तीव्रता 'मेरी भुजाओं की ओर इशारा' से चरमोत्कर्ष की सीमा का स्पर्श करती है। और 'तुम देखते ही जा रहे थे' यहाँ उसका चरम-विन्दु है।

सुखात्मक स्थिति के सहसा दुखात्मक पर्यवसान से भी भावनाएँ तीव्र हो उठती हैं और इस प्रकार के चित्रण से उत्पन्न भावतरंगें अत्यन्त प्रभुविष्णु तथा मार्मिक होती हैं क्योंकि भावनाओं का चरमोत्कर्ष सुख या दुःख के चरम विंदु प्राप्ति से ही होता है। पर इसकी तीव्रता में गहराई लाने के लिए विरोधमूलक वैषम्य की उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है। हिन्दी के गद्य-काव्य में यह विशेषता द्रष्टव्य है।

"शुक्ति में समा जाने को नभ से स्वाति-विन्दु ललका। शुक्ति ने उसे अपने उदार गर्भ में भर लिया।
मातृत्व के गौरव भार से उसकी निर्मल आत्मा झुकी हुई थी
पगला चातक ताकता ही रह गया मुँह बाये,
चिर अतृप्त एक टक निहारते
गहरी निःश्वास डाल
अनमोल मुक्ता का दान विश्व ने झेला
शुक्ति का हृदय गौरव-गर्वित था—
मस्तक ऊँचा उठा हुआ था
उस देव दान पर वह दीवानी थी
किन्तु—
उस पगले चातक की आत्म-परितृप्ति उस अनमोल मुक्तादान से भी कितनी

---

१. शैशवरागिनी 'कर्मफल भोग' शीर्षक : प्रबन्धकार की अपनी कृति से

महँगी होती !
कितनी महँगी ? हा ! कितनी ?? कितनी ???"[1]

सुखात्मक एवं दुखात्मक स्थिति का चित्र प्रस्तुत करके उपर्युक्त काव्य-खण्ड में दुखात्मक भावना को तीव्रतर किया गया है।

समाहित प्रभाव—महान कलाकारों की वाणी के श्रवण, मनन, चिन्तन आदि से पाठकों में एक अनिर्वाच्य उत्कर्ष की भावना उत्पन्न होती है और इनके ही माध्यम से फिर नवीन प्रयत्न एवं लब्धियों के मूल तत्व निर्धारित किये जाते हैं। चूँकि ऐसी रचनाएँ जीवन की समग्रता की रागात्मक अभिव्यक्ति होती है; अतः बाह्य रूप में वे प्रभावपूर्ण, अर्थशालिनी एवं स्पष्ट तथा आन्तरिक रूप में, व्यापक एवं गंभीर होती हैं। इस तरह के कलाकार साक्षात् जीवन से प्रेरणा लेते हैं, यही कारण है कि उनकी रचनाओं का समादर वर्तमान से बढ़कर सुदूर भविष्य में होना है। चूँकि गद्य-काव्य पाठकों को अनुभव जगत् के अधिक तत्वों का ज्ञान कराता है, इसलिए वह मर्मस्पर्शी होता है। बोधचेतना के विषय की विराटता से ही ओजस्विनी राग-चेतना उपलब्ध होती है। और बोधतत्व का बाँकपन, रागात्मक स्फुरण की विद्योतना को दीप्तिमान कर देता है। देखिये :—

"निबिड़ निराशा की अवचेतनता में तुम आशा की थिरकन लेकर आये, मेरी असमर्थता उसे झेल न सकी।
मीलों की लम्बी यात्रा के बाद तुमने अपने साथ दौड़ने को कहा पर मेरे श्रमित पैर दौड़ न सके।
प्रभात की महफिल में न आकर तुम तिरोहित होती हुई
संध्या के दामन में दिखे, पर क्षणिक देखना मुझसे न हो सका।"[2]

अभावाक्रान्त जीवन के ह्रासोन्मुख क्षणों में आशा का आलोक कुछ विशेष महत्व नहीं रखता क्योंकि जीवनी शक्ति के तिरोधान काल में किसी भी प्रकार के प्रलोभन अपने आकर्षण का अस्तित्व खो बैठते हैं। ऐसे अवसर केवल वेदना के आवेग को और तीव्र कर देते हैं। गद्य-काव्य की भावनाएँ यथार्थ के विपुल चित्रों से सम्बद्ध होती हैं, इसलिए वे प्रभावकारी भी होती हैं। प्रभाव का सम्बन्ध उस विशेषता से है जो नित्यप्रति जीवन में नहीं पाई जाती पर जिसे पाकर हम कृतार्थ हो उठते हैं क्योंकि उसकी उपलब्धियाँ अपने वैयक्तिक जीवन-खण्डों को संतृप्त करती है उनमें हमें निजत्व का भान होता है, ये हमें प्रिय होती हैं क्योंकि वे हमारी है। उत्तम गद्य-काव्य का समाहित प्रभाव कुछ इसी प्रकार का होता है।

१. 'उन्मुक्ति' शीर्षक २२ प्र० सं०
२. 'वेदना' २१ शीर्षक प्र० सं०

स्पष्टता एवं ऋजुता—जीवन यथार्थ की जटिलता इतनी बहुमुखी एवं संश्लिष्ट है कि कलात्मक अनुभूति का व्यापक धर्म अर्थवत्ता, निपुणता के छोर तक जल्दी नहीं पहुँच पाता। महान कलकारों की अर्थवान निपुणता, स्पष्टता एवं ऋजुता के युगल खम्भों पर ही खड़ी होती है। कलाकार की निपुणता इसी में है कि जो-कुछ वह कहना चाहता है, वह पाठकों तक पूर्णतया प्रेषणीय हो सका है या नहीं।

"साधारणतया भाषा की जटिलता विचारगत जटिलता की ओर उसकी सादगी विचारगत सादगी की द्योतक होती है।"[1]

पंचतन्त्र की कथा के सम्बन्ध में एक जनश्रुति इस प्रकार की है। "किसी राजा के पुत्रों के लिए शिक्षाभार वहनार्थ बहुत-से पंडित बुलाये गए पर कुछ भी सफलता न मिली। रह गए सब निरे चपाट। अन्त में एक विदग्धमति वैयाकरणी शिला के गुरुतर भार से दबे एक दिन राजा के यहाँ उपस्थित हुए और राजपुत्रों के शिक्षण सम्बन्धी महनीय उत्तरदायित्व को सम्भालने के लिए निवेदक हुए। राजा ने इन्हें भी शास्त्राधीत चुण्डीधारी ही समझा पर ये महापुरुष सबसे बढ़कर हाथ मारनेवाले सिद्ध हुए और कथा के माध्यम से सारा ज्ञान बालकों को सिखा डाला। यह थी उनकी प्रज्ञापारिता। इस प्रकार की प्रत्युत्पन्न मति विषय के सम्यक् ज्ञानान्तर ही आती है। कहा जाता है कि शंकराचार्य को अपने उत्तर दिशा के पर्यटन में एक वट-वृक्ष के नीचे ऐसे महर्षि मौन बैठे मिले जो अपने मौनाभाव से ही शिष्यों की सारी शंकाओं का उन्मूलन कर रहे थे।

गद्य-काव्यों में विषय-सम्बन्धी स्पष्टता कई प्रकार से अपनाई जाती है, पर उसमें सबसे महत्वपूर्ण आस्थानक रीति है। इसके द्वारा दर्शन की महान गुत्थियाँ सरलतम ढंग से स्पष्ट होती हैं। उदाहरण इस प्रकार है :—

"पतझड़ बीत चला था, फिर भी कुछ पत्तियाँ वृक्ष के मूल में म्लान मुख पड़ी थीं। वायु के झकोरों से आहत हो वे सिसकने लगती थीं। कार्यभार से बेसुध पवन आगे बढ़ जाता था। ऐसा नित्य ही होता था। एक दिन उनसे न रहा गया, वे चीत्कार कर उठीं। वायुदेव प्रभावित हुए पास आये और उनके क्रन्दन का हेतु जानना चाहा। पत्तियों ने कहा, 'हमारा सर्वस्व अपहृत कर इस दीना-वस्था में भी मुझे तुम क्यों नहीं चुपचाप पड़े रहने देते? श्रीहत होकर अब हम जायँ भी तो कहाँ? दर-दर की ठोकरें खाने से यहीं सड़-गलकर मिट्टी में मेरी मातृभूमि में ही क्यों मुझे मिलने देते? हमें अन्यत्र शरण भी तो नहीं मिलेगी, कहीं भड़भूजा मिल गया तो प्रचण्ड ज्वाला में झुलसा-झुलसा मार डालेगा। पवन ने उत्तर दिया, 'भाई मुझे तो व्यर्थ ही बदनाम कर रहे हो। इसके लिये

---

१. 'साहित्य चिन्ता' पृ० ४५ : डा० देवराज प्र० सं०

तो तुम्हारी अशक्तता ही उत्तरदायी है। अब तुम्हारे लिये यही श्रेयस्कर है कि अतीत की सुखद स्मृति भूलकर नवीन परिवर्तन के लिए प्रस्तुत हो जाओ। इस सृष्टि का प्रत्येक परिवर्तन सुख का हेतु है।' यह कहकर पवन चला गया, पक्षियों को विश्वास नहीं होता था कि 'इस सृष्टि का प्रत्येक परिवर्तन सुख का हेतु है।''[1]

भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिए संभाषण-शैली भी प्रयुक्त होती है। यथा :—

"दीपक ने पूछा, 'अपना सिर क्यों धुनते हो ?'
उसने उत्तर दिया—'अपने दिल की जलन के मारे। अपने प्रेमी पतंगे की मूर्खता को देखकर तथा उसे जलने से बचाने में अपनी बेबसी पर'।
दीपक ने पूछा, 'कितनी आशाओं, उमंगों के साथ पतंग तुमसे गले लगने आता है। अपने शरीर की सुध-बुध भूलकर तुमसे चिपटता है, और उसके प्रगाढ़ प्रेम का उत्तर तुम उसे जलाकर देते हो। अपने प्रेमी के प्रति तुम्हारा यह बर्ताव ?
उत्तर मिला—जो वस्तु अपनी हो, जिसे कोई व्यक्ति अपने हृदय से लगाता हो वही अपने प्रेमी को भेंट की जाती है। मेरा स्नेह ! वह कभी का जल चुका। और अपना शरीर, वह बत्ती कभी की झुलस चुकी। मेरे पास रह गये हैं, केवल दिल की जलन। यही एक वस्तु है जो मेरी है। उसे गले लिपटाये हुए हूं। दिल में छिपाये हुए हूँ। अतएव इसके सिवा मेरे पास कोई दूसरी वस्तु नहीं है, जिसे मैं अपने प्रेमी को दे सकूँ।"[2]

प्रतीकात्मकता—कला भाव का बाह्य रूप है। भावों के जिस प्रकार अनंत रूप हो सकते हैं वैसे ही कला के भी, इसी दृष्टि से कला के स्वरूप का निर्वचन शक्य नहीं। हाँ, कलाकार स्वयं अपनी कृति का निर्वचन कुछ कर सकता है, या वह व्यक्ति जो कला-प्रेमी हो। नियम है कि महत् शक्ति में अल्प शक्ति समाविष्ट होती है। तुलसीदास यदि आज होते तो आधुनिक कला-कृतियों की समीक्षा कुछ दूसरे ढंग से करते। जिस प्रकार दस लाख का धनी एक लाख के धनी की दुर्बलताएँ तथा अल्प शक्ति को जानता है, वैसे ही महत् शक्तिपुंज-समन्वित महापुरुष सामान्य कलाकारों के शक्ति की सीमा एवं प्रवृत्तियों को यथावत् जानता है, पर अल्प मानसी शक्तिवाले के लिए सम्भव नहीं है कि महत् शक्ति-सम्पन्न के दृष्टिकोण तक पहुँच सके। महत् शक्ति से समन्वित महान् कलाकारों की वाणी अनुभव-विशेष के कारण कुछ असामान्य हो जाती है, इसी महानता को ध्यान में रखकर सोरोकिन ने कला-कृतियों को

१. परिवर्तन शीर्षक 'शैशवरागिनी' से
२. 'बिखरे फूल' पृ० २७ प्र० सं०

चार भागों में विभक्त किया है—(१) **यथार्थवादी**—इस प्रकार की कला में इन्द्रियों द्वारा गोचर विषयों का चयन होता है, इसका प्रयोजन ऐन्द्रिक अनुभूतियों का प्रकाश करना होता है। (२) **परोक्षवादी या परलोकवादी**—यह अतीन्द्रिय या विज्ञानातीत सत्ताओं को विषय बनाती है जैसे देवता, ईश्वर, राज्य, मोक्ष आदि। इसकी शैली प्रतीकात्मक होती है, इसका लक्ष्य होता है मनुष्य को परोक्ष सत्ताओं का ज्ञान कराना। (३) **अध्यात्मवादी**—यह प्रत्यक्ष एवं परोक्ष के बीच की अवस्था से सम्बन्ध रखती है। यह लोक से विमुख न होकर परलोक की अवतारणा करके लोक को पूर्ण करने की चेष्टा करती है। जीवन का उन्नयन, उदात्तीकरण एवं रूपान्तरण इसका लक्ष्य है। (४) **समाहारात्मक**—यह उपर्युक्त त्रिविध कलाओं का मिश्र रूप होती है।

सोरोकिन का उक्त विभाजन विषयनिष्ठ है। विषयों का सम्बन्ध भावों से होता है, जब कि कला भाव-प्रकाशन का माध्यम है। व्यक्ति के वैभिन्न के साथ ही अनुभूतियों, संवेदनाओं और अनुभवों में अन्तर होता है और इसीलिए अभिव्यक्ति-कौशल की कोटियों में भी एक सामान्य भाषा इतनी विभिन्नताओं का भार सम्भाल नहीं पाती। अतः स्वभावतः प्रत्येक कवि अपने विशिष्ट अनुभवों की अभिव्यंजना के लिए नये मार्ग, नए शैली-शिल्प की अवतारणा, नए बिम्बों की योजना तथा नए प्रतीकों का विधान करता है। परन्तु अनुभूत-विषय फिर भी इतने अग्राह्य, अनुपम तथा अकथनीय होते हैं कि उनका केवल संकेत मात्र ही हो सकता है। स्पष्टतया कथन सम्भव नहीं, उनकी व्यंजना भर हो सकती है, अभिव्यक्ति नहीं। प्रतीकवादी कवियों ने भाषा की इस असमर्थता को समझा और उसे शक्ति-सम्पन्न बनाने के लिए एक दूसरा ही मार्ग निकाला। जिस प्रकार लय, गति और ताल की सूक्ष्म तरंगों पर संगीत तैरता है, उसी प्रकार उन्होंने ध्वनि-संकेत तथा बिम्ब-संकेत के आश्रय से अपनी अभिव्यक्ति को अनुभूत संवेदना के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रोमांचों का वाहक बना दिया।

मलार्मे की समस्त कल्पना-सृष्टि का केन्द्र-विन्दु था 'रोमांच' और इसे वह सर्वोपरि मानता था। वोदलेयर ने जिस प्रकार अनुविधायकत्व को महत्वपूर्ण ठहराया उसी प्रकार मलार्मे ने 'रोमांच' के आगे बाह्य एवं अन्तर्जगत् के वोध, बौद्धिकता तथा भावना का पूर्ण बहिष्कार किया, प्रतीकवादियों ने 'ध्वनि' और सुगन्धि की अजीब धारणा प्रवर्तित की। अन्तर्मन की स्मृतियाँ, ध्वनियाँ, प्रतिध्वनियाँ, सूक्ष्मतर तरंगें और रहस्यपूर्ण संकेत ही कविता का विषय बने। फ्रेंच प्रतीकवाद ने इस प्रकार अन्धकार और प्रकाश की मध्यस्थ झाँकी की तरह अर्ध प्रकाश की धारा बहाई जिसका प्रकाश तत्कालीन साहित्य पर ऐसा पड़ा कि अस्पष्ट कथन ही काव्य का एक गुण माना जाने लगा। प्रतीकवादी गोचर जगत् को वास्तविक सृष्टि का मिथ्या रूप मानते थे। अतः इस वास्तविक सृष्टि के गीतों में रहस्य का स्फुरण सत्य ही था। मिथ्या

रूप के कथन में, नैराश्यपूर्ण जीवन, दुर्बलताएँ एवं कुत्सित चेष्टाओं के चित्र ही व्यक्त हुए।

प्रतीक व्याख्या में मलार्मे ने बोधगम्य को 'प्रतीक' नहीं माना है। प्रतीकवाद के पोषक थे वर्ले, रिम्वाद, मलार्मे, वर्गशा, प्रूस्त तथा वैलरी।

प्रतीकवाद की देन—

(१) शैली तथा व्यंजना-सम्बन्धी नवीन प्रयोग करके कविता को रूढ़ग्रस्त विकारों से मुक्त किया।

(२) परम्पराबद्ध छन्द (अलेक्जेन्ड्रा) जो कि क्लासिकल दुखान्त काव्य में विशेष रूप में अपनाया गया था, अपनी निश्चित मात्राओं के कारण नवीन उद्भावनाओं को अभिव्यक्ति देने में अशक्त था। सबसे पहले प्रतीकवादियों ने ही उसकी निश्चित मात्रा की रूढ़ि को समाप्त किया।

(३) अतुकान्त तथा मुक्त छन्द की अवतारणा की।

(४) कविता तथा संगीत में सामंजस्य स्थापित किया।

(५) साहित्य को राजनीति द्वारा ग्रसित होने से बचाये रखा।

(६) सौन्दर्यवाद की प्रतिष्ठा की।

प्रतीकवाद के अन्तर्गत यीट्स, जेम्स, ज्वायस, गर्ट्रूड स्टीन, प्रूस्त, वैलरी, रिल्के, व्हिटमैन, अलैग्जेण्डर ब्लोक, सैण्डवर्ग और इलियटों जैसी विविध निकायों की प्रतिभाएँ आ जाती हैं। प्रतीकवादी का उदय यथार्थवाद तथा प्रकृतिवाद के विरोध में हुआ। उसने हीगेल तथा शापेन हावर का जीवन-दर्शन ग्रहण किया और रहस्य-वृत्ति एवं अस्पष्टता को कविता का अनिवार्य गुण माना। बोदलेयर ने विषयवस्तु और रूप-तत्व में विभेद न रखकर उसे एक अखण्ड क्रिया माना। मलार्मे ने शब्द-संकेत पर बल देकर अभिव्यक्ति पक्ष की महत्ता प्रतिपादित की। बुद्धि और भावना का बहिष्कार करके रोमांच को सब-कुछ माना गया और 'ध्वनि' तथा 'सुगन्धि' की सूक्ष्मतम गहराइयों को मापा गया। छन्द के नियम भंग हुए, मुक्तवृत्त लाए गए और संगीत को अपनाया गया। यद्यपि प्रतीकवाद के 'प्रतिपादक' कवियों ने रहस्यमय, अस्वास्थकर, एवं अति वैयक्तिक प्रवृत्तियों को अपनाया, परन्तु प्रतीकवाद से प्रभावित कवियों ने प्रतीकों की नई शैली अपनाकर अपनी स्वस्थ रचनाओं को नए आलोकों से दीप्तिमान किया। बाद में चलकर मौन प्रतीक-प्रधान रचनाओं में फ्रायडियन सिद्धान्त का प्रभाव दृष्टिगत होता है तथा बिम्ब प्रधान रचनाओं में बौद्धिकता का स्वर मुखर है।

प्रतीकवादी धारा से प्रतीक-विधान का आशय कम, सौंदर्यवाद, आदर्शवाद, स्वप्निल अस्पष्टवाद और अनुभूति तथा अभिव्यक्ति की अखण्ड प्रक्रिया सम्बन्धी मान्यताओं का तात्पर्य अधिक लिया जाता है।

हिन्दी साहित्य में प्रतीकों के दर्शन सर्वप्रथम, सिद्धों तथा नाथों की रचनाओं में होता है। पश्चिम की तरह यहाँ प्रतीकवाद की कोई धारा नहीं चलाई गई।

सिद्धों की कक्कोल साधना में, बल, भअग्रण, कालिंजर, दुद्धस, चउसम, कस्तूरी, कर्पूर, सिन्हा, मालती, इंधन, खैट, मलयज, प्रेखण, डिंडिम, कुन्दस का प्रयोग, मांस, मदिरा, शुभ, अशुभ, चारसम अंश, मूत्र, शुक्र, स्वयंभू, व्यंजन, अगलि युगनद्ध, गति, अस्पर्श, द्वीन्द्रिय तथा सभापति के लिए हुआ है।

चर्यापदों के कुछ प्रतीक शब्द-चमत्कार पर आधारित हैं। अँधेरी रात का चूहा, अज्ञानी चित्त के लिए प्रतीक रूप में आया है।

सिद्धों ने प्रज्ञा को डोंबी के रूप में परिकल्पित किया है। भक्तिकाल में जायसी तथा कबीर की रचनाओं में बहुत से प्रतीक मिलते हैं। नैहर, दुलहिन, चुनरी, खटोला, आदि का प्रतीकवत् प्रयोग देखने को मिलता है। आगे चलकर प्रतीकों का प्रयोग साहित्य में तो होता ही रहा, लोकजीवन में भी होने लगा। यहाँ तक कि होली के अवसरों को भी यह घेरने से न चूका :—

भागल चिरइया हमार, पिंजड़ा खाली परलवा ।।टेक।।
शाम समय में बोलल चिरइया,
भोरवै में खुलल केवार, पिंजड़ा खाली परलवा ।। .।।

हिंदी गद्य-काव्य में पाये जानेवाले प्रतीक कुछ तो उपमामूलक हैं, कुछ विरोधमूलक।

उपमामूलक प्रतीकों में गुणसाम्य तथा रूपसाम्य के आधार पर प्रतीक-योजना होती है।

उपमामूलक प्रतीकों के उदाहरण :

(१)

तरवार रणस्थली में दिन-भर गुनगुनाती रही और हँसिया हरे-भरे खेतों में।[1]

(२)

मृणाल तन्तुओं से कुरंग को न बाँध रंगिणी।[2]

(३)

साधना सुरभि से मातल हुआ तेरा परिन्द तेरे पास आ रहा है।[3]

(४)

कितने दुःशासन आये औ चले गये।[4]

१. 'दुपहरिया के फूल' पृ० ८
२. पृ० २—वही।
३. पृ० २७—वही।
४. 'साहित्य देवता' पृ० २

प्रथम उद्धरण में कर्म का साधन कर्मी का प्रतीक हुआ है। दूसरे में प्रेमी को कुरंग माना है। तीसरे में परिन्द का प्रयोग भी प्रेमी के लिए हुआ है. चौथे में दुःशा-सन का प्रयोग दुष्ट प्रकृतिवाले व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'गर्दो-गुब्बार'[1] 'शुक',[2] 'धूल',[3] 'डूबते हुए दिवाकर',[4] 'कोकिला',[5] 'करील',[6] 'वसन',[7] 'मरुभूमि',[8] 'अंधकार',[9] 'पहाड़',[10] 'तूफान',[11] 'सरोवर',[12] 'उर्मियाँ',[13] 'झंझा'[14] 'ह्रद',[15] 'अलि',[16] 'संध्या',[17] 'नाव',[18] 'विहग',[19] 'उद्यान',[20] 'पंख',[21] 'क्षुधा'[22] 'हीरा',[23] 'पावस की घन कालिमा',[24] 'ईंधन',[25] 'आग',[26] 'नीड़',[27] 'पट',[28] 'घोड़ा',[29] 'गाड़ी',[30] 'दीपक',[31] 'सलभ',[32] 'रोगी',[33] 'डाक्टर',[34] 'अमृत',[35] 'विष',[36] 'पात्र',[37] 'कुम्हार',[38] 'गढ़',[39] 'यन्त्र',[40] 'बाजार',[41] 'जगुनू',[42] 'श्मशान',[43] 'पतझड़',[44] 'पतियाँ',[45] 'कमल[46] 'कली',[47] 'चोरी',[48] 'प्रावृट'[49] 'मेघ',[50] 'रवि',[51] 'जंजीर',[52] 'शैशवावस्था',[53] 'घर',[54] 'बड़वानल',[55] 'अमृत की बूँद',[56] 'कच्चा घड़ा',[57] 'हंसा',[58] 'पिंजरा',[59] 'कल्पवृक्ष',[60] 'चित्रकार',[61] 'तूलिका',[62] 'साकी',[63] 'जाम',[64] 'मय',[65] 'मोती'[66] आदि।

---

१. 'पाप' २. 'प्रेमी' ३. 'अज्ञान' ४. 'अस्त होते हुए भाग्य', ५. 'नारी' ६. 'नीरस व्यक्ति' ७. 'शुभुकाल' ८. 'जगत' ९. 'अज्ञान' १०. 'कठिनाइयाँ' ११. 'बाधायें' १२. 'मन' १३. 'भावनायें' १४. 'विघ्न' १५. 'जगत' १६. 'मन' १७. 'जीवन की अंतिम घड़ी' १८. 'शरीर' १९. 'जीव' २०. 'संसार' २१. 'साधन' २२. 'तृष्णा' २३. 'आपत्तियों से उत्पन्न अज्ञान' २४. 'साधन' २५. 'ज्ञान' २६. 'ज्ञान' २७. 'शरीर' २८. 'अन्तःकरण' २९. 'मन' ३० 'शरीर' ३१. 'प्रेमिका' ३२ 'प्रेमी' ३३. 'साधक' ३४. 'सिद्ध' ३५. 'ज्ञान' ३६. 'अज्ञान' ३७. 'शरीर' ३८. ब्रह्मा ३९. 'मन' ४०. 'विकार' ४१. 'जगत' ४२. 'अल्पशक्तिवाला' ४३ 'ध्वंस' ४४. 'अवनति' ४५. 'अल्पशक्तिवाला' ४६. 'शुद्धहृदयवाला' ४७. 'अल्पशक्तिवाला' ४८. 'साधना की उच्च भूमि' ४९ 'साधना की कठिनाइयाँ ५०. 'विघ्न' ५१. 'ज्ञान' ५२. 'बंधन' ५३. 'अल्पज्ञान की स्थिति ५४. 'शरीर' ५५. 'तृष्णा' ५६. 'ज्ञान की कणिका' ५७. 'विकारी शरीर' ५८. 'मन' ५९. 'शरीर' ६०. 'सिद्ध ६१. 'साधक' ६२. 'साधन' ६३. 'इष्ट' ६४. 'साधन कालीन मरण' ६५. 'साधना के सुख' ६६. 'ज्ञान'

प्रतीकों का प्रयोग जब क्रियापदों में होता है तो अर्थवत्ता प्रभविष्णु हो जाती है। यथा :

"यौवन की संध्या अलसा गई, प्रतीक्षा शिथिल हो रही है, तथा पथ मुरझा जाते हैं" आदि।

विरोधमूलक प्रतीकों का प्रयोग हिन्दी गद्य-काव्यों में बहुत कम मिलता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं। यथा :

'आशा के कोहरे', 'शांति की वर्तुल लहरें', 'चन्द्रमा की ग्रीष्म ज्वाला' आदि।

आशा में प्रकाश होता है और कोहरे में अन्धकार, शांति की स्थिति में मन में चंचलता नहीं रहती तथा चन्द्रमा की चाँदनी शीतल होती है, अतः इन प्रतीकों में विरोध की भावना प्रदर्शित है। प्रतीकों का प्रयोग वस्तुनिष्ठ विवरणात्मक या बौद्धिक तत्व के लिए नहीं होता, इनका प्रयोग मन की दशाओं को संकेतित करने के लिए होता है। पूर्वकथित उदाहरणों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

रूपकत्व—जब उपमेय उपमान के रूप में दिखाया जाता है तो वहाँ रूपक अलंकार होता है। इसमें उपमेय तथा उपनान के समता के भाव इतने बढ़े हुए होते हैं कि दोनों एकसे जान पड़ते हैं। रूपक में, उपमेय तथा उपमान में एकरूपता होती है। यथा :

"मैं एक वृद्ध वृक्ष हूँ। मेरी नसों का रक्त सूख गया है और जड़ें ढीली पड़ गई हैं और पत्तियाँ मुरझाकर पृथ्वी पर झड़ चुकी हैं। मेरी टहनियाँ अब फलों के भार से नीचे नहीं झुकतीं, इनमें अब वायु को सौरभ प्रदान करनेवाले फूल भी नहीं खिलते। मेरी पल्लव-विहीन उजड़ी गोद में कोई पक्षी भूलकर भी बसेरा नहीं लेता और न कोई श्रान्त पथिक ही अब मेरी विरल छाया में क्षण-भर विश्राम लेने के लिए ठहरता है।"[1]

उपर्युक्त रचना में मैं तथा वृद्ध वृक्ष को अभेद मानकर, नस, रक्त, जड़ें, पत्तियाँ, टहनियाँ, फल, सौरभ, फूल, पल्लव तथा छाया का आरोप व्यक्ति की विभिन्न स्थितियों के लिए किया गया है। यहाँ सांगरूपक है।

'कमल किश्ती पर यौवन चढ़ा'[2], 'मानस क्षितिज'[3], 'प्रेम सूर्य'[4], 'जीवन

---

१. हंस' सितम्बर १९३८ – तेजनारायण 'काक'

२. 'उन्मन' पृ० ५१ : दिनेशनंदिनी

३. मानस क्षितिज पर लुक-लुक करती है, 'उन्मन' पृ० ६१

४. प्रेमसूर्य के अस्त होने पर मेरा मन-मधुकर रजनी के कोष में बन्द हो गया 'उन्मन' पृ० ८३

समुद्र[1], 'जीवन निशा'[2] आदि में निरंगरूपक है।

'जीवन की उस अँधेरी रात्रि में जब विषाद के बादल उमड़-उमड़कर हृदयाकाश को पूर्णतया छा लेते थे, आत्म-शक्ति की आभा उस अवसाद की झीनी कालिमा से कुछ धुँधली हो चली थी—बस, केवल दो-चार तारिकाएँ आशा-दीपों की भाँति इधर-उधर टिमटिमा रही थीं।"[3]

परंपरित रूपक में एक रूपक के द्वारा दूसरे रूपक की पुष्टि होती है। विषाद के बादल, हृदयाकाश, आशादीप का एक-दूसरे से सम्बन्ध है।

सांकेतिकता—भाव-अन्तरिक्ष के असीम क्षेत्र में वाणी के पंख पंगु हो जाते हैं क्योंकि भाव स्फोट के समान अखण्ड निरवयव, क्रमातीत एवं अव्यक्त होता है जो स्वभाव तथा नाना रूपात्मक ध्वनियों में आविर्भूत और तिरोभूत होता रहता है। व्यक्त स्फोट अर्थ का अवरोध करा दिया करता है। व्याकरण के अनुसार अर्थ, प्रत्यायक वस्तुतः स्फोट हुआ करता है, वर्णपद आदि इस स्फोट की केवल व्यंजना मात्र कर सकते हैं—वे अर्थ के सीधे वाचक नहीं हो सकते।

आत्मा चित सत्ता है, अतः चेतना उसका नित्य व्यापार है। चेतना-व्यापार आत्मा की अपनी स्वाभाविक क्रिया होने से अनवरत चलता ही रहता है। इसी आत्म-व्यापारवश आत्मा संविद रूप में स्फुरित होती रहती है। संविद स्फुटन ही अनभिव्यक्त आत्मा का अभिव्यक्त होना कहलाता है।

संविद का अपने आप फूट पड़ना आत्मा की चेतनता का अनिवार्य लक्षण है और सदा स्फुटित होते रहने के कारण संविदात्मा स्फोट रूप माना गया है।

स्फोट आत्मा का नाम रूपात्मक स्वरूप है। संविद स्फुटित होते ही आत्मा व्यापारवश आकार धारण कर लेती है और अपना परिचय देने लगती है। आकृति में ढलकर परिचयात्मक संकेत द्वारा स्फुट हो जाना ही तो संविद का नाम-रूप में अभिव्यक्त हो जाना है। स्फोट वस्तुतः नाम-रूप का ही समवाय है, अतः संविद् का स्फुरण, होते ही नाम और रूप युग पद एकाकार स्फुट हो जाया करते हैं। नाम और रूप संविद् स्फोट में अविनाभावेन सदा ही विद्यमान रहते हैं। और नाम-रूप का ही आकार स्फोट का आकार हुआ करता है। यही तो नाम-रूप का परस्पर तथा स्फोट के साथ स्वरूप-सम्बन्ध कहलाता है।

स्फोट प्रथम निर्विशेष रहा करता है, रूप शून्याकार और नामतदाकार हुआ करता है। पश्चात् संविद् स्फोट में आत्म-व्यापारवश क्रम-क्रम से, विशेषताओं का प्रस्फुटन होने लगता है। इस प्रकार निर्विशेष संविद् ज्यों-ज्यों सविशेष होती जाती है,

---

१. चिन्ता, पृ० ८० अज्ञेय

२. जीवन निशा आधी से अधिक बीत चुकी है—'शारदीया' पृ० ७७ दिनेशनंदिनी

३. जीवन-रेखायें पृ० २४—नरेन्द्र—परंपरित

त्यों-त्यों नाम रूपात्मक स्फोट में अगोचरत्व की जगह गोचरता आती जाती है। यही निराकार का साकार होना है, यही निर्गुण का सगुण होना है, यही सूक्ष्म का स्थूल होना है।

संविद् की यह गोचरता दर्शन में अभिधा के माध्यम से व्यक्त होती है और काव्य में लक्षणा एवं व्यंजना के माध्यम से।

वैदेशिक दर्शन के अनुसार शब्द तीन कारणों से श्रूयमाण होते हैं : (१) संयोग (२) विभाग एवं (३) शब्द। शब्दधारा में प्रथम शब्द के बाद जितने शब्द उत्पन्न होते हैं वे शब्दज कहलाते हैं। इस शब्दधारा की प्रगति के विषय में 'वीची तरंग न्याय' और 'कदम्बमुकुलन्याय' दो मत हैं। सरोवर में तरंगें जैसे चक्राकार उठती हैं और सम्पूर्ण सरोवर को व्याप्त कर लेती हैं उसी प्रकार प्रथम शब्द से उसके उत्पत्ति-स्थान के चारों ओर शब्द-तरंग का चक्र उत्पन्न होता है और आकाश के सुदूर क्षेत्र तक व्याप्त कर लेता है। जहाँ-जहाँ इस शब्द के ग्रहण करने के उपकरण होते हैं वहाँ-वहाँ यह सुनाई देता है। इसमें सब दिशाओं में उत्पन्न होतेवाली शब्दधारा परस्पर सम्बद्ध और एक है। यह 'वीचीतरंगन्याय' है।

कदम्ब की कली के केन्द्रशीर्ष स्थान में एक नन्ही-सी कील जैसी खड़ी रहती है। फिर उस केन्द्र विन्दु के चारों ओर उसी प्रकार का अवयवों का एक वृत्त बन जाता है। इसी प्रकार यह वृत्त बढ़ता हुआ सारे कदम्बमुकुल में व्याप्त हो जाता है। यही शब्द की स्थिति है। जिस समय शब्दधारा का सम्बन्ध श्रोत्र से होता है, शब्द सुनाई नहीं देता। नैयायिक इसे शब्द का नाश और वैयाकरणी तिरोभाव कहते हैं। वैयाकरणों के अनुसार 'पूर्व पूर्व वर्णानुभवजनित संस्कार सहकृत चरम वर्ण श्रवण के सद्सद अर्थात् विद्यमान और पूर्व तिरोभूत समस्त वर्णों को ग्रहण करनेवाली सद्सद नेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीति होती है।[1]

श्रूयमाण या मनः सन्निकर्ष से ज्ञात शब्द की अर्थ प्रतीति ग्रहीता की बोधवृत्ति पर निर्भर है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों से वेष्टित भाषा के अर्थविस्तार का ज्ञान बोध-वृत्ति के प्रसार एवं परिष्कार की अपेक्षा रखता है। प्रतीकों तथा अन्योक्तियों के माध्यम से जब गद्य-काव्यकार अपनी गहन भावनायें पाठकों तक प्रेषित करने का उपक्रम करता है तो ऐसे स्थलों पर साम्य को आधार मानकर भाव-योजना गठित करता है।

शब्द में अनन्त शक्तियाँ हैं। हृदय की विशालता से बोधवृत्ति का प्रसार होता है। यह विशालता जब-जब जिस-जिस युग में प्राप्त हुई है, शब्दों की अर्थशालिनीशक्ति, चारुत्व एवं अभिनव-सुषमा से मंडित हो गई है।

---

१. ध्वन्यालोक—हिन्दी व्याख्या, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि पृ० ७७—प्रथम सं०

भागवतकार ने चतुर्थ स्कन्ध अध्याय २५ इलोक संख्या १० से अध्याय २९ इलोक सं० २३ तक पुरंजनोपाख्यान के माध्यम से जीवन के गूढ़ तत्वों का निरूपण किया है। पुरंजन ही जीव है जो एक, दो, तीन, चार, बहु पैरोंवाला या बिना पैरों वाला शरीर-रूप पुर तैयार करता है। अविज्ञात नाम का पुरंजनराजा का सखा ईश्वर है क्योंकि किसी भी प्रकार के नाम, गुण अथवा कर्मों से जीवों को उसका पता नहीं चलता। अविद्या ही पुरंजनी है। शब्दादि विषय पांचाल देश हैं जहाँ नौ द्वारोंवाला नगर बसा है। दो नेत्र गोल, दो नासा-छिद्र, दो कर्ण छिद्र, मुख, लिंग, गुदा ये नौ द्वार हैं। वागिन्द्रिय विपण है और रसनेन्द्रिय रसविद नामक मित्र है। हाथ और पैर अंधे पुरुष हैं। शरीर रथ है। इन्द्रयाँ घोड़े हैं, पुण्य और पाप इसके पहिये हैं। तीन गुण ध्वजा पाँच प्राण डोरियाँ, हृदय बैठने का स्थान, बुद्धि सारथि, सुख-दुःखादि जुए, इन्द्रियों के पाँच विषय आयुध हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ, सेना तथा विषयों को अन्यायपूर्वक ग्रहण करना शिकार करना है। यह आख्यान दीर्घकाव्य हो गया है। पहले कथा-भाग है फिर विश्लेषण। चतुर्थ स्कन्ध २९ अध्याय इलोक संख्या ५३ में सांकेतिकता का अच्छा उदाहरण मिलता है। पुष्पवाटिका में अपनी हरिनी के साथ विहार करता हुआ एक हरिन मस्त घूम रहा है, वह दूब आदि छोटे-छोटे अंकुरों को चर रहा है। उसके कान भौंरों के मधुर गुंजार में लग रहे हैं। उसके सामने ही दूसरे जीवों को मारकर अपना पेट पालनेवाले भेड़िये ताक लगाये खड़े हैं और पीछे शिकारी व्याध ने बींधने के लिए उस पर बाण छोड़ दिया है। परन्तु हरिन इतना बेसुध है कि उसे इसका कुछ भी पता नहीं है।[1]

नारदजी इसका आशय इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

"राजन यह मृतप्राय हरिन तुम्हीं हो। पुष्पों की तरह ये स्त्रियाँ देखने में ही सुन्दर हैं। इन स्त्रियों के रहने का घर ही पुष्पवाटिका है। इसमें रहकर तुम पुष्पों के मधु और गन्ध के समान क्षुद्र सकाम कर्मों के फल-रूप जीभ और जननेन्द्रिय को प्रिय लगनेवाले भोजन पथा स्त्रीसंग आदि तुच्छ भोगों को ढूँढ रहे हो। स्त्रियों से घिरे रहते हो और अपने मन को तुमने उन्हीं में फँसा रक्खा है। स्त्री-पुरुषों का मधुर भाषण ही भ्रमरों का गुंजार है, तुम्हारे कान उसी में आसक्त हो रहे हैं। सामने ही भेड़ियों के झुण्ड के समान काल के अंश दिनरात तुम्हारी आयु को हर रहे हैं, परन्तु तुम उनकी कुछ भी परवाह न कर गृहस्थी के सुखों में मस्त हो रहे हो। तुम्हारे पीछे चुपचाप लगा हुआ शिकारी काल अपने छिपे हुए बाणों से तुम्हारे हृदय को दूर से ही बींध डालना चाहता है।"

---

१. क्षुद्रंचरं सुमनसा शरणे मिथित्वा, रक्तं पडंघ्रि गण सामसु लुब्धकर्णम्।
अग्रे वृकानसुतृपो विगणय्य यान्तं, पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धक बाणभिन्नम्॥

श्लोक संख्या ५४ चतुर्थ स्कन्ध अ० २९ गीता में अश्वत्थ वृक्ष के रूप में वर्णन[1], कठोपनिषद् में, गुहा में प्रविष्ट छाया और धूप का वर्णन[2], मुण्डक में एक वृक्ष पर दो पक्षी का वर्णन[3] सांकेतिकता के अच्छे उदाहरण हैं।

कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, मीरा, नानक आदि की रचनाओं में इसके प्रचुर प्रमाण उपलब्ध होते हैं। आधुनिक युग की रहस्यवादी कवियित्री सुश्री महादेवी के काव्य में भी सांकेतिकता के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं।

गद्य-काव्यकार सामान्य तथ्यों का उद्घाटन चमत्कारिक ढंग से करता है। उसकी शैली में ओज, प्रभविष्णुता, सजीवता, स्फूर्ति, उन्माद तथा प्राणवत्ता, कथन की चमत्कारिक प्रणाली से द्विगुणित आभा से जाज्वल्यमान हो उठती है। निम्न-लिखित पंक्तियों को देखने पर यह स्पष्ट हो जायेगा :—

"जलधि के छोर पर अचल का लघुभ्राता अपने ज्येष्ठ भाई की तरह सगर्व उन्नत ललाट किये खड़ा था। अनन्त लहरें! एक पर एक!! न जाने किस दिन का बैर!!!

मानों प्रतिकार की होड़ लगी थी कि कौन अधिक वेग से टूटकर टकरायेगी। पर वह भी वीर बाँकुड़ा ही था। सुई की नोक के बराबर न हिलता, न टस से मस होता।

लहरें क्षुब्ध हो सागर की शरण लेतीं, विश्राम करतीं, शक्ति प्राप्त करतीं और पुनः संवेग टूट पड़तीं, पर वह वीर उन्हें लौटाना ही जानता था। वह भी अद्भुत पराक्रमी था क्रूर पवन। वह भी टकराता और साँय-साँय करता बगल से निकल जाता था। मार्ग का यह अवरोध उसे भी खलता था।

लहरों ने पवन से सहायता माँगी। संग्राम भीषण था।

एक ओर वह अकेला वीर, दूसरी ओर अनन्त महारथी।

फिर भी वह लड़ता ही रहा।

शृंग-पर-शृंग टूट रहे थे, पर उसका धैर्य सागर के समान विशाल था। लहरों ने उसे सागर के गर्भ में लेकर अट्टहास किया, पर उसकी मृदु मुस्कान बन्द न हुई, न हुई।'[4]

प्रतीकों के बहुल प्रयोग ने गद्य-काव्यों में सांकेतिकता का विस्तृत क्षेत्र तैयार किया है। भावों को व्यक्त करने के लिये जब कवि किसी निश्चित बेबसी का अनुभव

---

१. गीता अध्याय १५ श्लोक संख्या १ से ३ तक।

२. कठोपनिषद्—अध्याय प्रथम तृतीय वल्ली श्लोक संख्या १।

३. मुण्डकोपनिषद् द्वितीय मुण्डक श्लोक सं० १।

४. शैशवरागिनी से—'शिखर का पतन' शीर्षक।

करता है। इन संकेतों का ज्ञान रचनाकार की मनःस्थिति को ध्यान में रखकर किया जाता है। उदाहरण के माध्यम से इसका समझना सरल हो जायगा।

"सुधातुल्य सरस निर्मल जल-स्रोत बहाकर ही मैंने क्या किया उसमें तो तुमने दुर्गन्धयुक्त गंदे जल की धारा लाकर मिला दी। मेरा स्रोत जाह्नवी थोड़ा ही था कि वह अपावन को पावन करके भी पावन रहता। उसमें इतनी शक्ति कहाँ? वह तो सामान्य स्रोत ही था।"[१]

ध्यान की निर्बाध धारा, धारणा में और धारणा की गति समाधि में होती है। साधक का अन्तःकरण समाधि के द्वारा धीरे-धीरे निर्मल होता है। पर व्यवहार-जन्य अपवित्रता, उसकी पवित्रता को क्षीण करती रहती है और जब कभी ऐसा होता है, वह शांत हो जाता है। दर्शन, स्मरण, चिन्तन आदि व्यापारों से उसकी पवित्रता को आघात पहुँचता है। उपर्युक्त रचना में इसका ही संकेत है।

इन संकेतों के माध्यम से रचयिता के भावों को यथावत रूप मिल पाता है। इन रूपों का विश्लेषण कुछ सरल कार्य नहीं होता।

आध्यात्मिक अनुभवों का सरलतम प्रकाशन तो इनके द्वारा होता ही है, साथ ही साथ जीवन में अप्रिय लगनेवाले कटु सत्यों का चित्रण भी मनोरम ढंग से होता है। यथा :—

"एक दिन टहलता हुआ मैं श्मशान पहुँचा, वहाँ बहुत-सी शवें जल रही थीं। उनसे अनेकों प्रकार की लपटें आ रही थीं। एक शव से रक्त-वर्ण की लपटें उठ रही थीं। मुझे देखते ही वह चिंघाड़ मारकर रो पड़ी। मैंने पूछा, 'वत्से! निर्जीव होकर भी तू यह क्या आश्चर्य कर रही है?' उसने कहा, 'श्रद्धेय! मेरे प्राण तो अब निकल रहे हैं, ये लाल-लाल लपटें क्या तुम्हें नहीं दिखाई देतीं, मेरा रुधिर पीकर ही तो ये लाल हुई हैं, खून का बदला खून से आज ही चुका रही हूँ। जितना मैंने दूसरों का चूसा था, वह सब आज निकल रहा है, यदि मुझे इस दिन का ज्ञान होता तो मैं कभी भी ऐसा न करती, पर अब तो मुझे चुकाना ही है, मुझे कहना तो बहुत है पर अब मेरा दम टूट रहा है, अग्निदेव मेरी नसों का सब रुधिर पी चुके हैं, मेरा यह संदेश जगत् को देना, भूलना नहीं, अच्छा बिदा।"[२]

संकेतों के इस विधान का प्रयोग कुशल साहित्यकार मन के सूक्ष्मतर भावों की अभिव्यक्ति के लिए करता है।

---

१. शैशवरागिनी, शीर्षक १५

२. शैशवरागिनी, शीर्षक १०७

सौन्दर्य तथा कल्पना—सौन्दर्य-विषयक पाश्चात्य विद्वानों का मत विशेषतः द्रष्टव्य है।

सन् १९१४ से २६ तक निकलनेवाले 'मोनिष्ट' एक दार्शनिक पत्र में 'मैरीज चौइज' ने सौन्दर्य-विज्ञान सम्बन्धी अन्वेषणों का संक्षिप्त परिचय दिया है।

जूल्स द गार्ल्सेयर के मत से मानव में आरम्भ में मसीहा बनने की प्रवृत्ति रहती है जो धीरे-धीरे विकासवाद के अनुसार केवल दर्शक बनकर आनन्द ग्रहण की प्रवृत्ति में परिवर्तित होती है। व्यक्ति में संवेदना से अनुबोध में परिवर्तन इसी का प्रमाण है। विकास की दृष्टि से 'सत्य' यह अन्तिम मूल्य न रहकर धीरे-धीरे वह 'सौन्दर्य' में परिवर्तित होगा।

मा० च० दालेकाई के मत से सौन्दर्य-विषयक भावना के मूलारम्भ में सदा कुछ ऐन्द्रिय तत्व वर्तमान रहता है।

हैनरी रजर्स मार्शल ने अपनी पुस्तक 'Pain pleasure and Aesthetic में सौन्दर्य का सम्बन्ध सुखवाद से लिया है। अन्तिम अध्याय Algedonic Aesthetics में वह स्पष्ट करते हैं कि अच्छा वही है जो सुखदायक है और जो सुखदायक है वही अच्छा है।

जान डिवी ने इस सौन्दर्य शास्त्रागत सुखवाद की अपने ग्रन्थ Art as experience में खूब छीछालेदर की है। पुस्तक के ग्यारहवें अध्याय में वे कहते हैं—

"सौन्दर्य वही क्यों जो हमारी उच्चतर इन्द्रिय-संवेदनाओं को व्यक्त करे ?
पक्का गाना तो सौन्दर्य का विषय है क्योंकि उसमें परिष्कृत रुचि का प्रश्न है।
पक्का खाना सुन्दर क्यों नहीं ? वह भी तो आनन्द देता है। पाक कला क्यों नहीं ललित कला, क्यों, वह उपयोगी कला है ?
करुणा में कैसी आनन्दोपलब्धि होती है ?
दो व्यक्ति एक ही वस्तु में क्यों आनन्द मानें ?"

कांट आदि बुद्धिवादी सौन्दर्य को राग-विराग के परे की वस्तु मानते हैं। मूल्यनिर्धारण में ऐसी मानसिक तटस्थता आवश्यक है। जहाँ आनंदादि आलोच्य वस्तु से तादात्म्य करनेवाली भावुक वृत्तियाँ हैं, वहाँ मूल्य निर्धारण कैसे संभव है ?

प्रसिद्ध दार्शनिक तथा विचारक एस० एलैक्जैण्डर ने अपनी पुस्तक 'ब्यूटी एण्ड आदर फार्म्स आफ वैल्यू' (सौन्दर्य तथा अन्य मूल सत्व) में यह स्पष्ट किया है कि कला का सौन्दर्य तथा महत्ता दो विभिन्न स्थितियाँ हैं।

सौन्दर्य कला-विशेष के माध्यम में अधिष्ठित होता है और महत्ता विषय-वस्तु पर निर्भर करती है।

डा० देवराज के मत से 'कला की महत्ता ही नहीं उसका सौन्दर्य भी माध्यम द्वारा प्रकाशित विषय-वस्तु से निरूपित होता है।"[१]

अलैक्जैण्डर के मत से महत्ता का सम्बन्ध भाव से है और सौन्दर्य का रूप से। वस्तुतः भाव का ही रूप सौन्दर्य है। इसी को ध्यान में रखकर पंडितराज जगन्नाथ ने क्षण-क्षण में नवता प्राप्त होनेवाले रूप में रमणीयता का सन्निवेश किया है। प्रश्न यह उठता है कि क्या सौन्दर्य तथा महत्ता की अलग-अलग कोटियां हैं? भगवती लक्ष्मी सुन्दर हैं और महान भी, भगवान नारायण भी वैसे ही हैं। वस्तुतः पूर्ण सौन्दर्य अपने में महान होता ही है। पूर्ण सौन्दर्य की धारणा न रखने से ही विभाजन की बात उठती है। जब हमारी दृष्टि सौन्दर्य के बहिरंग पक्ष पर ही टिकती है तो हम उसे महत्ता से अलग करके देखते हैं, पर जहाँ हम इन दोनों दृष्टियों से विचार करते हैं तो केवल बहिरंग सौन्दर्य को वास्तविक सौन्दर्य का चरम-बिन्दु नहीं मानते। अंत-रंग तथा बहिरंग सौन्दर्य का युगपद् रूप जगत् में विरल है। हम जिस तरह के वाता-वरण में पलते हैं, सौन्दर्य-परख की हमारी वैसी ही दृष्टि हो जाती है। नर्तकी के सौंदर्य को देखकर जहाँ बहुत-से मुग्ध होनेवाले हैं वहीं उससे मुँह मोड़नेवाले भी हैं।

हीगेल, काण्ट, ह्यूम, बामागार्टन आदि विद्वान सौन्दर्य को वस्तुगत नहीं मानते।

सौन्दर्य के स्वरूप-विवेचन में न उलझकर हम गद्य-काव्य के सौन्दर्य पर विचार करेंगे। गद्य-काव्य के सौन्दर्य-निर्धारण में हमारी निम्न मान्यताएँ होंगी :

(१) क्या कलाकार का रूप-निर्माण इस कोटि का है कि अधिकांश परिष्कृत रुचिवालों को आकृष्ट कर सकता है?

(२) क्या उसकी समग्र रचना में ऐक्य सामंजस्य तथा गांभीर्य बोध है?

(३) सौन्दर्यवर्द्धक उपादानों के प्रयोग में उसे सफलता कहाँ तक मिली है?

पूर्व कथित प्रश्नों का उत्तर निम्नलिखित उद्धरणों के माध्यम से दिया जायगा।

(१)

"उठ द्वार खोल—

शृंगार उन्मीलित प्रतीक्षा शशांक में शिथिल हो रही है। लज्जा का अवगुण्ठन उठा, आँसू के आवरण की अवज्ञा कर आज मैं उस पार देखूँगा।

आशा के कुहरे से अतीत को ढक दे, देख—गीत की अन्तिम कड़ियों की प्रतिध्वनि कहीं कगारों पर अलसित कपोतों के प्राणों में कंपन भर उन्हें सचेत न कर दे।

नयनों के डोरों में निद्रा की पायल बाँध और—आ! द्वार खोल?

प्रतीक्षा शिथिल हो रही है!!'[२]

---

१. 'साहित्य-चिन्ता' पृ० ३६

२. दिनेशनंदिनी—'दुपहरिया के फूल'—पृ० २

(२)

"पतझड़ के सूखे वृक्षों को मैंने दुःख-भरी अँखियाओं से देखा—पीत पल्लव मुरझाये, पैरों-तले पड़े थे।
मधु ऋतु की हरित वल्लरियों को मैंने आशा-भरे नयनों से निहारा—
हरित पल्लवों में जीवन-धारा नव स्फूर्ति से लहराती—बह रही थी। जीवन-परिवर्तन को मैंने रहस्यमय नेत्रों से निरखा—दुःख-सुख का क्रमिक नर्तन निरंतर जीवन का साथी बना था।"[1]

(३)

"मरुभूमि की प्यास मिटाने के लिये मेरे पास तो थोड़ा ही जल है। फिर भी इतने प्याले मेरे पास क्यों आ रहे हैं ?
क्या मेरी यात्रा में मुझे इसकी आवश्यकता नहीं है ?
क्या कहा ? ये अधिक प्यासे हैं, इन्हें जल देना ही होगा !
पर तो उन्हें अपने साथ जल नहीं लाना चाहिये था ?
मैंने तो लाने का श्रम किया है और मैं इसके पीने का अधिक अधिकारी हूँ। फिर इतने स्वल्प जल से इनकी प्यास भी तो नहीं जायेगी। अजीब तर्क है तुम्हारा भाई। जलपान करने पर ही घन-धार छोड़ोगे। अच्छा तो मैं पिलाता हूँ, पर यह क्या पूर्ण तृप्त अनेक रूपों में तुम ? मेरा जल ! पी रहे हो ?"[2]

"नदी कल-कल ध्वनि से बह रही है, कुसुमित वल्लरियों पर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं, मादक सुरभि-मिश्रित वायु चल रही है, आत्म का यह प्रकाश क्या अपने लिए है ? जहाँ प्रकाश में विश्वतृप्ति की भावना रहती है, वहीं आनन्द है, वहीं सौंदर्य है। कवि का आत्म-प्रकाश भी जब प्रयोजन की सीमा लांघकर विश्व के लिए होता है, तो उसमें सौन्दर्य बरबस भर उठता है। कभी-कभी प्रकाश का आनन्द जीवन के विशेष अवसरों के लिए ही होता है, उत्सव-विशेष में अग्नि-रूप आत्म का प्रकाश कुछ ऐसा ही है। इसके अभाव में उत्सव का सारा मजा किरकिरा हो उठता है। इस प्रकार के प्रकाश में सीमित आनन्द-स्फुरण की ही शक्ति होती है क्योंकि इसका सम्बन्ध बहुसंख्यक प्राणियों से नहीं होता। इसका अपना गांभीर्य, ऐक्य तथा सामंजस्य होता है। इस प्रकार के अवसर-विशेष के आयोजन, अपने को सफल बनाने के लिए सभी उपलब्ध उपादानों का भरपूर प्रयोग करते हैं। प्रथम तथा द्वितीय उद्धरण का सौन्दर्य कुछ इसी प्रकार का है।"

---

१. शकुन्तलाकुमारी 'रेणु'—उन्मुक्ति—पृ० ६७
२. शैशवरागिनी शीर्षक २

"नयनों के डोरों में निद्रा की पायल बाँध—आ ! द्वार खोल ? प्रतीक्षा शिथिल हो रही है !!" लाइनें प्रबल अनुभूति की अभिव्यक्ति इस ढंग से कर रही हैं जिससे अनुभविता के मनःस्थिति का स्पष्ट चित्र उपलब्ध हो जाता है। सागर के तीर पर जाकर कोई भी व्यक्ति सागर के सत्ता की प्रतीति किए बिना नहीं रह सकता। उसे कहना ही पड़ेगा कि सागर महान है। सागर ने जहाँ यह प्रतीति करा दी, उसका कार्य समाप्त हो गया। कवि की स्थिति भी कुछ इसी प्रकार की होती है यदि जो कुछ वह जिस वेग से कहना चाहता है कह चुका, पाठकों को उसकी प्रतीति भी हो गई तो उसके रचना-सौन्दर्य का अपलाभ नहीं हो सकता। उनकी रचना में वास्तविक तथ्य भले ही न मिले पर उसके शब्द-निर्वाचन में, भाषा की भंगिमा में तथा शब्दों की अभिधानिक सीमा-उल्लंघन में अतिशय रमणीयता को कौन अस्वीकार कर सकता है। प्रथम तथा द्वितीय उद्धरण के लिए यह कथन अक्षरशः सत्य है। कला के प्रकाश का सत्य स्वरूप उसकी अतिशयता में है।

द्वितीय उद्धरण में 'आँखियाओं', 'निरखा', 'निहारा' आदि शब्द अपने विषयगत सन्दर्भों का चित्र जिस सूक्ष्मता से व्यक्त कर रहे हैं, उसकी ओर सहृदय को आकृष्ट होना ही पड़ता है।

किसी व्यक्ति या वस्तु की दयनीय दशा देखकर हम आकुल हो उठते हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसलिए कि उसकी पूर्व दशा या रूप वर्तमान से सुन्दर था। सौन्दर्य की यह लालसा ही हमें रूप-परिवर्तन पर दुःखी बनाती है। अतः यह मानना होगा कि हम सौन्दर्य के शाश्वत रूप के अभिलाषी हैं। पर अशाश्वत जगत् में शाश्वत सौन्दर्य सम्भव है ? इसीलिए दुःख-सुख का नर्तन होता है। परिवर्तन के इस तथ्य को जब कवि व्यक्त करता है तो वह स्वभावतः सर्वकाल के, सर्वजनों को अपनी अनुभूति संवेद्य कर देता है। 'अँखियाओं' के प्रयोग ने जिस भाव का विश्व सृष्ट किया है किया है उसका अपना एक वैशिष्ट है।

अधिक-से-अधिक परिष्कृत रुचिवालों को आकृष्ट करनेवाले रूप में क्या विशेषता होनी चाहिए, इसका कोई सरल समाधान निकालना कुछ कठिन प्रतीत होता है क्योंकि परिष्कृति रुचि भी देश-काल तथा वातावरण-सापेक्ष होती हैं पर जीवन की विस्तृत पटभूमि पर अंकित छवियाँ जब अधिक काल तक के स्थायित्व का सन्देश लेकर अवतरित होती हैं तो उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। राग, द्वेष, ईर्षा, काम, स्वार्थ, हिंसा, छल आदि भाव अपने मूल रूप में प्रत्येक काल में रहते हैं भले ही इनकी स्वरूप-उपलब्धि का माध्यम बदल जाय। अतः इस प्रकार के व्यंजित भाव अवश्य ही प्रत्येक काल में परिष्कृत रुचिवालों को आकृष्ट कर पाते हैं। गद्य-काव्य के अधिकांश स्थलों के भाव मानव अंतःकरण की इन्हीं प्रवृत्तियों का उन्मीलन करते हैं, अतः साहित्य का यह रूप सहृदय को आकृष्ट करता ही है।

किसी भी रचना में ऐक्य, सामंजस्य तथा गांभीर्य बोध तभी अनुभवित होता है जब रचनाकार की अनुभूति अपने में यथार्थ, मापित तथा गहरी हो। पूर्व में यह कहा गया है कि गद्य-काव्य में अनुभूत कल्पना को उतना स्थान नहीं मिल पाता जितना अनुभूत यथार्थ को, अतः विषय-वस्तु की विराटता से उत्पन्न अनुभूतियाँ गंभीर तो होती ही हैं, कुशल गद्य-काव्यकार अपनी लेखनी से उसमें ऐक्य तथा सामंजस्य अपने आप स्थापित कर लेता है।

रह गया तीसरा प्रश्न। सौन्दर्य-वृद्धि के उपादानों का कहीं-कहीं गद्य-काव्यकार खुलकर प्रयोग करता है और कहीं नहीं भी करता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि जहाँ वह सौन्दर्यवर्द्धक उपादानों की सहायता नहीं लेता वहाँ उसकी रचना सौन्दर्य-विहीन सी लगती हो। सौन्दर्यजनित आनन्द तो उसमें रहता ही है। इस प्रकार के आनन्द में आनन्द का मूल स्रोत रहता है और इसका आधार अनुभव-विशेष होता है। तीसरे उद्धरण की कोटि इसी प्रकार की है। जीवन की समग्रता को समेटने वाली अनुभूतियों में एक विलक्षण आनन्द, गाम्भीर्य तथा ऐक्य होता है और इसीके कारण वे अपने वास्तविक स्वरूप में ही मनोज्ञ होती हैं, उन्हें आभरणीयता की आवश्यकता नहीं पड़ती। आध्यात्मिक अनुभवों से पुष्ट गद्य-काव्य इसी प्रकार के हैं। कृष्ण का आकर्षण इनमें भले हों न हो पर बुद्ध का तेज अवश्य है। हमारे प्रतिदिन के खण्ड-अनुभव बढ़ते-बढ़ते समग्र जीवन-दर्शन का रूप ले लेते हैं। गद्य-काव्यों में जीवन के खण्ड-अनुभव ही व्यक्त होते हैं पर इन विच्छिन्न अनुभवों का समग्र रचना के सन्दर्भ में एक निरवच्छिन्न रूप भी होता है। जीवन की सुनिविड़ समग्रता का जो चित्र गद्य-काव्यों में पाया जाता है उसमें हमारा मन मुक्त तथा अव्यवहृत रूप से प्रवेश पा जाता है। यदि ऐसा होता है तो गद्य-काव्य अपने सौन्दर्य-संधान में लक्ष्यविहीन नहीं है।

विभिन्न रचनाओं में सौन्दर्य-सृष्टि एकसी नहीं होती, अतः सौन्दर्य-सृष्टि के कई स्तर हो जाते हैं। जिस रचनाकार का जीवनव्यापी दृष्टिकोण जितना ही व्यापक होगा, जिसने जीवनगत सत्य को जितना ही समीप से ज्ञात किया होगा, उसकी रचना में सौन्दर्य-शिल्प का विन्यास उतना ही भव्य तथा महनीय होगा। व्यक्तिगत कलाकारों की विशेषता व्यक्त करते समय इस पर प्रकाश डाला जायेगा।

आध्यात्मिक गद्य-काव्यों के ठीक विपरीत प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी गद्य-काव्य आते हैं। कवि की दृष्टि साधारण को भी ऐसा विशिष्ट रूप देती है कि वह तथ्य भी साधारणतया से ऊपर उठकर भाव-जगत् में स्थान पा लेता है, जो वस्तु स्वतः किसी को नहीं बुलाती उसकी भी वाणी का प्रकाशन कवि किया करते हैं। तथ्य की साधारणतया का तिरस्कार करके भावमय रूपों का विधान' तभी मनोहर होता है जब रचना में वादविशेष का आग्रह न हो। उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

"पनिहारिन, दुनिया को पानी पिलाती है, किन्तु स्वयं प्यास से मरती है। उसके सिर पर जिस दिन घड़ा न हो उस दिन पापी खड्ड में ईंट-पत्थर कहाँ से पड़ेंगे। वह युग-युग तक गागर ढोने को बाध्य की जायगी क्योंकि बहुत-से लोग बिना हाथ-पैर हिलाये, बैठे-बिठाये, पानी पीते हैं और उनके लिये ही कुछ लोगों को गागर ढोना पड़ता है। गर्मी-सर्दी, बरसात सबमें समान भाव से उसे कार्य करना है। उसके लिए शादी-ब्याह, उत्सव से कोई सरोकार नहीं।"[१]

रचना में वर्गसंघर्ष की भावना है। काव्य-खण्ड का लालित्य वाद के दलदल में फँस गया है। बुद्धि-नैपुण्य से व्यवहारिक क्षेत्र में मानव विश्व की शक्तियों को पराभूत करता है। उसका प्रयोजन उसे ऐसा करने को बाध्य करता है। साहित्य जगत् में सिद्धान्त-विशेष मतावलम्बी रचनाकार अपनी रचना में वह विश्वजनीन आत्मीयता के भाव नहीं भर पाये जिनके प्रकाश से उनके अन्तरतम का परिचय मिल सके। यह परिचय उसकी संस्कृति, उसका परिवेश, उसकी बोधचेतना, उसके राग तथा उसकी रुचि का पूर्ण चित्र उपस्थित कर सकता है। यदि रचनाकार अपने व्यक्तित्व को अप्रधान करता है, कुछ पिटी-पिटाई लीकों पर चलता है तथा आक्रोशों के रूप में वर्ग-विशेष का हिमायती होता है, तो ऐसे साहित्यिकों को उन धवल मनीषियों के समकक्ष नहीं बिठाया जा सकता जिन्होंने प्रत्येक युग में विश्वचेतना को आलोकित किया है। रम्य अटवी के सुरभित कुंज में सहृदय आनंद-विभोर हो जाता है, जल, पृथ्वी, वायु, आकाश तथा तेज से ही अटवी का सौन्दर्य है। अटवी के वृक्ष काष्ठ ही तो हैं। क्या काष्ठ में आनंद होता है? अटवी एक साथ वस्तुमय, शक्तिमय तथा सौन्दर्यमय है। इन तीनों का अखण्ड प्रकाश ही तो अटवी है। यही प्रकाश हमें आनन्द देता है। जीवन का केवल वस्तुमय प्रकाश आनन्दमूलक यदा-कदा होता है क्योंकि उसमें समग्रता के भाव नहीं होते। प्रकृति में समग्रता के भाव हैं, परन्तु मानव अपनी व्यक्तिगत इच्छा को सर्वोपरि मानकर संकीर्ण दायरे में चला जाता है, इसीलिए वह केवल जीवन के द्वन्दों की ही जानकारी कर पाता है, जिसमें क्रियाशीलता तो होती है पर अवकाश नहीं। महान कलाकार की रचना में क्रियाशीलता तथा अवकाश साथ-साथ होते हैं।

शुद्ध ऐन्द्रिय तत्व की अभिव्यक्ति में भी सौन्दर्य का महत्तर स्वरूप नहीं दृष्टि-गोचर होता। यथा :—

'पहाड़ की चोटी पर पड़ी हुई बर्फ के गोरे-गोरे चिकने अंगों पर रीझकर सूर्य की एक किरन ने उसे चूम लिया।

बर्फ शर्म के मारे वहीं पानी-पानी हो गई क्योंकि चिनार का एक ढीठ वृक्ष पास ही खड़ा हुआ यह दृश्य देख रहा था।"[२]

---

१. 'गेहूँ और गुलाब' रामवृक्ष बेनीपुरी पृ० ४५ प्र० सं०

२. 'निर्झर पाषाण' पृ० ३१—तेजनारायण 'काक'

चूमना-चाटना हमारे यहाँ गोपन क्रिया मानी गई है। पर इसकी उपेक्षा कर रीतिकाल में इसका भरपूर प्रयोग हुआ है। इसीलिए इस युग की कृतियों में वह सौन्दर्य देखने को नहीं मिलेगा जो भक्तिकाल की रचनाओं में है। घर में हम सजधज कर नहीं बैठते, बाहर निकलते समय हम यह देखते हैं कि हमें व्यवहारिक जगत् में कैसे चलना चाहिये, हाँ यदि कोई फक्कड़ी मिजाज का आदमी हो तो अलग बात है। इसी तरह भाव-जगत् के सभी अनुभवों का प्रकाश साहित्य की निधि नहीं हो सकता। शक्ति-क्षरण से उत्पन्न जगत् का आमिक आनंद, अभिव्यक्त होने पर आनन्द की सृष्टि तो कम पर शक्ति-क्षरण का कार्य अधिक करता है। भोग-वृत्ति से ऊपर उठने पर सौन्दर्य केवल नारी में ही नहीं दीखता बल्कि विश्व के सभी चर-अचर में दिखाई पड़ता है। विश्व प्रकृति से उपलब्ध आनन्द का प्रकाशन वर्डसवर्थ ने भी किया है और ऊपर की रचना में भी इसी का प्रयास है, इतने ही संकेत से सौन्दर्य की न्यूनता का पता लग जायगा।

रसकिन की दृष्टि में सौन्दर्य की अनुभूति इन्द्रियोचित व्यवहार एवं मस्तिष्क की ग्राह्यता पर ही नहीं अवलंबित होती है बल्कि हृदय की उस विशालता से इसका सम्बन्ध है जिसके द्वारा ईश्वर-कृत प्राकृतिक वस्तुओं के प्रति सम्मान, कृतज्ञता एवं आनन्द के भाव आप-से-आप जाग्रत हो उठते हैं। सौन्दर्य की झलक उनको ही मिलती है जो वस्तुतः युक्त, पवित्र और सरल हृदयवाले होते हैं। रसकिन ने कला के विकास के लिए मानवी सद्‌गुणों की वृद्धि आवश्यक बताई है। इस प्रकार 'कला में सद्‌गुणों को स्थान नहीं है' प्लेटो के इस सिद्धान्त के खोखलेपन को पूर्णतः दिखाया है।

कल्पना—कल्पना एक मानसिक क्रिया है। इसके द्वारा गत अनुभवों के आधार पर कवि अपने मानस-पटल पर एक नया चित्र खींचता है। इसमें भिन्न-भिन्न कोटि के अनुभवों का एकीकरण एक नूतन साँचे में होता है। कल्पनागत रूपों में यथार्थ का वैसा चित्र नहीं रहता, अवसर-विशेष में यह घटता-बढ़ता है। कल्पना का आधार मौलिक संस्कार, प्रबल स्मृति तथा साहचर्य अभिन्नता होती है। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से कल्पना के भेद हो जाते हैं। इच्छा, मौलिकता, ध्येय तथा विश्वास के आधार पर कल्पनायें विविध रूपों को धारण करती हैं। कलाकार की कल्पना संसार को प्रायः समस्त उज्ज्वल, उदात्त और ऊर्जस्वित भावनाओं को पुष्ट करनेवाली, उन्हें मनोरम बनाकर मनुष्य-जीवन में मिला देनेवाली सिद्ध हुई है। "कवि अपनी कल्पना के इंगित से सहस्रों वर्षों तक—अमित काल पर्यन्त—संसार-व्यापी समाज के मन पर शासन करता है।"[1] काव्य में इसी कल्पना की महनीयता को ध्यान में रखकर श्री पी० वी० शैली तो यहाँ तक कह डाले हैं कि 'काव्य की सामान्य

---

१. 'साहित्यालोचन' पृ० १०४—डा० श्यामसुन्दरदास

परिभाषा कल्पना की अभिव्यक्ति है।"[1]

काण्ट ने कल्पना के तीन भेद माने हैं : (१) स्मरणात्मक कल्पना (२) उत्पादक कल्पना तथा (३) सौन्दर्य कल्पना। तीसरी कल्पना के द्वारा ही कवि नूतन निर्माण करता है।

प्रथम कोटि की कल्पना में जीवानुभूति के अपार सागर की लहर-बहर होती है, द्वितीय कोटि की कल्पना अपनी प्रेरणात्मक प्रतीति को सचेतन भाव से सँवारकर निपुण ग्रथन के साथ प्रस्तुत करती है। तृतीय प्रकार की कल्पना अमार्मिक चित्र का निपुण संगठन प्रस्तुत करती है, इनमें विदग्धता तो होती है पर जीवनागत अनुभूति का उल्लास नहीं होता।

उपर्युक्त आधार को ध्यान में रखते हुए हम गद्य-काव्यकारों की कल्पना विषयक विशेषता का विवेचन करेंगे। तीनों प्रकार की कल्पना के उद्धरण लिये जा रहे हैं।

विदग्ध कल्पना—

"निकट की कलियों को हाथ से चुनते देख तारे मुझसे दूर भाग गये हैं ? क्या मैं यह जानता नहीं हूँ ?
मेरे अतृप्त नयनों के लोभ को जान उषा बहुत थोड़ी देर ठहर पाती है, क्या मैं इतना भी नहीं समझता ?
जो मुझे लुभाता है उसे मैं चिर बंधन में बाँधने की कामना करता हूँ, मेरे हृदय की इस वृत्ति को परख मलयानिल मेरे पास से चुप खिसक जाता है, क्या यह रहस्य मुझे गोपनीय है ?
तुम्हें पहचानकर खो न दूँ, इसीसे अपने अंतर का रहस्य तुम खोलते नहीं हो, प्राणाधिके ! मुझे यह बात छिपाने की अब आवश्यकता नहीं रही।"[2]

जीवनानुभूतिमय कल्पना—

"टहनी की कशिश ने रस को मूल से चोटी तक पहुँचा दिया, वैसे ही तुम्हारे पुनीत प्रेम ने मुझे बिना नसेनी ही ब्रह्म तक खींच लिया।"[3]

---

१. Poetry in general may be defined as the expression of imagination.

—Defence of Poetry, page 50, 9th Edition.

२. 'सोने से पहले'—पृ० ३२ शीर्षक 'अपना दोष' 'मानव' प्र० सं०

३. 'दुपहरिया के फूल' शीर्षक ४९ द्वि० सं० : दिनेशनंदिनी

सचेतन कल्पना—

"मेरी प्रेरणा उस एकान्त शिकारी की तरह मानव-हीन मरु-भूमि पर अद्‌भुत अजानी नियति की सुदूर से आनेवाली निरन्तर वाणी के वृक्ष पर फिरती है और डूबते हुए पवन के स्निग्ध अंचल में छिप जाती है। दूब की उष्ण आहों में गाती है, तब फूलों के भार से झुकी हुई झाड़ियाँ विहँसती हैं, और वह पल्लवों पर छिपे हुए दूब-विन्दुओं में तुम्हें खोजती है।"[1]

"वह एक लहलही लता है। आँसुओं से सींच-सींचकर मैंने उसे बढ़ाया है। आज वह तुम पर मोहित होकर प्रफुल्लित और पुलकित हो रही है। तुम एक सुन्दर तरुण तमाल हो न ? यदि हाँ, तो अपनी उस प्राणप्रिया को प्रगाढ़ालिगन क्यों नहीं देते ? वह एक चाह-भरी चातकी है। समस्त समुद्रों को क्षुद्र मानकर वह पगली तुम्हारी प्रतीक्षा में व्याकुल खड़ी है। तुम श्याम घन हो न ? यदि हाँ, तो अपनी उस प्यारी प्यासी पपीही को अपने रूप का एक स्वाति-विन्दु क्यों नहीं पिला देते ?"[2]

"यह पवन का झोंका तुम्हारे उच्छ्‌वास को वहन करके लाया है। ऐसा न होता तो यह मुझे विह्वल क्यों करता ?
इन तारों में जिस सबसे उज्ज्वल नक्षत्र को मैं गीली आँखों से देख रहा हूँ, उसे तुम भी भीगी पलकों से देख रहे हो ? ऐसा न होता तो यह इतना सजल क्यों होता ?
तुम्हारा अंतर मुझे स्मरण कर सिहर उठा है। ऐसा न होता तो मेरे दीपक की शिखा काँप क्यों उठती ?"[3]

प्रथम उद्धरण विदग्ध कल्पना का उदाहरण है। अप्रस्तुत विधान द्वारा काव्यकार ने प्रस्तुत सम्बन्धी भाव व्यंजनाओं को प्रभविष्णु बनाने के लिए एक ऐसी कल्पना की है जो अनुभव-क्षेत्र से सम्बन्धित नहीं है। भाव का सम्बन्ध जीवन-जगत् की किसी मर्म छवियों से नहीं है। यह कृत्रिम सम्बन्धारोपण गृहीता में एक चमत्कार की सृष्टि अवश्य करता है पर गहरी वेदना नहीं उद्‌बुद्ध करता। अनुभव-जगत् से लिये गये मार्मिक छवियों के मार्मिक संगठनपूर्ण चित्र दूसरे भाग में हैं। जब दिनेशनदिनी यह कहती हैं, कि 'टहनी की कशिश ने रस को मूल से चोटी तक पहुँचा दिया' तो वे हमारा ध्यान एक सर्वानुभूत सत्य की ओर आकृष्ट करती हैं। यथार्थ जगत् का यह चित्र तथ्य का उद्‌घाटन इस ढंग से करता है कि इसके सौन्दर्यानुभूति में कोई कोर-

१. 'उन्मन'—शीर्षक ७० : दिनेशनंदिनी
२. 'भावना' पृ० ३ 'प्रीति' : वियोगी हरि
३. शी० 'रहस्योद्‌घाटन' 'सोने से पहले' 'मानव' पृ० १४

कसर नहीं दिखाई पड़ती। दिनेशनंदिनीजी ने यहाँ कल्पना के क्षेत्र में कोई नव-निर्माण नहीं किया है। जीवन-जगत् में जो उन्होंने देखा है उसे ही व्यक्त किया है। यथार्थ के नियमों से नियन्त्रित इसी प्रकार की कल्पना भावों की संवेदनशीलता में चार चाँद लगा देती है। यत्नपूर्वक उपजाई हुई अथवा कृत्रिम, अविश्वसनीय संबंध की स्थापना इसमें नहीं हुई है।

तीसरे उद्धरण में निपुण एवं कृत्रिम संगठनों के आश्रय से भावों को दीप्तमान किया गया है। भाव जहाँ अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए वस्तुतत्व का आश्रय लेता है वहीं विषय तथा विषयी के एकत्व का आनन्द न्यून हो जाता है। भावों की अनुभूतिमूलक प्रखरता का बोध तभी होता है जब अनुभव-जगत् के ही मार्मिक चित्र उपस्थित किये जायँ, पर जहाँ इनकी कमी होती है वहाँ विपुल आभरण, साज-सज्जा की आवश्यकता पड़ती है।

इस प्रकार के अलंकरण से पाठकों पर एक रोब का प्रभाव तो पड़ता है पर हृदय में किसी मार्मिकता का संचार नहीं होता। इसी सम्बन्ध में एक उदाहरण और लिया जाता है।

"मेरे आँसू उस सागर की लहरें हैं जिसकी उर्मियों का कभी उतार नहीं होता !"[1]

उपर्युक्त रचना में हृदयगत वेदना सहृदय पर आघात करनेवाली नहीं मालूम पड़ती। वेदना के वर्णनात्मक पहलू पर ज्यादा जोर दे देने से वेदना की विवृति करुण-रस की सृष्टि में पूर्णतया सहायक नहीं हो पाई है। सागर का दर्शन अधिकांश पाठक नहीं कर पाते, फिर ऐसा सागर जहाँ उर्मियों में चढ़ाव-उतार न हो विश्व में शायद ही कहीं मिले, फिर कवि की इस कल्पना की प्रत्यक्ष अनुभूति पाठक कैसे कर सकता है ? और इसके अभाव में कवि-सत्ता की प्रतीति कैसे संभव हो सकती है ? तीसरा उद्धरण प्राणहीन वाक्विदग्धता का है। मार्मिक उक्तियाँ कुछ काल अपने चमत्कार से पाठकों को थामे रहती है, पर यदि वे ऐसा भी नहीं कर पातीं तो उनकी प्राण-वत्ता का आधार ही समाप्त हो जाता है।

विषय को ध्यान में रखकर कल्पना के शिष्ट, अशिष्ट, सरल, संश्लिष्ट, मूर्त-अमूर्त वास्तव तथा अवास्तव, आदि भेद हो जाते हैं। यथा :—

शिष्ट, सरल, वास्तव तथा मूर्त कल्पना—

"जिस भाँति नाल के सहारे कमल जल पर कल्लोल करता है, उसी भाँति तुम्हारे सहारे मैं यहाँ पर हूँ।"[2]

---

१. 'वेदना' शीर्षक ८७ : भँवरमल सिंघी

२. सहारा 'साधना' राय कृष्णदास

अशिष्ट—

"भाभी बड़बड़ाने लगी, उसने कहा अभी रस नहीं मिला है, जरा रस चखोगी तो लखनौवा पैजामे की तरह उनसे चिपकी रहोगी"……जरा पुकारते ही कचौड़ी की तरह गाल फुलाकर उपटोगी और न जाओगी ?"[1]

संश्लिष्ट—

"वज्राहत वृक्ष की नाईं, वायु विध्वस्त अर्णव पोत की नाईं, भग्नावेशेष गृह की भित्ति की नाईं, ध्वंसावशेष नगर की नाईं मैं जीता हूँ।"[2]

अमूर्त—

"मानसरोवर के स्वच्छ जल पर गोधूलि का मलिन अंचल खिसक पड़ा।"[3]

अवास्तव—इसका उदाहरण तृतीय उद्धरण में दिया जा चुका है।

शिष्ट-कल्पना में मर्यादा का ध्यान होता है। सरल कल्पना में रूप-विन्यास अतीव बोधगम्य होता है। वास्तव कल्पना यथार्थ के विपुल चित्रों से भरी होती है। मूर्तकल्पना प्रस्तुत विधान का आश्रय लेती है। अशिष्ट कल्पना में ऐन्द्रिय तत्व (विशेषतः हीनकामवृत्ति) होती है। संश्लिष्ट कल्पना में कई कल्पनाएँ एक साथ आती हैं। अमूर्त कल्पना अगोचर पदार्थों का वर्णन करती है। अवास्तव कल्पना अयथार्थ चित्र उपस्थित करती है।

समाज में रहते हुए हम उसकी मर्यादा का पालन करते हैं, वहीं यह भी आवश्यक हो जाता है कि हमारे भाव नियंत्रित रहें। प्रश्न यह उठता है कि क्या इस प्रकार का नियंत्रण कवि के लिए वांछित है ? यदि कवि इसी समाज का जीव है तो उसे समाज के उन नियमों का पालन करना आवश्यक हो जाता है जो जीवन की गति के वर्द्धक हैं।

अभिव्यंजना—'पुनरुत्थान काल' की परम्परा के प्रति जो क्षोभ एवं अतृप्ति हुई, उससे ही व्यक्तिवाद ने जन्म लिया। इस व्यक्तिवाद ने योरोपीय साहित्य में स्वच्छन्दतावाद की धारा चलाई। व्यक्तिगत विशेषता के वैचित्र्य प्रदर्शन ने कवि का ध्यान भावपक्ष से हटाकर बोधपक्ष पर लाकर स्थिर किया। इटली निवासी क्रोचे ने अपने 'अभिव्यंजनावाद' के निरूपण में बड़े आग्रह के साथ यह स्वीकार किया कि कला की अनुभूति बोधस्वरूप ही होती है। और इन्हीं संवेदनों की अभिव्यंजना कला है।[4] इसका सम्बन्ध स्वयम्प्रकाश्य ज्ञान से है।

१. 'प्रलाप' पृ० ५८ : केशवलाल झा

२. 'उद्भ्रान्त प्रेम' पृ० ११३

३. 'धुंधले चित्र' पृ० ६६ : मोहनलाल महतो

४. Art is the expression of impression. —Aesthetics, page 21.

प्रश्न यह उठता है कि क्या सभी संवेदनों की यथावत् अभिव्यंजना सम्भव है ? तथा क्या अभिव्यंज्य की अवहेलना से किसी कृति का निर्माण हो सकता है ?

दोनों के उत्तर नकारात्मक ही होंगे।

नरेन्द्र ने जिन अपने गद्य-काव्यों को बोधात्मक गद्य-काव्य कहा है और अपनी पुस्तक 'जीवन-रेखायें' को मस्तिष्क तथा हृदय-खण्ड में विभक्त किया है वह केवल भ्रममूलक है। दोनों खण्डों के दो उदाहरण लेकर हम देखेंगे कि उनके इन विभाजन का आधार कितना दुर्बल है :

(अ) जीवन की उस गोधूलि में जब सरिता में पड़ी अंधकार की छाया बहुत ही गहरी और काली प्रतीत होती थी, श्रांत नीर मंद-मंद गति से बह रहा था—नीरव निष्क्रिय-सा। तुमने सिकता-कणों से खेलते-खेलते यह बालू का घर बना दिया।[1]

(ब) जिसके जीवन में मधुर रंगीन स्वप्नों का अपना एक निजी संसार था। जिसका हृदय सदैव आशा दीपों से आलोकित था, जहाँ सदैव वसंत ही रहता था।

हे लुटे वैभव के प्रतीक !

आज तुम्हारा वह ऐश्वर्य, वह सौन्दर्य किस निष्ठुर ने लूट लिया ?"[2]

पहला उद्धरण हृदय-खण्ड का है दूसरा मस्तिष्क-खण्ड का। पर दोनों उद्धरणों में अभिव्यंज्य की स्थिति महत्वपूर्ण है और दोनों में भाव की स्थिति बोध की स्थिति से प्रबल है।

वस्तुतः काव्य के क्षेत्र में बोधचेतना भाव-रूप हुए विना नहीं रहती। विशुद्ध बोधचेतना केवल सिद्धान्तवादी होती है और इसका आधार वस्तु-जगत् ही होता है। भावों की पूर्ण अभिव्यंजना असम्भव है।

कौशल—कौशल वस्तुगत विषयों को प्रस्तुत करने के क्रम और संयोजन की विचित्रता को कहते हैं।[3]

जिन साधनों से कोई भी कलाकृति विशिष्ट होकर आकर्षक हो जाती है, वस्तुतः वही कौशल है। गद्य-काव्य के तीनों उत्थानों की तीन कृतियों को लेकर कौशल का विवेचन किया जायगा :—

"उन्नत आकाश-स्थित दिनकर पानी के निम्नग स्वभाव की ओर तनिक भी ध्यान न देकर उसे अपने करों से उठाकर हृदय पर स्थान देता है और अपने राग से

---

१. 'जीवन रेखायें' पृ० ७

२. 'जीवन रेखायें' पृ० ८२

३. 'शैली और कौशल'—पृ० ११ : सीताराम चतुर्वेदी

रंजित, सरस नील नीरद कर देता है, एवं इन्द्रधनुष का मुकुट पहनाकर तथा पवन के पालने पर बिठाकर, उस मराल-मुक्ता-माल्य-मंडित, चपला-पीताम्बर-धारी घन को घनश्याम का उपमान बना देता है।

इतना ही नहीं, वह उसे इस योग्य कर देता है कि वह अपनी शीतल स्निग्ध छाया के नीचे सन्तप्त संसार को सुखी करे और पृथ्वी पर भूरि-भूरि जीवन-वर्षा करे।

हे प्राणवल्लभ, इसी भाँति तुम भी मेरी नीचता की ओर न देखकर अपनी उच्चता से, करुणा-कर पसारकर इस क्षुद्र जन को अपनी छाती से लगा के, कुछ और ही बना देते हो।[1]

मौन और मृत्यु के सन्धि-काल में प्राचीन भूलों का प्रायश्चित्त करूँ या अवज्ञा के प्रदेश में खिलनेवाले बादली फूलों की चादर से उन्हें ढक तेरे प्यार के चिर आश्वासन की उजली धूप में मूर्च्छित यौवन को जगाने का सरल प्रयत्न ?

जरा के निभृत वक्ष पर यत्र-तत्र बिखरे उन अश्रु-कणों को बटोरूँ अथवा साधना के जीवन पर सत्य की आँखों से झरी हुई तुम्हारी हिम-वाणियों के रस का संचार करूँ ?[2]

सुमन खिले, वायु, डोला, सखी री, देख तो,
वह आया है क्या ?
गगन-झरोखों से ये तारक-बालिकायें स्वागत के हेतु किस ओर बढ़ रही हैं ?
सुन्दरी उषा ने रक्तिम मुखड़ा गुलाबी घूँघट में क्यों छिपा रक्खा है ?
प्रकृति का यह आलस्य-भरा भोला सौन्दर्य क्यों विहँस उठा ?
प्राणों में यह चेतना, यह उल्लास कौन भर गया ?
सखी री, देख तो। वह निष्ठुर मुझ तक आया है क्या ?"[3]

पहली रचना प्रारंभिक काल की है। इसमें भाषा संस्कृतनिष्ठ है। भावों की गति एक नपी-तुली व्यवस्था का अनुगमन कर रही है। शब्दों में भावों की झंकार मानस को उद्वेलित करनेवाली नहीं है। संगीत तथा लयात्मकता की मोहकता विशेष चित्ताकर्षक नहीं है। भावों का स्वतन्त्र चित्रण न होकर पृष्ठभूमि के माध्यम से हुआ है, और पृष्ठभूमि भी इतनी प्राणवान नहीं है कि भावों में दीप्ति तथा भास्वरता का उद्रेक पूर्णता से कर पाये। दैन्य का निरूपण मर्मस्पर्शी नहीं हुआ है। मधुर कल्पना के बीच सुन्दर भाव-तरंग का स्पन्दन नहीं है। ध्वन्यात्मक तथा रसात्सक प्रभावों की

१. राय कृष्णदास—'साधना' पृ० ४३—'महत्ता' शीर्षक
२. दिनेशनंदिनी—'दुपहरिया के फूल' शीर्षक ४३ प्र० खं०
३. शकुन्तलाकुमारी 'रेणु'—'उन्मुक्ति' शीर्षक २०

न्यूनता है। दूसरे उद्धरण में हृदय की संशयात्मक स्थिति को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। पहले उद्धरण से इसमें अधिक प्रभावकता है। भावों का प्रवाह भी कुछ प्रखर है तथा भाषा की कोमलता एवं आर्द्रता भी बढ़ी हुई है, फिर भी भावों को उद्दीप्त करने के लिये भाषा को अलंकृत करना पड़ा है, अतः यह मानना होगा कि भावों को अकेले ही वह स्वतंत्र शक्ति नहीं प्राप्त है जिससे बिना अलंकरण के उसमें गुरुत्व तथा आकर्षण आवे।

तीसरे उद्धरण का कला-सौन्दर्य पर्याप्त निखरा हुआ है। भावों में निज की स्वाभाविक गति है और वे भाषा को हठात् पकड़ते पाये जाते हैं। भावांकन के लिए भाषा का प्रयत्नजन्य प्रयोग नहीं दिखलाई पड़ता। भावों की स्फुटता, कोमलता एवं स्वाभाविकता पूर्णतया व्यक्त हुई है। इतना ही नहीं, भावों की चित्रोपमता का नयनाभिरामत्व अवलोकनीय है। ध्वनि, लय, ताल, गति आदि ने स्वतः अपना-अपना स्थान निश्चित किया है। भाषा की प्रांजलता भी कम महत्व की नहीं है। समुचित विरामादि चिन्हों के कुशल प्रयोग ने भावों के क्रमिक विकास में पूर्णतया सहयोग प्रदान किया है। हृदय की ललक तथा प्रियतम की मिलनाकांक्षा की उद्वेगपूर्ण अधीरता का मोहक चित्र उपस्थित किया गया है। भावों एवं भाषा दोनों का विशिष्ट सौन्दर्य द्रष्टव्य है। भावों को उद्दीप्त करने का यह कौशल पुस्तकों के सिद्धान्तों को पढ़कर नहीं प्राप्त किया जाता, वह तो रचयिता के व्यक्तित्व की विभूति होती है।

भाषा—

"रूप-योजना व्यक्तिगत होती है, वह कवि के वैयक्तिक मानस से सम्बन्धित है, पर वाणी की शक्ति इस रूप-सत्ता को सार्वजनिक बनाती है और उसमें ऐसे तत्व की प्रतिष्ठा करती है जो काव्य को सार्वजनिक आह्लाद का विषय बना देती है। इस प्रकार कल्पना को प्रेषणीयता प्राप्त होती है और कवि का अन्तः-सौन्दर्य वाणी का परिधान पहनकर अपूर्व रमणीय बन जाता है।"[1]

मिटलटन मरे के अनुसार काव्य-रूप का निर्माण लय की संगीतमयी अभिव्यक्ति से होता है। शोपेन हावेर विचारों की अभिव्यक्ति के लिए विशदतम, सुन्दरतम तथा समर्थतम शब्दों का प्रयोग आवश्यक मानते हैं।

दण्डी की 'अर्थ व्यक्ति'[2], वामन का 'अर्थ वैभव्य'[3] तथा क्षेमेन्द्र का औचित्य[4] भावाभिव्यक्ति के लिए अनुकूल शब्द-योजना पर बल देता है। जाति, गुण,

---

१. 'नया साहित्य नये प्रश्न' पृ० ६ : आचार्य नंददुलारे वाजपेयी प्र० सं०

२. काव्यादर्श १।७३

३. वामन काव्यालंकार सूत्र ३।२।३

४. औचित्य विचार चर्चा, श्लोक ६

क्रिया, और यदृच्छा पदार्थों की उपाधियाँ हैं, इन्हीं में शब्दों की शक्ति का ज्ञान होता है। शब्द की तीन शक्तियाँ हैं : अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना। इनसे ही अर्थ का ज्ञान होता है।

हिन्दी गद्य-काव्यों की भाषागत अर्थवत्ता का चित्र उपस्थित करने के पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि उसके शब्द-भण्डार पर विचार किया जाय। गद्य-काव्यों में व्यवहृत शब्दावलियाँ खड़ी बोली, संस्कृत, उर्दू, बंगला, ठेठ, मराठी तथा अंग्रेजी आदि की हैं। कहीं-कहीं नव-निर्मित शब्द भी देखने को मिलते हैं।

खड़ी बोली की शब्दावलियों का चित्र गद्य-साहित्य में इतना प्रचुर हो चला है कि उसका लेखा-जोखा यहाँ सम्भव नहीं है, अतः और भाषाओं की ही शब्दावलियाँ दी जा रही हैं।

हिन्दी का अधिकांश वाङ्मय संस्कृत की देन है। पर अब बहुत-से संस्कृत के शब्द हिन्दी के अपने हो गये हैं, फिर भी संस्कृत के प्रयुक्त बहुत-से शब्द हिन्दी में अपनी सत्ता स्थिर नहीं कर पाये हैं। हिन्दी गद्य-काव्यों में इनके रूप अगणित हैं। उदाहरण के लिए कुछ नीचे दिए जा रहे हैं।

'पार्वण' [१] 'कल्लोल' [१] 'मण्डित' [१] 'तमो-भुजंगम' [१] 'प्रान्तर' [२] 'हंसतनया' [२] 'पोरी' [३] 'सम्मार्जिनी' [३] 'अशिशिर किरण' [३] 'दीधितियों' [३] इत्यादि। उर्दू शब्दों का प्रयोग भी बहुलता से हुआ है यथा: 'दिलकश' [४] 'फ़स्ले बहार' [४] 'मैख़ाना' [४] 'फलक' [४] 'मुफ़लिस' [४] 'मुवाफ़' [४] 'साक़ी' [४] 'मुर्शिदाँ' [४] 'दम्यान' [४] 'ग़ायब' [४] 'कुर्बान' [४] 'इस्मानी' [४] 'नुक्स' [४] 'नज़र' [४] 'खूबियाँ' [४] 'बेमुरव्वत' [४] 'गुजार' [४] 'असीरी' [४] 'आज़ादी' [४] 'ग़ैर' [४] 'शफक' [४] 'क़तरा' [४] 'मायूस' [४] 'गुलशन' [४] 'फरियादी' [४] 'राज़' [४] 'लज्ज़त' [४] 'हरगिज़' [४] 'तनहाई' [४] 'गुलरंग' [४] 'अंजाम' [४] 'हसरत' [४] 'सय्याद' [४] 'अंदलीब' [४] 'कफ़स' [४] 'फ़स्ले गुल' [४] 'खिजाँ' [४] 'अज़ल' [४] 'शैदा' [४] 'शमा' [४] 'खुदी' [४] 'पैमाना' [५] 'वस्ल' [५] 'अनलहक' [६] 'सबूत' [६] 'लबरेज़' [६] 'दरिया' [६] 'रंजिश' [६] 'आतश' [६] 'कशिश' [६] 'आस्तीन' [६] 'जुल्फ' [६] 'काबा' [६] 'जियारत' [६] 'हर्म्य' [६] 'सितम' [६] 'दौर' [६] 'सिजदा' [६] 'इबादत' [६] 'रुखसार' [६] 'नरगिस' [६] 'निमानी' [६] 'अदालत' [७] 'बस्ती' [७] 'आखिर' [७] 'मजाल' [८] 'जुकाम' [८]

---

१. साधना
२. दुपहरिया के फूल
३. अमित पथिक
४. शबनम
५. दुपहरिया के फूल
६. दुपहरिया के फूल
७. विश्वधर्म
८. अन्तस्तल

'चटखाता' [१] 'हिमातियों [१] 'जीना' [१] जिगर' [१] 'नूर' [१] 'अक़्ल' [१] आदि। बंगला साहित्य के शब्द तथा कोमल-कांत-पदावली दोनों का प्रयोग हिन्दी गद्य-काव्य में हुआ है। यथा :—

अनलशिखा [२], सांध्य मेघ पीत-वर्ण [२], अभिधान [२], जागतिक [२], प्रात्यहिक, [२] 'निरीश्वरपूर्ण' [३], 'युगपद' [४], 'उच्छ्वास' [५], 'कलकल शब्दकारिणी' [५] 'अभ्र तरंग मालिनी' [५], 'प्रधावित' [५] इत्यादि।

हिन्दी गद्य-काव्यों में यत्र-तत्र ठेठ शब्दों का भी प्रयोग दिखलाई पड़ता है। इन शब्दों के प्रयोग से भाषा की जीवन्तता बढ़ गई है। यथा :

'गैल' [६] 'सुधबुध' [६] 'बिछोह' [६] 'मैंयां' [६] 'मसुंदर' [६] 'लल्ला' [७] 'आगी' [८] 'कण्डा' [८] 'खचाखच' [८] 'भंसी' [८] 'कलमी' [८] 'दुलराना' [८] 'मुचड़' [८] 'भारी भरकम' [८] इत्यादि।

मराठी के शब्दों का बाहुल्य गद्य-काव्यों में नहीं है। हिन्दी गद्य के माध्यम से आये हुए मराठी शब्द ही गद्य-काव्यों में दिखाई पड़ते हैं। उदाहरण के लिए कुछ शब्द दिये जा रहे हैं। यथा :—

अप्रतिम, संगोपन, अमिष्ठ, प्रत्यवाय, प्रगति आदि।

अंग्रेज़ी के कुछ मुहावरों तथा शब्दों का रूपान्तर भी हिन्दी गद्य-काव्य में मिलता है। इन्हें भी गद्य के माध्यम से ही आया हुआ समझना चाहिये। यथा :

आँख का तारा, अरण्य रोदन, सर्वनवां, आयाम, कूपमंडूक, उत्थान-पतन आदि।

गद्य-काव्यकारों ने कुछ नूतन शब्द-निर्माण भी किया है। यथा—

'लतालियाँ', 'राम मोटरिया', 'पद्दू' 'अँखियाँओं' आदि।

अभिधेयार्थ में पर्यायवाची शब्दों का महत्व आज के युग में बढ़ गया है। 'यमुना' के विभिन्न पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग द्वारा 'दुपहरिया के फूल' में दिनेश-नंदिनी भावों में तीव्रता, दीप्ति, माधुर्य तथा प्रभविष्णुता लाने में पूर्ण सफल हुई हैं। यथा :

"हरित कगारों के बीच, यमुने ! धीरे धीरे बह .....
कलिन्दजे ! धीरे बह !
...   .

---

१. अन्तस्तल   २. उनमन
३. साहित्य देवता   ४. वियोग
५. उद्भ्रान्त प्रेम   ६. शारदीया
७. अन्तर्नाद   ८. गेहूँ और गुलाब

कलिन्दनंदिनी ! धीरे बह

... ...

हंसतनया धीरे-धीरे बह ।"

'यमुने' शब्द से आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित किया गया है । 'कलिन्दजे' के सम्बोधन से हृदयगत शोक की भावना व्यक्त हो रही है । कलिन्दनंदिनी से सुकुमारता का द्योतन हो रहा है ।

हंसतनया में हंस पद श्लेष है । यहाँ गति की ओर संकेत है ।

इसी प्रकार अग्नि के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग, कमल के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग, सरोवर के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग तथा और कितने ही शब्दों के पर्यायों का सुन्दर प्रयोग गद्य-काव्यों में हुआ है । लक्षणा तथा व्यंजना के द्वारा भाषा की शक्ति बढ़ जाती है । यथा :

(१)

पण्डिता बनितालता, ब्रह्मत्व का कैसा मणिकांचन संयोग है । कहते हैं—ये स्वावलम्बी नहीं होते ।[1]

(२)

ऊपर अंगार बरस रहे थे और नीचे अतुल अथाह वैतरणी का गतिहीन अनंत प्रवाह लहरा रहा था ।[2]

(३)

वासन्ती पट पहने वसन्त स्मित-भरा-सा आया ।[3]

(४)

शृंगार उन्मीलित प्रतीक्षा शशांक में शिथिल हो रही है ।[4]

(५)

तरवार रणस्थली में गुनगुनाती रही और हँसिया हरे-भरे खेतों में ।[5]

(६)

यौवन की संध्या अलसा गई ।[6]

---

१. 'साहित्य' देवता पृ० ६०
२. १२वाँ गीत—'उन्मन'
३. 'उन्मुक्ति' पृ० ३६
४. 'दुपहरिया के फूल' पृ० २
५. वही, पृ० १५
६. 'शारदीया' पृ० २४

इसी प्रकार 'मृणाल बाहु', 'पीत मूर्च्छना', 'अंगार हृदय', 'हिमानी हास', 'तूफानी आँचल', 'हिमवाणी' आदि विशेषण विपर्ययों से कलात्मकता तथा चित्रमय व्यंजना की अभिवृद्धि हुई है।

मानवीकरण अलंकार का बहुल प्रयोग गद्य-काव्यों में भरा पड़ा है। इनके द्वारा नाटकीय प्रभाव की वृद्धि की गई है। यथा :—

"मन तू कागज़ी फूलों के पीछे क्यों दीवाना बन रहा है, जबकि तुझे गुलशन की परी-रानी गुलाब गंधा को संदेशवाहक बनाकर तुझे अपने दरबार में बुला रही है।"[1]

और भी—

"ऋतुराज! तुम अपने गुलाबी बादलों के महल की खिड़की में बैठे हुए पृथ्वी की ओर प्रेम-भरी दृष्टि से निहार रहे हो किन्तु नीचे क्यों नहीं उतर आते? क्या अभी तुम्हारे आने का समय नहीं हुआ?

पृथ्वी की वाटिका के वृक्ष तुम्हारे विरह में सूखकर काँटा हो रहे हैं, पहाड़ियों का शृंगार उजड़ गया है, कोकिल गीत गाना भूल गए हैं और स्वयं पृथ्वी अनाथा वियोगिनी की भाँति बाल बिखराए हुए धूल में लोट रही है।

आओ ऋतुराज! अपने कोमल चरणों के स्पर्श से पृथ्वी के उद्यान को हरा-भरा कर दो! अपनी प्रियतमा को फूलों की रंग-बिरंगी साड़ी पहनाकर और अपने हाथों से उसकी अस्त-व्यस्त केशराशि सँवारकर उसमें ओस-विन्दुओं के उज्ज्वल मोती गूँथ दो।"[2]

इसी प्रकार 'मधुमयी', 'चाँदनी', 'वसंत', 'संसार' आदि शीर्षकों में 'काक'जी ने मानवीकरण का मनोज्ञ स्वरूप व्यक्त किया है। 'सांत्वना', 'गिरि' आदि नरेन्द्र के शीर्षक भी अच्छे हैं।[3]

ध्वन्यार्थ व्यंजना के द्वारा भी गद्य-काव्यकारों ने कार्य-व्यापारों का चित्र उतारा है। 'गेहूँ और गुलाब' के 'जहाज जा रहा है' शीर्षक में रामवृक्ष बेनीपुरी जहाज की गमन-क्रिया का चित्र उपस्थित कर रहे हैं।

"खड़ खड़ खड़ खड़, घम घम, घम घम—गंगा में जहाज चला जा रहा है।[4]"

'भावना को मूर्त्त रूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा

---

१. 'दुपहरिया के फूल'—द्वि० खं०—पृ० २५
२. 'मदिरा' पृ० ५० —तेजनारायण 'काक'
३. 'जीवन रेखायें' पृ० ३० तथा पृ० ४४
४. पृ० १५—'गेहूँ और गुलाब'

में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप से व्यापारसूचक शब्द अधिक रहते हैं।'[१]

किसी सुनिश्चित तथ्य की व्यंजना पारिभाषिक तथा अधिक व्याप्तिवाले जाति संकेतवाले शब्दों के द्वारा उतनी मार्मिकता से नहीं की जा सकती जितना कुछ विशेप मार्मिक रूपों और व्यापारों के चित्रण द्वारा। वियोग में प्रेमियों का आकुल होना यह एक तथ्य है। यदि यह जहा जाय कि एक नायिका अपने प्रेमी के वियोग में तड़प रही है, मर रही है, सिर धुन रही है, पागल हो गई है आदि, तो यह चित्र उतना मार्मिक नहीं होगा जितना यह चित्र :

"दिल का लबरेज दरिया आँखों में उतर आया है, जिन्दगी के ज्वार में उम्मीदों की रंगीन दुनिया डूब गई है, मौत की मनुहार में भविष्य का धुँधला-सा इशारा है, काल किस्मत का फैसला करने को तत्पर है, यौवन बुझ रहा है, दुपहरिया के फूल झर रहे हैं, स्मृति मौन है, कल्पना उमड़ रही है, और चिर विछोह की रंजिश से दिल आँखों में उतर आया है।"[२]

इसी प्रकार 'उल्लास के बसंत'[३], 'मौज के मरुद्यान'[३], 'वाणी के वृक्ष'[३], 'तपस्विनी व्याधियाँ'[३], 'उच्छ्वासों की आँधी'[३], 'माधुर्य का परिमल'[३], 'रजनी का कोष'[३] आदि रूपविधान के विशेष प्रकार हैं।

गद्य-काव्यों में नादसौष्ठव, लय, अनुप्रास तथा संगीतात्मकता के द्वारा निखरता ही गया है। दिनेशनंदिनी के गद्य-काव्यों में राय कृष्णदास से अधिक नादसौन्दर्य है और शकुन्तलाकुमारी 'रेणु' के गद्य-काव्यों में दिनेशनंदिनी से अधिक। अनुप्रास के प्रयोग से गद्य-काव्यों में नाद-सौन्दर्य की पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। यथा :

"यामिनी के भवन में, पंखों के पवन में, होताओं के हवन में, श्रोताओं के श्रवण में, वक्ताओं के वचन में, बालकों के रुदन में और नीति-निपुण नेताओं के कथन में भी तेरा निवास है। शत्रुओं की फिटकार में, सहायकों की टिटकार में और द्रोहियों की सिटकार में भी तू अठखेलियाँ करता है।"[४]

और भी—

"धाराधाम में धर्म के धनी तेरे धौंसे की धुक्कार सुन चिक्कार मारकर पछड़ जाते हैं।"[५]

---

१. 'चिन्तामणि' प्रथम भाग पृ० २३९-४० : पं० रामचन्द्र शुक्ल

२. 'दुपहरिया के फूल' पृ० २६   ३. 'उन्मन'

४. पृ० ६१—'तरंगिणी' जगदीश झा 'विमल'

५. पृ० ८६—'तरंगिणी' जगदीश झा 'विमल'

गद्य-काव्यों में भाववाचक संज्ञाओं और विशेषणों के बहुल प्रयोग से भाषा की व्यंजना में, माधुर्य, चित्रात्मकता तथा संगीत का अद्‌भुत सन्निवेश किया गया है। कहीं-कहीं रूप, गुण तथा कार्यबोधक शब्दों के व्यवहार से भावों की चित्रोपमता को प्राणवान बनाया गया है।

विशेषणों के प्रयोग से चमत्कारिक कथन—

"हे अमृत बरसानेवाले पूर्णचन्द्र, हे संसार को शीतल करनेवाले पूर्णचन्द्र हे रत्नाकर को आनन्दोन्मत्त करनेवाले पूर्णचन्द्र, हे दिनभर के व्यथित कमलों को विश्राम देनेवाले पूर्णचन्द्र, हे धरणी के कुमुद नेत्रों से देखे जानेवाले पूर्णचन्द्र, हे उपल को द्रवित करनेवाले पूर्णचन्द्र, हे मल्लिका को हो हँसानेवाले पूर्णचन्द्र, हे नलिनी से मकरन्दार्घ्य पानेवाले पूर्णचन्द्र हे प्राची के शिरोरत्न पूर्णचन्द्र, हे श्यामघन पटल में सुनहली किनार लगानेवाले पूर्णचन्द्र, हे अंगार चुगने पर भी चकोर को जीवित रखनेवाले पूर्णचन्द्र, तुम अमृत-वर्षा से मेरे मानस को भर दो और अपनी छाया द्वारा निरन्तर उसमें खेला करो।"[१]

रूप, गुण तथा कार्यबोधक शब्दों का प्रयोग—

"घनश्याम मेरी गगरी भर दो.........

नंदलाल मेघों की घन गम्भीर गर्जना सुनकर मेरा हृदय काँप रहा है। यदि मूसलाधार वर्षा होने लगी, तो मैं अपने को विद्युत की कौंध से कहाँ छिपाऊँगी।"[२]

अलंकार—वस्तु या व्यापार की भावना में दीप्ति लाने के लिए कभी किसी वस्तु का आकार तथा गुण बढ़ा हुआ दिखाया जाता है, कभी समान रूप और धर्म वाली अन्य वस्तुओं को सामने रखकर तुलनात्मक विवेचन द्वारा रूप या गुणों में उत्कर्ष या अपकर्ष स्थापित किया जाता है, कभी किसी बात को सरल ढंग से न कहकर घुमा-फिराकर कहा जाता है। भाषा के इन विविध विधानों को अलंकार कहते हैं। भामह, उद्‌भट, दण्डी, रुद्रट तथा प्रति हारेन्दुराज ने अलंकार को ही काव्य का पोषक अंग माना है। भरत के नाट्यशास्त्र में अनुप्रास, उपमा, रूपक तथा दीपक केवल चार अलंकारों का निर्देश हुआ है। कुवलयानन्द तक पहुँचते-पहुँचते यह १२५ तक हो गया है।

हिन्दी गद्य-काव्यों में प्रयुक्त अलंकार कुछ तो अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में हैं और कुछ वाक्य-वक्रता तथा वर्णविन्यास के रूप में है।

---

१. 'साधना' पृ० १०३

२. 'शारदीया' पृ० ७५

अप्रस्तुत वस्तु-योजना के रूप में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा का प्रयोग हुआ है। इनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :

उपमा—रक्तकमल और नवलचन्द्र के द्युतिवाले नख[1], कृष्ण कमल से काले[1], कलिन्दजा-सी नीली[1], नवकोपलों से कोमल अधर[1], कुन्दन-सी लुनाई[2], रुद्र-सा रौद्र[2], कमल की-सी कोमलता[2] आदि।

रूपक—'करकामपल्लव'[3], 'वदनवारिजात'[3], 'पदअशोक'[3], 'नखचन्द्र'[3] आदि।

उत्प्रेक्षा—'उसका शरीर कृश हो गया था मानो कोई सूखी पयस्विनी के तीर शुष्क वृक्ष था'[4] 'उसके नेत्रों से अश्रु इस तरह प्रवाहित हो रहा था जैसे निर्झर से जल'[4] आदि।

वाक्य-वक्रता के उदाहरण—

(१) "वह तो चिनगारियों का स्तूप था। चन्द्र चूरचूर होकर ढेर बन गया था। वह एक आतंकपूर्ण छाया थी, बस सपना था।"[5]

(२) "प्रकाशों की माला थी, सिरधरों का मेला था। त्यागियों का जमघट और विवेचकों की फौजें थीं।"[6]

(३) "मेरी पीड़ा वह रंगीनी है जिसमें जीवन के ज्योति पद्म ऊषा का रंग पाते हैं।"[7]

वर्ण-विन्यास के रूप में गद्य-काव्य के उदाहरण—

(१) 'लतर मण्डपों पर लोनी-सलोनी लतायें डोलने लगीं।'[8]

(२) माधवी मल्लिका मकरंद लोलुप मलिन्द।[9]

(३) सुजन मनमोहिनी रसिक रससोहिनी।[10]

(४) पंचप्राण प्रपन्नतापूर्ण प्रसन्नता में परिणत होगये।[11]

---

१. 'उन्मन'

२. 'साधना'

३. शैशवरागिनी

४. ,,

५. 'सपनों का झरना था'—धुंधले चित्र पृ० १०२

६. 'धुंधले चित्र' पृ० ७४

७. 'वेदना' पृ० ८७

८. 'तरंगिणी' जगदीश झा—पृ० ४०

९. 'तरंगिणी'—पृ० ५४—वियोगी हरि

१०. वही, पृ० ५४

११. प्रस्तावना से—पृ० १ वही

निष्कर्ष

काव्य-कला वाणी का विलास है। वाणी का स्फुट रूप शब्द है। शब्द की शक्ति ब्रह्म की शक्ति के समान विराट तथा अनंत है। सांत शक्तिवाला मानव इस शक्ति का आकलन नहीं कर सकता। शब्द की विराटता के कारण काव्य के अनेक रूप बनते-बिगड़ते हैं। अतः विविध रूपधारी काव्यकला के स्वरूप का विवेचन एक रूपधारी प्राणी के लिए संभव नहीं है। पर जिस प्रकार ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करने पर सभी ज्ञानों का तिरोभाव उसमें हो जाता है उसी प्रकार भाव तथा भाषा का यथावत् ज्ञान कला के स्वरूप को स्पष्ट करने में समर्थ होता है। भावों की अनंत शक्ति का ज्ञान वही व्यक्ति कर सकता है जिसने विश्व-सत्ता के साथ एकत्व बोध कर रक्खा है, भाषा का ज्ञान विज्ञ जनों की सेवा से प्राप्त होता है, चरण पीठ का सेवन करने से होता है।

हिन्दी गद्य-काव्य की कला, संस्कृत साहित्य के गद्य-काव्य से पर्याप्त भिन्न है। संस्कृत साहित्य के गद्य-काव्य आख्यायिका तथा कथा-प्रधान होते थे। ये कथायें विषय-भेद से, आख्यान निदर्शन, प्रवन्हिका, मणिकथा, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा और वृहतकथा कहलाती है।[1]

संस्कृत के गद्य-काव्य समास-बहुल, श्लेष-प्रधान, वर्णन की वस्तुवादी प्ररोचना से युक्त तथा क्लिष्ट पदावलियों से युक्त होते थे। हिन्दी गद्य-काव्य ने इनसे भिन्न अपनी निजी शैली अपनाई। विषय-भेद एवं व्यक्तिगत रुचि के कारण गद्य-काव्य की कला विविध रूपमयी हो गयी है। इसका कला-विषयक कुछ ऐसा सिद्धान्त नहीं स्थिर किया जा सकता जो सबकी रुचियों तथा विषय-भेदों को समेटे। अतः भावपक्ष तथा कलापक्ष पर विचार करने पर भी व्यक्तिगत रुचियों एवं प्रयत्नों का लेखा-जोखा किए बिना गद्य-काव्यकारों के वैशिष्ट का ज्ञान अधूरा ही रहेगा। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर अगला अध्याय विशिष्ट गद्य-काव्यकारों के लिए रक्खा गया है।

---

१. हेमचन्द्र काव्यानुशासन, पृ० २०३—रामचन्द्र शास्त्री टिप्पणी सहित

सातवाँ अध्याय

विशिष्ट कलाकार

साहित्य के किसी भी नूतन क्षेत्र में जब कभी कोई कलाकार अग्रणी होता है तो वह अपने पीछे अनुगामियों का ताँता लगाए चलता है। हिन्दी गद्य-काव्य के प्रारंभिक काल में राय कृष्णदास, वियोगी हरि तथा चतुरसेन शास्त्री जो भी शिल्पविधान, भावभंगी तथा कल्पनाएँ लेकर आये वही इसकी सर्वप्रथम पूँजी बनी। इस राशि में अवश्य वृद्धि होती गई है। कहीं-कहीं विपुल कोष की भेंट भी चढ़ाई गई है और कहीं-कहीं पूँजी को ही खर्चा गया है।

हिन्दी गद्य-काव्य में उपलब्ध विभिन्न भावधाराओं का उल्लेख भाव-पक्ष में किया जा चुका है। इसलिए इस अध्याय में प्रमुख धाराओं के विशिष्ट कलाकारों की चर्चा ही समीचीन होगी। अतः छायावादी, भावुकतावादी, रहस्यवादी, प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी भावधाराओं तक ही विषय को सीमित किया जायगा। प्रत्येक संस्थान के जिन विशिष्ट कलाकारों की चर्चा इस अध्याय में होगी उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

(१) **छायावादी**—राय कृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री, मोहनलाल महतो 'वियोगी', महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह, तेजनारायण 'काक', दिनेशनन्दिनी चोरड्या, भँवरमल सिंघी, माखनलाल चतुर्वेदी तथा शकुन्तलाकुमारी 'रेणु'।

(२) **भावुकतावादी**—वियोगी हरि।

(३) **रहस्यवादी**—देव शर्मा, शांतिप्रसाद वर्मा, रामप्रसाद विद्यार्थी, बालकृष्ण बलदुआ तथा रंगनाथ दिवाकर।

(४) **प्रगतिवादी**—नरोत्तमलाल गुप्त, 'नरेन्द्र' तथा रामवृक्ष बेनीपुरी।

(५) **प्रयोगवादी**—सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'।

राय कृष्णदास

मानव अपने परिवेश के सतप्रभावों का स्वीकरण यदि नहीं करता तो उसे निर्जीव मानना होगा। महान कलाकार परिवेश के प्रभावों का ग्रहण अपने ढंग से करता है, यही कारण है कि किसी भी कलाकृति की प्रेरक भावनाएँ कलाकृति के स्वरूप

में समाविष्ट होकर अपनी पूर्व सत्ता समाप्त कर देती हैं। मयूर के नृत्य की प्रेरणा मेघ देते हैं। पर इसे स्वीकार करने में कौन व्यक्ति आगा-पीछा कर सकता है कि मयूर के नृत्य में मौलिक सौन्दर्य, गति, आह्लाद, उन्माद, स्फूर्ति तथा प्राणवत्ता है। दूर के महासागरों से आनेवाली जल-भरी वायु जब वाराणसी में बरस उठती है तो गिरे हुए जल को वाराणसी के ही जल से पुकारा जाता है।

गीतांजलि के आंग्ल प्रकाशन, वाल्टव्हिटमैन की कृतियाँ, तथा खलील जिब्रान की रचनाओं को देखने से राय कृष्णदास अवश्य प्रभावित हुए हैं, पर इनका तात्पर्य यह नहीं हो सकता है कि उनकी अन्तरात्मा में विश्वस्रोत का आलन नहीं है। उन्होंने अपने अन्तर के महामौन को नये रूप में प्रकाशित किया है। वस्तुतः स्वकीय विशेषताओं से युक्त, व्यक्त साहित्य अपने रूप में मौलिक होता ही है। यह दूसरी बात है कि कहीं किसी की मौलिकता सुस्पष्ट है और कहीं किसी की धुंधली तथा अस्पष्ट। विश्व की सभी वस्तुएँ अपने व्यक्तितत्व के साथ कलाकार की रचना में जब इस रूप में आती हैं कि जिससे हमारा चित्त उन्हें पूर्णतया स्वीकार किये बिना नहीं रहता तो हम कह उठते हैं कि कलाकार का प्रयत्नकौशल श्लाघनीय है। इस प्रकार के व्यक्त साहित्य का मूल्यांकन सरल नहीं होता। पर ऐसे साहित्य का दर्शन सुलभ नहीं है। जगत् के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व का निलय करके ही कोई कलाकार जगत् के व्यक्ति पुरुष को पहचान पाता है। इस स्थिति में हृदय का इतना प्रसार हो जाता है कि समस्त चराचर की सत्ता की प्रतीति सरलता से हो जाती है। समस्त चराचर के सत्ता की यत्किंचित् प्रतीति का एक और भी उलझा साधन है। यह है बौद्धिक शक्तिमत्ता। इसके द्वारा भी हवा में उड़ते हुए सत्य का परिज्ञान किया जा सकता है। बौद्धिक शक्तिमत्ता के असीम भासमान पुंज योगी की मेधा में वर्तमान रहते हैं। अन्यत्र इनका प्रकाश खद्योत्वत् ही होता है। राय कृष्णदास की कृतियों में बौद्धिक शक्तिमत्ता का खद्योत्वत् प्रकाश आज के जीवन में व्याप्त निविड़ अन्धकार के समक्ष आह्लादकारी ही है। साहित्यकार की दृष्टि एक वैज्ञानिक की दृष्टि से इस माने में भिन्न होती है कि साहित्यकार बाहर की ओर कम, अन्तर की ओर अधिक देखता है, जबकि वैज्ञानिक बाहर के तथ्यों के विश्लेषण में ही लगा रहता है। अतः साहित्यकार कोरा बुद्धिवादी नहीं होता, बल्कि उसकी बौद्धिकता भावुकता के प्रकाश को तर्कसिद्धि का आधार देती है, चाहे यह आधार सबल हो या दुर्बल। वैज्ञानिक अपने आत्मप्रकाश में मितव्ययी होता है, कलाकार अमितव्ययी। भावुकता की चरम स्थिति में कलाकार अपनी संपदा का पूर्ण प्रकाश बिखेरता है, पर जहाँ उसकी भावुकता पर बौद्धिकता का आवरण चढ़ जाता है, वहाँ अहं की परिधि के बढ़ जाने से आत्म-प्रकाश की रश्मियां अबाध गति से निःसृत नहीं हो पातीं। यथाः

"हे मेरे दयालु स्वामी, तुम यह न समझना कि अपशकुन के लिए मैं तुम्हारे मार्ग

में रो रहा हूँ। वह धूल से भरा है और तुम आ रहे हो इसलिए मैं उसे सींच रहा हूँ। जिस भाव से पथिक उस मेघ को देखता है जो फुही बरसाकर धूल बैठा देता है, उसी भाव से तुम मेरी ओर देखते हुए चले जाओ, इसी आशा से मैं उसे सींच रहा हूँ।"[१]

जब राय साहेब यह कहते हैं कि 'वह धूल से भरा है और तुम आ रहे हो इसलिए मैं उसे सींच रहा हूँ, तो इसे देख कर पाठक भावों के प्रवाह में आत्मविभोर हो जाता है। उनकी यह उक्ति हृदय के सहज अकृत्रिम अपार अनुराग का द्योतन किये बिना नहीं रहती। पर इसके आगे की पंक्तियों में व्यक्त किये गये भाव, पूर्व स्थापित भावोत्कर्ष को यदि धराशायी नहीं करते तो जर्जर अवश्य कर देते हैं। अहं चेतना के आग्रह ने ही वर्द्धित भाव-लहरी को रुद्ध किया है। यह क्रिया बौद्धिक शक्तिमत्ता का आश्रय लिए हुए है। आत्म-प्रकाश का प्रबल प्रवाह बौद्धिकता से टकराकर विच्छिन्न-सा हो गया है।

इसी सम्बन्ध में एक दूसरे प्रकार से विचार किया जायगा। जब कबीर यह कहते हैं :

तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझे में रही न हूँ।
वारी तेरे नाम पर, जित देखूँ तित तूँ॥

तो वे आत्म-प्रकाश में संकोच करते नहीं दिखाई पड़ते। 'मीरा' के पदों से भी यही बात स्पष्ट होती है। वस्तुतः अनुभव-परक भावाभिव्यक्तियाँ एक अपरिमित अनिर्वचनीयता में परिणत हो जाती हैं, पर जहाँ अनुभूति के अभाव में बौद्धिक विश्लेषण का ही सहारा होता है वहाँ भावों की रसात्मकता का पूर्ण उद्रेक नहीं होता। यथा:

"मैं तो अपना सरवस तुम्हें दिखा चुका फिर तुम अपने को मुझसे क्यों छिपाते हो? क्या तुम्हें इसी में सुख मिलता है कि मैं तुम्हारे लिए उद्योग करूँ और तुम बैठे-बैठे देखो?"[२]

'सर्व भाव भजि कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ' तुलसी की यह उक्ति सिद्ध करती है कि निर्मल मनवाला व्यक्ति परम पुरुष को परम प्रिय होता है, वह प्रभु के दिव्य लीलाधाम में प्रवेश पाता है, पर राय साहेब सर्वस्व दिखला चुकने पर भी, गोपनीय सत्य का दर्शन नहीं कर पाते। अतः इस स्थल पर यही कहना उपयुक्त होगा कि परम-पुरुष को सर्वस्व नहीं दिखाया गया है, यह दिखलाना केवल बौद्धिक ही हुआ है, हृदयगत नहीं। 'शीश उतारे भुंइ धरे, तो पैठे घर माँहि' यह उक्ति अक्षरशः सत्य है।

---

१. 'साधना' पृ० १८ च० सं० : राय कृष्णदास
२. 'साधना' पृ० ४५, च० सं०

वस्तुतः छायावादी रहस्यपरक उक्तियाँ बौद्धिक ही होती हैं। उपनिषदीय ज्ञान से इनका सम्बन्ध जोड़ना अनुभूतिपरक सत्य का अपलाप ही करना है। छायावाद में आत्मतत्व की छाया अनुभूतिपरक नहीं दिखाई पड़ती है।

छाया के लिए, प्रकाश एवं वस्तु की आवश्यकता होती है। छाया की अनुभूति के लिए अहं का स्पष्ट बोध आवश्यक होता है। अहं का स्पष्ट बोध साधक को ही होता है, और तभी आत्मतत्व की छायानुभूति, साधक कर पाता है। इस तथ्य को सामने रखकर विचार करने से छायावादी कवियों का दर्शनपक्ष अल्पप्राण हो जाता है, अतः छायावादी कवियों की आत्मतत्व-विषयक उक्तियाँ काव्य के बहिरंग पक्ष से ही मंडित हो पाई हैं। पर राय साहेब अन्य छायावादी कवियों से इस माने में कुछ भिन्न हैं। वे आत्मवादी विचारों का कुछ भावपूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्रण उपस्थित करते हैं। यथा :

"मैं कुटी बन्द करके आसन पर सगर्व बैठा था। उस कुटी को मैं विश्व समझता था और अपने को उसका महाराज। अपने मद में मैं चूर था। न जाने कैसे तुम भीतर आ गये। मन्त्र-मुग्ध की भाँति आसन का एक कोना मैंने तुम्हारे लिए छोड़ दिया। तुम बैठ गये। मैं धीरे-धीरे खसकने लगा। उस पर तुम्हारा अधिकार बढ़ने लगा। मैं भूमि पर आ गया। तुम आसन पर पूर्णतः आसीन हो गये।

मैं निर्निमेष नयनों से अवाक् होकर तुम्हारी सुन्दरता निरखने लगा। मुझे उसमें प्रति क्षण नवीनता मिलने लगी। इधर मेरे हाथ तुम्हारे पाँव पलोटने लगे।

अकस्मात् प्रचण्ड पवन चलता है। कुटी हिलने लगती है। घनघोर घटा घिरकर बरसने लगती है। विद्युत्पात होने लगता है। प्रलय-काल उपस्थित होता है। पर मैं अशान्त, विचलित या भीत नहीं होता हूँ।

क्योंकि तुम तो मेरे पास हो।"[1]

अहंकार के पूर्ण चित्र में आत्मप्रकाश द्वारा परिवर्तन की क्रिया का चित्र यद्यपि यथावत् उतारा गया है, फिर भी भावविभोरता का प्रबल-प्रवाह पूर्ण उत्कर्ष पर नहीं है।

संक्षेप में राय साहेब की कृतियों में दार्शनिकता, रहस्यमयता, भक्तिप्रवणता, गहनता, गम्भीरता आदि पर हमें तलीय स्तर से विचार न करके ऊपरी स्तर से विचार करना होगा और ऊपरी स्तर से विचार करने पर शैलीगत विशेषता का ही परिचय पर्याप्त होता है।

राय साहेब की प्रारम्भिक रचनाओं में द्विवेदीजी की भाषा-शैली का अनुकरण

---

१. 'साधना' पृ० ६६ च० सं०

परिलक्षित होता है, पर धीरे-धीरे उन्होंने अपनी स्वतन्त्र शैली निकाली। 'छायापथ' तक पहुँचते-पहुँचते राय साहेब में छायावाद का वाक्-विलास, वचन-भंगिमा, चमत्कार आदि आ गया है, पर छायावाद की अतृप्ति, मादकता तथा वायवी प्रकाशन अधिक नहीं आ पाया है।

आपने, परोक्ष के प्रति मानव अनुभूति को व्यक्त करने के लिए एक कलापूर्ण भावात्मक प्रणाली का यथोचित विकास किया है। आपके शब्द-चयन सरल, विशुद्ध तथा उपयुक्त हैं। उनमें न वियोगी हरि की क्लिष्ट तत्समता है और न चतुरसेन शास्त्री की व्यवहारिक प्राणवत्ता। परिचित ठेठ तथा साधारण उर्दू के शब्दों को यथा-स्थान उपन्यस्त करके, मुहावरों के मिश्रण से राय साहेब ने जहाँ भाषा के भण्डार को बढ़ाया है, वहीं भाव-प्रकाशन के लिए उपयुक्त शब्दों की खोज भी की है। आवश्यकता पड़ने पर उर्दू के मुहावरों को हिन्दी के रंग में रंग भी दिया है। अपने जगमगाते भावों को कल्पना की डोंगियों पर बिठाकर उसे धारा में छोड़ दिया है। वे संस्कृत शब्दों की दुरूहता से बचती, समुचित विरामों पर विश्राम लेती हुई बड़ी स्वाभाविकता से आगे बढ़ी है। बहुधा छोटे-छोटे वाक्यों का सौन्दर्य-विन्यास अद्भुत है। आपकी ऐसे स्थलों की शैली में एक आकर्षण, सरसता तथा मार्मिकता आ गई है। जहाँ आपने उर्दू के शब्द 'अज़ब', 'कमख़ाब', 'हमसाया', 'मुख़ालिफ़त', 'नफ़ासत' आदि का प्रयोग किया है वहीं अंग्रेजी के शब्द 'बेयरा', 'स्कीम', 'प्लाट', 'फाइल' का भी।

भाषा में स्फूर्ति तथा गति के विचार से तद्भव तथा प्रान्तीय शब्दों के रमणीय प्रयोग—जैसे, 'साहुत', 'काँदने', 'कुघरता', 'मँगते', कुंडी', 'राममोटरिया', 'अवसत' भी इनके गद्य-काव्य में पाये जाते हैं।

स्थलगत गांभीर्य को स्पष्ट करने के लिए मुहावरों का भी मनोरम प्रयोग राय साहेब ने किया है। 'सावन भादों की झड़ी लगना', 'मुँह माँगा मोल देना', 'छक-जाना', 'हृदय से मरोर उठना', 'पाताल फोड़कर निकलना' आदि।

उर्दू के शब्दों का प्रयोग यद्यपि राय साहेब की रचनाओं में बिखरा है फिर भी कहीं-कहीं उर्दू शब्दावलियों एवं पदों को हिन्दी रूपान्तरित करके ही लिया है। यथा—'दिल का छोटा होना' के स्थान पर 'हृदय से लघुतर' है।

आपके गद्य-काव्य में अलंकृत, भावात्मक, रूपक तथा आध्यांतरित शैली का प्रचुर प्रकाश हुआ है। इसके अतिरिक्त संलाप शैली पर आपने एक संलाप नामक कृति ही लिख डाली है।

बहुधा राय साहेब ने शब्दों को तोड़-मरोड़कर दुहरा दिया है, जिससे केवल ध्वनि-आकर्षण ही नहीं हुआ है वरन् भावव्यंजना में पर्याप्त सहायता मिली है; जैसे, जनेऊ-सनेऊ, सटक-पटक, उलटा-सुलटा, उड़-पुड़, बचे-खुचे आदि।

शब्दों के चमत्कारिक प्रयोग के साथ वाक्य-विन्यास में भी आपने उलट-फेर किया। जैसे 'चित्रकार भी नवीन था, किन्तु था प्रकृति कलावन्त'। 'उन दिनों एक धूमकेतु निकला था, बड़ा भारी ठीक प्रकाश के झाड़ू की तरह'। 'सम्राट ने एक महल बनवाने की आज्ञा दी—अपने वैभव के अनुपम अपूर्व सुख और सुषमा-सी'। 'उनका मूलमन्त्र था—तलवार का जोर, भयंकर रक्तपात, प्रलयंकर उत्पात निर्दयता की पराकाष्ठा'। 'हिमालय पवन आता था, उसके बालों से, वस्त्रों से खेलता था, उसकी त्वचा पर लाली दौड़ाता'।

ऊहात्मक वर्णनों में भी पर्याप्त स्वाभाविकता दिखाई पड़ती है। जैसे 'संध्या का शीतल समीर उसके मस्तिष्क से टकराकर भस्म हुआ जाता था'। 'क्षितिज में सांध्य लालिमा नहीं भयंकर आग लगी हुई है, प्रलयकाल में देर नहीं'।

विषय के चित्रांकन की आपकी शक्ति अनुपम है। बहुधा दो-चार बाह्य रेखाओं द्वारा बड़ी शीघ्रता से आप पूरा ढाँचा उठाकर खड़ा कर देते हैं। ऐसे समय पर आपके वाक्य छोटे-छोटे होते हैं। यथा: 'वृक्षों की डालें नंगी थीं। नदी एक रस बह रही थी। उस पार पके हुए खेत खड़े थे। बिना दीप का कच्चा घर था'। 'एक टूटी खाट थी और दो व्यक्ति और थे। एक मृत-दूसरा शोक से मृत-तुल्य'। 'उसमें निखरी गुराई थी। सुढार, प्रसन्न मुखमण्डल। रतनार, रसीली आँखें, घुंघराले बाल, मस्तानी चाल-ढाल, भावपूर्ण बोलचाल'। इत्यादि।

कहीं-कहीं आपने एक ही भावव्यंजना में अनेक पर्यायवाची शब्द तथा एकार्थी पद का प्रयोग किया है और कहीं किसी अवस्था की ठीक-ठीक व्याख्या करने के लिए विभिन्न समानार्थी अथवा किंचित् भिन्नार्थी शब्दों की भरमार कर दी है। यथा: 'वह सहज हँसी और वह कुतुहलपूर्ण हँसी, वह अकृत्रिम हँसी, वह निर्मल हँसी, वह खिलवाड़ी हँसी और वह कुतुहलपूर्ण दृष्टि चित्रकार का हृदय बेध गई।' 'जिसके कारण वह अनमना रहता, उदास रहता, खिन्न रहता, उद्विग्न रहता, व्यथित रहता, बातुल रहता, निराश रहता—वही आज पूरा हो गया'। 'कुमारी ने हठ किया, आग्रह किया, आज्ञा दी, आदेश किया, विनय किया, अनुनय किया, कोप किया, धमकी दी, क्षमी कन्या का मुख आरक्त हो उठा था पर चित्रकार पिपासित दृष्टि से उसे देखता-भर रहा'।

आपके कहने का ढंग अलंकारिक होता है। यथा—'रंगीली उषा अपने अभिसार की नीली ओढ़नी धीरे-धीरे खिसकाकर किसी का आगमन देख रही है'। 'दिन का आगमन जानकर तमोमय भुजंगम उदयाचल की सुनहरी कंदराओं में जा छिपा, जल्दी में उसका मणि छूट गया।'

'प्रकाश के वियोग में पुष्करणियाँ अपने मुख पर कालिख पोत लेती हैं'।

'संध्या पर—प्रकृति ने आकाश पर जो कुंकुम चलाया था, वह उसके भाल पर गुलाल फैलाकर न जाने कहाँ अदृश्य हो गया और अब वह प्रकृति उस पर चारों ओर से बुक्का छींट रही है'।

आपकी उपमायें तथा उत्प्रेक्षाएँ सजीव तथा प्रभविष्णु होती हैं। यथा :

"रमणी माया की तरह रहस्यमय, कुहुक की तरह च .त्कारपूर्ण, कला की तरह मञ्जुल, प्रकृति की तरह अकृत्रिम थी। किन्तु आतप की सरसी की तरह वह सूख गई थी। उसका मुख प्रभात-चन्द्रिका की तरह पांडु पड़ रहा था। उसकी आँखें मरुस्थल की तरह सूखी एवं उजाड़, गाँव की तरह सूनी थीं।"

आपके प्रकृति-वर्णनों में, छायावादी काव्य का विलास, स्पन्दन, झंकार, भंगिमा तथा उल्लास भरा हुआ है। यथा :

"सारा कानन चित्र-विचित्र कुसुम और पल्लवों से जल उठा है। हुलसी भ्रमरावली फूलडोल पर पेंगें ले रही है। सुमन उसके कपोलों पर पराग का गुलाल पोत रहे हैं, मधु पिला रहे हैं। वे छककर मौज के गीत गा रहे हैं। भावुक पवन, चपल लतिकाओं से छेड़-छाड़ कर रहा है, उन्हें गुदगुदा रहा है, वे खिल कर, हँसकर फूलों की झड़ी लगा रही हैं।"

"बसन्त पवन धीरे-धीरे चल रहा था। अटकता हुआ चल रहा था। पुष्पों की भीड़ में उसे मार्ग ही न मिला था। वह एक भूल भुलैया में पड़ा था।"

कहीं-कहीं राय साहेब प्राकृतिक चित्रणों में अपनी भावनाओं का सौंदर्य मिला कर ऐन्द्रिय चित्र तक भी उतर गये हैं। उपर्युक्त उद्धरण इसके प्रमाण हैं। परन्तु जहाँ प्रकृति की महत्ता का उनका विश्वास विशुद्ध ऐन्द्रिय-आनन्दमूलक न होकर, एकमात्र दिव्य सौन्दर्य की सीमा का ही स्पर्श करता देखा जाता है, वहाँ प्रकृति-वर्णन दूसरे प्रकार का होता है। यथा :

"प्रातःकाल मैं वाटिका में पहुँचा। चिड़ियों के चहचहे, भौरों की गुंजार और कलियों की चटकाली के सम्मिलन से वहां अपूर्व सगीत हो रहा था। सुरभित पवन उसी संगीत की गत पर अपनी चाल साध कर चल रहा था। बालातप भिन्न भिन्न रंगों के फूलों पर पड़कर नये-नये रंगों की रचना कर रहा था।"[1]

यहाँ प्रकृति के परम्परागत रूपों का वर्णन आनन्द-प्रवण हैं। इसके पूर्व के उद्धरण में राय साहेब प्रकृति से ही 'छेड़छाड़' करते दिखाई पड़ते हैं। चित्रमय एवं व्यंजनापूर्ण दृश्यों की अवतारणा के लिए प्रकृति-चित्रण की यह परिपाटी छायावादी साहित्य की विशेषता है।

---

१. 'साधना' पृ० ८४ च० सं०

नाटकीय अध्ययनों के भी रूप में प्रकृति-वर्णन राय साहेब की रचनाओं में मिलते हैं। यथा :—

"मां ! मैं बादल हूँ। आकाश में प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न रूप धरकर घूमता हूँ।
रंग-बिरंगे कपड़े पहिनता हूँ। बिजली की फुलझड़ी छोड़ता हूँ।
इन्द्रधनुष का मुकुट पहनता हूँ। सूर्य-किरण का किरीट लगाता हूँ।
पृथ्वी पर बूंदें बरसाता हूँ। उससे खेल-खिलाता हूँ। उसे शीतल करता हूँ।
उसे हँसाता हूँ। आकाश से वहाँ तक मोती की जाली लटकाता हूँ।"[१]

व्यवहारिक जीवन के पुनीत वात्सल्य-स्नेह के चित्र अवश्य राय साहेब ने कुशलता से व्यक्ति किये हैं। यथा :—

"बेटी, आज तुम चली जाओगी। क्या इसी दिन के लिए मैंने तुम्हें लाड़ से पाला-पोसा था ?
बेटी, मेरे कलेजे की टुकड़ी, मेरा हृदय आज मरोर रहा है, वह क्यों नहीं एक बार ही मसल उठता ?
बेटी, कौन मुझे, अब माँ-माँ करेगा ? कौन मेरे कामों में हाथ बँटायेगा ? कौन संध्या के धुंधलेपन में मेरे आगे दीपक ला धरेगा ?
बेटी, तुमने आज सूहा वस्त्र क्या मेरी ममता का दहन करने को पहना है ?
बेटी, आज तुम पराई हो जाओगी ?"[२]

माँ के हृदय की करुण चीत्कार का मार्मिक चित्र इससे अधिक प्रभविष्णु समूचे हिन्दी साहित्य में कुछ इने-गिने ही मिलते हैं। भावों को मूर्तिमान करने की उनकी यह शैली चित्ताकर्षक तथा हृदयद्रावक है। कवि सत्ता की प्रतीति भावुक को हुए बिना नहीं रहती।

माँ का बेटी के लिए विलाप करना भारतीय जीवन का एक स्पष्ट यथार्थ है। भारतीय जीवन की इसी विस्तृत चित्रपटी पर जीवन के यथार्थ आकांक्षाओं तथा संभावनाओं की सशक्त अभिव्यक्ति करके राय साहेब ने रचना में रसात्मकता का पूर्णतया संचार किया है। अनुभूति की प्रभावोत्पादकता इसलिये बढ़ी हुई है कि रचनाकार ने जीवन के मर्मस्पर्शी स्थल को पहचानकर सहज ही में व्यक्ति किया है। राय साहेब की यह बात 'निर्णीत, निश्चित तथा खुली' है।

रहस्यमय सत्ता की प्रतीति का बौद्धिक विश्लेषण 'साधना' के 'रहस्य' 'भूल' 'लज्जा' 'स्वप्न मात्र' 'व्यर्थ की खोज' 'सहारा' 'प्रेम की प्रबलता' 'आनन्दगीत' 'प्रेम-परिचय' 'आकांक्षा' 'कच्चे घर में अमृत' 'आत्म-रक्षा' 'क्रय-विक्रय' 'महता' 'तुम्हारी

---

१. 'प्रवाल' पृ० १६
२. 'प्रवाल' पृ० १८

माया' 'आनन्द की खोज' 'स्वयम्' 'तुम्हारा पीछा' 'अधूरी याचना' 'अनादि संगीत' 'तुम तो मेरे पास हो' 'मिलन बेला' 'त्वरा' 'अनन्त संगीत' 'सुध' 'प्रतिफल' 'अभीष्ट आदेश' 'स्वतः सिद्ध' 'प्रतिबिम्ब' 'अव्यर्थआवेदन' 'मृग-मरीचिका' 'तुम्हारे लिए' आदि शीर्षकों में तथा 'छायापथ' के 'कल्पवृक्ष' 'त्वदीय वस्तु' 'गुण गरिमा' 'छुटकारा नहीं' 'जीवन का उद्देश्य' 'जिज्ञासा' 'पीड़ा का सुख' 'दर्पण' 'अविच्छिन्न आनन्द' तथा 'वियोगिन' आदि शीर्षकों में अत्यन्त भावुकतापूर्ण हुआ है।

रहस्यमय सत्ता के अक्षर-प्रसार के भीतर व्यंजित भावों और मार्मिक तथ्यों के साक्षात्कार तथा प्रत्यक्षीकरण की ओर राय साहेब का झुकाव अवश्य दिखाई पड़ता है, पर इसका सम्बन्ध साधनात्मक रहस्यवाद से न होने के कारण आध्यात्मिक प्रौढ़ता का समावेश, उनके गद्य-काव्य में नहीं हो पाया है। फिर भी अर्वाचीन पद्धति पर अन्योक्तियों तथा प्रतीकों के माध्यम से रहस्य-निरूपण की चेष्टा परिपुष्टता-युक्त है। इनकी आध्यात्मिक चेतना पूर्णतः भारतीय है। पद-विन्यास की सरलता, प्रांजलता, वक्रता तथा विचित्रता सर्वत्र जातीय जीवन के संस्कारों से ओतप्रोत है।

जीवन के सत्यांश 'झरना' आदि शीर्षकों में जिस मार्मिकता से व्यक्त किये गये हैं, वे जीवन-सौंदर्य की गरिमा पूर्णतया सूचित करते हैं। 'प्रवाल' वात्सल्य रस-पूर्ण कृति है। 'संलाप' संलापशैली की सभी विशेषताओं से युक्त है। 'पगला' खलील जिब्रान के 'दी मैड मैन' का सफल अनुवाद है।

राय साहेब की कल्पनाएँ व्यवहारिक जीवन की सुदृढ़ शिक्षा को बेधकर भाव की निर्झरिणी में जाकर मिल जाती हैं। इनकी कलागत महत्ता इनके सजीव सौंदर्य तथा चमत्कारों में है।

संक्षेप में राय साहेब के गद्य काव्यों में छायावाद के बौद्धिक तथा भावात्मक दोनों रूप मिलते हैं। भाषा प्रांजल-प्रौढ़ तथा परिष्कृत है। अलंकार की ओर रुझान होते हुए भी सरलता तथा स्पष्टता की तरफ आग्रह है।

चतुरसेन शास्त्री

चतुरसेन शास्त्री के गद्य-काव्यों में आत्मनिष्ठा के चित्र पर्याप्त हैं। शास्त्रीजी की आत्मनिष्ठता में वैयक्तिकता की गहरी छाप रहती है। इस वैयक्तिकता का सम्बन्ध भावों के मूर्तिमन्त मनोवैज्ञानिक चित्र से होता है। 'अशान्ति' का चित्रण आप इस प्रकार कर रहे हैं :

"कर्जदार दिवालिये हो गये ? बिना अदालत गये चलेगा नहीं। किसकी फिक्र करूँ ? दो विधवा बहनें छाती पर थीं, अब भतीजी भी आ गई। आठ को साठ करते कितने दिन लगेंगे ? बापपने का सुख तो नहीं, दुःख मिला। घर में बरात चढ़ी चली आ रही है। लोग सैकड़ों रिश्ते निकाल लाते हैं। चचा, ताऊ, साला,

साले का साला, धेवती के नवासे का जमाई—सब हाज़िर हैं। जाने का नाम नहीं लेते। सब खा रहे हैं, बिगो रहे हैं। घर लुट रहा है। कुछ प्रबन्ध नहीं। कुछ इन्तजाम नहीं। क्या करूँ? रात करवटें लेते बीतती है और दिन चिन्ता करते। खाने बैठता हूँ तो भोजन मुझी को खाये जाता है। घर में सब कुछ है, पर मेरे लिए मिट्टी है। किसी में मज़ा नहीं। क्या होगा? कैसे दिन कटेंगे? क्या संखिया खाऊँ? कैसे पार पड़ेगी? हे भगवान्! हे नाथ! हे दया धाम! तुम्हीं खिवैया हो! तुम्हीं पार लगानेवाले हो। तुम्हारे ही आसरे सब कुछ है। हे भगवान्! हाय राम! हरे! हरे!"[1]

परिस्थितियों का स्वरूप चित्रवत् उतारकर शास्त्रीजी भावों की मार्मिकता का परिचय पाठकों से कराते हैं। ऐसे स्थलों पर उनकी बुद्धिवृत्ति बाहर के स्थूलतम विन्दु से लेकर भीतर के सूक्ष्मतम विन्दु तक जीवन को एक अर्धवृत्त में घेर लेती है। सुख-दुःख आदि के भिन्न वर्णी कड़ियों वाली इनकी शृंखला व्यवहार तथा अन्तर्जगत् की संचित अनुभूतियों की असंख्य नई तरंगें सामने उपस्थित करती हैं। इनकी अनुभूति अपनी सीमा में पूर्ण सफल है। इनकी व्यक्तिगत अनुभूतियों में तीव्रता तथा घनत्व तो रहता है पर विपुलता नहीं रहती। अनुभूतियों की बहुरूपता में एक अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। भावधारा में सर्वत्र एकसा प्रवाह रहता है। यथा :

"मुझे नहीं जानता। ऐसे-ऐसे अंटियों में अटके फिरते हैं। बड़े-बड़े 'तीसमारखां' देखे हैं। सब साले दून की हांकते थे, पर अन्त में सबका सिर नीचा हुआ। यही मैं सबसे ऊँचा हुआ। इन्हीं हाथों से यह सम्मान, यह धाक, यह जलाल पैदा किया। किसी को क्या समझता हूँ। लखपती होंगे तो अपने घर के। दिखा दूँगा। यहीं नाक न रगड़े तो नाम नहीं, 'भंगी का पिशाब' कह देना।"

शास्त्रीजी की भावुकता में इसी दुनिया का रंग गाढ़ा है, पर जहाँ इससे ऊपर उठे हैं वहाँ का चित्र भी पर्याप्त मोहक है। यथा :

"सबका फैसला हो गया सबसे सन्धि हो गई। सब झंझट हट गये। सबको छुट्टी है। इन्द्रियों को छुट्टी मन को भी छुट्टी है। आत्मा और मैं, बस दोनों ही रहेंगे। एक खेलेगा, एक देखेगा। सलाहकार और नुकताचीन सब गये। बड़ी सुन्दर व्यवस्था हुई—बड़ी ही सुन्दर। प्राण कैसा स्वच्छन्द हो रहा है! आहा हाहा! आत्मा प्रकाशित हो रही है। भीतर से ज्योति निकलती है। मन शान्त बैठा है। अब तक यह सुख कहाँ था? इसी की खोज में बूढ़ा हुआ। अब मिला है? वाह री दुनिया! वाह रे संसार! वाह री माया! वाह री चमक! अच्छा झाँसा दिया, अच्छा भटकाया, अच्छा उल्लू बनाया, अच्छा फन्दे में फँसाया। समय नष्ट गया

१. 'अन्तस्तल'—पृ० ५४ प्र० सं० चतुरसेन शास्त्री

अलग और बदले में मिला ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, मत्सर ! राम राम ! भगवान् को धन्यवाद है। अन्त में मार्ग मिला तो। वाह ! कैसा सीधा मार्ग है, कैसी शान्ति है, कैसा सुख है ! कुछ चिन्ता नहीं, किसी बात की चिन्ता नहीं।"[1]

इस प्रकार के विचारों का इनका प्रकाशन साधनात्मक अनुभूति से सम्बन्ध भले ही रखता हो पर स्फीत बुद्धि के माध्यम से व्यक्त किये गये इन भावों में पर्याप्त प्रभविष्णुता दृष्टिगत होती है। शास्त्रीजी की भावुकता अधिकांशतः बाह्याभिमुखी है।

शास्त्रीजी के गद्य-काव्य में धनिकों के प्रति आक्रोश की भावना भी है। यह भावना अभाव में अपनी जड़ें रखती हैं। जहाँ प्रगतिवादी कलाकार इस प्रकार की रचनाओं में बौद्धिकता का पर्याप्त पुट दे डालते हैं, वहाँ शास्त्रीजी हृदय पर प्रहार करते हैं। यथा :

"हे सफेद पगड़ी और सफेद अंगरखेवालो ! हे टमटम मोटर गाड़ियों में खिचड़ने वालो ! हे अपाहिजो ! अभागो ! रोगियो ! निपूतो ! हीजड़ो ! तुम पर मुझे दया आती है। किन्तु तुम्हारा भविष्य देखकर मुझे सन्तोष होता है—सुख मिलता है।

मेरा बच्चा मर गया है। उसे दूध नहीं मिला। मेरी स्त्री के स्तनों में जितना दूध था—वह सब वह पिला चुकी। जब निबट गया, तब लाचार हो गई। बाजार से मिला नहीं। पैसा न था। बिना पैसा बाजार में कुछ नहीं मिलता। पहले, जब संसार में बाजार नहीं थे, घर थे, तब सबको सब-कुछ मिलता था। चीज के होते कोई तरसता न था। अब खुल गये बाजार और बाजार में उन्हीं को मिलता है जिनका बाजार है। बाजार है पैसे का। पैसे ही से बाजार है। बच्चा कई दिन सूखे मुंह सूखे स्तन चूसकर सिसकता रहा। अन्त में ठण्डा ड़ गया। मेरे प्यारे मित्र ! तुम से तो कुछ छिपा नहीं है, वह मेरा एक बच्चा था। अब मैं किसे देखूं ? अच्छा दिखाओ तो तुम्हारा बच्चा कितना मोटा हो गया है। हरे राम ! साँप के बच्चे को देखो कैसा फूला है। तुमने इसे इतना क्यों चराया है ? इतना खून यह क्या करेगा ? इसे कितने दिन इस योनि में रखने का इरादा है ? यह अपनी काँचली कब बदलेगा ?"[2]

'बनाम स्वदेश' तथा 'हाहाकार' पुस्तकों में राष्ट्रप्रेम, उद्बोधन, प्रशस्तियाँ, देश की दयनीयता आदि के चित्र हैं, इसके विषय में भावपक्ष में कहा जा चुका है।

जहाँ भावों की प्रबलता का द्योतन हुआ है, उन स्थलों पर वाक्य-विन्यास छोटे आकार के हो गये हैं। यथा :

"हैं ? तू कौन ? भूत कि पिशाच ? तुझे भी मार डालूँगी।

१. 'वैराग्य' शीर्षक पृ० ५९ अन्तस्तल प्र० सं चतुरसेन शास्त्री

२. 'क्रोध' शीर्षक पृ० ३६-३७, अन्तस्तल प्र० सं० चतुरसेन शास्त्री

अब यह पल्ला किसने खींचा ? पीछे कोई है क्या ? पीछे फिरकर देखूँ ? कोई मार न दे ! मुझे क्या कोई पकड़ लेगा ? सबूत ? सबूत क्या है ! फाँसी ? मुझे ? किस सबूत से ? गवाह कौन है ? यही बोलेगा क्या ? मुर्दा ? यह ? ठहरो इसे दुबारा मारे देता हूँ। यह क्या ! पसीना आ रहा है ! भागूँ ? पैरों में पारा चढ़ गया ? भागूँ ? और यह ? यों ही रहेगा ? पड़ा रहे ? कौन देख रहा है ? कौन जानता है ? कौन कहता है ? सबूत क्या है ? यह कौन हँसा ? इतनी जोर से ? कौन ? कोई नहीं। भागूँ ? अच्छा भागता हूँ।"[१]

जहाँ कोई गूढ़ बात कहनी होती है वहाँ के वाक्यों में कर्त्ता, क्रिया, कर्म अपने-अपने उचित स्थानों पर देखे जाते हैं। यथा :

"यह मेरी अन्तरात्मा की पवित्र आज्ञा है। यह मेरे हृदय का शृंगार है। इसकी स्मृति से मन में प्राण-संजीवन होता है। मैं यह कार्य करूँगा। यह सच है कि वह मेरा कोई नहीं।"[२]

शास्त्रीजी की भाषा में आम बोलचाल के शब्दों की भरमार है। ठेठ शब्द जैसे—'लल्लो-पत्तो' 'बूते पर' 'धोंसा' 'हतकण्डे, 'चीकट' 'झाँसा' 'ठुमुक' 'गुड़गोबर' आदि के प्रयोगों से भावों में दीप्ति लाई गई है।

लोकोक्तियों तथा मुहावरों के सुन्दर प्रयोग भी स्थान-स्थान पर दिखाई पड़ते हैं। यथा :

'धरा पाताल और दिये कपाल' 'घर आये नाग न पूजिये बांबई पूजन जाय' 'देश चोरी परदेश भीख' 'भैंस को बीन बजाना' 'जहर के दाँत तोड़ना' 'जूतियाँ चटखाना' 'मींग निकालना' 'पिशाब से मूँछ मुड़वाना' 'नाक रगड़ना' 'अंटियों में अटके फिरना' 'सुर्खाब के पर लगना' इत्यादि।

जहाँ शास्त्रीजी किसी बात पर बल देते हैं वहाँ भाषा में पर्याप्त लाक्षणिकता दिखाई पड़ती है। यथा :

"आत्म-सम्मान को जूते लगाये, स्वास्थ्य को संखिया दिया, सुख और शान्ति तक को दुर्वचन कहे।"[३]

---

१. 'गर्व' पृ० ४६ अन्तस्तल प्र० सं० चतुरसेन शास्त्री

२. दया शीर्षक पृ० ५७ अन्तस्तल प्र० सं० चतुरसेन शास्त्री

३. अन्तस्तल पृ० ६२ प्र० सं० चतुरसेन शास्त्री

उर्दू के शब्दों का मनोरम प्रयोग आपने खूब किया है। यथा :

'खासी धींगा मुस्ती'[1] 'रुखाई का चश्मा'[2] 'आँख का नूर'[2] 'युद्ध का सेहरा'[2] 'हिमायतियों'[2] 'तौफीक'[2] 'बेगैरत'[2] 'रिजक'[2] 'मुत्तसर'[2] आदि।

भावावेग के समय भाषा में कहीं-कहीं काफी तीखापन आ गया है, यहाँ तक कि शास्त्रीजी गाली-गलौज तक उतर आये हैं। यथा :—

'तेरी भक्ति की दुम में रस्सा'[3] 'उल्लू के पट्ठे'[3] 'कहीं भगवान् न भगवान् की दुम'[3] 'विष्ठा के कीड़े'[3] 'कोढ़ के कीड़ों से गिजभिजाता खून'[3] 'उस पर पेशाब कर दूंगा'[4] तथा 'विद्वान् लोग मेरी आत्मा की शान्ति के लिए भाद्रपद वदी चौथ को उस धन पर एक, दो, तीन, चार, दस, बीस, पचास, सौ, हजार, लाख, करोड़, अरब, असंख्य जूते लगावेंगे।[4]

शास्त्रीजी के गद्य-काव्यों में कथात्मक प्रवाह, ओज, स्फूर्ति, भाषा-सौष्ठव एवं पर्याप्त बल है। कहीं-कहीं उनका मनमौजीपन अधिक उभाड़ पर आ गया है। 'खुल्ला' 'जगुत' आदि शब्द इसके प्रमाण हैं।

शास्त्रीजी की रचनाओं में छायावाद की ऐन्द्रियता, अतृप्ति, मांसल सौन्दर्य, मोहक चित्र तथा नवीन उद्भावनायें हैं।

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

भावनाओं का मोहक चित्र, हृदय की अन्तर्दशाओं के सम्यक् स्वरूप, चित्त-वृत्तियों के निरूपण की अर्थव्यंजक प्रणाली, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता तथा प्रयोग-वैचित्र्य की अनुपम छटा, मांसल अनुभूतियों की रसमयी झाँकी, वाग्वैचित्र्य, आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का संतुलित स्वरूप तथा जीवन के विविध पक्षों का कवि की दृष्टि से अवलोकन आपके गद्य-काव्यों की विशेषता है।

मोहनलाल महतो ने इस विश्व को, इसके मानव को, इसके पेड़ों को, नदियों को, पगडंडियों को, बीहड़ वनों को, पाषाणों को, निर्झरों को, भव्य अट्टालिकाओं को, मरुस्थलों को, इसके उपेक्षितों को, इसके लाड़लों को, इसके पोषकों तथा इसके शोषकों को एक कवि, जिज्ञासु, एक मेधावी, दार्शनिक, तथा एक हितैषी मित्र के रूप में देखा है। भावप्रकाशन की विविध शैलियों के आलम्बन से कथनगत चमत्कार की मनोहारिता बढ़ गई है। ध्वन्यात्मक अर्थगत विशिष्ट शब्द-स्थापन की प्रक्रिया की विशेषता ने 'महतो' की साहित्यिक-प्रौढ़ता को अधिक सबल, सरस तथा आकर्षक बनाया है। यथा :

"और यह मील का अभागा पत्थर ?

---

१. अन्तस्तल पृ० ३६ क्रोध शीर्षक चतुरसेन शास्त्री (प्र० सं०)

२. अन्तस्तल ३. अन्तस्थल ४. अन्तस्तल

पथ से दूर और झाड़ियों से घिरा हुआ, उपेक्षित अनाहत, आज अपनी व्यर्थता का भार स्वयं वहन करता हुआ कब से खड़ा है, कब तक खड़ा रहेगा, कौन कह सकता है ?

यह पुकार-पुकारकर कहना चाहता है—मैं यही हूँ, यही हूँ। अपनी पुकार यह स्वय सुनता है। अपने अस्तित्व का प्रमाण भी यह स्वयं ही है।

यह उपेक्षित मील का पत्थर है।"[1]

'मसान कब रोता है' 'वन्दनवार' के इसी शीर्षक में व्यंजित भाव अपना सादृश्य खोजने से ही साहित्यिक जगत् में पायेंगे। मसान के रोने का समय है, किसी दीन विधवा के एकलौते पुत्र के निधन की घड़ी, किसी नव-विवाहित नवयुवक की अकाल-मृत्यु के क्षण पर उसकी विधवा पत्नी की कारुणिक स्थिति के अवसर तथा किसी अभागे की मृत्यु जिसके शव के लिए दाह-संस्कार की कोई भी सामग्री न हो। करुण रस का मूर्तिमान चित्र इससे भी अच्छा हो सकता है पर शायद द्रवणशीलता का उसमें अभाव हो। अन्योक्ति-प्रधान शैली के द्वारा आपके भावप्रकाशन विशेषतः अनुरंजनकारी हो गये हैं।

मोहनलाल की उक्तियाँ मर्म छवियों की भीनी सुरभि से सुवासित, भाषा के आलंकारिक भड़कीले स्वरूप से रहित हो अपनी मार्मिकता से आश्चर्य का प्रसादन करने के साथ ही साथ किसी मानसिक विकृति का संचार नहीं कर पातीं। इनमें न तो राय कृष्णदास की बौद्धिकता का आग्रह है और न चतुरसेन की ऐन्द्रियता का प्राबल्य, बल्कि इनके गद्य-काव्यों में छायावाद का हृदयपक्ष यथार्थ की सीमा का स्पर्श करके आगे बढ़ा है। यही कारण है कि इनकी उक्तियों में एक भारतीय भावुक हृदय की रमणीयता भी दिखाई पड़ती है। यथा :

"हाँ कुमुदिनी ने आकर धीरे से कहा—'प्रणाम'

वसन्त ने आकर कानों के पास कहा—'प्रणाम'

सरसों के पीले खेत ने आकर आँखों से कहा—'प्रणाम'

मेरे प्राणों ने भी शायद मुझसे आकर कहा—'प्रणाम'

प्रणाम की इस व्यापक पुकार के सामने—विदाई की इस सर्व-संहारण सूचना के सम्मुख—मेरे हृदय का एक-एक अंग कांप उठा। मैंने भी उसी घबराहट में कहा—हे संसार ! हे मेरे शैशव-जीवन के घरोंदे संसार ! हे मेरे यौवन-युग के प्यारे संसार—प्रणाम ![2]

'महतो' की काव्य-कड़ियाँ विश्लेषणात्मक, गवेषणात्मक तथा रसात्मक हैं।

---

१. 'वन्दनवार' पृ० १ (१९५०) मोहनलाल महतो 'वियोगी'

२. 'धुँधले चित्र' पृ० ८६ प्र० सं० मोहनलाल महतो 'वियोगी'

इनका रचना-विवेक जाग्रत और परिमार्जित है। सुलझे हुए विचारों की कथनप्रक्रिया में पर्याप्त रोचकता, सरलता तथा अभिव्यंजकता रहती है। इनकी वाणी जड़ जगत् के भीतर पाये जानेवाले बहुत-से मार्मिक तथ्यों का उद्घाटन करती है। जीवन के तथ्यों के साथ इनका साम्य भी समीचीन तथा प्रसंगानुकूल होता है। अनन्त सत्ता के भीतर नर सत्ता के स्थान का अनुभव करके आधुनिक जीवन में फैली हुई पार्थकता का परिहार भी 'महतो'जी बड़ी कुशलता से करते हैं। 'वंदनवार' के मजदूर की पूजा में यही भाव है।

विचारों के अभिनव संविधान के माध्यम से वैज्ञानिक विवेचन तथा अनुसंधान का कार्य, इतना मर्मस्पर्शी, सजीव तथा मूर्त, महतो के गद्य-काव्यों में होता है कि काव्यगत भावनाओं का माधुर्य शत-शत गुना बढ़ जाता है।

छायावाद के काल्पनिक विधान से ही महतोजी नहीं उलझे रहे बल्कि वर्तमान सभ्यता से उत्पन्न घोर असमानता, घोर आर्थिक विषमता, अवसाद-विषाद आदि ने भी इन्हें आकर्षित किया है, पर ऐसा करने पर भी ये पूर्ण बाह्याभिमुखीन नहीं हो गये हैं। रहस्यमय सत्ता के अक्षर-प्रसार के भीतर व्यंजित भावों और मार्मिक तथ्यों के साक्षात्कार तथा प्रत्यक्षीकरण की ओर इनका झुकाव भी दिखाई पड़ता है।

इनकी रचनाओं में बाह्यार्थ निरूपक उपमाओं के द्वारा अर्थभूमि तथा वस्तुभूमि संकुचित नहीं हो पाई है। इनके गद्य-काव्यों में कल्पना का रंग चटकीली, विशाल भावनाओं से मंडित, वेगवान रुचिर, अधिक अर्थ-व्यंजक, सर्वदेशीय, बोधवृत्ति द्वारा उद्घाटित, संवर्द्धित तथा स्थायी प्रभावसम्पन्न है।

छायावादी साहित्य की ध्वनि-योजना, चमत्कारिक कथन एवं वाक्-वैशिष्ट् को इन्होंने अवश्य अपनाया है पर इससे भावनाओं में ऊहात्मक वृत्तियाँ नहीं आ पाई हैं। भाषा में ऋजुता, स्पष्टता तथा सरलता है। वाक्यों में कसाव तो है पर दीर्घता नहीं। भावों का चित्र उतारने में आपकी भाषा बड़ी सशक्त एवं प्राणवान है।

महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह

'बिखरे फूल' 'शेष स्मृतियाँ' तथा 'जीवन धूलि' सभी में महाराजकुमार का एक निराला व्यक्तित्व है।

'बिखरे फूल' के अधिकांश गद्य गीतों को 'जीवन-धूलि' में समेट लिया गया है। केवल चार 'आशा', 'पथिक क्या रात भर भी न ठहरोगे', 'इस अँधेरी रात में किधर चले', 'परदेशी तुम क्या जानों प्रीति की रीति' और 'जीवन-धूलि' में नये जोड़े गये हैं।

'बिखरे फूल' के शीर्षक इस प्रकार हैं :—

यौवन की देहली पर, जीवन के द्वार पर, यौवन की खुमारी, कब का खड़ा

पंथ निहारूँ, आदेश, क्या पुनः गीता का संदेश न सुनावोगे, अतीत स्मृति, वह प्रवाह, वह सौन्दर्य, उसका कारण, दो बातें, निराशा, दुराशा, तथा बिखरे फूल।

'यौवन की देहली पर' काव्य-खण्ड में महाराजकुमार ने एक महत्वाकांक्षी युवक के उद्दाम वासनाओं के भयंकर झंझावात से उत्पन्न मानसिक अशान्ति का वास्तविक स्वरूप अंकित किया है। शिशु धीरे-धीरे युवा होता है और संसार का सुख-दुःख समझने लगता है। वह ज्यों-ज्यों संसार के अधिक समीप जाता है, उद्वेगशील होता जाता है। वह चीख उठता है :

"आह ! क्या इस दावानल को हृदय में रखकर भी मैं जीवित रह सकता हूँ ? बाल्यकाल ने बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोसा है। किन्तु उसने इस हृदयाग्नि की चिता में बैठकर सुरक्षित रहने का कोई उपाय नहीं बतलाया····· विचारों, उद्देश्यों, आकांक्षाओं और पवित्र भावों की चिताएँ धधक रही हैं····· बाल्यकाल की चुलबुलाहट, भोलापन, सौकुमार्य आदि अग्नि में आहुति बन चुके हैं और भस्म होकर भी विश्वास-अविश्वास और अवज्ञा को जन्म दिया।"[1]

भयंकर अशान्ति में पड़कर युवक कहने लगता है :

'किधर जा रहा हूँ ! कहाँ वह शान्ति प्राप्त हो सकेगी ?
धू ! धू !! अब नहीं रहा जाता। धू ! धू !! अब कब तक सहना पड़ेगा !
धाँय-धाँय करती हुई हृदयाग्नि की लपटें बढ़ती ही चली जा रही हैं।
कब तक ! कब तक !! कब तक !!!"[2]

'शेष स्मृतियाँ' अतीत के मनोरम संस्मरणों से तराबोर है। वर्तमान व्यक्तिगत होता तथा भविष्य अन्धकारमय। कल्पना-प्रवण कवि इन दोनों क्षेत्रों में तो प्रविष्ट होता ही है, वह अतीत के रम्य रसात्मक चित्र भी उतारता है।

'शेष स्मृतियाँ-जीवन के मार्मिक तथ्यों का अंकन अत्यन्त स्पष्टता से करती है।' यथा :

"संसार के लिये मानव-जीवन एक खेल है। मनोरंजन की एक अद्भुत सामग्री। मानव-हृदय एक कौतूहलोत्पादक वस्तु है। उसे तड़पते देखकर संसार हँसता है। उसके दर्द को देखकर उसे आनन्द आता है और यदि संसार को मानव-हृदय से भी अधिक आकर्षक कोई दूसरी वस्तु मिल जाय तो वह उसे भी भुला देगा, कितनी बेदर्दी ! कितनी निष्ठुरता !! संसार का यह खिलवाड़ चोट खाये हुए मनुष्य को रुला देता है।"[3]

---

१. यौवन की देहली पर शीर्षक से बिखरे फूल प्र० सं०—रघुवीरसिंह

२. बिखरे फूल—यौवन की देहली पर शीर्षक से

३. शेष स्मृतियाँ पृ० ६५, प्र० सं०—रघुवीरसिंह

तथा—

"ऊँचाई से खड्ड में गिरनेवाले प्रपात को देखने के लिये सैकड़ों कोसों की दूरी से मनुष्य चले आते हैं। वहाँ न जाने कहाँ से जल आता है और न जाने कहाँ चला जाता है। उस गिरती हुई धारा में, उस पतनोन्मुख प्रवाह में कौन-सा आकर्षण है? उन उठे हुए कगारों पर टकराकर उस जलधारा का छितरा जाना, खण्ड-खण्ड होकर फुहारों के स्वरूप में यत्र-तत्र बिखर जाना, हवा में मिल जाना—बस, इसी दृश्य को देखने में मनुष्य को आनन्द आता है। कहाँ से यह जल आता है, प्रपात के समय उसकी क्या दशा होती है, कितनी बेदर्दी के साथ वह धारा छिन्न-भिन्न होती है, और आगे उस कठोर पृथ्वीतल पर गिरकर उस जल की क्या दशा होती है, इसका विवरण कौन पूछता है? प्रपात उसके फलस्वरूप छितराये हुए उन फुहारों से ही मनुष्य की तृप्ति हो जाती है।"[1]

वस्तुतः संसारी पुरुषों से परदुःख देख द्रवित होने की आशा दुराशा मात्र है। यदि वे द्रवित हो जायेंगे तब तो उन्हें हानि उठनी पड़ेगी। 'परदुःख द्रवहिं सुसंत पुनीता' वह भी मासूली संत नहीं जो पुनीत हो गये हैं।

संसार दुःख-सुख की क्रीड़ास्थली है। एक के बाद दूसरा आता है। कभी एक का नर्तन कुछ काल विशेष होता है दूसरे का कम, बस यही भेद है। जीवन में विषमता इसीलिए उठ खड़ी होती है। राजा-प्रजा सब में इसकी सत्ता व्याप्त है। धनाभाव के कारण सामान्य जीवन में भोगपक्ष संकुचित हो जाता है। नियति के क्रूर बंधनों में पड़कर असहाय हो काँखता-कराहता सामान्य प्राणी अपने मार्ग पर चला जाता है। अविवेकशीलता के कारण उसका भी लक्ष्य वही वैभव-सम्पन्न नश्वर भोग ही होता है। साधनों की कमी से रह-रहकर मन मसोस करके रह जाते हैं जबकि दूसरी ओर पाशविक वृत्तियों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करके विस्तृत संसार में मनमाने ढंग पर जाने की अनुमति मिल गई रहती है। 'मद' और 'प्याले' डा० रघुवीरसिंह के शब्दों में बारम्बार नेत्रों के सामने आते हैं। कुशल भावुक जीवन-विलास की इस प्रभूत सामग्री को, आमोद-प्रमोद की चहल-पहल को, यौवन-मद को, कलासौन्दर्य की जगमगाहट को तथा दुःख-काल के नैराश्य, उदासी एवं अवसाद को सामने रखकर इसकी नश्वरता की ओर इंगित करता है। देखिये :

"वैभव-विहीन सीकरी के वे सुन्दर आश्चर्यजनक खण्डहर मनुष्य की विलास-वासना और वैभव-लिप्सा को देखकर आज भी वीभत्स अट्टहास करते हैं।"[2]

विशिष्ट मानव अपने इर्द-गिर्द कुछ ऐसे संसार से घिरा रहता है जो उससे

---

१. 'शेष स्मृतियाँ' पृ० १०३ प्र० सं०—रघुवीरसिंह

२. 'शेष स्मृतियाँ' पृ० ७५ प्र० सं०

सर्वथा प्रतिकूल होते हैं। उदासीन होकर भी वह उनके बीच नहीं रह सकता, क्योंकि पारस्परिक सम्पर्क के अभाव में समाज के व्यवहार नहीं चलते। जीवन कठोर, शुष्क और दूसरों की दृष्टि में स्वार्थी हो जाता है। यदि वह उन्हें अपने अनुकूल बनाना चाहता है तो बहुतों का विरोध उठ खड़ा होता है, या तो वह अकेला पर्वत की तरह अनेकानेक आघात सहकर भी खड़ा रहे जो संभव नहीं है और या वह सुधार की भावना ही छोड़ दे। जीवन की वास्तविकता से दूर अकबर द्वितीय कोटि का व्यक्ति था।

स्वप्नलोक भौतिक संसार के दूर एक ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य अपनी इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के साथ स्वच्छन्दतापूर्वक खेल सकता है किन्तु उन इच्छाओं का भौतिक जगत् में कुछ भी स्थान नहीं है।

भौतिक संसार को स्वप्न-संसार में परिणत करना मृगमरीचिका से पानी पीने के दुराशा के समान है। जो इसे साधने का प्रयत्न करता है वह इस संसार में उन्मत्त तथा बिगड़े दिमागवाला पागल कहा जाता है। इस भौतिक संसार में आकर वह स्वप्नलोक, सांसारिक जीवन की भीषण चोटें न सहकर चूर-चूर हो जाता है। और मनुष्य का छोटा-सा हृदय भग्नावशेषों पर रोता है और उसी दुःख से विदीर्ण-होकर टूक-टूक हो जाता है।

भौतिकता को सुख मानकर जीनेवाले प्राणी सुखेच्छा के लालच में भयंकर से भयंकर यातनाएँ सहते हैं। संघर्षण प्रतिघात, कलह क्या-क्या नहीं सहते। यदि आशा सफल हो गई। परिस्थितियाँ अनुकूल हो गईं तो जो कुछ सुखाभास मिलता है वही उन्हें स्वर्ग के समान प्रतीत होता है। उससे ही वह अपने को धन्य-धन्य मान लेते हैं। मानवता में यही न्यूनता है कि वह भ्रम को ही सुख मान लेता है।

"स्वर्गसुख, सुखइच्छा का भावनापूर्ण पुंज, वह तो मनुष्य की कठिनाइयों को सुख तक पहुँचने के लिए उठाए गए कष्टों को देखकर हँस देता है और मनुष्य उस कुटिल हँसी से ही मुग्ध होकर स्वर्ग-प्राप्ति का अनुभव करता है।"[1]

संसार की नश्वरता प्रतिक्षण किसी याद दिलाने के लिए खड़ी नहीं रहती? पर यहाँ कौन सुनता है, सुत, वित, नारि की ऐषणा यहाँ सब में घर किये हुए है। जब किसी का कुछ खो जाता है तो उसे महान शोक घेर लेता है। यद्यपि यह शोक चिर-काल तक एकसा नहीं रहता क्योंकि आत्मा अपने आनन्द की स्थिति में लाने के लिए सदा प्रयत्नशील है। पर प्रथम के कुछ दिन असहाय वेदना से भरे रहते हैं। मन-शान्ति का कोई दूसरा साधन ढूँढ़ता है। जिसकी जैसी प्रकृति होगी उसे वैसा ही साधन प्राप्त हो जायगा। किसी को संसार की नश्वरता प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ने लगेगी और वह अपना भविष्य सुधारने में लग जायगा। कोई अपना जीवन परोपकार में लगा देगा,

---

१. पृ० ११३—'शेष स्मृतियाँ'

धन की उचित व्यवस्था करेगा, कोई उत्तम स्मारक मृत व्यक्ति के लिए निर्मित करायेगा। शाहजहाँ के हृदय में मुमताज़ के प्रति जो प्रेम था वही ताज का स्वरूप लेकर खड़ा हो गया। सौन्दर्य-दर्शन की महत्वपूर्ण कामना जिस सौन्दर्य की प्रशंसा चतुर्दिक से हो, जो बहुकाल-व्यापी हो तथा जिसे देखकर अपने भी गौरवान्वित हो, सभी सिमटकर ताज में शाहजहाँ की चिर पिपासा को शान्त करने के लिए आ गये। प्रेम को शाहजहाँ ने साकार किया। संसार में इसका विज्ञापन किया 'दिलों की बस्ती के राज को खल्क पर ज़ाहिर किया।'

सत्य ही शिव है, आनन्द-स्वरूप है, उसे ही सब चाहते हैं। यदि ठीक से कोई बतानेवाला हो तो महान घोर शोक क्षण-भर में दूर हो जाते हैं। ठीक से बतानेवाले से तात्पर्य वह व्यक्ति जो स्वयं शान्ति-लाभ कर चुका हो। केवल शास्त्रीय विचारों को तोते की भाँति रटा न हो। ऐसे सिद्ध तथा शान्त पुरुषों के समीप जाने से परम शान्ति मिलती है, और जहाँ वे रहते हैं वह वातावरण ही शोक-मोह से रहित होकर परमशीतल हो जाता है। इस पुरुष की वाणी में ऐसी पावनता रहती है, जो हृदय को बेधकर सारे शोक-मोह निकाल देती है। महाराजकुमार को दर्शनशास्त्र पर संदेह है, यदि अमृत सचमुच में मृत को जीवित करनेवाला है तो कितनी ही चोटें क्यों न लगी रहें वह जिलाकर ही छोड़ेगा।

"दार्शनिक कहते हैं जीवन एक बुदबुदा है—भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने की एक धर्मशाला मात्र है। वे यह भी बताते हैं कि इस जीवन का संयोग तथा वियोग क्या है—एक प्रवाह में संयोग के साथ बहते हुए लकड़ियों के टुकड़ों के साथ विलग होने की कथा है। परन्तु क्या ये विचार एक संतप्त हृदय को शान्त कर सकते हैं?"[१]

दार्शनिक-विचारों का अब तक उसी अबाध रूप में इस जगत् में प्रवाह बना रहना ही उसकी उपादेयता सिद्ध करता है। मनुष्य संसार के इतरेतर प्राणियों से अधिक बुद्धि रखता है। उसे भले बुरे का ज्ञान रहता है। पर बाह्य वस्तुओं से जिन लोगों का अधिक तादात्म्य हो जाता है वे उसे अपनी सत्ता से अलग नहीं मानते।

अविवेकियों के भाग्य में सदा रोना ही बदा है। इन महामूढ़ों को साक्षात् ब्रह्माजी भी नहीं शान्त कर सकते। दर्शनशास्त्र की क्या बात है? फिर ब्रह्माजी ऐसे पापात्माओं के यहाँ जाने ही क्यों लगे? महान पुण्य करने पर तो उनके दर्शन होते ही नहीं? अयोध्यावासियों को महाराज दशरथ की मृत्यु और राम-वनगमन का शोक साथ ही सहन करना पड़ा था पर क्या मुनिवशिष्ठ ऐसे महान् गुरु के वचनों से उनके शोक कम नहीं हो गए थे? दार्शनिक विचार ही ऐसे महान् आपत्ति के समय

१. 'शेष स्मृतियाँ' पृ० ५०

हृदय को शान्ति प्रदान करते हैं, पर इनका ठीक से प्रतिपादन करनेवाला होना चाहिए। ऐसा पुरुष महान् पुण्य के फल से मिलता है। नवके भाग्य ऐसे नहीं हैं, जो ऐसे पुरुष के दर्शन हो जायें। यही कारण है कि वाणी का प्रभाव नहीं पड़ता। कहीं झूठ बोलनेवाले के सत्यपरक उपदेश प्रभावकारी हुए हैं? कहीं किसी पापात्मा ने किसी को धर्मात्मा बनाया है? अतः यह मानना पड़ेगा कि दार्शनिकों के विचार अवश्य संसारी व्यक्तियों की ज्वाला शान्त करते रहे हैं, किए हैं और करेंगे।

महाराजकुमार ने मानसिक दशाओं के प्रत्यावर्तन चढ़ाव-उतार का अंकन बड़ी कुशलता से किया है। दृश्यविधानों की तरफ वे अधिक नहीं मुड़े हैं पर जहाँ इस प्रकार का कार्य हुआ है अपने ढंग का अनूठा है—दिल्ली किले की नहर में जल-क्रीड़ा का वर्णन इस प्रकार है—

"उस स्वर्गंगा में उस नहरेवहिस्त में खेल करती थी उस स्वर्ग की अत्यनुपम सुन्दरियाँ। उन श्वेत पत्थरों पर अपनी सुगन्ध फैलाता हुआ वह जल अठ-खेलियाँ करता, कलकल ध्वनि में चिरसंगीत सुनाता चला जाता था और वे अप्सराएँ अपने श्वेतांगों पर रंग-बिरंगे वस्त्र लपेटे नुपूर पहने अपने ही ध्यान में मस्त झुनझुन की आवाज करती जल-क्रीड़ा करती थीं।...और जब वह हमाम वसता था स्वर्ग-निवासी उस स्वर्ग-गंगा में नहाने के लिए आते थे और अनेका-नेक प्रकार के स्नेह से पूर्ण चिराग उस हमाम को उज्ज्वलित करते थे। रंग-बिरंगे सुगन्धित जलों के फव्वारे जब छूटते थे तब वहाँ उस स्वर्ग में सौन्दर्य बिखर पड़ता था, सुख छलकता था, उल्लास की बाढ़ आती थी, मस्ती का एक-छत्र शासन होता था और मादकता का उलंग नर्त्तन।"[1]

जीवन के भोगपक्ष पर रमनेवाली महाराजकुमार की वृत्ति ने प्रभुता, ऐश्वर्य, विलासिता, कामुकता आदि का अच्छा चित्र खड़ा किया है। वर्णन की रोचकता ने, इस प्रकार की वृत्ति रखनेवालों की भोग-पिपासा और भी ललक उठती है।

भोगों की अत्यधिकता से ही शायद महाराजकुमार को स्वर्ग अत्यधिक प्रिय लगा है। इसलिए भोग-क्रीड़ा की नहर स्वर्ग-गंगा बन गई है। उजड़ा स्वर्ग इस प्रकार की विवृत्तियों से भरा पड़ा है। देखिए—

"प्याला, प्याला वह मदभरा प्याला, उस स्वर्ग में छलक रहा था उसकी लाली में पत्थर तक सिर से पाँव तक रंग रहे थे, ससार खड़ा देखकर हँसता था।"[2]

शरीर के अहं के कारण ही सुख-दुःख की प्रतीति होती है। ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद सांसारिक दुःख-सुख का बोध हो जाता है। इसी अहंकार के कारण सुख चाहनेवाला दुःख से भय करता है। दुःखी सुख के लिए लालायित रहता है। सुख

१. पृ० ११५—'शेष स्मृतियाँ'
२. पृ० १०८—'शेष स्मृतियाँ'

के लिए दुःख हेय है और दुःख के लिए सुख एक आकर्षण। दोनों की जब तक अलग-अलग सत्ता रहेगी, अपने-अपने स्थल पर दोनों की स्थिति महत्वपूर्ण रहेगी। सुख के समय यदि दुःख के आगमन की कल्पना बनी रहे तो शायद संसार में इतने पाप न हों। दुःख के समय सुख की आशा व्यक्तियों से महान् कार्य करा डालती है। अतः स्वर्ग और नरक दोनों संसार के लिए आवश्यक हैं, इसी बात को ध्यान में रखकर पृष्ठ ११२ पर महाराजकुमार कहते हैं :—

"तद्देशीय व्यक्तियों में समानता होने पर भी स्वर्ग का महत्व तभी हो सकता है जब उसके साथ नरक भी हो।"[1]

महाराजकुमार आगे चलकर स्वर्ग और नरक को समझनेवालों का स्वरूप भी खींचते हैं :

"परन्तु स्वर्ग और नरक—उनका भेद, उनका महत्व एवं प्रभाव, उनका सौन्दर्य और कुरूपता·········इनको तो वे ही समझ सकते हैं जिनकी छाती में हृदय नामक कोई वस्तु विद्यमान हो, जिनके वक्षस्थल में एक दिल—चाहे वह अध-जला, झुलसा या टूटा हुआ ही क्यों न हो—धड़कता हो।"[2]

'शेष स्मृतियाँ' भावों की प्रचुर एवं प्रगल्भ व्यंजना से भरी है। मानसिक दशाओं के मर्मस्पर्शी, हृदयग्राही, रोचक एवं कारुणिक चित्रों की इसमें बहुलता है। यत्र-तत्र दृश्यविधानों की रम्य स्थली भी नियोजित है।

महाराजकुमार की यह रचना भावात्मक एवं कलात्मक है। कल्पना प्रायः अप्रस्तुत रूपविधायिका, उद्बोधक एवं व्यंजक है।

इन मूर्त्त वस्तुओं के सौन्दर्य, माधुर्य-दीप्ति की भावना जगाने के लिए अप्रस्तुतों के आरोप और अध्यवसान का साम्यमूलक अलंकार पद्धति का सहारा लिया गया है जैसे नगरी को कई जगह प्रेयसी, सुन्दरी का रूपक दिया गया है। शाहजहाँ की बसाई दिल्ली 'बढ़ते हुए प्रौढ़ साम्राज्य की नवीन प्रेयसी' और अन्यत्र 'बहु भर्तृका पांचाली' कही गई है। लालकिले का संकेत बड़े ही अनूठे ढंग से इस प्रकार किया गया है :—

"अपन नये प्रेमी को स्थान देने के लिए उसने एक नवीन हृदय की रचना की।"

कहीं-कहीं प्रस्तुत और अप्रस्तुत का एक साथ बहुत सुन्दर समन्वय है। जैसे—

"वह लाल दीवार और उस पर के श्वेत स्फटिक महल, उस लाल-लाल सेज पर लेटी हुई वह श्वेतांगी।"

जिन दृश्यों की ओर संकेत किया गया है वे भावना से पूर्णतया रंजित होने पर भी लेखक के सूक्ष्म निरीक्षण का पता देते हैं। यह बताते हैं कि उनमें परिस्थिति

१. 'शेष स्मृतियाँ'
२. पृष्ठ १२०—'शेष स्मृतियाँ'

के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंगों के साक्षात्कार की पूर्ण प्रतिभा है। शाहजहाँ की नई दिल्ली पूर्ण सजधज से उसके प्रथम स्वागत के लिए खड़ी है। वह जमुना के उस पार से आ रहा है। लाल दीवार के ऊपर श्वेत प्रासाद उठे दिखाई पड़ रहे हैं। नाव धीरे-धीरे निकट पहुँचती है। श्वेत प्रासाद दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। लाल दीवार ही सामने दिखाई पड़ रही है। पर हृदय भावना से रंजित होकर इस रूप में सामने आता है—

"श्वेतांगी······अपने प्रियतम को आते देख सकुचा गई। उसने लज्जावश अपना मुख अपने अंचल में छिपा लिया।"

दिल्ली के महलों में जमुना का जल लाकर नहरें क्या निकाली गईं मानों जमुना ने अपना दिल चीरकर उस स्वर्ग को सींचा।

"उस कृष्णवर्णा ने अपने हार्दिक भावों तथा शुद्ध प्रेम का मीठा चमचमाता जीवन उस स्वर्ग में बहाया।"[१]

प्रस्तुत पुस्तक में अध्यवसान पद्धति पर बहुत जगह घटनाओं की ओर भी संकेत है, जिन्हें इतिहास के ब्यौरों से अपरिचित जल्दी नहीं समझ सकते। मुगल बादशाहों के इतिहास से परिचित पाठक ही महाराजकुमार की इस रचना का आनंद उठा सकते हैं। जो जहाँगीर और अनारकली के दुःखपूर्ण प्रेम-प्रसंग को नहीं जानते वे बहुत-से अंशों की भावात्मकता हृदयंगम नहीं कर सकते। 'उजड़ा स्वर्ग' में जो महाराजकुमार की सबसे प्रौढ़ मार्मिक और कलापूर्ण रचना है, ऐसे कई स्थल हैं जहाँ घटनाओं का उल्लेख साम्यमूलक गूढ़ संकेतों द्वारा ही हुआ है। जैसे—

"आलम का शाह, पालम तक शासन करता था, जब इस लोक में देखने योग्य कुछ नहीं रहा तब वह प्रज्ञाचक्षु हो गया परन्तु वारांगनाओं को दिव्य दृष्टि से क्या काम ? उन्होंने अंधों का कब साथ दिया है ? अंधे कबतक अंधी पर शासन कर सके हैं ? दुर्भाग्य-रूपी दुर्दिन के उस अँधियारे में, नितान्त अंधेपन की उस अनंत रात्रि में, रात्रि का राजा उस अंधी को ले उड़ा और वह पहुँची वहाँ जहाँ समुद्र के बीच शेषशायी सुखपूर्वक विश्राम कर रहे थे।"[२]

अंधा शाह आलम किस प्रकार दिल्ली की सलतनत न सँभाल सका और बहुत दिनों तक मराठों की देख-रेख में रहकर अंत में सात समुद्रों पार के अंग्रेजों की शरण में गया, जिससे उसकी राजशक्ति उससे विमुख होकर अंग्रेजों के हाथ चली गयी, इसी का संकेत ऊपर के उद्धरणों में है। भाषा के रूपहले, सुनहले आवरण के बीच, हृदय-द्रावक घटनाओं का जाल महाराजकुमार ने कुशलता से बिछाया है। देखिये :—

---

१. 'शेष स्मृतियाँ'

२. 'शेष स्मृतियाँ'—पृ० १२४

"वह उजड़ा स्वर्ग भी काँप उठा अपने उस शूल से। निरंतर खून के आँसू बहाने वाले उस नासूर को निकाल बाहर करने की उस स्वर्ग ने सोची परन्तु...... हाय ! वह नासूर स्वर्ग के दिल में ही था। उसको निकाल बाहर करने में स्वर्ग ने अपने हृदय को फेंक दिया और अपनी मूर्खता पर जब क्षुब्ध स्वर्ग दर्द के मारे तड़प उठा, तब भूडोल आया। अंधड़ उठा, प्रलय का दृश्य प्रत्यक्ष देख पड़ा, पुरानी सत्ता का भवन ढह गया, समय-रूपी पृथ्वी फट गई और मध्ययुग उसके अनंत गर्त में सर्वदा के लिए विलीन हो गया।"[1]

उजड़े स्वर्ग का कँपना सन् १८५७ की क्रान्ति है। नासूर है बादशाह का निकलना। उसका दिल्ली छोड़ना भूडोल है, अंधड़ से तात्पर्य अंग्रेजों और बलवाइयों के युद्ध से है।

महाराजकुमार, बड़े ही रमणीय अलंकृत पद्धति पर सुख-दुःख की दशाओं के प्रत्यक्षीकरण के स्वरूप इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

पत्थरों तक पर मस्ती-छा जाती थी, वे भी मस्त हो जाते थे और उन पत्थरों तक से सुगन्धित जल के फव्वारे छूटने लगते थे .....उस स्वर्ग की वह राह, विलासिता बिकती थी उस राह में। मादकता की लाली वहाँ सर्वत्र फैली हुई थी और चिर संगीत दुःख की भावना तक को थका देता था। दुःख ! दुःख ! उसे तो नौबत के डंके की चोट, मुर्दे की खाल की ध्वनि ही निकाल बाहर करने को पर्याप्त थीं, बाँस की वे बाँसुरियाँ......अपना दिल तोड़-तोड़कर अपने वक्ष-स्थल को दिखाकर भी सुख का अनुभव करती थी। उन मद-मस्त मनवालों के अधरों का चुम्बन करने को लालायित बाँस के उन टुकड़ों की आहों में भी सुमधुर सुख-संगीत ही निकलता था, मुर्दे भी उस स्वर्ग में पहुँचकर भूल गए अपनी मृत्यु-पीड़ा, उल्लास के मारे फूलकर ढोल हो गए और उनके भी रोम-रोम से यही आवाज निकलती थी "यही है, यही है।"[2]

अत: शुक्लजी के शब्दों में यह कहना ही पड़ेगा कि 'पतन काल के ध्वंसकारी आघातों, विपत्ति के झोंकों को और प्रलंयकारी प्रवाहों के उपरांत सम्पत्ति के जीर्ण-शीर्ण अवशेषों के बीच मरती हुई कामनाओं, उठती हुई वेदनाओं, उमड़ते हुए आँसुओं, दहकती हुई आहों तथा नैराश्यपूर्ण बेबसी, दीनता और उदासी का एक लोक ही अपनी प्रतिभा के बल से महाराजकुमार ने खड़ा कर दिया है।'

"उपर्युक्त स्वर्ग जब उजड़ा है तब इस करुण लोक में परिणत हुआ है। जहाँ शाहजहाँ ने वह स्वर्ग बसाया था वहाँ अंत में उसके घराने-भर के लिए एक

१. पृ० १२७—वही

२. स्वर्ग—'शेष स्मृतियाँ'—पृ० ११६

छोटा-सा नरक तैयार हो गया जिसके बाहर वह न निकल सका। इस नरक के अपने गर्द के भीतर स्वर्ग अपना वह रूप-रंग कब तक बनाए रख सकता था।"[1]

बहादुरशाह के पतन का भीषण कारुणिक विप्लवकारी एवं दिगन्तव्यापी चित्रण व्यक्त करने के लिए प्रकृति की सारी ध्वंसकारी शक्ति, भूतों के कराल वेग, मानसलोक के सारे क्षोभ, सारी आकुलता, उद्वेग, सारी विह्वलता और सारी उदासी काम में लाई गई है—

"उफ ! स्वर्ग की वह अन्तिम राह ! जब स्वर्गीय जीवन अन्तिम साँस ले रहा था, प्रलय का प्रवाह स्वर्ग के दरवाजे पर टकरा-टकराकर लौट रहा था और अधिकाधिक वेग के साथ पुनः आक्रमण करता था। साँय-साँय करती हुई ठण्डी हवा बह रही थी, न जाने कितनों के भाग्य-सितारे टूट-टूटकर गिर रहे थे। दुर्भाग्य के उस दुर्दिन की अँधेरी अमावस्या की रात में उस स्वर्ग में घूमती थी उस स्वर्ग के निर्माताओं की प्रेतात्माएँ ....परन्तु उस रात-भर भी स्वर्ग में मुगलों का अन्तिम चिराग जलता रहा।"[2]

अध्यवसान आरोपमयी अलंकृत शैली की शक्तिशालिनी प्रभावमयी उद्बोधकता का एक दृष्टान्त पर्याप्त होगा :

"सूरज निकला। ......अंधकार बढ़ रहा था। दुर्दिन के सब लक्षण पूर्णतया दिखाई दे रहे थे, भाग्याकाश दुर्भाग्य-रूपी बादलों से छा रहा था।...... ... कह दिया, स्वर्गीय स्नेह की वह अन्तिम लौ झिलमिलाकर बुझ गई। और तब ...उस वंश की आशाओं का, उस साम्राज्य के मुट्ठी-भर अवशेषों का, अकबर और शाहजहाँ के वंशजों की अन्तिम सत्ता का जनाजा उस स्वर्ग से निकला। रो-रोकर आसमान ने सर्वत्र आँसू के ओस-कण बिखेरे थे। इस कठोर हृदया पृथ्वी को भी आहों के कुहरे में राह सूझती न थी। परन्तु विपत्तियों का मारा जीवन-यात्रा का वह थका हुआ पथिक सितम-पर-सितम सहकर भी मुगलों की सत्ता तथा उनके अस्तित्व के जनाजे को उठाए अपने भग्न हृदय को समेटे चला जा रहा था।"[3]

महाराज के इस प्रकार के वर्णन सर्वत्र अनुभूति के तीव्र और मर्मस्पर्शी स्वरूप का ही उद्घाटन करते हैं। भावों के साथ खिलवाड़ नहीं किया गया है। कहीं-कहीं उनकी सूझ बड़ी ही मनोरम तथा प्रिय हुई है। दिल्ली के अवशेषों का वर्णन इस प्रकार है—

---

१. शेष स्मृतियाँ
२. शेष स्मृतियाँ—पृष्ठ १८८
३. शेष स्मृतियाँ—पृष्ठ १३०

भारतीय सम्राटों की प्रेयसी का वह अस्थिपंजर दर्शकों के लिए देखने की एक वस्तु हो गया है। दो आने में ही हो जाती है राज्यश्री की उस लाड़िली, शाहजहाँ की नवोढ़ा के उस सुकोमल शरीर के रहे-सहे अवशेषों की सैर। इस उजड़े स्वर्ग को, उस अस्थिपंजर को देखकर संसार आश्चर्य-चकित हो जाता है—श्वेत हड्डियों के उन टुकड़ों में सुकोमलता का अनुभव करता है, उन सड़े-गले रहे सहे लाल-लाल मांसपिण्डों में उसे मस्ती की मादक गंध आती जान पड़ती है। उस शान्त निस्तब्धता में उस मृत स्वर्ग के दिल की धड़कन सुनने का वह प्रयत्न करता है, उस जीवन रहित-स्थान में रस की सरसता का स्वाद उसे आता है, उसे अँधेरे खण्हर में कौतूहल की ज्योति फैली जान पड़ती है।"[1]

महाराजकुमार के गद्य-काव्य में विक्षेप शैली ही दृष्टिगत होती है। भावधारा का अबाध स्रोत देखने को नहीं मिलता। भावधारा के चढ़ाव-उतार को भाषा के विविध आश्रयों से व्यक्त किया गया है। कहीं पर आपके भावों का प्रवाह उमड़ पड़ा है, कहीं मंद पड़ गया है और कहीं रुक गया है। तीव्र भावधारा में शून्य स्थल दिखलाई पड़ते हैं। बीच-बीच में उखड़े वाक्य तथा कहीं कुछ दूर तक प्रवाहमयी भाषा दृष्टिगत होती है। भावों पर प्रभाव डालने के लिए मर्मस्पर्शी शब्दों की आवृत्तियाँ भी हुई हैं। इस प्रकार की शैली भावाकुल मनोवृत्ति का परिचय देती है। दूसरे शब्दों में इन्हें भाषा की भावभंगी कह सकते हैं। भावों के प्रभाव-वृद्धि के लिए वाक्य के पदों का स्थान-विपर्यय भी बड़ी कुशलता से महाराजकुमार ने किया है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के विचार इस पुस्तक पर इस प्रकार हैं :—

"लक्षणा के द्वारा वाग्वैचित्र्य का सुन्दर और आकर्षक विधान प्रस्तुत पुस्तक में जगह-जगह मिलता है जिससे भाषा पर अच्छा अधिकार प्रगट होता है। काव्य तथा भाव-प्रधान गद्य में आजकल लक्षणा का पूरा सहारा लिया जाता है। आधुनिक अभिव्यंजना-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि इसके द्वारा हमारी भाषा में नया रंग, नई लचक और नया बल आया है। लाक्षणिक प्रयोग बहुत से तथ्यों का मूर्त्त-रूप में प्रत्यक्षीकरण करते हैं जो अधिक प्रभावपूर्ण तथा मर्मस्पर्शी होते हैं। पर जैसे और सब बातों में वैसे ही इसमें भी अति से बचने की आवश्यकता होती है। वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ कई पक्षों से अच्छा सामंजस्य देखकर तथा उक्ति की अर्थव्यंजकता और उसके मार्मिक प्रभाव को नाप-जोखकर ही कुशल लेखक चलते हैं। 'शेष स्मृतियाँ'

१. 'शेष स्मृतियाँ'

पढ़ कर यह स्पष्ट हो जाता है कि महाराजकुमार इसी निपुणता के साथ चले हैं।"[1]

प्रस्तुत पुस्तक में जड़ वस्तुओं में मानुषी संजीवना का आरोप ही बराबर मिलता है। आधुनिक कवि तो अखिल प्रकृति के नाना दृश्यों को भी प्रकृति के भीतरी-बाहरी रूपरंग में देखा करते हैं पर प्रकृति को सदा इसी रूप में देखना व्यापक अनुभूतिवालों को खटकता है। महाराजकुमार ने जड़ में मानुषी सजीवना का जो आरोप किया है वह खटकनेवाला नहीं है। इसका कारण है। आपने जो विषय लिए हैं वे मनुष्य की कृतियाँ हैं। उनके रूप मनुष्य के दिए हुए रूप हैं। वे मानव जीवन के साथ सम्बद्ध हैं। उनकी शोभा, कान्ति, चमक-दमक इत्यादि कुछ मनुष्यों की सुख-समृद्धि के अंग हैं। इसी प्रकार उनकी वर्तमान हीन दशा उन मनुष्यों की हीन दशा के अंग हैं। उनकी भावना के साथ मनुष्य के सुख, उल्लास और विलास की अनुभूति तथा दुःख, दैन्य और नैराश्य की वेदना लगी हुई है।

जड़ में सजीवता का आरोप आपने बड़ी उत्तमता से किया है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :—

> **"उन पहाड़ियों की मस्ती फूट पड़ी, उनके भी उन ऊबड़-खाबड़ कठोर कपोलों पर यौवन की लाली झलकने लगी। नरक के वे कठोर पत्थर अभागों के टूटे दिलों के वे घनीभूत पुंज भी रो पड़े।"**[2]

> **"वे भी दिन थे, पत्थरों तक में यौवन फूट निकला था। जब बहुमूल्य रंग-बिरंगे सुन्दर रत्न भी उन कठोर निर्जीव पत्थरों से चिपटने को दौड़ पड़े......और चाँद ने भी उनसे लिपटकर गौरव का अनुमान किया था.. उन श्वेत पत्थरों में भी वासना और आकांक्षाओं की रंग-बिरंगी भावनाएँ झलकती थीं। उन सुन्दर-सुडौल पत्थरों के वे आभूषण—वे सच्चे सुकोमल सुगन्धित पुष्प भी उनसे चिपटकर भूल गए अपना अस्तित्व उनके प्रेम में पत्थर होगा।"**[3]

भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से 'शेष स्मृतियाँ' गद्य-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

छायावाद का वाक्वैचित्र्य, अमूर्त विधान, वचनविदग्धता, विहित ऐन्द्रियता, मनोरम कल्पनाएँ, लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता तथा रसात्मकता डा० सिंह में पर्याप्त दिखाई पड़ते हैं। जीवन को देखने का इनका अपना एक ढंग है।

---

१. रामचन्द्र शुक्ल की प्रस्तावना से

२. 'शेष स्मृतियाँ'

३. वही।

तेजनारायण 'काक' क्रांति

'काक'जी की 'मदिरा' गीतांजलि की शैली पर है। उक्त पुस्तक की भूमिका में उन्होंने स्वतः स्वीकार कर लिया है कि उन्हें गीतांजलि का अनुवाद पढ़ने से ही प्रेरणा हुई। प्रेमाधिक्य की गूढ़ भावना 'मदिरा' में लबालब भरी है। उस प्रेम की मदिरा को पीकर कवि मस्त हो जाता है। चुम्बन-परिरंभन आदि का प्रयोग आध्यात्मिक ढंग पर करके कविता को रसमयी करने का प्रयास किया गया है।

'उसी ओर' शीर्षक में उस अव्यक्त सत्ता का अस्तित्व कवि ने सर्वत्र देखा है। मंदिर-गिर्जा, मस्जिद सबकी दीवारें उसी ओर संकेत करती हुई मालूम होती हैं पर उसे कौन समझता है। एक ही स्थान पर पहुँचने के विभिन्न मार्ग होते हैं, और पथिक उन्हें समझकर अपनाता है। अनेकता में एकता है। सच्चे आनन्द की खोज करने वालों को ही यह आभास मिल सकता है।

करुणा रस हृदय-द्रावक होता है। जो कोई इसके संसर्ग में आता है वह भी कुछ-न-कुछ द्रवित हो जाता है, चाहे दुःखी व्यक्ति से उसका सम्बन्ध रहे या न रहे। दुःखी हृदय के प्रलाप को सुनकर इतरजन स्तम्भित होकर समझने की कोशिश करते हैं पर वे इस रहस्य को क्या समझ पावेंगे जिसका अनुभव केवल दो ही हृदयों को है। जिस समय कोई विधवा अपने प्रिय की स्मृति में उसके बीते हुए क्रिया-कलापों को याद कर रोने लगती है तो उससे उत्पन्न करुणा का अनुभव वही करता है जो सहृदय है। 'आत्मकथा' शीर्षक में इसी भावना की आभा मिलती है।

'आह्वान' में कवि ने जिस आत्मीयता और दुःख-भरे शब्दों में पुकारा है उसका नमूना यह है :—

> **"आओ चन्द्रकिरणों के रजत तारों से गुथी हुई अपनी कमनीय कनक कलसी में चाँदनी की चमकीली सुरा भरकर उसे बगल में दबाते हुए गुलाब बाला की रेणुका के समान मेरे मानस प्रांगण में झड़ पड़ने।"**

'स्मृति' शीर्षक में 'काक'जी ने अपने बीते हुए काल का एक रूप दिया है। यदि मनुष्य अपने बीते हुए काल को भूल जाय तो बहुत-से दुःखों से उसका छुटकारा हो जाय। दुःख का कारण जीवन की विषम परिस्थितियां ही हैं। कभी मनुष्य सुखी दिनों की याद में विह्वल हो जाता है तो कभी दुःखी दिनों के परितापदायी कारणों द्वारा उसका सुख-दुःख तुलनात्मक होता है। या तो वर्तमान और भूत की तुलना अपने ही करता है या दूसरों के समकक्ष अपने को रखकर।

'छिद्र' में नाविक, किसान, पथिक, पनिहारिन आदि को सम्बोधित करके कुछ शिक्षाएँ दी गई हैं। जीवन में असफलता के कारण ये ही छिद्र हैं। मनुष्य के जीवन के सामान्य अवगुणों पर ध्यान नहीं देता है, सोचता है कि ये बहुत छोटे हैं, पर वे ही

आगे चलकर उसकी उन्नति में बाधक होते हैं। क्योंकि धीरे-धीरे मानस में वे घर कर लेते हैं और फिर निकाले नहीं निकलते। अतः उन छिद्रों की ओर से सदैव सतर्क रहना चाहिए। 'अभिलाषा' में कवि ने अपनी असहाय और दैन्य अवस्था का चित्र खींचा है।

'दूरागत' में कवि ने उस संकेत की ओर ध्यान दिलाया है जो परोक्ष सत्ता के यहाँ से सदैव हुआ करता है। संसार के बंधनों में फँसा हुआ जीव अपने को वहां तक पहुँचने में असमर्थ जान उसकी ओर ध्यान भी नहीं देता।

'खोज' में उस प्रियतम के प्रति मिलन की उत्कण्ठा झलकती है जो सूरदास ने अपने पदों में गोपियों के मुख से कहलवाया है।

'अग्निशिखा' में उस अनन्त और प्रखर ज्योति की ओर संकेत किया है जिसके जगाने के लिये बहुत से साधक प्रयत्न करते रहते हैं।

'निरुद्देश्य' में कवि ने उस अज्ञात लक्ष्य की ओर संकेत किया है जिसको प्राप्त करने का अध्यवसाय बहुत ही दुष्कर और दुराराध्य होता है।

'भिक्षा' में कवि ने अपनी ईप्सित वस्तु मांगकर हृदय-पट खोलकर सामने रख दिया है।

'मिलन-रात्रि' में प्रेम से पूरित उस भावना का पुट देकर एकरस तैयार किया गया है जिसका अनुभव प्रेमियों को बहुत ही सुखदायी होता है। मिलन-रात्रि के अपार आनन्द का वर्णन करके कवि ने अपने उस स्वर्गीय आनन्द का वर्णन किया है जिसकी समता सांसारिक-मिलन कर ही नहीं सकता।

इसी तरह 'लीला' 'अभिसारिका' 'पुकार' 'संसार मृत्युगीत' 'प्यास' 'पागल' 'जीवन-गान' 'खोया प्यार' 'मेरा परिचय' 'मधुमयी' 'हृदय का मूल्य' 'रहस्यमय' 'अन्त में' आदि शीर्षकों में कवि ने अपने भाव निहित किए हैं। चित्रमयी भाषा में अर्वाचीन प्रथा के अनुसार कवि ने लेखनी चलाई है। बहुत-से विचारों का पुनरावर्तन लटकता है। एक ही शीर्षक को कई बार लिखकर उससे सम्बन्धित भावों को भी कवि ने कई तरह से प्रकट किया है।

'क्रान्ति'जी की दूसरी कृति 'निर्झर और पाषाण' है। इस रचना में भावों को प्रौढ़ता प्राप्त होती गई है। कथन का ढंग भी पहले से बदला हुआ है। इसमें आख्यान और अन्योक्ति शैली के आश्रय में भावों का विकास दार्शनिकता को आधार मानकर चला है। भाषा भी अधिक लाक्षणिक तथा साहित्यिक है।

'मुक्ति और मशाल' में भाव तथा भाषा का पर्याप्त वैलक्षण्य है।

इनके गद्य-काव्यों में छायावाद की भंगिमा, अतृप्ति, वाक्वैलक्षण्य तथा माधुर्य है।

दिनेशनन्दिनी चोरड्या

दिनेशनन्दिनी का संसार भस्म तथा अन्धकार से बना है, पर प्रकाश पाने को अन्धकार के कण अनन्त गति से भ्रमण करते देखे जाते हैं। उनमें शीत का आतंक और कभी वसन्त की स्पृहा भी थी पर अब करुणा की छाया से उनका मानस व्याप्त हो गया है। उनके जीवन में काँटों पर फूल हैं और श्मशान की चेतनाशून्य भूमि पर अलसाई ज्योत्स्ना। संसार की भीषण परिस्थितियों के चित्रों में जिनमें अन्धकार का साम्राज्य है, दिनेशनन्दिनी की आँखें स्वर्णप्रभात के सुनहले स्वप्नों को देखने का उपक्रम करती हैं। इनके विरह-गीतों में निराशा की मार्मिक कथाएँ हैं। विश्वात्मा के प्रति विरह और मिलन की भावनाओं से इनके गीत प्लावित हैं। इनके जीवन में सूनापन, यौवन में अशान्ति, चुम्बन में शीतलता, नेत्रों में विहाग है किन्तु रूठे हुए साजन मनाने की बलवती स्पृहा पूरे जीवन को घेरे हुए है। इनके प्रकृति के चित्रों में इन्द्रधनुष का स्थायी रंग है तथा प्रसूनों में पारिजात का परिमल है। प्रकृति के इस क्षेत्र में आत्मा परिष्कृत होकर परमात्मा से मिलने को आतुर दिखाई पड़ती है। अपने आराध्य से वे सशरीर यहीं मिलना चाहती हैं। इन चित्रों को स्पष्ट करने के लिए भावनाओं का आवर्तन अनुभूति की तीव्रता को और भी उभार पर ला देता है। यथा :

"मुझ पर फूलों की वर्षा न करो देव !
मैं तुम्हारी अनंत दया का भार वहन करते-करते झुक गई हूँ।
मुझे वैभव का दान न दो देव !
मैं तुम्हारी यौवन परछाईं का ओज देखकर ही इठला गई हूँ।
मुझे अमर होने का वरदान न दो वरदाता !
मैं तो तुम्हारा जीवन देखकर ही जीने से अंधी हो गयी हूँ।
मुझ पर फूलों की वर्षा न करो देव।"[1]

नंदिनीजी के गीत मूल भाव से उठकर, सार्थक दृष्टान्तों, कल्पनाओं अथवा उक्तियों से पुष्ट होकर अंत में परिपुष्ट वेग से फिर आवर्तित होते हैं। इनके गद्य-गीत उत्कृष्ट भावसौंदर्य प्रदान करने के साथ ही एक सुव्यवस्थित आकार-सौंदर्य भी रखते हैं। इन गीतों में पर्याप्त कलात्मकता, संगीत, लय, ध्वनि, स्वर, गति, ललित सजीव-चित्रांकन, सूक्ष्मता, उज्ज्वलता, उदात्त शब्द-विन्यास-काव्यमयता, कल्पनामाधुरी एवं दृश्यमाधुरी की बहुलता रहती है। यथा—

"यदि तुम और मैं राजहंसों के युगल जोड़े होते तो चुँचु-से-चंचु मिलाकर मान-सरोवर के फेनिल वक्ष पर कल्लोल करते,
यक्षों की राजधानी अलका में मुक्ता चुगते

---

१. 'मौक्तिक माल'—दिनेशनन्दिनी

सुमेरु पर देव-गन्धर्वो का वाद्य-गान सुनते
और कैलाश के धवल शिखर तक उड़ उमा-महेश्वर का सांध्य नृत्य देखते ।"[1]

नन्दिनी के गद्य-गीतों में एक निराला आकर्षण, कमनीयता तथा रसीलापन दिखाई पड़ता है। कहीं प्रिय के प्रति उपालंभ, कहीं मान, कहीं संकोच तथा कहीं वेदना के भाव दिखाई पड़ते हैं। उनकी प्रेम-साधना के प्रेमोन्माद ने हिन्दी साहित्य को कलात्मक भावुकता प्रदान की है। इनका काव्य संकेतवादी है जिसमें प्रत्यक्ष जगत् से अप्रत्यक्ष तक पहुँचने की पीड़ा व्यक्त है। इन्होंने सौन्दर्योपासना की मदिरा पीकर, जगत् के सौन्दर्य का प्रेमोन्माद में अनुभव करके, प्रत्यक्ष छवि को मानव जीवन की सरलताओं से निरखकर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष के मधुर मिलन की झाँकी दिखाई है। शारवाल एम० ए० की यह उक्ति कि प्रत्यक्ष सौंदर्य में रमणकर अप्रत्यक्ष से तादात्म्य प्राप्त करना उनके काव्य-जीवन का ध्येय और प्रेम है, [2] सर्वथा संगत है।

नन्दिनी के 'यौवन में बेकली है, सौंदर्य में आकर्षण है, अधरों में मदिरा है, आँचल में प्रसून है।'[3] इसीलिये वे प्रेम मिलन की किश्ती पर चिर-मिलन के स्वप्न सजाये अनन्त अभिसार यात्रा के लिए निकल पड़ती हैं। [4] चाहे मार्ग भले ही न सूझे। वे अपने प्रेमालम्वन की छाया को आलिंगनवद्ध कर चित्रवत् '[5] खड़ी रहती हैं और 'भरी प्याली अधरों से स्पर्श करती हैं।'[6] प्रेमी से ठुकराये जाने पर भी वे प्रेम करती रहती हैं।

उनका दृढ़ विश्वास है कि 'मेरे बिना तुम्हारी कीर्ति कवियों द्वारा गाई जाने पर भी अजर नहीं है।'[7]

वास्तव में अन्य द्वारा गया हुआ भाव चलती हुई स्निग्ध, सुव्यवस्थित मंजुल तथा आलंकारिक भाषा का भावों से युक्त चित्र ही होगा। पर भावों में प्राण तो प्रेमी ही भर सकता है। ऐसे ही प्रेम-भाव में ओज, दीप्ति, प्रसाद, माधुर्य, सरसता, टीस, वेदना तथा पीयूषता होगी। इसी प्रेम के कारण मीरा और सूर के पद अजर अमर हो गये हैं। पर कहीं-कहीं नन्दिनीजी का मानस शंकालु भी हो गया है। यथा:

---

१ 'दुपहरिया के फूल' से
२ 'दुपहरिया के फूल' की भूमिका से
३. 'शबनम' से
४. 'शबनम' से
५. वही, पृ० १५
६. वही, पृ० १७
७. वही, पृ० ३०

"प्रेम को प्रगट करने में ही यदि यौवन की मधुरिमा है तो तारिकाएँ सृष्टि सृजन से ही क्यों मूक तड़प रही हैं। प्रेम को गुह्य रखने में ही जीवन-साधना की सम्पूर्णता है तो पपीहा क्यों अपनी असहाय पीर से विश्व के सामूहिक विरह को जाग्रत कर श्रोता को रुला रहा है।"[१]

प्रेम का स्वरूप आपने इस प्रकार चित्रित किया है। यथा :—

"निद्रा के नवीन चित्रपट पर प्रथम स्वप्न के सृजनहार का नाम प्रेम था, उसके विशद विभाव विलोल लोचन वारिधि में विरह-विदग्ध तारिकाएँ चमक रही थीं। अनुभवों के वेदना-भार से उसकी घनी काली-काली पलकें अवनी से छू रही थीं, उसके दाएं हाथ में मधुर-मिलन का रक्तवर्ण यौवन था और बाएँ में अवसन्न जरा की पीत मूर्च्छना।

उसके अधरों में इन्द्रधनुष का दीपक नर्तन था और अंग-प्रत्यंग से शीतल ज्वाला के विद्युत स्फुलिंग उड़ रहे थे।"[२]

"जहाँ उषा की रक्तिमा प्रभात को रंजित न करे"।[३]

ऐसे ही स्थल पर ले चलने के लिए प्रिय से उनका आग्रह है। और जब तक मिलन नहीं होता वे 'अपने नयन कटोरों में प्रतीक्षा का दीप'[४] जलाकर बैठती हैं। उनकी कामना है कि 'यदि तुम मुक्ताहार होते तो मेरी युगल उरश्लाघियों पर सदैव शोभा पाते और मेरे हृदय का संगीत प्रति पल सुनते।'[५] प्रिय से मिलने का सन्देश पा वे शृंगार करती हैं। यथा :

"जब बदलियों से मोती झरते हैं, अंबर का अंचल रंगीन दिखाई देता है और रूपसी मेघ-मल्हार गाती है तब मैं अपनी वेणी को प्रसूनों से अलंकृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकती क्योंकि मेरी कल्पना कहती है वह मुझसे रीझ उठेंगे।"[६]

नन्दिनी के प्रेम ने मृत्यु को भी निर्मम नहीं माना है। मृत्यु में मिलनोल्लास, चुम्बन आदि का पूर्ण स्वाद उन्हें मिलता है। उनके लिए 'मृत्यु पिया की वह दूरी है जो बीहड़ वन के उस पार संकेत-स्थल तक ले जाकर मिलन का आनन्द प्राप्त कराती

---

१. 'शारदीया' पृ० १० प्र० सं० : दिनेशनन्दिनी
२. 'शारदीया' पृ० १३ प्र० सं० : दिनेशनन्दिनी
३. वही।
४. वही, पृ० ५३
५. 'शारदीया' पृ० ५६
६. 'शारदीया' पृ० ५८

है। इसीलिये उनके लिये मृत्यु और प्रेम यौवन की अन्धी टहनी पर होनेवाले पुष्प हैं।[1] प्रथम मिलन से ही वे विकल हो गई हैं। यथा :—

"प्रथम आलिंगन की पहली स्मृति कसकती हुई उसी प्रकार मेरे नवंगों को फहराती हैं जैसे भरी हुई वारुणी की जुड़वा लहरें प्याले के अधरों को।"[2]

प्रिय को खोजने के लिए उन्होंने अनेक पथ अपनाये हैं। लक्ष्य पर पहुँचकर जब उन्हें लौट जाने को कहा जाता है तो वे कहती हैं :

"पनघट पर बैठकर भी तू मेरा रसकलश भरने से इनकार करता है। तारों के प्राचीर पर तारुण्य-भरे प्रकाश की डोरी पकड़ में तेरे आवाहन पर यहाँ तक आई और अब झूठी प्रतिष्ठा के निष्ठुर पंजों में फंस तू मुझे लौट जाने को कहता है।"[3]

छायावाद की मस्ती, कामुकता की भावात्मक-अभिव्यक्ति, प्रणय-वासना का उद्गार, भावावेश की आकुलता तथा विरह-वेदना के नाना सजीले चित्र, जहाँ इनके गीतों में मिलते हैं वही जगत्नियन्ता का साक्षात्कार नव-विवाहिता युवा नारी के रूप में करती हुई दिनेशनन्दिनी दिखाई पड़ती हैं। उनके गीनों में संयोग की सुखद स्मृतियाँ तथा वियोग काल के प्रथम स्पर्शजनित प्राणों की विह्वलता है। प्रतीक योजना, सांकेतिकता, लाक्षणिकता, भाषा में उर्दू-फारसी के शब्दों की बहुलता, अभिनव रूप-विधान आदि के विषय में चौथे, पाँचवें तथा छठें अध्यायों में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अतः पुनः उसका कथन पिष्टपेषण ही होगा।

भँवरमल सिन्धी

'वेदना' कार भँवरमल सिंधी के विषय में पुस्तक की भूमिका में श्री जैनेन्द्र-कुमार, श्री सुनीतकुमार चाटुर्ज्या तथा श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने विचार इस प्रकार क्रमशः व्यक्त किये हैं :—

"समस्त के प्रति सर्वत्र वियोग अनुभव करता हुआ चिर काल से मानव संपूर्ण के प्रति संयोग की कामना करता रहा है। नाना रूप और नाना रिश्तों में उसने सबको अपने भीतर लिया और सबके प्रति अपने को दिया। विराट के प्रति उसका आवाहन कभी चुप नहीं हुआ। इस तरह अनेक उपायों से वह विराट को ही पुकारता रहा है। नाना छन्दों में उसकी वह पुकार मुखरित हुई है और मानव-वाणी युग-युग से उस पुकार से घनी हुई है।

१. 'उनमन' पृ० १६ वही

२. 'उनमन'—शीर्षक ५०, दिनेशनन्दिनी

३. 'उनमन' पृ० ६६

प्रस्तुत गद्य-गीत कुछ हों, कुछ न हों, मुझे प्रतीत हुआ कि उनके सम्बोधन का लक्ष्य उसी ओर है। उपलक्ष्य कहीं भी हो, लक्ष्य में चूक नहीं है। उसमें उसी अपरिमेय की खोज है, चाह है जिसके स्पर्श से क्षण भी अनन्त और बिन्दु भी अथाह बनता है।"[1]

"प्रस्तुत गद्य-गीत की पुस्तक हिन्दी साहित्य में नवतम पुष्प है। इसकी सुषमा, इसके वर्ण और सौरभ अवश्य ही साहित्य-प्रेमियों को विमोहित करेंगे। पुस्तक के नये भाव अपनी चमकीली और सुरीली भाषा की झलक और झंकार के साथ हिन्दी के लिये अनोखी वस्तु है।......इन कविताओं की अनुभूतियाँ तथा अभिव्यक्ति निहायत आधुनिक रीति की है, इसीलिये मेरा निश्चय है कि इन कविताओं का आवेदन आधुनिक युग के शिक्षित लोगों के लिये सार्वजनीन होगा।"[2]

"श्रीयुत भँवरलालजी हिन्दी की प्राचीन रीति का बंधन मुक्तकर उस भाषा में नूतन प्राण-संचार कर उसे भाव-क्षेत्र की सीमा-प्रसार करने में प्रवृत्त हुए हैं। उन्हें इस व्रत में सफलता मिली है।"[3]

"जीवन की निर्मम कुटिलताओं से निरन्तर घायल होकर जो अपने प्रत्येक क्षण को केवल इस चिन्तन में ही व्यतीत करता हो कि कैसे मनुष्य मात्र में सत्य का आलोक फैले, कैसे वह निष्कपट बनकर स्वार्थ-साधन से निर्लिप्त हो, जीवन की विवशताओं, हीनताओं और दुर्बल वृत्तियों पर कैसे वह विजय प्राप्त करे ऐसा चिन्तक और अहर्निशि श्रमशील साहित्यकार तो देश के लिये गौरव की वस्तु होता है।"[4]

"आत्मानुभूति की सच्ची अनुभूति है।"[5]

भँवरमल सिंघी के हृदय में अज्ञात सत्ता के सान्निध्य की एक ललक एवं तीव्र चाह है। जगत् के संघर्ष, प्रलोभन एवं विलोड़न 'वेदना कार' के मानस में वेदना भरने के अतिरिक्त प्रकाश की रेखा भी भरते हैं। देखिये—वेदना (८७) शीषर्क।

"सत्य की प्राप्ति के लिए काव्य और कलाएँ जिस सौन्दर्य का सहारा लेते हैं वह जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति पर आश्रित है, केवल बाह्य रूपरेखा पर नहीं। प्रकृति का अनन्त वैभव, प्राणी जगत् की अनेकात्मक गतिशीलता, अन्त-

---

१. जैनेन्द्रकुमार

२. सुनीतकुमार चाटुर्ज्या

३. रवीन्द्रनाथ ठाकुर

४. भगवतीप्रसाद वाजपेयी—'साहित्य वातायन' की भूमिका से

५. पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'संदेश' मई १९४२

जगत् की रहस्यमयी विविधता सब-कुछ इनके सौन्दर्य-कोष के अन्तर्गत है और इसमें से क्षुद्रतम वस्तु के लिए भी ऐसे भारी मुहूर्त आ उपस्थित होते हैं जिनमें वह पर्वत के समक्ष खड़ी हो कर ही सफल हो सकती है और गुरुतम वस्तु के लिए ऐसे लघु क्षण आ पहुँचते हैं जिनमें छोटे तृण के साथ बैठकर ही कृतार्थ बन सकती है।"[1]

"जीवन के निश्चित विन्दुओं को जोड़ने का कार्य हमारा मस्तिष्क कर लेता है, पर इस क्रम से बनी परिधि में सजीवता के रंग भरने की क्षमता हृदय में ही सम्भव है। काव्य या कला मानो इन दोनों का सन्धिपत्र है जिसके अनुसार बुद्धि-वृत्ति झीने वायुमण्डल के समान बिना भार डाले हुए ही जीवन पर फैली रहती है और रागात्मिका वृत्ति उसके धरातल पर, सत्य को अनन्त रंग-रूपों में चिर नवीन स्थिति देती रहती है। अतः काव्य-कला का सत्य जीवन की परिधि में सौन्दर्य के माध्यम द्वारा व्यक्त अखण्ड सत्य है।"[2]

प्राकृति की अनेकरूपता, परिवर्तनशील विभिन्नता में भी एक तारतम्य स्थापित करके सहृदय साहित्यकार एक अखण्ड और असीम चेतन की कर्तव्यशील व्यापकता का प्रसार सर्वत्र करता है। उसका भावातिरेक उसकी क्रियाशीलता का ही विशिष्ट रूपान्तर है। उसका अन्तर्जगत् जब वाह्य जगत् में अपनी अभिव्यक्ति के लिए अस्थिर हो उठता है तो उसकी वाणी मुखरित हो उठती है। लोक के विविध रूपों की एकता पर आधारित अनुभूतियाँ व्यक्ति की कलात्मक संवेदनीयता से सम्बन्धित होने के कारण दार्शनिकता एवं भावपक्ष के समान प्रस्फुटन से काव्य का अभिनव रूप धारण करती हैं।

चेतन की व्यापकता और जड़ की विविधता की अनुभूति चिर काल से होती आई है और रूपों के ही माध्यम से अरूप की अभिव्यक्ति भी हुई है। कवि भी इसी सत्य को उद्भासित करता रहा है। उसकी शैली संकेतात्मक रही है। सूक्ष्म तत्व के ग्रहण के लिए उसने रूपकों का भी सहारा लिया है और शाश्वत जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले आख्यानों के माध्यम से भी इस भाव को व्यक्त किया है।

श्री भँवरमलजी ने जीवन की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न अनुभूतियों एवं रहस्योद्घाटनों का एक ऐसा ताना बुना है जिसमें हृदय और मस्तिष्क का पर्याप्त मेल है और जीवन के लिए विस्तृत पीठिका भी। इससे पता चलता है कि इनका संस्कार-आकाश, व्यापक सामंजस्यपूर्ण एवं सुलझा हुआ है। इन्होंने जीवन को विरूप खण्डों में नहीं बाँटा है। जीवन की विविधिता के साथ सौन्दर्यपूर्ण सामंजस्य स्थापित करके अनुभूतियों का सजीव चित्रण इनकी कला की विशेपता है।

---

१. महादेवी वर्मा (काव्य-कला)

२. महादेवी का विवेचनात्मक गद्य, पृ० ८

भँवरमल सिंधी की 'वेदना' व्यथा के प्रभाती गीतों की सुनहली आभा से द्युतिमान तो है पर उसमें आँसुओं की नमी भी समाई हुई है जो उल्लास और विषाद की समतल अभिव्यक्ति के परिणामस्वरूप अधिक उभरी हुई है। इन गीतों की स्वर-लहरी हमारे जीवन के विस्तार और गहराई में स्थायित्व लिए हुए है। अतः उसके सौन्दर्य में सौरभ की मादकता है पर यह मादकता उन्हीं पुष्पों की है जो श्मशान यात्रा के समय शव को विभूषित करते हैं और जिनकी भीनी सुगन्ध संसार की नश्वरता का पाठ पढ़ाती है। कही वह हृदय के हर स्वर-में-स्वर मिलानेवाली रहस्य की संगिनी है, कहीं मनुष्य के स्वानुभूत सुख-दुःखों की मात्रा बताने का साधन है और कहीं आराध्य के सौन्दर्य-शक्ति की छाया है। स्वानुभूत-प्रधान वेदना की पंक्तियाँ हृदय-गत मर्म को चित्रमयता और बाह्यरूपों को व्यापकता प्रदान करती हैं।

'वेदना' की भाषा प्रौढ़, परिमार्जित संयत तथा प्रसंगानुकूल है। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग का बाहुल्य है। भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद पर्याप्त है। आपकी साधना वेदना की थाली में प्रेम की पूजा है।

'छायावाद' की करुणा आपकी वेदना में साकार हो गई है। महादेवी की भाँति इन्होंने भी प्रियतम को पीड़ा में ही ढूँढ़ा है।

माखनलाल चतुर्वेदी

माखनलाल चतुर्वेदी के गद्य-काव्य प्राचीन एवं नवीन भावों के दोनों कूलों के स्पर्श से प्रसरित हुए हैं। प्राचीन भव्य भारतीय संस्कृति के प्रति आपके हृदय में समादर है और नवीन जागरण की उद्बोधकता। जीवन के विविध पक्षों को, परिस्थितियों के सूक्ष्मतम अंगों को, सुख, दुःख, आलस्य, हिंसा, प्रमाद, हर्ष, जुगुप्सा आदि भावों को तथा संसार के सारभूत तत्वों को जिस निकटता से आपने देखा है, वैसा अन्य साहित्यकारों की कृतियों में, इतने वेग एवं शक्ति-सम्पन्नता से नहीं दिखाई पड़ता। भक्तिभाव समन्वित आपके विशाल भावनाओं का क्षेत्र जगत् और जीवन के नित्य स्वरूप को स्पर्श करता हुआ नूतन परंपरा का विशद-मर्मस्पर्शी प्रसार करता है। अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, विश्लेषणात्मक सांसारिक अवेक्षण, स्वानुभव-निरूपिणी कला, अध्यवसान पद्धति पर अप्रस्तुतों का विधान, सुख-दुःख के वैषम्य, भोगों की अनंता का चित्र, जीवन की क्षणभंगुरता, जीवों का अहंकार, पश्चात्ताप, रुदन, अन्तर्द्वन्द आदि के विविध रूप इनके 'साहित्य-देवता' पुस्तक में भरे हैं।

जीवन अंतराल की साधारण स्वल्प एवं उपेक्षित कड़ियों के भी स्मरण आपको वैसे ही बने रहते हैं जैसे महत क्षणों के आपके भावों की दूरारूढ़ योजना, भाषा के क्लिष्ट लाक्षणिक प्रयोग एवं व्यंग-बहुलता से युक्त पाठकों की बोधगम्यता से कहीं-कहीं बाहर हो जाती है। आपके गद्य-काव्यों में विषयों की अनेकरूपता है।

आध्यात्मिक पक्ष के गद्य-काव्य अनुभूतियों की यथार्थता का बल पाकर विशेष मनोज्ञ हो गये हैं। 'साहित्य-देवता' शीर्षक गद्य-काव्य लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का साकार रूप है।

'जनता' शीर्षक जनता को उद्बुद्ध करने के लिए लिखा गया है।

'छलकत गगरी' में अहंकार का स्पष्ट चित्र है। 'विन्दु सिन्धुत्व का दावेदार' विन्दु की महत्ता, महत्सिद्धि से कराता है।

'नीलाम' शीर्षक में कला-लालित्य और पुरुषार्थ के पतन की ओर संकेत किया गया है।

'जब रसवंत बोल उठे' शीर्षक में लेखनी की शक्ति पर प्रकाश डाला गया है।

'न सधनेवाला सौदा' 'गृह-कलह' आदि में विचारों की निखराहट दर्शनीय है।

'जीवन का प्रश्नचिन्ह स्त्री'[1] शीर्षक में नारी का स्वरूप, शक्ति, आदि व्यक्त करके उसे जाग्रत होने की प्रेरणा है। आपके भावों में पर्याप्त ओज रहता है। यथा :

"तुममें बिना प्रवेश किए, तुममें बिना आर-पार गुजरे, तुम्हारा बिना शोध किए, तुम्हारा मूल्य मानने के लिए मानव कितना लाचार है? कितना उतावला! कितना अंधा? प्यार को वह प्राण कहने लगता है।"

आपकी वाणी में वेग, प्रवाह, शक्ति, नूतनता, उल्लास, अभिनयशीलता, प्रौढ़ता, एवं सशक्तता पर्याप्त है। यथा :

"देवि तुम ऊँची हो, नीची हो, गहरी हो, विस्तृत हो, गतिशीला हो।"[2]
हे महानदों और सरोवरों की स्वामिनी क्या तुम्हारी गोद हो चोरों और बदमाशों के लिए खुली छोड़ दी गई है।"[3]

लाक्षणिकता एवं वचन-विदग्धता के अनूठे चित्र 'साहित्य-देवता' में भरे हैं। यथा :—

"स्फूर्तियों के बाग में रूढ़ियाँ लहलहाने लगी हैं।"[4]
"नंगी औरतों से सरोवरों के पानी का नाप कराती।"[4]
"पण्डिता बनिता लता स्वावलम्बी नहीं होते।"[4]

---

१. 'जीवन का प्रश्नचिन्ह स्त्री' शीर्षक 'साहित्य देवता' : माखनलाल चतुर्वेदी प्र० सं०

२. वही।

३. 'जनता' शीर्षक से

४. 'जब रसवंती बोल उठे' शीर्षक 'साहित्य देवता'

भाषा के द्वारा चित्रोपमता की भी आपने सृष्टि की है। यथा :

"कुछ बेचैन-सा, कुछ बावला-सा, कुछ पत्थर-सा, कुछ उतावला-सा, कुछ खुली आँखों अनदेखा-सा, कुछ मुँदी आँखों से देखता-सा, अपने कुछ त्योहारों पर रोता-सा, कुछ मतवालों-सा, मुस्कराता-सा, अपनी कल्पना के आँसू सूरज की किरणों को सँवारने के लिए वह टपकाता ही उस दिन है जिस दिन उसकी रसवन्ती बोल उठे।"[1]

चतुर्वेदीजी का उक्ति-वैचित्र्य रमणीय, प्रसंगानुकूल एवं मार्मिकता से ओत-प्रोत है। कल्पनाओं की सजीवता भाषा की प्रौढ़ता से मंडित है। विरोधाभास के चमत्कारिक प्रयोगों से तथा सांकेतिकता के अभिनव सौन्दर्य से 'साहित्य-देवता' लबालब भरा हुआ है।

श्रीमती शकुन्तलाकुमारी 'रेणु'

आपके विषय में भूमिका-लेखक श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी इस प्रकार लिखते हैं :

"उन्मुक्ति में प्रकृति शकुन्तला के प्राणों में सजीव होकर अनुरागिनी की तरह सृष्टि के निखिल चेतन अखिलेश्वर का चिन्तन करती है। वह कवि, गायक, चित्रकार सबको सम्बोधित कर अपना उद्गार सुनाती है किन्तु ये सब एक ही विधाता के कलात्मक पर्याय हैं।"

रेणुजी की उपासना में जीवन से अनुरक्ति है, विरक्ति नहीं। अनुरक्ति ही भक्ति का स्वरूप बन जाती है। इसे आपने ७३वें गद्य-गीत में इस प्रकार दर्शाया है :

**"मैंने देखा सरिता में बाढ़ आई।
और वह धीर गंभीरता में परिणत हो चली।
मैंने देखा प्रेम में आसक्ति उत्पन्न हुई,
और वह श्रद्धामयी भक्ति में परिणत हो चली।"**

विन्दु से नदी, नदी से सिन्धु की तरह आसक्ति से भक्ति से, भक्ति-मुक्ति स्वतः हो जाती है। यथाः

"प्राणी के हृदय में जब स्नेहोद्रेक होता है, तब उसका ही 'स्व' विसर्जन की ओर चल पड़ता है। वह अपने ममत्व का विस्तार चाहने लगता है, इस तरह आसक्ति, भक्ति और मुक्ति मनुष्य के आत्मविलय की क्रमिक क्रियायें हैं, ध्येय अपनी संकर्णता से मुक्त होकर सर्वं खल्विदं ब्रह्म में परिणत हो जाता है। ३४वें गद्य-गीत में इसीका उद्घाटन हुआ है।

१, वही।

'पहले निज हृदय की ग्रंथियाँ खोल मृदु ममता के कोमल बन्धन सर्वत्र तुझे बांधने को ललकेंगे।
.........पहले स्वयं निज को समझने का प्रयत्न कर मानव-हृदय के सम्पूर्ण रहस्य तेरे सामने खुल पड़ेंगे।"

मनुष्य का 'स्व' जब विसर्जनशील हो जाता है तब चर-अचर सबका सुख-दुःख अपना ही सुख-दुःख जान पड़ता है, समष्टि के साथ आत्मीयता और संवेदना ही तो छायावाद की काल्पनिक अनुभूति है—३५वें गद्य-गीत में यही भाव हैं। 'बिखरे शबनम' और 'बिखरी पंखुड़ियों' की वेदना से द्रवित होकर 'उन्मुक्ति' की उद्गायिका कहती है :

"क्या मेरे इन अश्रुकणों से इनका तर्पण न होगा ?
सखी मेरी।"

'उन्मुक्ति' में शकुन्तला के उद्गार बहुत ही सीधे-सच्चे व स्वाभाविक हैं। उसकी भावधारा अत्यन्त ही मर्मस्पर्शिनी है। कथन-ढंग आकर्षक एवं प्रभावकारी है।

'उन्मुक्ति' में 'रेणु'जी की भावना रेणु के समान आकाशगामी होकर दिव्य मानव के कांचन-किरीट में आकर टपकने का उपक्रम करती है। कहीं वे किसी कोमल किसलय-हृदय पर बैठने का प्रयास करती हैं, कहीं कल्लोलिनी सरिता के उर में विलीन होने में ही आनन्द मानती हैं, कहीं किसी कलधौत सौध के कंगूरे पर आसीन होने को उत्सुक हैं, तो कहीं बीहड़ पथ पर टपककर पड़े रहने को ही धन्य मानती हैं।

गद्य-गीतों में आपने अभिनव संगीत, लय तथा माधुर्य का मिश्रण किया है। छायावाद की अतृप्ति आपमें नहीं है, पर नारी-हृदय की सहज कोमलता एवं अभाव ने इनके गीतों में मानुषी सौन्दर्य का मधुर घोल भरा है। भाषा में चमत्कारिक कथन का अभाव है पर भावों के प्रकाशन में एक सहज प्रसन्न सौन्दर्य है।

वियोगी हरि

जहाँ राय साहेब के गद्य-काव्यों में बौद्धिक तथा भावुक दोनों आवरणों की प्रधानता है, वहाँ वियोगी हरि के गद्य-काव्यों में अलंकरणप्रिय भावुकता, जीवन के सामाजिक तथा आध्यात्मिक स्तरों के स्पर्श तथा आत्मसात् की गहरी भावना की रेखायें हैं।

'तरंगिणी' के 'तेरा संदेशा' शीर्षक में जैसाकि द्वितीय अध्याय में कहा जा चुका है, वियोगीजी बाण की शैली के अधिक समीप चले गये हैं। पर इस पुस्तक

के और स्थलों पर तथा 'अन्तर्नाद' 'भावना' 'प्रार्थना' 'विश्वधर्म' 'ठंडे छींटे' तथा 'श्रद्धाकरण' में इस शैली का सर्वथा अभाव है।

'तरंगिणी' में वियोगीजी पूर्ण भक्तिपरक भावभंगी लेकर आये हैं। यदि कहीं राष्ट्रीय भावना देखने को मिलती भी है तो केवल संकेत के रूप में। सुधारवादी दृष्टि-कोण भी इस कृति में खोजने से ही मिलेगा। 'केवल विनय ?' (तरंगिणी) शीर्षक में आप अपने भक्तिपरक उद्गार इस प्रकार व्यक्त कर रहे हैं :

"हे नाथ, जब दिन-भर कठिन परिश्रम करते रहने पर मेरे अंग शिथिल पड़ जावें, वेग से साँस चलने लगे, और हताश होकर जीवन तरु की छाया में बैठ जाऊँ, तब मेरे मुख से यही वचन निकलें 'तेरे विश्व-वृक्ष का फल चख लिया, उसमें अनेक खट्टे-मीठे स्वादु पाये, किन्तु तृप्ति न हुई ! अब तो, मेरी इच्छा तेरे प्रेम-फल चखने की है। उसमें विष-रस क्यों न भरा हो और उनके छूने से ही मेरी, मृत्यु हो जावे, तो भले ही हो।"

"हे प्रियतम, जब प्रगाढ़ निद्रा से मेरी आँखों पर पलक आप-से-आप गिर पड़े कार्यालय से छुट्टी लेकर अपने देश को चलने लगूँ, तेरा दूत मेरा अतिथि बन जाये और मैं निर्लज्ज बनकर दुर्वासनाओं से भरी हुई मुट्ठियाँ खोल दूँ, तब हे मेरे प्यारे ! कृपा कर तुम वहाँ आ जाना और मेरे माथे पर हाथ फेर देना। मैं भी अपना अत्यन्त प्रिय हृदय-रत्न निकालकर तेरे मुकुट के अधोभाग में जटित कर दूँगा और तेरा कर-कमल चूम कर शान्ति में सो जाऊँगा।"[1]

जब साधक सांसारिक प्रलोभनों में पड़कर पथभ्रष्ट हो जाता है, संसार की विषय-वासनाएँ उसे बन्दी बना लेती हैं और वह पीड़ा से कराहते हुए अपनी भूलों पर पश्चात्ताप करने लगता है तो उसी समय 'प्रेममय' प्रभु की अनन्त कृपा वारिधारा का वह अधिकारी होता है। दयाल प्रभु उस पर कृपा करके उसे कृतार्थ करते हैं। इसी भाव को वियोगीजी 'प्रेम और बन्दी' में इस प्रकार व्यक्त करते हैं। यथा :

"भाई तू इस कराल कारागृह में कैसे आया ?

बन्दी ने कहा—'क्या यह कारागृह तुम्हारी दृष्टि में कराल ही है ? यह अत्यन्त मनोरंजक, प्रलोभी, वेदनामय एवं अद्भुत है। जब मैं इसके सामने होकर आनन्दोपवन में वायु-सेवनार्थ जाया करता था, इसकी बाहरी चमक-दमक और निराधार स्तम्भ-मण्डप की छटा मन को बलात् खींच ले जाती थी। मुझे तो अपना स्वास्थ्य ठीक करना था, इससे आनन्दोपवन में ही जाना मेरा परम अभीष्ट था। उस रम्योपवन में मेरा मन बहुत प्रसन्न हो गया, किन्तु योगियों से भी

---

१. 'तरंगिणी' पृ० ३९-४० : वियोगी हरि

दुःसाध्य इन्द्रियग्राम मुझ सांसारिक जीव से क्योंकर वशीभूत होने चला ? सारांश, एक दिन मैं इस अद्‌भुत गृह पर ऐसा मोहित हो गया कि अन्तरात्मा के बार-बार अनुरोध करने पर भी, मैं इसके भीतर चला ही गया। यहां मैंने अनेक सुन्दर काम-वाटिकायें, विषय-अट्टालिकायें और केलि-कलायें देखीं। बहुत काल तक इस गृह में टहलने से मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया और मानसिक शैथिल्य तो ऐसा हुआ कि मेरा अमूल्य जीवन चिन्ताग्रस्त होकर निस्सार और प्रभाहीन हो गया। मैंने निकल भागने की चेष्टा की, तो फाटक बन्द ! हा ! मैंने अपने ही हाथों फाटक का ताला लगा दिया और कुंजी फेंक दी।'

क्यों भाई, तुझे ये हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ किसने पहनाईं ?

उसने उत्तर दिया—"क्या कहूँ, इसी कारागृह की वाटिका से अनेक विकसित एवं सुगन्धित सुमन संग्रह किये, और गले के लिये माला तथा पैरों और हाथों के लिये आभूषण बनाये। जब मैंने उन्हें धारण किया, तो माला की फांसी और आभूषणों की हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ हो गईं। हा ! ये बेड़ियाँ इतनी पक्की हैं कि इन्हें तोड़कर मैं किसी भाँति नहीं भाग सकता हूँ।"

बन्दी, क्यों घबड़ाता है ? तूने अपने अपराधों पर पूर्ण पश्चात्ताप कर लिया। मैं तेरा बन्धन काटकर, तुझे अभी कारागृह से मुक्त किये देता हूँ। मैं साक्षात् 'प्रेम' हूँ। तेरे सरीखे शुद्ध अन्तःकरणवाले बन्दियों के कष्ट-निवारणार्थ मुझे कारागृह में भी आना पड़ता है और यही मेरे अवतार का परम रहस्य है।"[1]

'पुष्पांजलि' शीर्षक में वियोगीजी की भक्ति-भावना अत्यन्त तीव्र तथा जाग्रत है। यथा :

"हे मेरे स्वामी ! अनादि काल से अनन्त जीव तेरी असीम और अप्रतिम अर्चना में असंख्य उपचार करते चले आये हैं, तेरे अभिमुख कज्जल कर्पूर में, वर्ज नवनीत में परिणत हो गई, और तेरे चरणों के परिसेवन से भक्तों के प्रेम-पूर्ण भाव तेरी मंद मुसक्यान में समुचित स्थान पाकर कृतकृत्य हो गये, किन्तु मैं, एक तेरा तुच्छाति-तुच्छ सेवक, अपनी टोकनी में कुछ फूल लिये खड़ा ही रहा !

हे नाथ ! मैंने ये फूल, दिन-रात के कठिन परिश्रम से जीवनोद्यान में चुने हैं। यद्यपि वियोगाश्रु-जल निरन्तर छिड़कते रहने से वे कुम्हलाये नहीं हैं, तथापि उनका पराग वासना-भ्रमर पान करने को चारों ओर से मंडरा रहे हैं।

आज, मेरा हृदय तेरे अभिलषित दर्शनों को अधीर हो रहा है और यह तुच्छ भेंट, अब मैं अपने पास नहीं रख सकता हूँ। मनोराज्य के स्वप्न-संसार में मेरे दोनों नेत्र तेरे अलौकिक सौन्दर्य-स्रोत का रसास्वादन करने को लालायित हो

१. 'तरंगिणी'—शीर्षक 'प्रेम और बन्दी' पृ० ४०-४१ : वियोगी हरि प्र० सं०

रहे हैं, और मेरा स्वर-हीन कण्ठ तेरी असीम कृपा के गीत गाने को उत्कण्ठित हो रहा है।

हे मेरे प्रियतम ! आओ, आओ, इस मेरी पर्ण-कुटीर में पदार्पण करो। मैंने अपनी भावुकता और सरसता का जल-चक्षु पात्र में भर लिया है, उसी से मैं तम्हारे चरण धो दूँगा और इस टोकनी के मुट्ठी-भर फूल उन पद-पद्मों पर स्नहपूर्वक नतजानु एवं अवनत-शिर होकर चढ़ा दूँगा।'[१]

ईश्वर-प्रेम और आध्यात्मिक विचार, प्राकृतिक आनंद, जीवन-साफल्य एवं कर्तव्य-परायणता, बालकाल, मित्र-विनोद, स्वदेश और समाज, मानस-मिलन, ये ही सात खण्ड तरंगिणी में विभाजित हैं।

'परम प्रकाश' 'अनोखा दूकानदार' 'वर याचना' 'पूर्ण संकल्प' 'कुशल चित्रकार' 'निकुंज शृंगार' 'तू मेरा भिखारी है' 'प्रेम और बंदी' 'प्रदीप गृह' 'हाट की बाट' 'अधीर बालक' 'मुक्ति कीर' आदि शीर्षकों में भावों की प्रशान्त अभिव्यंजना द्रष्टव्य है।

'अन्तर्नाद' के भाव अधिक सुलझे हुए हैं तथा प्रकाशन का ढंग भी प्रभावकारी है।

'प्रार्थना' शीर्षक में कवि ने, शक्तिमधुरता, भावुकता, बोध, सामर्थ्य, ईश्वरत्व ज्योति और दृढ़ आधार, अनेकानेक हृदयगत कामनाओं की पूर्ति के लिए आकांक्षा प्रगट की है। ज्योति का स्वरूप आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान से अलग नहीं है।

'वनदेवी' शीर्षक में प्रेमाधिक्य का वर्णन है। प्रेम के संसार में अहमन्यता को स्थान नहीं होता। संयोग-सुख की अभिव्यक्ति संवेदनाशील ही होती है। वाणी, या व्यवहार के उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता है। 'वनदेवी' इसीलिए देवता के पास पाषाणवत् खड़ी है। पूजा की सामग्री पड़ी रह जाती है। हृदय के पुष्प चढ़ जाने पर दिखावटी पुष्पों की आवश्यकता नहीं रह जाती।

'कादिन्दी-कूल' प्रेम-मार्ग की उलझनों की ओर संकेत करता है। इस मार्ग में भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, विकराल प्रदेशों से होकर जाना होता है तब कहीं अन्तरतम में हिलोर उत्पन्न करनेवाले प्रियतम के दर्शन होते हैं।

'वह ध्यान' भगवान् के दिव्य ज्योति का आभास चित्रित करता है, जिसके चित्र अनेकों ने चित्रित किए, पर अधूरा ही रहा, क्योंकि अपूर्ण भी कहीं पूर्ण का चित्र बना पाया है? सबके कार्य इसीलिए कुछ-न-कुछ त्रुटियों से युक्त रह गए।

पुस्तक चार खण्डों में विभक्त है : (१) सत्यं, शिवं, सुन्दरम् (२) उद्बोध (३) अग्नि उद्गार तथा (४) उद्धार।

---

१. 'तरंगिणी' पृ० १७७ प्र० सं० : वियोगी हरि

'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' में भगवान् के सत्य, सुन्दर और शिव रूप की झाँकी है। 'उद्बोध' जागतिक प्राणियों की अक्षमता का वर्णन करके जागरण-ज्योति बतलाता है।

'अग्नि उद्‌गार' में हृदय की गति-व्यथा तथा अधीरता आदि व्यक्त है।

'उद्धार' में विधियाँ बतलाई गई हैं जिनसे आत्मकल्याण हो सके।

'भावना' में कवि के भाव मंगलमय की आरती के लिए हृदय सजाए खड़े प्रतीत होते हैं। 'प्रीति' शीर्षक में 'यदि हाँ तो न' से भावों का क्रमिक विकास अच्छा हुआ है और 'आदेश' में कर्ममीमांसा पर विचार हुआ है।

'परिभाषा' शीर्षक में निराकार-साकार, एक-अनेक, द्वैत-अद्वैत सब पर कुछ-न-कुछ छींटे डालकर, प्रेम-मार्ग की सरलता स्पष्ट की गई है। इस मार्ग से चलने पर भक्त की प्रभु बालक के समान रक्षा करने लगते हैं।

'रूप उपास्य है पर अस्पृश्य है' वियोगीजी का यह विचार उनकी हृदयगत पवित्रता को स्पष्ट करता है। मानव का स्पर्श ही प्रकृति के नाना रूपों में कलुष उत्पन्न करता है। रूपों को देखकर ही मानव तृप्त नहीं होता बल्कि उसे अपने ढंग से उपयोग में लाकर उसकी सुन्दरता नष्ट कर देता है।

इसी प्रकार 'साधना' 'करुणा' 'विरह-वेदना' 'खोज' 'अश्रु' 'निर्झर' 'साथी' 'हृदय के भीतर' 'स्मृतिधारा' 'बंधन' 'रहस्य' 'उस पार' 'प्रेरणा' 'प्यास' 'अनुनय' 'अगुप्त गोपन' 'प्रार्थना' 'अभिलाषा' 'गागर में सागर' आदि के भाव विशेष स्तुत्य हैं। 'प्यास' 'करुणा' और 'बन्धन' में भाषा और भाव का उत्तम योग हुआ है।

'प्रार्थना' पुस्तक वियोगी हरि की मानसिक दशाओं का चित्र है। हृदय की खीझ, आनन्द-प्राप्ति की चरम अभिलाषा, प्रियतम सान्निध्य की उत्कट प्यास, प्रेम की वेदनामय पीर, अपनी तुच्छता आदि का चित्रण इसमें भरा पड़ा है।

प्रार्थना के प्रथम पृष्ठ पर ही आप यों कहते हैं :—

'हाँ ! वही आग मेरे प्राणों के स्वामी वही आग। मेरे अव्यक्त अन्तस्तल में अपने अभेद अनुराग की एक धधकती हुई अँगीठी रख दो न। जला दो नाथ उसमें मेरी सारी गीली वासनाएँ ! भस्म कर दो प्रभो ! उसमें मेरी असीम अहंता ! भून डालो उसमें मेरे समस्त कर्म-अकर्म ! मेरे हृदय को अब अंगार की तरह दहकने दो। आज से यहाँ लगन की लपटें उठने दो। खाक हो जान दो नाथ ! मेरी मदिरामयी मोह-ममता उस अनोखी अनुराग-आग में। अपने परम प्रेम का दीपक जला दो ज्योतिमय। वहीं दीप-प्रकाश भर दो लीलामय मेरी अँधरी मानस-कुटी में और उस लौ से लिपट लेने दो मेरे प्राण-पतंगे को प्राणेश !...''

भगवान् के प्रेम में विभोर जीव के समस्त पाप समाप्त हो जाते हैं। सारा

अहंकार, सब भेद मिट जाता है। ज्ञान-चक्षु आलोकित हो उठते हैं। आकुलता समाप्त हो जाती है। 'वियोगी'जी इसीलिए अधीर होकर प्रार्थना कर रहे हैं।

'प्रार्थना' में कवि की वाणी विशेष रहस्योन्मुख हो गई है। वर्तमान युग के अशान्त वातावरणों की कारुणिक दशा, क्षुत्क्षामकण्ठों की आर्तवाणी, अर्थलोलुपों की अमानुषता, कवि को मर्माहत करती मालूम होती है। धर्म के नाम से किए गए पाखण्ड तथा तद्जनत क्रूरता का नग्न चित्र भी आपने खींचा है।

'प्रार्थना के भाव विचारात्मक, भावात्मक और वर्णनात्मक हैं। भाषा व्यवस्थित, सरस, चलती, चुटीली और परिमार्जित है। शैली अलंकृति और अन्योक्ति-प्रधान है। सध्दश्योपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकादि अलंकारों की भरमार है। भावावेश में भाषा का बल पूर्व की रचनाओं की तरह छूट नहीं गया है।

'विश्व-प्रेम' में धर्म-समन्वय पर सिद्धान्त की बातें कही गई हैं। कवि का विश्वास है कि धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक सभी सिद्धान्तों के उचित सम्मिश्रण से संसार सुख और शान्ति की मधुर झलक पाएगा, इस समन्वय का आधार ईश्वरवाद होगा, प्रकृतिवाद नहीं। प्रेम के दिव्य दर्शन से अन्तस की संकीर्णता मिटानी होगी। धर्म से सरल सत्य की झाँकी लेना होगा। असहिष्णुता के स्थान में सहिष्णुता को गले लगाना होगा, नहीं तो जैसाकि वियोगी हरि ६वें पृष्ठ में लिखते हैं कि—'धर्म नगरी में मौजूद है पर प्यारे सिरजनहार एक तूँ ही वहाँ लापता है।' वही बात होगी। धर्म के बाह्यस्वरूप ही प्रायः बाह्य प्रकृतिवालों को आकर्षित कर रहे हैं। धर्म के मौलिक सिद्धान्तों से परिचय बहुत कम लोग कर पाते हैं। यही कारण है कि धर्मों की भरमार इस संसार में देखने को मिलेगी। धर्म के जानकारों में भेद नहीं होता वहाँ तो 'हरि को भजै सो हरि का होई' सिद्धान्त ही लागू होता है। धर्म के नर-पिशाचों का व्यापार धर्म की जड़ ही खोद डालता है और 'शिव' के स्थान में 'शव' दिखलाई पड़ने लगता है। धर्म संसार को प्रकाश देता है पर आज वही अधिकांश लोगों को अंधकार में ले जा रहा है. क्योंकि जो अधर्म है उसी को लोगों ने धर्म मान लिया है।

'विश्व-प्रेम' में भावधारा सबल एवं प्रवाहमयी है। यत्र-तत्र विराम भी पाये जाते हैं जो भावों के उत्कर्षापकर्ष में सहृदयता प्रदान करते हैं। 'ठण्डे छींटे' की प्रस्तावना में श्री माखनलाल चतुर्वेदीजी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

"श्री वियोगी हरि की पंक्तियाँ प्रताड़ितों के हृदयों से निकलनेवाली प्रभु की आकाशवाणी को सुनने की जहाँ धार्मिकों से मनुहार करती हैं वहाँ बलि के मतवालों को प्राणों की बाजी लगाने के लिए तैयार तरुणों को आमंत्रित कर रही हैं कि वे प्रभु की भुजा बनकर परंपरा और आडम्बर के नीचे कुचले जाते हुए

प्रभु का संदेश लिखें जो पथराए हुए दिलों पर पत्थर की लकीर बन सके। किन्तु वह भुजा दीनबन्धु से पहले दीन के चरणों को धोकर उसके घावों पर मरहमपट्टी करने, उसके मल को धोकर पवित्र हो चुकी हो।"

आगे चलकर चतुर्वेदी जी लिखते हैं :

"भावों का विलास और कल्पनाओं का व्यभिचार इन छीटों में नहीं है। ...... इनमें सत्य का अन्तःकरण बनकर अन्तःकरण का सत्य गुथा हुआ है क्योंकि इसमें उद्दण्ड तर्क नहीं, तर्क का संतोष कोमल बनने को यत्नशील है। मैं इसे काव्य इसलिए कहता हूँ क्योंकि इसमें व्यभिचार की छलकन के बजाय हृदय की पुरुषार्थमयी उभाड़ की झलक है।"

आधुनिक जीवन की कृत्रिमता ने मानवों के पारस्परिक व्यवहार में कटुता पर्याप्त भर दी है। जो जिस स्थिति में है, अपने को बड़ा मानने लगा है। सत् कर्मों के अभाव से बुद्धि की यह मलिनता बढ़ती जा रही है। प्रभु की दया के पात्र उनकी दया से वंचित किए जाते हैं और उनकी विभूति का उपभोग अधम, पातकी, क्रूर तथा तामसी लोग कर रहे हैं। योगिराज अरविंद अपनी पुस्तक 'माता' में यही व्यक्त करते हैं।

"विज्ञान कृत सृष्टि में, धनबल, भागवती शक्ति को पुनः प्राप्त करा देना होगा और माँ भगवती अपनी दृष्टिप्रेरणा से जो प्रकार निर्धारित करेंगी उसी प्रकार से उसका विनियोग एक नवीन, दिव्य-कृत प्राणिक और मौलिक जीवन के सत्य, सुन्दर, सुसंगत संघटन और सुव्यवस्थापन में करना होगा। पर पहले यह धनशक्ति उनके लिए जीतकर लौटा लानी होगी और इस विजय संपादन में वे ही सबसे अधिक बलवान होंगे जो अपनी प्रकृति के इस हिस्से में सुदृढ़, उदार और अहंकार-निर्मुक्त हैं जो कोई प्रत्याशा नहीं करते। अपने लिए कुछ बचाकर नहीं रखते या किसी संकोच में नहीं पड़ते, वे परमाशक्ति के विशुद्ध वीर्यवान यंत्र हैं।"[1]

योगिराज श्री अरविन्द जिस परमाशक्ति की ओर संकेत कर रहे हैं वह संसार में परिवर्तन दो प्रकार से लाती है। एक तो वर्तमान परिस्थितियों में आवश्यक सुधार द्वारा, दूसरे सड़ी-गली वस्तुओं के उपक्षय और विनाश से और नवीन की सृष्टि से। वियोगी हरि इस शक्ति के प्रथम कार्य की ओर ही लक्ष्य करके कह रहे हैं :—

"जिसे तुम पतित और पापी कहते हो वही आज तुम्हारी ईश्वरी दया का सच्चा पात्र है। धोते बने तो धो दो अपने प्यार के साबुन से उसके अन्त पर लगे काले

---

१. पृष्ठ ३३—'माता'—अनु० लक्ष्मीनारायण गर्दे

दागों को। तुम्हें आश्चर्य होगा कि ऐसा करने से तुम्हारे अन्दर के मैले धब्बे आप ही धुलकर छूट जायेंगे।"[१]

रजोगुणी और तमोगुणी को सत्व-प्रधान बनाने का कार्य सरल नहीं है फिर भी दैवी संपत्तिमंडल के लोगों का प्रयास सदा से इधर को रहा है, रहता है और रहेगा। किसी को उन्हें बताना नहीं होता। वे तो स्वभावतः ऐसे ही होते हैं। उपदेश तो उन्हें देना चाहिए जो न जानते हों। अगर दैवी सम्पत्तिमण्डल के लोगों के लिए यह उपदेश है तो इससे भी अच्छे-अच्छे उपदेश भी पड़े हैं और यदि अज्ञानियों के लिए हैं तो निरर्थक, क्योंकि वे इसके ऊपर विश्वास ही नहीं करते, पर फिर भी मानव की प्रवृत्ति सत्य के पक्ष में ही सदा रहती है—उसका ही गुण-गान करती है इसीलिए वियोगीजी ऐसा कह रहे हैं।

अर्थ की मदान्धता से आज का नरपिशाच महान कराल बन गया है। उसने अभाव की व्यथा का अनुभव ही नहीं किया है, इसीलिए करुणा नाम की वस्तु उसके हृदय में नहीं होती।

"वेदना की मर्मान्तक टाँकी तो उस पत्थर के हृदय पर अभी तक लगी ही नहीं फिर दया की करुण-धारा कहाँ से कैसे फूट निकले।"[२]

भावों को अधिक सशक्त बनाने के लिए हरिजी ने इस प्रकार की भी शैली अपनाई है—

"हाँ ऐसी मार मारो कि वह मार खानेवाला तुम्हारा अबोध अपराधी, पश्चात्ताप के कारागार में आकर, तुम्हें अटल श्रद्धा की दृष्टि से देखने लग जाय। हाँ ऐसा दण्ड दो कि तुम्हारे प्यार के प्रचण्ड प्रहार से, उसके दिल का सारा मैल कट जाय और उसके कृतज्ञतापूर्ण आँसू तुम्हारे सदय हृदय को एक बार नहला दें।"[3]

व्यंग के अवसरों की भाषा दूसरे प्रकार की होती है—

"दीन-दुखियों और सुखियों का मुकाबला कहो कैसे हो सकेगा? ये कम्बख्त कभी सिसकते हैं, कभी चिल्लाते हैं, कभी चुहल करते हैं और कभी हँसते हैं, तो कभी गाते हैं।"[४]

वर्तमान शासन की ओर भी आप इस प्रकार संकेत करते हैं :—

"यह तो भाई निरा ढोंग है। शासन का भय दिखाकर सुधार क्या खाक करोगे? तुम्हारे इस ऐंठ-भरे क्षुद्र मालिकपने के पत्थर-जैसे कठोरतम अभिमान से भला

---

१. 'विश्व धर्म' पृ० ६

२. पृ० १०—वही

३. 'विश्व-प्रेम'

४. 'विश्व-प्रेम'

किसी का कभी सुधार होगा ? अरे ! ऐसा ही होता तो इन माँ-बाप कही जाने वाली सरकारों के काले कारागार कम्बख्त कैदियों से कभी खाली हो गए होते। अदालत का भय भी आज कोष-ग्रन्थों में न लिखा रह जाता। ऐ मदोन्मत मालिको ! क्यों इस तरह अपनी काली क्रूरता पर सुधार की सफेदी पोतना चाहते हो।"[1]

संसार के बनावटी रंगे-सियारों की ओर संकेत करके हरिजी पृष्ठ ६६ में इस प्रकार कह रहे है :—

"कितना बड़ा ढोंगी हूँ मैं ! भीतर तो दुःख के दारुण दावानल से जल बल रहा हूँ और ऊपर ऐसा दीखता हूँ मानो मैं परम प्रसन्न हूँ, महान सुखी हूँ।"

'भगवान् को दीन सदा प्यारे है' इस कथन पर विचार किए बिना हरिजी के बहुत से भाव स्पष्ट नहीं होंगे।

शास्त्रकारों ने दीन शब्द की व्याख्या करते समय यह बताया है कि दीन वह है जो अपना सर्वस्व खोकर भी भगवान् के चरणों में आसक्त रहता है। जिसका कुछ भी आधार नहीं होता, एकमात्र प्रभु ही उसके आश्रय होते हैं। अतः दीनों का अर्था-भाव से ग्रस्त रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तिवाला व्यक्ति नहीं हो सकता है। भगवान् को उनका भक्त ही प्यारा है। तमोगुणी नहीं प्यारे हैं। इन राक्षसी वृत्तिवालों का तो वे संहार ही करते हैं। अतः किस प्रकार इन अभावग्रस्त के घरों में भगवान् का निवास हो सकता है ! सब प्रकार के अभाव रहने पर भी तमोगुण से आच्छादित बुद्धि के कारण अनन्यभाव से, इस प्रकार के प्राणी भगवान् की शरण में नहीं जाते। यही कारण है कि उन्हें सदा कष्ट-ही-कष्ट प्राप्त होता है। क्रोध, आलस्य, क्षोभ, ईर्ष्या, कलह, द्वेष, कटुता, असत्यता सभी अनाचारों की वहाँ भरमार रहती है। धन की प्राप्ति में भी ये ही भाव—धनाभाव में भी ये ही भाव आ घेरते हैं। एक में भोगों से, दूसरे में कष्ट के कारण शरीर की अर्जन शक्ति न्यून हो जाती है। शक्ति के संचय के बिना इंद्रियों में संयम आ नहीं सकता। संयमित जीवन से ही बुद्धि शुद्ध होती है। बुद्धि की पवित्रता के कारण ईश्वर से प्रेम होता है और फिर भक्त के गृह में उनका निवास। अतः हरिजी का कथन है कि "दीनों का हृदय भगवान् का मंदिर है" किस रूप में घटित होता है ? शायद प्रथम लक्ष्य में सत्य हो सकता है। दूसरे में नहीं, क्योंकि भगवान् की समीपता में अभाव नहीं रहते।

धर्म के बाहरी आडम्बरों की ओर ही वियोगी हरि का ध्यान गया है। धर्म की सुदृढ़ नींव बिना तैयार किए समाज में कोई परिवर्तन संभव नहीं। सुदृढ़ नींव का तात्पर्य आदर्श जीवन, जिसमें त्याग, सत्य, क्षमा, दया, अहिंसा, सन्तोष, लज्जा, विद्या

---

१. 'विश्व-प्रेम'

के प्रति प्रेम हो तथा ब्रह्मचर्य आदि गुण हों। आज के जीवन में समाज के सभी वर्गों में इसका अभाव है। शिक्षा द्वारा ही इस प्रकार का परिवर्तन संभव है। आज की शिक्षा-पद्धति को बिना सुधारे यह कार्य ही नहीं सकता। आज विद्याध्ययन का लक्ष्य एकमात्र अर्थोपार्जन हो रहा है फिर जगत् में शक्ति आवेगी तो कैसे ?

वियोगीजी के गद्य-काव्य में भावों का तीव्र प्रवाह तो है पर वाणी का वह चमत्कारिक विलास नहीं है, जो हमें राय साहेब के गद्य-काव्य में देखने को मिलेगा। कहीं-कहीं पाण्डित्य प्रदर्शन की भावना भी बलवती हो उठती है। आप लेखनी के सहृदय और भावुक हैं। आराध्य के प्रति प्रेमभाव प्रदर्शित करते हुए आप एक वाक्-पटु हो जाते है। आपकी भावप्रधान शैली में उत्कृष्ट व्यंजना-प्रणाली के साथ प्रचुर भाषा-सौष्ठव मिलता है। कोमल सानुप्रास वाग्धारा, कहीं हृदय की अनुभूति को दीप्तिमान करती देखी जाती है।

आपका वाक्य-विन्यास और शब्दावली सर्वत्र श्रुति-मधुर और आकर्षक है। 'मालिक' 'आखिर' खुदी' 'दर्द' 'बाज़ी' 'ख़ैर' 'आफ़त' 'दीदार' 'नूर' 'जीना' इत्यादि उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग इनकी रचनाओं में देखने को मिलेगा। संस्कृत पदों के बीच रक्खे गये ये शब्द चोटी-डाढ़ी का मेल करते मालूम होते हैं, पर मिलान संभव नहीं हो सका है। कहीं उर्दू शब्दों के प्रयोग से भावों में इन्होंने जान भर दी है। यथा :

> **"दिल की सफाई करके दुनिया का कूड़ा-करकट साफ कर, खुदी को खोकर बेखुदी में मस्त हो। आँख पर से एकतरफी चश्मा हटाकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर।"**

चित्रात्मक भावयोजना भी वियोगी हरि के गद्य-काव्य में दिखाई पड़ती है। 'कालिन्दी कूल' शीर्षक में नादध्वनि पर्याप्त मुखर है। यथा :

> **"आखिर, वह रागिणी हुई क्या ? अलापनेवाला कहां गया ? कहाँ जाऊँ, किससे पूछूँ ! सोचा था उस रागिनी की धवल धारा से अन्तःकरण पखारूँगी, गायक को देखकर यह निस्तेज दृष्टि सौंदर्य-सुधा से अनुप्राणित करूँगी। पर यह कुछ न हुआ। सुना क्या ? उत्कण्ठित हृदय की धीमी प्रकम्पन ध्वनि ! देखा क्या ? अदृष्ट का धुँधला मानचित्र ! जान पड़ता है यह विश्व-व्यापी अन्धकार मेरी ही निराशा का प्रतिबिम्ब है। तो क्या वह मोहनी रागिनी भी मेरे ही विक्षिप्त अन्तर्नाद की प्रतिध्वनि थी ? राम जाने क्या था ? इत्यादि।"[१]**

वियोगीजी की भावुकता 'तरंगिणी' 'अन्तर्नाद' 'भावना' 'प्रार्थना' 'विश्वधर्म' आदि में रहस्य के क्षेत्र का स्पर्श करती है। इन्हें रहस्यवादी धारा में इसलिए नहीं रक्खा गया कि इनकी रचनाओं में एक भक्त की हृदय-विभोरता है।

---

१. 'अन्तर्नाद' पृ० ९

देव शर्मा

आपके सम्बन्ध में श्री पद्मसिंह शर्मा इस प्रकार लिखते हैं :—

'तरंग माला के विचार मानस-सर के वे मोती हैं जिन्हें आब नहीं दी गई, खान के ऐसे रत्न हैं जो सान पर नहीं चढ़े, ऐसे खाके हैं जिनमें रंग नहीं भरा गया। इन्हें भाषापन की दृष्टि से नहीं, भावगांभीर्य की दृष्टि से देखना चाहिए। किसी चर्ब जबान, जादूबयान कचरार के लेक्चर की शान से नहीं, एक सन्त वाणी के ध्यान से पढ़ना चाहिए, मतलब यह नहीं कि भाषा भद्दी है, नहीं भाषा भी खरी-चोखी है, पर दार्शनिकता और आध्यात्मिकता के कारण वैसी नहीं जैसी कि आम लोग पसन्द करते हैं।"

अध्यात्म पथ इसके जिज्ञासुओं के लिये प्रारम्भ में कोई आकर्षण नहीं रखता, वरन भयंकर विघ्न तथा संघर्षों से आक्रान्त रहता है। 'बीहड़ मार्ग' शीर्षक में शर्माजी इसी रहस्य को प्रकट करते हैं :

"यहाँ पर नये आगन्तुक को रिझाने के लिए उसकी शुरू में कोई खातिर-तवाजो नहीं की जाती और न ही कुछ दिनों उससे आनन्द लेने के बाद उसे छूछा कर त्याग दिया जाता है। किन्तु यहाँ प्रविष्ट आत्मा ज्यों-ज्यों इस नीरव-शून्य स्थान में रहता है, त्यों-त्यों इसका पवित्र माधुर्य-रूप उसके लिए दिनोदिन अधिक प्रकट होता जाता है, उसे अपनाता जाता है।"[१]

अपने ही कर्म दुःख के कारण हैं। किसी बाहरी विधान का इसमें हाथ नहीं होता। 'सताने वाला कौन' शीर्षक में यही भाव रक्खा गया है।

इस मायावी संसार में अधिकतर लोग छद्मवेशी हैं। जो नहीं हैं वह बनने का दावा करते हैं। दूसरों को पथ-विमुख करते हैं। ऐसे लोगों का साथ छोड़ने के लिए २२वें पृष्ठ पर इस प्रकार कहा गया है :

"उन आग के ठेकेदारों को त्याग दो जो आग बुझानेवालों का वेष धारण कर आते हैं और बड़े-बड़े ठाठ खड़े करके ऐसा दिखलाते हैं कि आग बुझाने का बड़ा भारी काम हो रहा है, किन्तु असल में इनकी आड़ में अपनी बढ़ी हुई इन्द्रियों की अग्नि तृप्त करने के लिये ईंधन बटोरते फिरते हैं।"

सत्य के वास्तविक स्वरूप से परिचय पाना आसान नहीं है। जीव ज्यों ज्यों प्रयत्नशील होता है, त्यों-त्यों कर्मों के अनन्त बंधनों से अपने को घिरा हुआ पाता है, जो कुछ थोड़ी-सी अनुभूति होती है, उसी के बल पर संसार में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है, पर वस्तुतः वह अपनी लघुता अच्छी तरह जानता है। 'ज्ञान की प्राप्ति' शीर्षक में यही भाव व्यक्त किया गया है।

---

१. 'बीहड़ मार्ग' शीर्षक तरंगमाला

"ज्यों-ज्यों कोई इस महासमुद्र को तरता है, त्यों-त्यों इसकी अपारता और दुस्तरता बढ़ती जाती है। जितना कोई इसके परले पार के समीप जाने का यत्न करता है, उतना ही यह सहस्रों गुना अनुपात में दूर होता जाता है। तब इसमें आश्चर्य ही क्या कि संसार जिसे पारंगत या सिद्ध गोताखोर समझता है, वह अपने आपको वस्तुतः इस गंभीर अविलोड़ित सागर के किनारे की गीली कंकड़ियों ही चुगता हुआ पाता है।"[1]

पुस्तक में शर्माजी के विचार रहस्य-भावना से पर्याप्त पूर्ण हैं। परिस्थितियों की अनेकरूपता और गम्भीरता एवं मर्मस्पर्शिता, भावपक्ष के विकास के लिए उपयुक्त आश्रयों का अवलंबन, भक्ति की चरम भावुकता आदि गुणों से रचना सरस होगई है।

जगत् और जीवन के नित्य घटित रूपों का चित्रण प्रत्यक्ष अनुभवपूर्ण शैली में हुआ है। चित्ताकर्षक भावात्मक विचारों की अभिव्यक्ति से ग्रंथ भरा हुआ है। यद्यपि भाषा, मधुर प्रसादगुण पूर्ण, ओज-घटित सजीव प्रौढ़ तथा मार्मिक कम है, पर सुन्दर कोमल भाव-तरंगों की गरिमा ने स्वानुभव-निरूपिणी कला में चार चाँद लगा दिया है।

शान्तिप्रसाद वर्मा

श्री शान्तिप्रसाद वर्मा एक भावुक रहस्यवादी हैं। आपके भावों का संकलन 'चित्रपट' में प्रकाशित हुआ है। 'चित्रपट' में वर्माजी एक भावुक और विरक्त के रूप में पाठकों के सम्मुख आते हैं। उस अलौकिक सत्ता पर अपना सर्वस्व निछावर कर उसे प्राप्त करने की लालसा ही आपके हृदय की एकमात्र ध्वनि है। अपनी तुच्छता और उसके महत्व की तुलना करके कवि दीन हो जाता है, रुदन करता है। कवि की प्रार्थना अपनी तुच्छता को उस महानता में मिलाकर एक हो जाना चाहती है। उसके 'जीवन' में, 'स्मृति' में, 'अनुरोध' में 'वेदना' साकार होकर प्रगट हुई है। पीड़ा की सांस तप्त और दीर्घ मालूम होती है। भाव अन्तस की गति के साथ-साथ चलकर क्षुब्ध धारा में प्रवाहित हो जाते हैं। प्रकृति से कवि सहयोग नहीं करना चाहता क्योंकि प्रकृति ही तो माया है, शायद उसमें पड़कर वह अपने आराध्य को भूल जाय। प्रेमोदय काल के मिलन-प्रयास में आत्मोत्सर्ग तथा अहंशून्यता है। अगर वह कुछ माँगता है तो यही :

"मेरी दग्ध ज्योति को अपने अगाध स्नेह से सिंचन कर मुझे अपने हाथों का दीपक बनालो जिससे मेरे द्वारा प्रस्फुटित तुम्हारे प्रकाश में संसार नवयुग के नूतन प्रभात का दर्शन करे।"[2]

---

१. 'ज्ञान की प्राप्ति' तरंगमाला—देवशर्मा

२. पृष्ठ २६ शीर्षक —'क्या माँगूँ'

जगत् ने अंधकार को फैलाकर प्रकाश को हर लिया है। इसी तथ्य को 'कब' शीर्षक में व्यक्त किया गया है :—

"प्रकाश कहाँ है प्रकाश ? ……भय और आशंका ने मेरे चारों ओर कारागार की दीवारें खड़ी कर दी हैं।"

'भ्रम' शीर्षक में प्रेम के दिव्य रूप का दर्शन होता है। प्रेमी प्रतीक्षा करना चाहता है; चाहे प्रिय मिले या न मिले। देखिए :—

"मेरी प्रसन्नता इसी में है कि मैं मार्ग के किनारे अपनी फूलों की डलिया लिए तुम्हारी प्रतीक्षा करती हूँ।"[1]

'प्रार्थना' शीर्षक में कवि के विचार सत्य के समीप पहुँचे हुए मालूम होते हैं। देखिए :—

"मैं प्रार्थना नहीं करता कि मेरे पापों को क्षमा कर दो परन्तु उन्हें जीत सकने की मुझे शक्ति दो।"

"मैं प्रार्थना नहीं करता कि जीवन के संग्राम में मैं विश्राम पा जाऊँ परन्तु उसके विक्षिप्त तूफ़ान को वश में करने की मुझे शक्ति दो।"[2]

पापों को जीतनेवाला पाप क्षमा करानेवाले से बढ़कर है। विजय और याचना दो विभिन्न वस्तुएँ हैं। एक से उल्लास, आनंद और उत्साह बढ़ता है तो दूसरे से दीनता, लोलुपता और करुणा।

'अमृत घट' शीर्षक में लेखक के भाव बाबू राय कृष्णदास के 'प्रार्थना' शीर्षक से मिलते हुए प्रतीत होते हैं। उस परमपुरुष के प्रेम-रूपी अमृत से ही यह कच्चा घड़ा (शरीर) साफ़ किया जा सकता है।

'चित्रपट' एक भावना-प्रधान ग्रंथ है। 'लहर' 'तारिकाएँ' 'धृष्टता' 'सुन्दर' 'संकोच' 'प्रणाम' 'विदा' 'परिचय' 'भाग्य' 'प्रार्थना' 'भ्रम' 'अनुरोध' 'रत्न' आदि शीर्षक बहुत ही सुन्दर हैं।

वर्माजी की भाषा साहित्यिक, प्रौढ़ तथा भावानुकूल है। लाक्षणिक प्रयोगों की बहुलता से 'चित्रपट' पूर्ण है। प्रतीकात्मक शैली की अधिकता उतनी नहीं है जितना कि गद्य-काव्य के लिए अपेक्षित है। अनुभूतियों की प्रखरता से भावनाएँ सजीव हो गई हैं।

रामप्रसाद विद्यार्थी

जीवन-विभीषिकाओं से आलोड़ित मानस क्षुब्ध होकर एक तीखी कराह के साथ आनंद की खोज में विह्वल हो उठता है। हृदय के गहनतम गह्वरों में प्रविष्ट

---

१. 'चित्रपट' पृष्ठ ७१ प्र० सं० : शान्तिप्रसाद वर्मा

२. 'चित्रपट' पृष्ठ ६१ प्र० सं० : शान्तिप्रसाद वर्मा

होकर सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाला कवि तरल भाववीचियों को पकड़, जीवन की कुण्ठाओं की सहज और मार्मिक अभिव्यंजना करता है। उसके अंतस में सत्य खोज की प्रबल लालसा सदैव जाग्रत रहती है और इसके लिए वह सदैव सचेष्ट तथा प्रयत्नशील रहता है। उसके उद्‌गार व्यापक, सरस, संवेदनात्मक एवं प्रभविष्णु होते हैं।

श्री रामप्रसाद विद्यार्थी की 'पूजा' आध्यात्मिकता के पुट से परिपक्व मानस की भेंट है। प्रभुमिलन की वेदना संघर्षों के आलोड़न-विलोड़न में तीव्र होकर, वाणी के प्रस्फुटन से गद्य-गीतों के रूप में आई है। साधन-पथ के उलझनों, व्याघातों, लपेटों तथा विघ्नों के वैज्ञानिक नियोजनों से 'पूजा' के पृष्ठ भरे पड़े हैं। अभीष्ट परिणामों की प्राप्ति पर उल्लास के गीत भी गाए गए हैं।

आनंद की खोज करनेवाला राही साधन-पथ के उत्तंग गिरि-शिखरों पर आरोहण करता क्लान्त हो जाता है। कभी भयंकर विघ्नों के थपेड़ों से आक्रान्त होकर मरु-भूमि की ज्वाला अनुभव करता है। 'साधना-पथ' शीर्षक इसी स्थिति को व्यक्त करता है :

"जहाँ तुम्हारा प्रेमी उस पथ की दुर्गम घाटियों और गगनचुम्बी शिखरों को उत्साहपूर्वक शक्ति और विजय का अनुभव करता हुआ पार करता जाता है वहाँ वह कभी-कभी अपने को बिल्कुल थकाकर शिथिल और निर्जीव करनेवाले जलते हुए मरु प्रदेश में भी कष्टपूर्वक चलता हुआ पाता है।"[1]

इंद्रियाँ स्वभावतः बाह्यमुखी होती हैं। संसार के नश्वर प्रलोभन उसे हठात् निर्दिष्ट पथ से विचलित कर देते हैं। महर्षि वेदव्यास महाभारत के शान्ति पर्व में लिखते हैं कि जो मनुष्य ब्रह्मज्ञान के लिए सचेष्ट होता है उसे करोड़ धनुर्धर की शक्ति का विरोध करना पड़ता है। ये विघ्न अपने ही किए हुए पाप होते हैं। शास्त्रकारों ने इन्हें देवताओं द्वारा किया हुआ विघ्न माना है। बुद्धि को अनेक रम्य प्रलोभन देखने को मिलते हैं। माया के सम्पूर्ण वैभव अणिमादिक सिद्धियाँ समीप आने के लिए आकुल रहती हैं। 'पात्रपरीक्षा' शीर्षक में पात्र की इसी परीक्षा की झाँकी है।

"मुझे इन सुरम्य उपवनों की राह ले ही क्यों चलते हो जहाँ कि मुग्धा लतायें मेरी ही अंजलि को अपने आप फूलों से भर देती हैं।"[2]

परीक्षा में असफल होने पर प्रभु के चरणों में उद्धार के लिये निवेदन होता है। यथा :—

"माना कि तुम्हारे पथ पर न चल सकने की असमर्थता मेरी है, तुम्हारा चिर संग न निभा सकने की अयोग्यता मेरी है, संसार की सुन्दरताओं, मोहक मलिन

१. 'पूजा' पृ० १३—प्र० सं०—रामप्रसाद विद्यार्थी
२. 'पूजा' पृ० ८६—प्र० सं०

प्रलोभनों में आसक्ति का अपराध मेरा है पर तुम्हारी समर्थता, पतित पावनता और क्षमाशीलता क्या है ?"[१]

इसी प्रकार 'माया समा' 'लीला प्रपंच' 'बंदी मोचन' शीर्षकों में विद्यार्थीजी ने अपनी सरस अनुभूतियाँ व्यक्त की हैं। 'पूजा' के पृष्ठ भाषा के आलंकारिक वैभव से रहित होने पर भी परम प्रौढ़ भावों की तुलना में आज के सभी गद्य-काव्यों से रहस्य-भावना के निदर्शन में बढ़कर हैं।

डा० रामकुमार वर्मा 'विद्यार्थीजी' की 'पूजा' पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं :—

"इसमें साधक की अनवरत आकांक्षा सांसारिक परिस्थितियों को सुलझाकर प्रियतम का सामीप्य प्राप्त करना चाहती है। असीम की झाँकी इन भावनाओं के बीच वसन्त के समान सजी हुई है।"[२]

प्रियतम की समीपता प्राप्त करनेवाला साधक परिस्थितियों के सुलझाने में व्यस्त नहीं होता, वह तो प्रत्येक प्रभुविधान में प्रसन्न रहता है, फिर 'विद्यार्थीजी' कैसे उसकी समीपता प्राप्त करेंगे क्योंकि भगवान् ने गीता में लिखा है कि :—

योन हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मेप्रियः॥ अ० १२, श्लोक १७

वह जो न तो प्रसन्न होता, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है, बल्कि शुभ और अशुभ दोनों का परित्यागी है, वही मेरी भक्ति से पूर्ण मुझे प्यारा है।

पर जो हो, विद्यार्थीजी की 'पूजा' उनके आध्यात्मिक विकास का चित्र अवश्य है, इसमें सन्देह नहीं।

विद्यार्थीजी की भाषा सरल है। भावों को अलंकरण की आवश्यकता नहीं है।

बालकृष्ण बलदुआ

इस शरीर-रूपी गढ़ में दैवी और आसुरी शक्तियों का संग्राम सदा चलता रहता है, आत्म-सत्ता के आश्रय में ही दैवी शक्तियाँ आसुरी शक्तियों को परास्त करने की क्षमता रखती हैं। जब तक पंचभौतिक शरीर का अहंकार बना रहता है, आसुरी शक्तियों की ही विजय होती है। विवेक के जाग्रत न होने से मन, आसुरी शक्तियों के प्रलोभन में पड़ जाता है और स्वयं ही गढ़ पर अधिकार करा देता है। पर जब पूर्ण आत्म-समर्पण के लिए जीव तैयार हो जाता है तो ईश्वरीय सत्ता द्वारा योग-क्षेम उसे

१. 'प्रेमी-पथ' पृष्ठ ५३ 'पूजा'

२. पुस्तक की प्रस्तावना से

प्राप्त होने लगता है। ईश्वरीयसत्ता पर पूर्ण निर्भर रहना आसान नहीं है। दीर्घकाल के आनंदात्मक अनुभव के पश्चात्, भौतिक पदार्थों की निस्सारता जानकर ही जीव, उसके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करता है। यह कार्य सद्‌गुरू के ही शरण में होता है। कोई-कोई स्थूल सद्‌गुरू का महत्व देते हैं। कोई अन्तरात्मा को ही सद्‌गुरू मानकर चलते हैं। अन्तरात्मा को सद्‌गुरू मानकर चलनेवालों का मार्ग बड़ा ही कठिन होता है। रजोगुण और तमोगुण से मानस मलिन होने पर, अन्तरात्मा के सन्देश नहीं प्राप्त होते हैं। जीव संसार के मान-सम्मान, धन धान्य आदि स्थूलों की भव्यता से हठात् इनकी तरफ खिचकर मार्ग से च्युत हो जाता है तो उसे पश्चात्ताप होने लगता है, फिर बड़े वेग से लौटे हुए मार्ग से पुनः आगे बढ़ता है। अन्तरात्मा से साक्षात्कार करने का मार्ग बहुत ही बीहड़, जटिल और कठिनाइयों से भरा हुआ है। यही कारण है कि बहुत-से साधकों का धैर्य छूट जाता है। ईश्वरी कृपा से दुखों की पराकाष्ठा प्राप्त होने पर ही कुछ सरल होता है। महान व्यथापूर्ण जीवन, आनन्द में परिवर्तित हो जाता है और प्रभु सत्ता के प्रति कृतज्ञता के भार से नत हो जाता है।

बालकृष्ण बालदुआ 'आंगन प्रांगन' 'विश्वगीत' 'अपने गीत' 'मन के गीत' आदि के रचयिता हैं। इनके गद्य-गीतों में सत्य की खोज के लिए प्यास है। वही प्यास जो एक मरुभूमि के पथिक को हुआ करती है, पर मरीचिका में फँसे रहने के कारण पथिकों को केवल कष्ट ही नहीं उठाना पड़ता वरन अन्धकार एवं अज्ञान में पड़कर शक्ति का क्षय करना पड़ता है। सत्य का खोजी स्वयं बुराई ओढ़कर दूसरों को सुखी करने का स्वप्न देखता है।

'अपने गीत' के पृष्ठ ८८ में बलदुआजी अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

> **"मालिक ! इस व्यथा का अन्त करो। साहस दो ! स्वयं बुराई ओढ़कर भी दूसरों को सुखी कर सकूँ—ऐसा बल दो !"**

भयंकर संघर्ष करते-करते भयंकरता भी अपने भयंकरत्व से अध्यवसायी को भयभीत नहीं कर पाती। मृत्यु से नित्य यदि कोई लड़े तो उसके लिए मृत्यु का भय ही जाता रहता है। ईश्वर के मार्ग में जाने पर ही यह संघर्ष प्रारम्भ होता है, पर शरीर का मोह बना रहता है। इसी भय से कभी-कभी आकुलता आ जाती है। कालान्तर के अभ्यास से यह मिट भी जाती है। फिर ऐश्वर्य के सपने और दुःख तथा वेदना का रुदन, अपनी विशेषता खो बैठते हैं। पृष्ठ ८२ में इसी भाव को दिखलाया गया है। यथा :—

'अपने गीत' की रचनाएँ तेरह वर्ष का दीर्घ काल लेकर चली हैं। बलदुआजी इसलिए पहले जहाँ यश की प्यास से व्याकुल होते देखे जाते हैं, अन्त में इसे भी

ठुकरा देते हैं । अनुभूति से प्रवाहित मानस, आकांक्षाओं में परिवर्तन कर देता है । 'कल्याण' आदि मासिक पत्रिकाओं में आपकी भक्तिरसपूर्ण काव्य-धारा प्रायः प्रवाहित होती रहती है । ध्वनि, लय, व्यंग तथा अर्थगत विचित्रता का अभाव रहने पर भी, आपकी भाषा, ईश्वरीय पावन प्रेम की मुक्ताओं से सदा बोझिल रहती है । इसीलिए काव्य के आलंकारिक स्वरूप देखने को नहीं मिलते । आपका मन जैसा निर्मल है, भाषा भी वैसी ही है । आलंकारिक कपट-जाल में आप नहीं पड़े हैं क्योंकि अपने आराध्य से घरेलू भाषा में ही संलाप होता है । लच्छेदार भाषा तो दूसरों को सुनाने-दिखाने के लिए बनी है । आप एक अच्छे भावुक हैं । काव्य के बाह्य स्वरूप की आपको चिन्ता ही नहीं रहती ।

रंगनाथ दिवाकर

रंगनाथ दिवाकर की 'अन्तरात्मा से' रचना उनके जीवन के आध्यात्मिक विकास की रूपरेखा स्पष्टतः अंकित करती है । जीवन में सामंजस्य खोजनेवाले कवि ने वाह्य आकर्षणों से विमुख होकर जीवन के सारभूत तत्वों का शोध लगन से किया है । तत्वगत एकता और सौन्दर्यमय विविधता के सम्मिश्रण से रचना सजीव एवं सफल हुई है ।

द्वन्दों से पूर्ण जगत् के रण-रंग में सुख और शान्ति का खोजी जब कुछ भी आनंदानुभूति नहीं कर पाता तो वह अन्तर्मुख होकर कुछ ऐसी साधना करता है जो रहस्य या गुह्य की कोटि में आती हैं । यह कार्य बहुत ही दुष्कर होता है; फिर भी इस पथ के जिज्ञासु इस पर चलते ही हैं और स्वानुभव के आधार पर स्वर्गीय संगीत प्रवाहित करते हैं । अन्तरात्मा से मिलने की आतुरता जिस पगले में जितनी ही अधिक होगी, उसकी बेसुध वाणी में उतनी ही पीर एवं मिठास होगी । कुछ ऐसी ही पीर दिवाकरजी प्रथम गद्य-गीत में ही व्यक्त करते हैं ।

"युग-युगान्त से तुम्हें खोज रहा हूँ । ओ मेरी प्रेम-पूजा की पुतली ! रहा नहीं जाता अब मुझ से । जब से तुम मुझे छोड़कर चले गये हो, तब से स्वामी, देखे बिना देखे, जाने-अनजाने, समझे बिना समझे, मैंने न किसी को चाहा है, न देखा है, न खोजा है । एक तरह से मेरा मन यहाँ-वहाँ इधर-उधर इसके पीछे उसके पीछे लगा गया-सा लगता है । यह उसकी झूठी आशा है कि तुम वहाँ हो, प्रभो यह सदैव तुम्हारे ही लिए, तुमसे मिलने के लिए और तुमसे आनन्द-क्रीड़ा करने के लिए । तुम्हें पाते ही मेरी भूख मिट जायेगी । मेरी आतुरता दूर होगी ।"[1]

'निर्मल मन जन मोहिं नित भावा, मोहि कपट छल-छिद्र न भावा' तुलसी का यह कथन सर्वांश सत्य है । मन की मलिनता रहते आत्म-ज्योति दूर रहती है ।

---

१. 'अन्तरात्मा' से प्रथम शीर्षक रंगनाथ दिवाकर

इसीलिए मन की काई काटना होगा। दिवाकरजी भी पाँचवें गद्य-खण्ड में इस प्रकार याचना करते हैं :—यथा—

"पण्डितों का कहना है कि मलिनता दूर किये बिना आत्म-ज्योति नहीं जगमगाती। कृपा करके मन को निर्मल बनाओ अन्तरात्मा ! मन का मैल धोने की दिन-रात कोशिश करके थक गया हूँ। अनन्त आकाश की नीलिमा का नाश किया जा सकता है, अंधकार की मलिनता मिटाई जा सकती है, मगर मन की मलिनता मिटाना मुश्किल है। प्रभु ! मैं और क्या करूँ। देखो प्रभु मन का मैल ज्यों-ज्यों धोता जाऊँ, त्यों-त्यों मैल ही निकलता है, चमकता नहीं। प्रभु क्या तुम्हारा निसर्ग इतना नितान्त निर्बल हो गया कि मुझ जैसे अभागे का मन निर्मल नहीं बन सकता ? आदित्य के अरुण वर्ण की लाल सरिता में नहलाकर, प्रभाकर की प्रथम पोशाक पहना दो मेरे मन को। नहीं ! निर्झर के निर्मल नीर से धोकर सफेद संगमरमर-सा साफ़ बना दो मेरे मन को। सत्संग से शुद्ध करके मुझे अपने पास बुला लो अन्तरात्मा।"[1]

सत्य की खोज में भटकनेवाला राही संसार के लिए एक रहस्य होता है। उसकी लगन, उसकी कार्यक्षमता, उसका उत्साह, उसकी वाणी सबके लिए आकर्षण बन जाती है। बहुसंख्यक लोग उसकी समीपता प्राप्त करना चाहते हैं। बहुत-से लोग उससे शान्ति का मार्ग पूछते हैं। बेचारा निर्मल हृदय करे तो क्या करे। अपने ही अभी तक नहीं जान पाया। वह स्पष्ट कहता भी है कि 'भाई मैं कुछ भी नहीं जानता' पर इसे मानता ही कौन है। उसकी स्थिति बड़ी ही दयनीय होती है। उसकी आर्तवाणी प्रभु के चरणों में कराह उठती है। अपने लिए उसमें उतनी आकुलता नहीं रहती जितनीं दूसरों के लिए। निम्नलिखित गद्य-खण्ड में यही भाव है। यथा :—

"गुरुदेव तुम्हारी खोज करने में जब मैं हैरान हो रहा हूँ तो कुछ लोग 'गुरू-गुरू' कहते मेरे पीछे फिर रहे हैं। कैसा है दृश्य इसे देखकर तुम हँस रहे हो, होगे न ? मैंने ही दिव्य प्रकाश नहीं देखा तो मैं उन्हें क्या दिखाऊँ······यह तो भिक्षुक से भिक्षा माँगने की तरह हुआ ···· उन्हें शान्त करने की जिम्मेदारी तुम्हारी है प्रभु मेरे लिए न सही, उनके लिए अपनी अमृतधारा मुक्त रूप से बहाकर उन्हें तृप्त करो अन्तरात्मा !"[2]

भीषण गह्वरपथ पर धैर्यपूर्वक अग्रसर होते-होते, सहसा साधक के जीवन में एक ऐसा क्षण आता है जब उसे प्रतीत होने लगता है कि उसे आनन्द की अनुभूति

---

१. 'अन्तरात्मा' से, पाँचवाँ शीर्षक

२. 'अन्तरात्मा' से

हो रही है। वस्तुतः जीव ईश्वर का अंश होने से, आनन्द-रूप ही है। अहंकार-विशेष से उसने अपने को भिन्न मान रक्खा है। प्रयास करते-करते यही आवरण हट जाता है और उसे सच्चे स्वरूप की प्रतीति होने लगती है। इसे आत्मानन्द कहिये या नित्यानन्द अथवा निजानन्द एक ही है। अन्तिम पद ६८ में दिवाकरजी इसी भाव को व्यक्त करते हैं—

"अहा! यही तो आनन्द है, आनन्द, निरालंब आत्मानन्द नित्यानन्द! आनन्द ही आनन्द है। कर्मवृक्ष का कोमल मधुर फल है यह, साधन-कुसुम की सुवासित क्षुधा है यह, जीवन का सच्चा सार-सर्वस्व है यह—नर-जन्म सार्थक करनेवाली अमृतधारा है यह, निसर्ग शिशु को शान्त सुलानेवाली निशा की तरह, वनस्पतियों को सोमरस पिलानेवाले चाँद की तरह ...[1]

ध्यान पुष्ट होने पर धारणा बनती है। धारणा का प्रवाह अविच्छिन्न नैरन्तर प्रवाहित होने पर समाधि की स्थिति प्राप्त होती है। यह समाधि दो प्रकार की होती है: (१) संप्रज्ञात (२) असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात समाधि में जीव को परमात्म तत्त्व की कुछ अनुभूति होती है और समाधि से उठने पर इसके स्मरण से आकुल होकर पुनः उसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। पर जब तक कर्म अवशेष रहते हैं, असंप्रज्ञात समाधि नहीं होती। यह अखण्ड समाधि की वह स्थिति है जब योगी बाह्य संसार की चेतना बिलकुल भूल जाता है। यहाँ तक कि शरीरगत अहंकार भी नहीं रहता। इस प्रकार की स्थिति में शरीर बहुत दिन तक नहीं टिकता पर योग-निष्ठ होने पर हो भी सकता है। योग की विशेष प्रक्रिया से, या उत्कट भक्ति से यह स्थिति प्राप्त होती है।

जागतिक जीवन की विषमताओं से विक्षुब्ध दिवाकरजी की मानसतरी एक ऐसे सागर में उतरी है जहाँ जितना ही मार्ग तै होगा वहाँ उतनी ही निकटता उस प्रकाश की समीपता से होगी, जिस दिव्यालोक से विरहित भव के सभी प्राणी आकुल, अशान्त, व्यथित एवं तिमिराच्छन्न हैं। भक्ति की चरम भावुकता से भावों में प्रभविष्णुता आगई है। रचना भक्त-विनय की सप्त भूमिकाओं को स्पर्श करती चली है। आत्मोत्सर्ग की भावना से ओतप्रोत दिवाकरजी की रचना वर्तमान युग के चार्वाकों की निःसार विचारधाराओं के कल्मष को प्रक्षालित करती हुई, प्रिय से मिलने के लिए सरिता की भाँति अनन्त सागर में सत्ता खोने को आकुल है। अनुभवों का सचित्र चित्रण तथा विचारों की सर्वदेशीयता, रचना की विशेषता है।

भाव मूर्त्त विधायिनी कल्पना के लिए लाक्षणिक शब्दों के जिस सुमधुर एवं पुष्ट प्रयोग की अतीव आवश्यकता होती है वह दिवाकरजी में स्वल्प परिमाण में ही

---

१. ६८वाँ शीर्षक 'अन्तरात्मा' से

दृष्टिगत होती है। पर वेदना की वह आकुलता जिससे पाठक के हृदय में करुणा प्रवाहित हो उठे, रचना में सर्वत्र है।

उर्दू, साहित्यिक, ठेठ हिन्दी, तत्सम, आदि सभी प्रकार के शब्दों से भाषा अलंकृत हुई है।

नरोत्तमलाल गुप्त 'नरेन्द्र'

छायावाद ने हिन्दी साहित्य में बहुत-सी सामाजिक कुण्ठाओं की सृष्टि की है। इनमें मुख्य है कुण्ठित शृंगार-भावना। नरेन्द्र की कृतियों में इसका नग्नतम रूप मिलता है। इसके लिए कुछ उनका नारीत्व-मिश्रित स्वभाव उत्तरदायी है और कुछ उनकी संकोची प्रवृत्तियाँ। पंत और प्रसाद छायावाद के काम-सम्बन्धी प्रतिक्रियाओं के दो छोर हैं। पंत में अन्तर्मुखी मानसी सूक्ष्मता, काम-विस्मय तथा श्रद्धा का अशरीरी मिश्रण तथा किशोर-सुलभ मोग्ध है। प्रसाद में शरीरी वांछित उष्णता और रूप-यौवन की स्वस्थ गंध है। नरेन्द्र न तो पंत की संस्कृति एवं परिष्कृत रुचि को ही ग्रहण किए हैं और न प्रसाद का स्वस्थ दृष्टिकोण। पंत की, नारी के प्रति आदरपूर्ण भावना भी नरेन्द्र नहीं अपनाये हैं। उनके नारी पात्र उनके अधिक समीप आकर वासना को उत्तेजित करते देखे जाते हैं। नारी-अंगों के प्रति उनके हृदय का आकर्षण उनके काव्य-चित्रों को कामस्नात करता चलता है।

पर अब नरेन्द्र प्रगतिवादी हैं। अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख को क्षयग्रस्त मनोविकार समझकर, उसे सामाजिक हित के अन्तर्भूत करने का उनका प्रयत्न कहीं सफल हो पाया और कहीं नहीं।

उनके गीतों में उनके स्वभाव की कोमलता, परिस्थितियों के संघर्ष से आत्मक्षय की जब रेखायें खींचने लगीं तो उन्होंने इसका उपचार इसे विश्व-प्रेम की ओर मोड़ कर किया है। उनकी समाजवादी विचारधारा में एक निश्चित रचनात्मक विधान है। इसीलिए उनकी क्रान्ति बौद्धिक शक्तिमत्ता से पूर्ण है।

'नरेन्द्र' में वाणी का वैदग्ध है। उनके विचारों में चित्रोपमता एवं लावण्यता सर्वत्र नहीं दृष्टिगत होती। जहाँ भावावेश की अवस्था मनन की भूमिका से ऊपर उठ कर हृदय के शान्त कक्ष में जा बैठी है, वहीं इनके उद्गार अधिक आकर्षक तथा मोहक हो पाये हैं, पर जहाँ भावों को बुद्धि के अधीन करने का प्रयत्न किया गया है वहाँ भौतिकता के आग्रह से काव्यत्व की धार मंद पड़ गई है।

'जीवन-रेखायें' हृदय तथा मस्तिष्क-खण्ड में विभाजित हैं। ऐसा विभाजन करके उन्होंने परोक्ष रूप में यह स्वीकार किया है कि मस्तिष्क-खण्ड की अवतारणा के पीछे सिद्धान्तवादिता का दृढ़ आधार है। हृदय-खण्ड में काव्य-चेतना अवश्य निखार पर है।

'जीवन समस्या' 'गिरि' 'प्रतिस्पर्धा' 'इधर या उधर' 'प्रकाश' 'अभिलाषा' 'लालसा' 'कौतूहल' 'पतझड़ का पेड़' 'घन के प्रति' 'केकी के प्रति' आदि सभी शीर्षकों में भावनायें स्फूर्तिमय, प्रसादगुण पूर्ण तथा भाव-ऐश्वर्य से दीप्तिमान हैं।

नरेन्द्र की भाषा में पर्याप्त प्रवाह तथा प्राणवत्ता है। लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा भाषा की शक्ति को ऊर्जस्वित करने में नरेन्द्र एक कुशल कलाकार है। सांकेतिकता के क्षेत्र में भी इनकी कलागत महत्ता प्रशंसनीय है।

अध्यात्म-विषयक निरूपणों में अधिक आत्मनिष्ठता दिखाई पड़ती है। इन चित्रों में हृदय की भावुकता का पर्याप्त स्पर्श देखने को मिलेगा। जीवन-संघर्ष से क्षुब्ध नरेन्द्र अनुभूतियों के यथार्थ चित्रांकन में पटु हैं। अभावगत जीवन से ही अधिक सम्बन्धित होने के कारण भावप्रकाश में विचारों का दिव्यालोक कम दिखाई पड़ता है। इनके गद्य-काव्यों में छायावाद का परिष्कृत रूप ही दिखाई पड़ता है।

रामवृक्ष बेनीपुरी

बेनीपुरी का 'गेहूँ और गुलाब' साहित्यिक क्षेत्र में साम्यवादी सिद्धान्तों का एक आन्दोलन है। संसार की सत्यता, बुद्धिवादिता, श्रम की महत्ता, अभावग्रस्त जीवन का चित्र, धनिकों की विलासिता, दीनों की दशा का स्पष्ट चित्र तथा सौन्दर्य-चयन की अटूट पिपासा आदि के स्वरूप 'गेहूँ और गुलाब' में भरे पड़े हैं। 'गेहूँ' शब्द स्थूल शरीर के पौष्टिक पोषक तत्वों का संकेतग्रह है और 'गुलाब' मानस की पुष्टता का। दोनों की स्थिति आज शोचनीय है। इसीलिए पुरीजी कहते हैं :—

"गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में। गुलाब रो रहा है बगीचों में। दोनों अपने पालनकर्त्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर। अब आज की परिस्थिति में परिवर्तन आवश्यक है, पहले-का सा नहीं, पर नवीन। गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे।"[१]

गेहूँ की प्रचुरता से वासनायें बढ़ती हैं, इन्हें नियंत्रण में रखने के लिए वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाना होता है। पर पुरीजी नृत्य, गीत आदि तक ही सीमित रह जाते हैं। सूक्ष्म नियंत्रण की ओर नहीं जाते।

'जहाज आ रहा है' 'चरवाहा' 'फूल सुँघनी 'नथुनिया' 'नींव की ईंट' ये 'मनोरम दृश्य' 'मीरा नाची रे' 'डोमखाना' 'चक्कर पर' 'रोपनी' 'बचपन' 'छब्बीस साल बाद' आदि शीर्षकों में बेनीपुरी की भाव-राशियाँ विशेष प्रभामंडित हैं।

प्रगतिवादी कलाकारों की जिन-जिन विशेषताओं का भावपक्ष में निरूपण हो चुका है वे सब इनमें वर्तमान हैं। 'मीरा नाची रे' शीर्षक में आज की नारी को नृत्य आदि से आप संस्कृत करना चाहते हैं और रेडियो-स्टेशन तक भी पहुँचा देते हैं।

---

१. 'गेहूँ और गुलाब' शीर्षक से गेहूँ और गुलाब प्र० सं०

'ये मनोरम दृश्य' में प्रकृति का यथार्थ चित्रण है। 'चरवाहा' ग्रामीण जीवन की झाँकी कराता है। 'रोपनी' गाँवों में धान-रोपनी का चित्र अंकित करता है। 'बचपन' शीर्षक बाल्यदशा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है।

जीवन के विपुल यथार्थ चित्रों से गेहूँ गुलाब भरा है। पर जैसा कि ज्ञात ही है कि प्रगतिवादी कलाकार उपयोगिता के सिद्धांत को ही ध्यान में रखकर कला-सृष्टि करता है, अतः उसकी कलासृष्टि में उसका सम्पूर्ण प्राण नहीं उतर पाता। वह जीवन को जब अभावमय देखता रहता है, तब भी अशांत रहता है और भावमय स्थिति में भी अशांत। यही कारण है कि इस प्रकार की विचारा-धारा में पले लोग शाश्वत साहित्य की सृष्टि नहीं कर पाते।

स्थिति की मार्मिकता की पहचानकर, उपयुक्त दृश्य-विधानों का संनियोजन पुरीजी ने कुशलता से किया है।

यह तो ध्रुव सत्य है कि आन्दोलनों की लपेट में आकर जीवन का नित्य स्वरूप छूट जाता है और लोकमंगल की भावना स्वच्छन्दता से नहीं व्यक्त हो पाती, अतः इनकी रचना में भी वही बात है। नर जीवन की ही ओर लक्ष्य करने से मानव का चराचर से अधिक व्यापक सम्बन्ध नहीं हो पाता। पुरीजी की यह रचना प्रारम्भ से अन्त तक मतवादी आग्रह से ओत-प्रोत है। इसीलिए वे एक सीमित क्षेत्र में ही आगे बढ़े हैं। पर जहाँ-कहीं वे इससे निकल भागे हैं वहाँ के चित्र विशेष आकर्षक हो गये है। 'छब्बीस साल बाद' शीर्षक ऐसा ही है।

भाषा में पर्याप्त चित्रविधान तथा गति है। कलापक्ष में भाषा-विचार करते समय इस पर प्रकाश डाला गया है।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

'चिन्ता' की भूमिका में 'अज्ञेय' ने यह स्वीकार किया है कि उन्होंने इसमें मानव के अन्तर्भावों का यथासम्भव स्वाभाविक और निराडम्बर प्रतिचित्रण किया है। टैकनीक की दिशा में इसमें प्रयोग नहीं है। पर जो भी हो, पुरुष और स्त्री के चिरंतन संघर्ष के स्पष्टीकरण का नवीन प्रयोग तो इसे कह ही सकते हैं। पुरुष और स्त्री के चिरन्तन गतिशील सम्बन्ध, आकर्षक-विकर्षण की विभिन्न प्रवृत्तियों का अन्तर्मन्थन तथा मानव के प्रेम की आन्तरिक इतिहास की अनगढ़ कहानी का अंकन, एक नवीन ढंग से करके 'अज्ञेय'जी ने भाव-सत्य की प्रतिष्ठा को महत्व दिया है। भावों के निर्व्यक्तीकरण का उनका यह प्रयोग उनके व्यक्तित्व के संस्पर्श से बाहर नहीं जा सका है।

नारी और पुरुष के प्रणय-यथार्थ का जो चित्र 'अज्ञेय' 'चिन्ता' में व्यक्त कर पाये हैं, उनमें आधुनिक वातावरण—विशेषतः जिसका सम्बंध नगरों से ही है—का ही

स्पष्टीकरण हो पाया है। फिर भी आधुनिक विवाहित पुरुष और स्त्री के प्रणय-जीवन को प्रतिबिम्बित करने का उनका यह ढंग, जीवनगत यथार्थ को व्यक्त करने की दिशा में नूतन प्रयत्न है। जीवन में जैसा उन्होंने देखा है, सरलतम ढंग से व्यक्त किया है। पढ़े-लिखे अपटूडेट नारी को आज जिस दृष्टि से देखते हैं, उसी का चित्र 'चिंता' के 'विश्व-प्रिया' खण्ड का विषय है। आज का अभिजात युवकवर्ग, किसी भी युवा कुमारी के रूप पर आकृष्ट हो ही जाता है। पर उनमें से शायद ही कोई विवेकी यह प्रश्न करता हो :

> **"तुम्हारी अपरिचित आकृति को देखकर क्यों मेरे ओठ एकाएक उन्मत्त लालसा से धधक उठे हैं ?**
>
> **तुम्हारी अज्ञात आत्मा तक पहुँचने के लिए क्यों मेरा अन्तर पिंजरबद्ध व्याघ्र की तरह छटपटा रहा है ?**
>
> **मैं बन्दी हूँ, परदेशी हूँ। मेरा शरीर लौह-शृंखलाओं में बँधा है। मेरा रोम-रोम इस परायेपन की पीड़ा से व्याकुल हो रहा है, मेरी नाड़ी के प्रत्येक स्पन्दन से पुकार उठती है, 'तुम यहाँ नहीं हो—तुम हो ही नहीं, और वह एक दूसरी सृष्टि में बीते हुए तुम्हारे भूतकाल से अधिक तुम्हारी कुछ नहीं है।'**
>
> **मैं परदेशी हूँ। मेरी जाति तुम्हारी जाति से परिचित नहीं है। मेरी आत्मा का तुम्हारी आत्मा से कोई सान्निध्य नहीं है। फिर क्यों मेरी आत्मा बद्धव्याघ्र की तरह छटपटा रही है, क्यों मेरे ओठ इस प्रकम्पित, उन्मत्त लालसा से धधक उठे हैं ?"[1]**

प्रयोगवादी रचनाओं में जिस बौद्धिकता का प्रबल आग्रह होता है, वह इस रचना में दिखाई पड़ती है। यौन-विकारों के उभड़े हुए चित्र गद्य-काव्य की प्रयोग-वादी कृतियों में उतने नहीं आ पाये जितने अन्यत्र। पर फिर भी इनका सर्वथा अभाव नहीं है। यथा :—

> **"जब तुम चली जा रही थीं, तब मैं तुम्हारे पथ के एक ओर खड़ा था।**
>
> **तुमसे बात करने का साहस मुझ में नष्ट हो चुका था। मैंने डरते-डरते तुम्हारे अंचल का छोर पकड़ लिया।**
>
> **न जाने मैंने ऐसा क्यों किया ? मुझे तुमसे कुछ पाने की इच्छा नहीं थी। तुम रुक गईं, किन्तु बोली नहीं, न तुमने मेरी ओर देखा ही। मैं बार-बार तुम्हारे मुख को अपनी ओर फिराता, किन्तु तुम फिर घूम जातीं। अन्त में मैंने डरते-डरते अपना मस्तक तुम्हारे अधरों पर दिया।**
>
> **न जाने मैंने ऐसा क्यों किया ? मुझे तुमसे कुछ पाने की इच्छा नहीं थी।**

---

१. 'चिंता'—पृ० ८३ प्र० सं० 'अज्ञेय'

किन्तु जब तुम इसी प्रकार निश्चल खड़ी रहीं, तुम्हारे अधर हिले भी नहीं, न तुमने मुख ही फेरा, तब मुझे व्यथा और क्षोभ हुआ, और मैं तुम्हें वहीं छोड़कर चला आया।"[1]

प्रणय-क्षेत्र की नारी तथा पुरुष के व्यक्त भावों से 'चिन्ता' भरी है।

'अज्ञेय' की भाषा शशक्त है। भाषा में मनोवैज्ञानिक चित्रण की गति तथा स्फूर्ति है।

निष्कर्ष

गद्य-काव्यकारों की प्रतिभा यदि विशिष्ट न हो तो उत्तम कोटि की रचनायें उपलब्ध हो ही नहीं सकतीं। नोखेलाल शर्मा, नारायणदत्त बहुगुना, रामकुमार वर्मा, ब्रह्मदेव, श्यामू संन्यासी, केदार, विश्वम्भरनाथ 'मानव' आदि पर भी लिखना आवश्यक था। विशेषतः रामकुमार वर्मा की विशिष्टताएँ तो व्यक्त हो जानी चाहिये थीं, पर प्रबन्ध का विस्तार इतना अधिक हो चुका है कि चाहते हुए भी यह कार्य सम्पन्न न हो सका।

छायावादी गद्य-काव्यकारों में मूर्धन्य स्थान यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह हैं, दिनेशनन्दिनी। भावों की मार्मिकता तथा आभरणीयता के क्षेत्र में इनका प्रतिद्वन्दी कोई अन्य गद्य-काव्यकार नहीं दिखाई पड़ता। यद्यपि इनकी रचनाओं में छायावाद की ऐन्द्रियता उभार पर है, फिर भी यह प्रभाव केवल प्रारम्भिक रचनाओं में ही अधिक गुटरगूँ कर रहा है। उन्मन, सारंग, स्पन्दन, आदि कृतियों में दिनेश-नन्दिनी विषादमय हो चली हैं। जीवन के कटु सत्यों को समीपता से देखकर वे मुग्धा तथा प्रौढ़ा की मस्ती से दूर जा चुकी हैं।

रहस्यवादी गद्य काव्यकारों में बालकृष्ण बलदुआ तथा रामप्रसाद विद्यार्थी अधिक जीवन्त तथा प्राणवान हैं। बालकृष्ण बलदुआ की रहस्यपरक अनुभूतियाँ गुण में घनी तथा मात्रा में विस्तृत हैं। रामप्रसाद में घनत्व अधिक है, विस्तार कम।

प्रगतिवादी गद्य-काव्यकारों में रामवृक्ष बेनीपुरी ही गद्य-काव्य के क्षेत्र में पूरी तरह प्रगतिवादी विचारधारा का समावेश स्पष्ट रूप से कर पाये हैं।

प्रयोग के क्षेत्र में गद्य-काव्य अभी शायद अधिक प्रभावित नहीं हुआ है। भविष्य में संभावनायें हैं।

गद्य-काव्य के विषय में जो कुछ कहना था, पूर्व अध्यायों में निरूपण यथासाध्य हो चुका है। अगले अध्याय में उपसंहार करके इसकी समाप्ति की जावेगी।

---

१. 'चिंता' पृ० ८९—अज्ञेय

आठवाँ अध्याय

उपसंहार

प्रत्येक युग में साहित्य के नवीन प्रयोगों को कटु आलोचकों की तीक्ष्ण दृष्टि का सामना करना पड़ा है, पर आधुनिक युग तो शायद इसीलिए आया ही है कि वह साहित्य की नवीन उपलब्धियों की काँट-छाँट ही करके न रह जाय बल्कि छीछालेदर भी करे। गद्य-काव्य पर भी कुछ आक्षेप हैं।

कुछ विद्वानों की दृष्टि में गद्य-काव्य निम्न मेधा की कृति है। 'छन्द-बद्ध रचना में असफलप्राय साहित्यकार गद्य-काव्य के क्षेत्र में उतरते हैं' यह उक्ति कुछ विशेष हल्की मालूम पड़ती है। रवीन्द्र के विचारों का हवाला देकर इसका खंडन पूर्व में ही किया गया है।

जिन विद्वानों ने गद्य-काव्य को प्रभावमूलक या अनुकरणमूलक माना है उन्हें द्वितीय अध्याय के विवेचन को देखने से दिशा-विदिशा का परिज्ञान सरलता से हुए बिना न रहेगा।

छन्द-बद्ध रचना का भावविलास तथा वाक्‌विलास गद्य-काव्य से महत्‌ मानने वाले विद्वान् शायद काव्य की श्राव्यमयता को ही महत्व देकर ऐसे निश्चय पर आ पाते हैं अन्यथा भावविलास का ऐश्वर्य गद्य-काव्य में कथमपि न्यून नहीं है। गीति की परंपरा में आने से गद्य-काव्य में गीति के सभी प्राणवान तत्व तो हैं ही।

गद्य-काव्य की धारा हिन्दी में जिस वेग से आई वैसी अन्य भारतीय भाषाओं में नहीं दिखाई पड़ती। रवीन्द्र की 'लिपिका' 'शामली' 'पत्रपुट' नान्हालाल दलपतराय की 'ऊषा' (मराठी), डा० शं० जापुरवार के गद्य-गीत संग्रह (मराठी) तथा श्री विष्णु सखाराम खाण्डेकर के गद्य-काव्य (मराठी) अवश्य अपनी विशिष्ट सत्ता रखते हैं।

प्रबन्ध समाप्ति के पूर्व मान्य अवधारणाओं का पुनः कथन आवश्यक हो जाता है।

गद्य-काव्य तथा गद्य-गीत का सतही प्रभेद, संस्कृत गद्य-काव्यों को आधार मान कर यहाँ संभव नहीं है। यों तो गद्य-काव्य शब्द गद्य के माध्यम से काव्य करनेवाले एक विस्तृत क्षेत्र को घेरे हुए है, पर हिन्दी में गद्य-काव्य के नाम पर अधिकांश गद्य-

गीत ही लिखे गए हैं। अतः गद्य-काव्य शब्द अभी अपने अर्थ का पूरा विस्तार नहीं कर पाया है।

सन् १६३० से १६५० तक का काल, गद्य-काव्यों का स्वर्णकाल माना जा सकता है। इस युग में गद्य-काव्य ने चतुर्दिक् विस्तार किया। इसके पूर्व या पश्चात् की कृतियाँ, गुण तथा मात्रा में न्यून ही कही जा सकती हैं। प्रथम काल के तीन कलाकार—राय कृष्णदास, वियोगी हरि तथा चतुरसेन शास्त्री को छोड़कर अन्य की महत्ता गौण ही है। तृतीय काल में शकुन्तलाकुमारी 'रेणु' तथा ब्रह्मदेव ने अवश्य ही गद्य-काव्य के कौशल तथा शिल्प में अवश्य नूतनता का समावेश किया है, पर अन्य कलाकारों की कृतियाँ अनुभूति, कौशल तथा शिल्प में कोई चमत्कारिक विधान नहीं ला पाई हैं।

गद्य-काव्य के क्षेत्र में राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री भँवरमल सिंघी, दिनेशनन्दिनी चोरड्या, तेजनारायण 'काक' तथा रामवृक्ष बेनीपुरी को ही अधिक सम्मान प्राप्त हो सका है। रामप्रसाद विद्यार्थी, शान्तिप्रसाद वर्मा, नोखेलाल, नारायण-दत्त बहुगुना, शकुन्तलाकुमारी 'रेणु' तथा ब्रह्मदेव का शायद अभी तक उतना समादर नहीं हो पाया है जैसाकि होना चाहिए।

१६४० तक के सभी पत्र-पत्रिकाओं में गद्य-काव्य शीर्षक से रचनायें बहुलता से देखी जा सकती हैं। इनका उल्लेख तीसरे अध्याय में हो चुका है। १६४० के बाद पत्र तथा पत्रिकाओं में गद्य-काव्य साहित्य कुछ थोड़े-सी पत्रिकाओं तब ही सीमित हो गया है। 'कल्याण' 'अजन्ता' 'ज्ञानोदय' 'राष्ट्रवाणी' 'सरस्वती' आदि पत्रिकायें गद्य-काव्य का समादार करना नहीं भूली हैं। पत्र-पत्रिकाओं में ही लिखनेवाले गद्य-काव्यकारों में, दुर्गेशनंदिनी, भवानजी भाई विशारद, युगुल, बी० ए० शिवदेव प्रसाद उपाध्याय, नेमिचन्द्र जैन, विष्णु प्रभाकर, 'कनक' मधुकर' कमलिनी मेहता, शकुन्तला देवी प्रभा, शान्ति एम० ए०, आशारानी माथुर, इन्दिरादेवी, शिवनारायण उपाध्याय, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी आदि अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

गद्य-काव्य का भविष्य इसके नूतन शिल्पविधान तथा अनुभूति की प्रखरता का मुखापेक्षी है। हो सकता है कि भविष्य में नवीन कृतियों की प्राणवत्ता इतनी बलवती हो उठे कि गद्य-काव्य का भंडार बढ़कर हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह अपने विशिष्ट स्थान की माँग करे।

●

पुस्तक-सूची

गद्य-काव्य

राय कृष्णदास	साधना, पगला, संलाप, प्रवाल, छायापथ
वियोगी हरि	तरंगिणी अन्तर्नाद, भावना, प्रार्थना विश्व-धर्म, ठण्डे छींटें, श्रद्धा-कण
चतुरसेन शास्त्री	अन्तस्तल, वनाम स्वदेश, हाहाकार
देवेन्द्र	त्रिवेणी
गुलाबराय	फिर निराशा क्यों ?
देवेन्द्रकुमार शर्मा	प्रेमकली
अभय विद्यालंकार	देव शर्मा, तरंगित हृदय, देवीदयाल के जाग्रत स्वप्न
जगदीश झा 'विमल'	तरगिणी, द्वाभा
केशवलाल झा 'अमल'	प्रलाप
सद्गुरुशरण अवस्थी	भ्रमित पथिक
मोहनलाल महतो 'वियोगी'	बन्दनवार, धुँधले चित्र
शान्तिप्रसाद वर्मा	चित्रपट
नोखेलाल शर्मा	मणिमाला
चन्द्रशेखर 'संतोषी'	विप्लव-इच्छा
लक्ष्मीनारायण मिश्र 'सुधांशु'	वियोग
महाराज रघुवीरसिंह	बिखरे फूल, शेष स्मृतियाँ, जीवन-धूलि
देवदूत	तूणीर, कुमार हृदय का उच्छ्वास
केदार	अधखिले फूल
तेजनारायण 'काक'	मदिरा, निर्झर और पाषाण, मुक्ति और मशाल
कनक अग्रवाल	उद्गार
देशराज	तरुणाई के बोल

दिनेशनन्दिनी चोरड्या	उन्मन, दुपहरिया के फूल, मौक्तिक माल, शबनम, शारदीया, स्पन्दन, सारंग मनुहार, वंशीरव
नारायणदत्त बहुगुना	विभावरी
भँवरमल सिंधी	वेदना
रामप्रसाद 'विद्यार्थी'	पूजा तथा शुभ्रा
रजनीश	आराधना
स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'	चिन्ता
	भग्नदूत
श्यामू संन्यासी	कोयले
माखनलाल चतुर्वेदी	साहित्य-देवता
नरोत्तमदास 'नरेन्द्र'	जीवन-रेखायें
विश्वम्भरनाथ 'मानव'	सोने से पहले
रामकुमार वर्मा	हिमहास
इन्द्रशंकर मिश्र	चिकोटी
शिवचन्द्र नागर	प्रणयगीत
रामनारायण सिंह	मिलन पथ पर
रघुवरनारायण सिंह	हृदय-तरंग
	भाव-तरंग
	व्यंग्य-तरंग
	मधुर-तरंग
बालकृष्ण बलदुआ	अपने गीत
	मन के गीत
बृजलाल वियाणी	कल्पना-कानन
विद्याकुमारी भार्गव	श्रद्धांजलि
रामवृक्ष बेनीपुरी	गेहूँ और गुलाब
रंगनाथ दिवाकर	अन्तरात्मा से
किशोर साहू	अभिसार
शकुन्तलाकुमारी 'रेणु'	उन्मुक्ति
यदुनाथ पाण्डेय	प्रस्थान
चन्द्रिकाप्रसाद श्रीवास्तव	अन्तर्रागिनी
अष्टभुजाप्रसाद पाण्डेय	शैशवरागिनी

नाटक

विश्वनाथ सिंह	आनन्द रघुनन्दन
भारतेन्दु	चन्द्रावली
	नीलदेवी
जयशंकर प्रसाद	चन्द्रगुप्त
	स्कन्दगुप्त
	अजातशत्रु
	कामना
	जनमेजय का नागयज्ञ
वृन्दावनलाल वर्मा	पूर्व की ओर

अनूदित नाटक

द्विजेन्द्रलाल राय—अनु० रु० ना० पाण्डेय	शाहजहाँ
	नूरजहाँ
अनु० रूपनारायण पाण्डेय	महाराणा प्रताप
	चन्द्रगुप्त

उपन्यास

बालकृष्ण भट्ट	सौ अजान एक सुजान
	नूतन ब्रह्मचारी
व्रजनन्दन सहाय	सौन्दर्योपासक
	अरण्यबाला
मनोरमा	चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'
जयशंकर प्रसाद	कंकाल
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	बाणभट्ट की आत्मकथा

अनूदित उपन्यास

व्रजनन्दन मिश्र अनु०	अश्रुधारा
बंकिम (अनु० रूपनारायण पाण्डेय)	कपालकुण्डला
शरत् (अनु० रूपनारायण पाण्डेय)	कृष्णकान्त का वसीयतनामा

कहानी

राधिकारमण	टूटा तारा
चण्डीप्रसाद हृदयेश'	नन्दन-निकुंज

प्रेमचन्द	मानसरोवर
जयशंकर प्रसाद	आकाश-दीप
	प्रतिध्वनि
	छाया
विनोदशंकर व्यास	भूली कहानियाँ
मोहनलाल महतो 'वियोगी'	रजःकरण
रघुवीरसिंह	सप्तदीप

निबन्ध

ना० प्र० सभा	भट्ट निबन्धावली
सरदार पूर्णसिंह	पूर्ण निबन्धावली
महावीरप्रसाद द्विवेदी	रसज्ञ-रंजन
माधवप्रसाद मिश्र	माधवप्रसाद मिश्र निबन्धावली
श्यामसुन्दरदास	हिन्दी निबन्धमाला
पं० रामचन्द्र शुक्ल	चिन्तामरिण
पद्मसिंह शर्मा	पद्मपराग
हरिऔध	ठेठ हिन्दी का ठाट
सुमित्रानन्दन पंत	गद्यपथ
शान्तिप्रिय द्विवेदी	परिव्राजक की प्रजा

अनूदित

अनु० रूपनारायण पाण्डेय	बंकिम निबन्धावली
रविबाबू—अनु० रूपनारायण पाण्डेय	विचित्र-प्रबन्ध

रेखाचित्र

प्रकाशचन्द्र गुप्त	पुरानी स्मृतियां : नये स्केच
विनयमोहन शर्मा	रेखा और रंग
रामवृक्ष बेनीपुरी	माटी की मूरतें
महादेवी वर्मा	अतीत के चलचित्र
	शृंखला की कड़ियाँ

समर्पण

जगमोहनसिंह	श्यामा स्वप्न
प्रतापनारायण मिश्र	कलिकौतुक

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	पाषण्ड विडम्बना
	वैदिकहिंसा हिंसा न भवति
	धनंजय-विजय
	सत्य हरिश्चन्द्र
	मुद्राराक्षस
	नाटक सम्बन्धी लेख

संस्कृत के गद्य-काव्य एवं नाटक

वररुचि	कारमती
श्री पालित	अनंगमती
अज्ञात	सुमनोत्तरा
	नैमरथी
	ऊर्वमी
	मनोवती
जयरथ	अनंगलेखा
भोज	शृंगारमंजरी
कुलशेखर	आश्चर्यमंजरी
सुबन्धु	वासवदत्ता
दण्डी	अवन्तिसुन्दरी कथा
बाण	हर्षचरित्र
	कादम्बरी
'अज्ञात'	मोह-पराजय
श्रीकृष्ण मिश्र	प्रबोध-चन्द्रोदय
वेंकटनाथ	चैतन्य-चन्द्रोदय
कविकरणपूर	संकल्प सूर्योदय

विविध भाषा के गद्य-काव्य

कृष्णमूर्ति	एट दी फीट ऑव मास्टर
	सैण्ड एण्ड फोम—खलील जिब्रान
	दी अर्थ गाड्स ,, ,,
	दि वाण्डर ,, ,,
	ज्यूसस दि सेन आफ मैन
	गारडेन आफ दि प्राफेट

वीरसिंह	अनस्ट्रिंग वीड्स
	सिस्टर आफ स्पिनिंग व्हील एण्ड अदर सिक्स पोयम्स
	लीव्हज़ आफ ग्रास—वाल्ट व्हिटमैन
	ब्लेक्स पोयम्स
रविबाबू	श्यामली
	विल्वपत्र
	पत्रपुट

संस्कृत के ग्रन्थ

	अग्निपुराण
	अथर्ववेद
	अत्र पूर्णोपनिषद
प्रज्ञापारमिता	अष्टसाहस्त्री
	ईशावास्योपनिषद
मम्मट	काव्यप्रकाश
क्षेमेन्द्र	औचित्यविचार चर्चा
रुद्रट	काव्यालंकार सूत्र
भामह	काव्यालंकार
	कठोपनिषद
अन्नमभट्ट	तर्कसंग्रह
आनन्दवर्द्धन	ध्वन्यालोक
भरतमुनि	नाट्यशास्त्र
	नारद पुराण
	नारदीय भक्ति-सूत्र
	न्याय-प्रबोधिनी
विद्यारण्यस्वामी	पंचदशी
विद्यानाथ	प्रतापरूद्रयशोभूषण
	मुण्डक
	महाभारत
	माध्यमिककारिका
	महोपनिषद
	श्रीमद्भागवत

	यजुर्वेद
	योगवाशिष्ठ
	योगदर्शन
	रस गंगाधर
	ललितविस्तर
कुन्तक	वक्रोक्ति जीवित
स्वामी गोविंदसिंह (टीका)	वेदान्त परिभाषा
वाग्भट्ट	वाग्भट्टालंकार
	स्कन्दपुराण
कविराज विश्वनाथ	साहित्यदर्पण
	सांख्यकारिका
	श्वेतोपनिषद्
	हेमचन्द्र काव्यानुशासन

आलोचना-इतिहास

नन्ददुलारे वाजपेयी	आधुनिक साहित्य
सुमित्रानन्दन पन्त	आधुनिक कवि
केशरीनारायण शुक्ल	आधुनिक काव्यधारा
विजयशंकर मल्ल	आधुनिक गद्य
डा० नगेन्द्र	आधुनिक हिन्दी गद्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ
डा० श्रीकृष्ण लाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास
डा० वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य
देवराज	आधुनिक समीक्षा
डा० एस० पी० खत्री	आलोचना इतिहास तथा सिद्धान्त
हंसकुमार तिवारी	कला
मोहनलाल महतो 'वियोगी'	कला का विवेचन
डा० सत्येन्द्र	कला कल्पना और साहित्य
डा० वासुदेवशरण अग्रवाल	कला और संस्कृति
शान्तिप्रिय द्विवेदी	कवि और काव्य
जयशंकर प्रसाद	काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध
रांगेय राघव	काव्य-कला और शास्त्र
गुलाबराय	काव्य के विविध रूप
रामदहिन मिश्र	काव्यदर्पण
	काव्यालोक

लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'	काव्य में अभिव्यंजनावाद
अम्बिकादत्त व्यास	गद्य-काव्य मीमांसा
रामखेलावन पाण्डेय	गीतिकाव्य
ओम्प्रकाश केला	गीति की परम्परा
डा० शम्भूनाथसिंह	छायावाद
डा० देवराज	छायावाद का पतन
डा० देवेन्द्रनाथ शर्मा	छायावाद और प्रगतिवाद
गंगाप्रसाद पाण्डेय	छायावाद-रहस्यवाद
धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी	छायावाद-रहस्यवाद
लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'	जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त
अज्ञेय (सम्पा०)	तार सप्तक (प्रथम)
अज्ञेय ,,	तार सप्तक (द्वितीय)
अज्ञेय ,,	त्रिशंकु
डा० माताप्रसाद गुप्त	तुलसी
हनुमत शास्त्री अयाचित	तेलगू और उसका साहित्य
डा० नगेन्द्र	देव और उनकी कविता
शांतिप्रिय द्विवेदी	धरातल
नन्ददुलारे वाजपेयी	नया साहित्य नये प्रश्न
डा० रामविलास शर्मा	प्रगति और परम्परा
डा० धर्मवीर भारती	प्रगति और समीक्षा
रविन्द्रनाथ ठाकुर	प्राचीन साहित्य
मोहितलाल मजूमदार	गला साहित्य का इतिहास
डा० रामविलास शर्मा	भाषा साहित्य और संस्कृति
गंगाप्रसाद पाण्डेय	महादेवी का विवेचनात्मक गद्य
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	मध्यकालीन धर्मसाधना
शान्तिप्रिय द्विवेदी	युग और साहित्य
विनोदशंकर व्यास	योरोपीय साहित्यकार
रामनरेश वर्मा	वक्रोक्ति और अभिव्यंजनावाद
विश्वनाथप्रसाद मिश्र	वाङ्मय-विमर्श
डा० नगेन्द्र	विचार और अनुभूति
करुणापति त्रिपाठी	शैली
सीताराम चतुर्वेदी	शैली और कौशल
डा० दशरथ ओझा	समीक्षाशास्त्र

सीताराम चतुर्वेदी	समीक्षाशास्त्र
कन्हैयालाल सहल	समीक्षायण
'हरिऔध'	सन्दर्भ सर्वस्व
श्यामसुन्दरदास	साहित्यालोचन
डा० देवराज	साहित्य-चिंता
बलदेव उपाध्याय	साहित्य शास्त्र का इतिहास भाग १-२
रामदहिन मिश्र	साहित्य
शचीरानी गुर्टू	साहित्य-दर्शन
डा० सुधीन्द्र	साहित्य समीक्षांजलि
विनयमोहन शर्मा	साहित्यावलोकन
डा० भगीरथ मिश्र	साहित्य-साधना और समाज
शिवदानसिंह चौहान	साहित्यानुशीलन
हंसकुमार तिवारी	साहित्यावलोकन
रामदहिन मिश्र	साहित्य-सौंदर्य
गिरजामोहन गौड़	साहित्य चिन्तन
विश्वनाथप्रसाद मिश्र	सामयिक साहित्य
डा० सूर्यकान्त	साहित्य-मीमांसा
बाबू गुलाबराय	सिद्धान्त और अध्ययन—भाग १-२
किशोरीलाल वाजपेयी	साहित्य की उपक्रमणिका
गुलाबराय	साहित्य, और समीक्षा
विनयकुमार जैन	सूफी और हिन्दी साहित्य
वियोगी हरि	साहित्य-विहार
हरद्वारीलाल	सौंदर्य शास्त्र
	हरिऔध अभिनन्दन ग्रन्थ
चतुरसेन शास्त्री	हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास
डा० जगन्नाथ शर्मा	हिन्दी गद्य-साहित्य का इतिहास
डा० जगन्नाथ शर्मा	हिन्दी गद्य-शैली का इतिहास
ठाकुरप्रसाद सिंह	हिन्दी निबन्ध और निबन्धकार
गणपति जानकीराम दुबे	हिन्दी साहित्य में निबन्ध
मोहनलाल जिज्ञासु	हिन्दी गद्य का विकास
डा० प्रेमनारायण शुक्ल	हिन्दी साहित्य में विविधवाद
ब्रह्मदेव शर्मा	हिन्दी साहित्य में निबन्ध
मुंशीराम शर्मा	हिन्दी गद्यमीमांसा

शकुन्तला शर्मा	हिन्दी काव्य में सौंदर्य-भावना
रामचन्द्र शुक्ल	हिन्दी साहित्य का इतिहास
श्री नन्ददुलारे वाजपेयी	हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी
प्रभाकर माचवे	हिन्दी निबन्ध
नलिनविलोचन शर्मा	हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ
जयकिशनदास	हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ
चतुरसेन शास्त्री	हिन्दी साहित्य-परिचय
गोपालसिंह	हिन्दी गद्यकार उनकी शैलियाँ
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	हिन्दी साहित्य
धर्मचन्द्र 'सन्त'	हिन्दी गद्य का आविर्भाव और विकास
'श्रुतिकान्त'	हिन्दी गद्य-निर्माता
रामचन्द्र तिवारी	हिन्दी गद्य-साहित्य
तेजनारायण टण्डन	हिन्दी गद्य-निर्माता

विविध

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	अशोक के फूल
आदर्श और यथार्थ	पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव
श्यामसुन्दरदास केनोपनिषद	कबीर वचनावली केनोपनिषद
पट्टाभि सीतारमय्या	कांग्रेस का इतिहास
सुमित्रानन्दन पंत	ग्राम्या
पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल	गोरखबानी
अरविंद (अनु०) लक्ष्मीनारायण गर्दे	चारसाधन
रामचन्द्र शुक्ल	जायसी ग्रन्थावली
	धम्मपद
डा० हजारीप्रसाद विवेदी	निबंध संग्रह
सुमित्रानन्दन पन्त	परिमल
सुमित्रानन्दन पन्त	पल्लव
विवेकानन्द	प्रेमयोग
डा० चन्द्रधर शर्मा	पाश्चात्य दर्शन का इतिहास
मधुकर	पाश्चात्य दर्शन का इतिहास
बल्देव उपाध्याय	बौद्ध दर्शन
राहुल सांकृत्यायन	बौद्ध दर्शन
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	विचार और वितर्क

ना० प्र० स० इण्डियन प्रेस से प्रकाशित	भारतेन्दु ग्रन्थावली १–२
हरिदत्त वेदालंकार	भारत का सांस्कृतिक इतिहास
जगदानन्द पाण्डेय	मनोविज्ञान
लालजीराम शुक्ल	मनोविज्ञान
कृष्णलाल सर सोद हंस	मराठी साहित्य का इतिहास
नारायण वासुदेव गोडबोले	मराठी साहित्य का इतिहास
अरविंद	माता
अनु० बुंदेलवाला	मेघनाद वध
अरविंद	योगविचार
अरविंद	योगप्रदीप
रामावतार शर्मा	योरोपीय दर्शन
तुलसी	रामचरितमानस
दिनकर	संस्कृति के चार अध्याय
बल्देव उपाध्याय	संस्कृत साहित्य का इतिहास
कनिंघम	संस्कृत साहित्य का इतिहास
मंगलदेव शास्त्री	संस्कृति
रविन्द्रनाथ ठाकुर	साहित्येतर स्वरूप
डा० सम्पूर्णानन्द	समाजवाद
डा० सम्पूर्णानन्द	चिद्विलास
अशोक मेहता	मार्क्स और उसके सिद्धान्त

अंग्रेजी—विविध

कांट	क्रिटिक् आफ प्योर रीज़न
रिचार्ड्स	प्रिंसिपल आफ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म
कांट	मेटाफ़िज़िक्स आफ मारल
अलेक्जेण्डर	ब्यूटी एण्ड अदर फार्मस् आव वेल्यू
फ्रायड	माडर्नमैन इन सर्च आफ सोल
हेनरी हडसन	रिटोरिक
हरबर्टरीड	स्टाइल
वाल्टर पेटर	स्टाइल
अरस्तू	एस्थेटिक
	इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका
वर्ड्स्वर्थ	लिरिकल बैलेड्स

हेनरी हडसन लुईकजामिया — हिस्ट्री आफ इंगलिश लिटरेचर
टी० एस० इलियट — सेलेक्टेड एसेज़
टी० एस० इलियट — सेक्रेट ऊड
आरिजिन आफ ट्रेजेडीज़ एण्ड आख्यायिका
सी० एफ० ई० स्पर्जन — मिस्टिसिज्म इन इंगलिश लिटरेचर
केटरे — मिस्टिसिज़्म
वांग्पर — मिस्टिसिज़्म
हेनरी रजर्स मार्शल — पेन प्लेज़र एण्ड ऐस्थेटिक्स
जान डिकी — आर्ट ऐज़ इक्सपीरियन्स

विविध पत्र-पत्रिकाएँ

सम्पूर्ण अंक

अखण्ड ज्योति — अजंता — आनंद कादम्बिनी
आज — आलोचना — आशा
इन्दु — उदय — उषा
कल्पना — कल्याण — कामधेनु
चाँद — जागरण — ज्योत्स्ना
दीपक — धर्मयुग — नईधारा
नया समाज — ना० प्र० पत्रिका — ना० प्र० हीरक जयंती अंक
प्रतिभा — प्रतीक — प्रदीप
प्रसारिक — ब्राह्मण — भारत साप्ताहिक
मतवाला — मर्यादा — माधुरी
विश्व-भारती — विद्या-विनोद — वीणा
विशाल-भारत — सरस्वती — समालोचक
संगीत — साहित्य — साहित्य-सन्देश
सन्मार्ग साप्ताहिक — सुधा — सुदर्शन पत्रिका
हंस — हरिश्चन्द्र मैगज़ीन — हिमालय
हिन्दी साहित्य-सम्मेलन पत्रिका — त्रिपथगा
ज्ञानोदय — कल्पना — राष्ट्रभारती
आलोक — काव्यकलाधर